विद्वत्वर्य पाण्डे राजमलजी विरचित

ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी

व्याख्यानवाचस्पति साहित्यसूरि पण्डित देवकीनन्दनजी विरचित
सरलार्थ प्रबोधिनी टीका सहित

हिन्दी पद्यानुवाद एवं संपादन

पण्डित अभयकुमार जैन

एम.कॉम, जैनदर्शनाचार्य

देवलाली (नाशिक)

प्रकाशक

महावीर ज्ञानोपासना समिति

कारंजा (लाड़), जिला वाशिम (महा.)

प्रथम संस्करण : 1100 प्रतियाँ
[..............................]

प्राप्ति स्थान :
महावीर ब्रह्मचर्याश्रम
कारंजा (लाड़)- जिला वाशिम (महाराष्ट्र)
पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401
फोन : (0253) 2491044
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015
फोन : (0141) 2707458
तीर्थधाम सिद्धायतन
ग्राम सेंधपा, जिला छतरपुर-471311 (म.प्र.)

लागत राशि : ..../-
न्यौछावर राशि : ..../- (आगामी प्रकाशन हेतु)

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स
82, पॉल्टी फार्म, आगरा रोड, जयपुर
मो. 9928517346

सन् 1932 में कारंजा से प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ में

हमारा नम्र निवेदन

1. श्रीमान् सेठ **प्रभुदास देवीदासजी चवरे** कारंजा ने इस टीका के लिखने की प्रेरणा की और स्वत: प्रकाशित करने की कृपा की है और इसके प्रकाशनार्थ श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम को करीब 4000 रुपये में प्रेस आदि लेकर अर्पण किया। एक हजार रुपये के करीब खर्च करके अनुवाद की रफ व प्रेसकॉपी, संपादन वगैरह के लिए एक लेखक देने की कृपा की है, एतदर्थ हम श्रीमान् के अत्यन्त आभारी हैं, आपकी यह आर्थिक सहायता तथा उत्साह से ही यह टीका निर्मित हुई है, आपने इसके अतिरिक्त आश्रम में श्री महावीर चैत्यालय भी संस्थापित किया है।

2. श्रीमान **पं. हजारीलाल न्यायतीर्थ** परसोन निवासी ने प्रेस कॉपी वगैरह संपादन कार्य में पूरी सहायता पहुँचाई है, अत: श्रीमान् के भी आभारी हैं।

3. **श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम के कार्यकर्ताओं** के भी हम अत्यन्त आभारी हैं कि जिन्होंने हमारा उत्साह बढ़ाया और प्रकाशन में अत्यन्त सहायता पहुँचाई है।

4. ग्रंथ शास्त्राकार इसलिए छपाया है कि यदि कदाचित् कहीं कोई पद्य अशुद्ध हो गया हो और इसके विषय में किसी विद्वान की सूचना प्राप्त हो तो वह उनके नाम से पीछे से जोड़ दी जा सकेगी तथा स्वाध्याय आदि में ग्रंथ की अविनय नहीं होवेगी।

5. पाठकों से निवेदन है कि शुद्धिपत्र के अनुसार ग्रंथ शुद्ध करके स्वाध्याय की कृपा करें।

6. यदि मन्द ज्ञान के कारण कहीं अशुद्धियाँ हुई हों तो विद्वान पाठक सूचना देने की कृपा करें ताकि आगे के संस्करण में सुधार हो जावे।

7. प्रकाशक और लेखक ने यह ग्रंथ आश्रम को अर्पित कर दिया है, अत: इसकी आय आश्रम के लिए अर्पित है।

जेठ शुद्ध 5 सं.1989 विदुषाम् अनुचर:
महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा (लाड़) **बरुवासागर निवासी देवकीनंदन**

सन् 1932 में कारंजा से प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका

भूमिका

पहले यह ग्रंथ प्रचार में नहीं था। स्वर्गीय पं. पूज्यवर गुरु गोपालदासजी बरैय्या जब सोलापुर में रहते थे। उस समय उनके देखने में आया। जैसे किसी जौहरी के हाथ में रत्न आने से उसकी यथार्थता के प्रगट होने में देर नहीं लगती ठीक वैसे ही गुरुजी को ग्रंथराज का दर्शन होने से उन्हीं की प्रेरणा से श्रीमान् नाथारंगजी सोलापूर वालों ने ग्रंथराज को कोल्हापूर से प्रकाशित किया और गुरुजी ने इसको पठन–क्रम में रखवाकर इसका अच्छा प्रचार किया।

तदनंतर सन् 1918 में हमारे योग्य सहपाठी श्रीमान् पं. मक्खनलालजी ने इसके विशेष प्रचार के लिए सुबोधिनी नाम की टीका लिखकर प्रकाशित की और उस टीका का स्वाध्यायप्रेमी सज्जनों में भी अच्छा प्रचार हुआ।

ग्रंथकार की विषय प्रतिपादन शैली अत्यंत सरल, विशद और संदर्भयुक्त है तथा तुलनात्मक पद्धति से शास्त्रान्तरों में आये हुए लक्षणादिक के रहस्य को खोलनेवाली है। अतएव अध्यात्मशास्त्र के अथवा जैनदर्शन के मर्म के समझने में ग्रंथराज अत्यन्त उपयोगी है। द्रव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकांतवाद, सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन का लक्षण विशेषरूप से सम्यग्दर्शन का लक्षण और औदयिकादि भावों का तथा आनुषंगिकरूप से देव, शास्त्र, गुरु आदि का हृदयग्राही वर्णन ग्रंथराज के स्वाध्याय से सहज में उपलब्ध होता है। अत: ग्रंथकार के कवित्व के रसास्वाद के लिए अन्वयार्थ पूर्वक एक अनुवाद की बड़ी जरूरत समय–समय पर मालूम पड़ती थी। उसकी पूर्ति के लिए यह प्रयास किया है।

विद्यार्थियों के लाभ के लिए जगह–जगह संदर्भ मिलाते हुए अन्वयार्थ लिखा है तथा जिज्ञासु स्वाध्यायप्रेमी के लिए विशद भावार्थ भी लिखा है। जहाँ पर समझ में नहीं आया अथवा विशेष लिखने की इच्छा थी, वहाँ पर (?) ऐसा चिन्ह लगा दिया है और उसका प्रतिपादन परिशिष्ट में किया है।

ग्रंथ अत्यन्त उच्च कोटि का है। अत: मंदज्ञान के कारण जहाँ कही गलतियाँ रह गई हों, ज्ञानी पाठक सुधार लेवें।

ज्ञानीजनों का दास

देवकीनंदन

प्रस्तुत कृति का

प्रकाशकीय

'श्री पञ्चाध्यायी' ग्रन्थ वस्तुस्वरूप का विस्तृत विवेचन करने वाला आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसे करीब 400 वर्ष पहले पाण्डे राजमलजी ने लिखा था। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का प्रकाशन करते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। यह पावन अवसर कारंजा गुरुकुल के उस वैभवशाली इतिहास की याद दिलाता है जब स्व.पं.श्री देवकीनन्दजी सिद्धान्तशास्त्री पूज्य गुरुदेव श्री 108 समन्तभद्रजी महाराज के साथ कंधे से कंधा मिलाते हुए गुरुकुल के स्नातकों की धार्मिक तथा आध्यात्मिक नींव रखने में अपना अविस्मरणीय योगदान दे रहे थे। पं. देवकीनन्दजी अनेक वर्षों तक गुरुकुल के अधिष्ठाता पद का दायित्व सम्भालते रहे हैं।

उन दिनों की बात है जब सन् 1932 में पं. देवकीनन्दनजी 'श्री पंचाध्यायी' ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद पर कार्य कर रहे थे, परन्तु ग्रन्थ की छपाई के साधनों की कमी थी और प्रवास के साधन भी पर्याप्त नहीं थे। इस समस्या के निवारण हेतु संस्था के विश्वस्त स्व. श्री प्रभुदासजी चवरे ने गुरुकुल में ही एक प्रिन्ट्रिग प्रेस लगवा दी, जिससे इस ग्रन्थ की छपाई का कार्य पूर्ण हुआ।

लगभग एक शतक बीत जाने के बाद इस ग्रन्थ के महत्त्व को समझते हुए तथा उसके मर्म को हृदयंगम करते हुए पं. श्री अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली ने इसका सम्पादन तो किया ही, साथ ही इसका हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है। ग्रन्थ की गहराई को समझते हुए इस दुर्गम ग्रन्थ को अपनी व्यवस्थित शैली में हमारे स्वाध्याय हेतु प्रस्तुत करने के लिए पं.श्री अभयकुमारजी का जितना आभार ज्ञापित किया जाए, उतना ही कम है। पं. देवकीनंदनजी की कर्मभूमि कारंजा गुरुकुल तथा आध्यात्मिक ग्रंथों के प्रकाशन से जुड़ी श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति इस ग्रंथ का पुनर्प्रकाशन करने के सौभाग्य से वंचित नहीं रहना चाहते थे, अतः इन दोनों ही संस्थाओं ने इस कार्य का बीड़ा उठाया। ज्ञातव्य है कि श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति ने स्व.पं. श्री धन्यकुमारजी भोरे द्वारा मराठी में अनुवादित आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के प्रकाशन में अपूर्व कार्य किया है।

महँगाई के इस दौर में भी जिनवाणी के लिए अल्प मूल्य में उपलब्ध कराने हेतु सभी दातार एवं जिनवाणी प्रसारक योजना के सभासद साधुवाद के हकदार हैं। श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति 'श्री पंचाध्यायी' ग्रन्थ को अध्यात्म प्रेमी दिगंबर जैन समाज के समक्ष प्रस्तुत करके गौरवान्वित होती है और प्रत्येक व्यक्ति इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से लाभान्वित हो – यही मंगल भावना भाते हुए आपके करकमलों में इसे समर्पित करती है।

दिनांक : 26.6.2023
कारंजा (लाड़)

कीर्तिकुमार धन्यकुमार भोरे
अध्यक्ष, श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति

अहो भाग्य

..

– अभयकुमार जैन, देवलाली

जिनवाणी प्रसारक योजना

विगत 60 वर्षों से श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा (लाड) जिनवाणी प्रचार-प्रसार, अनुवाद (मराठी) एवं प्रकाशन कार्य अखंडरूप से कर रही है, हर एक आवृत्ति प्रकाशन के समय मुमुक्षु एवं स्वाध्यायी समाज, जिनवाणी, लागत मूल्य से कम अर्थात् अल्प मूल्य में उपलब्ध होती है, इ.स.2011 में 'जिनवाणी प्रचारक योजना' का शुभारंभ किया गया। इस योजना के अंतर्गत जो स्वाध्यायी मुमुक्षु 15000/- की राशि देकर इस योजना का सदस्यत्व स्वीकार करता है, उनका नामोल्लेख समिति द्वारा प्रकाशित प्रत्येक आवृत्ति में किया जाता है, ऐसे महानुभावों की यादी निम्नानुसार हैं -

1. धर्मनगर से - श्री प्रद्युम्नकुमार बह्मासा मेळवणके, **2. पुणे से** - सौ. प्रज्ञा उमेश जोहरापूरकर, **3. बारामती से** - श्री माणिकलाल अगरचंद शहा, **4. फळटण से** - श्री राजकुमार चंदुलाल दोशी, **5. राजकोट से** - सौ. प्रांजली मेहता, **6. नागपुर से** - सौ. सुनंदा हुकुमचंद गहाणकरी, **7. अमरावती से** - श्री विवेक वसंतराव देवलसी, **8. नातेपुते से** - मे. शुद्धात्म फाउंडेशन, **9. परभणी से** - श्री प्रशांत सुंदरलालजी कळमकर, **10. कल्याण से** - श्री हिराचंद जयकुमार किल्लेदार, **11. नागपुर से** - श्री अभयकुमार पनवेलकर, **12. डोंबीवली (पू.) से** - सौ. शालिनीताई राजेंद्रकुमार मुक्कीरवार स्मरणार्थ, **13. नाशिक से** - श्री कीर्तिकुमार धन्यकुमार भोरे, श्री अनिल ईश्वरचंद जिंतुरकर, श्री किक्षरण जयकुमार गरीबे, श्री नीलाबेन वसंतलालजी संघवी, श्री प्रशांत अरुण संगई, श्री मनोज शांतिकुमार कील्लेदार, नयना निरंजन कळमकर, **14. कारंजा से** - स्व. श्री शिशुपाल प्रगुदास चवरे, श्री प्रसन्न मनोहर भोरे, श्रीमती गुणमालाबाई जोहरापुरकर, धर्मानुरागी देवकुमार रिखबदासजी चँवरे, श्रीमती प्रांजलीताई प्रमोद रुईवाले, श्री गजकुमार रतनलाल रुईवाले, श्री भरत धन्यकुमार भोरे, श्रीमती प्रमिला कांतिकुमारजी रुईवाले, **15. अकलुज से** - श्री निलेश कैलाश दोशी, श्री जवाहरलालजी दोशी, श्री जयश्री चंकेश्वरा, **16. अकोला से** - श्री शरदकुमारजी अभयकुमारजी चँवरे, श्री सुरेश जनार्दन मेहत्रे, सौ. मंगलाताई निरंजन देवलसी, **17. औरंगाबाद से** - श्रीमती सुनंदाताई शरदचंद्रजी मिश्रीकोटकर, श्री हर्षवर्धनजी जैन, श्री वर्धमानजी पांडे, सौ. शशी हर्षवर्धन जैन, **18. भोपाल से** - श्री हिमांशु सुहास कळमकर, श्री सुबोधकुमार कळमकर, **19. मुम्बई से** - श्री राजकुमार नांदगांवकर, श्री अक्षय धन्नुलाल चँवरे, **20. जालना से** - सौ. सुनिता अकलंक मिश्रिकोटकर, श्री डॉ. मगन कळमकर।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग करने वाले दातार

क्र.	नाम	गाँव	राशि
1.	श्रीमती पारुल जैन राजेशजी जैन	दिल्ली	51000/-
2.	श्री अजितकुमारजी नायक	मुम्बई	25000/-
3.	श्री डॉ. किरण शहा	पुणे	25000/-
4.	श्री राजगौरवजी जैन	दिल्ली	21000/-

5.	श्रीमती सावित्रीजी जैन	दमोह	21000/-
6.	श्रीमती पुष्पलता जैन अजितकुमार जैन (जीजीबाई)	बुढार, शहडोल	21000/-
7.	श्री दि. जैन कुन्दकुन्द स्मृति ट्रस्ट	अलवर	21000/-
8.	श्री महेन्द्रकुमार आनंदकुमार जैन अजमेरा हस्ते राजकुमारजी जैन	रतलाम	15000/-
9.	श्री अनिलभाई सोनाज आणि कंपनी	अकळूज	15000/-
10.	श्री निलेश जैन		11001/-
11.	श्री समीर बिपिनभाई मेहता	मुंबई	11000/-
12.	श्री शांतिलाल महेंद्रकुमारजी जैन	मुंबई	11000/-
13.	गुप्तदान		11000/-
14.	श्री सचिनजी शशिकान्तजी शहा	मुंबई	11000/-
15.	श्री विशालकुमार हेमंतकुमार		11000/-
16.	श्री अरिहंत जैन	फरीदाबाद	11000/-
17.	श्री संजय जैन	टोरंटो, कनाडा	11000/-
18.	श्री दि. जैन पंचबालयति मंदिर हस्ते अनिलजी पाटौदी	बड़नगर	11000/-
19.	कंकुबेन रिखबदास जैन परिवार हस्ते राजूभाई	दादर, मुंबई	11000/-
20.	श्री इन्द्रजीत स्नेहलता गंगवाल	इन्दौर	11000/-
21.	श्री एम.सी. जैन		11000/-
22.	श्री सुरेशकुमार जैन		11000/-
23.	श्री दिपक खंडारे (स्व. श्री मनोहर जोहरापूरकर व स्व. श्रीमती शोभा खंडारे स्मृत्यर्थ)		11000/-
24.	डॉ. मानमलजी जैन	कोटा	10000/-
25.	श्री विमेश शहा	मुंबई	10000/-
26.	श्री संतोष पाटणी	वाशिम	6000/-
27.	श्रीमती विद्या अशोकजी जैन	जबलपुर	5100/-
28.	श्रीमती ज्ञप्ति राहुलजी कोठारी	मुंबई	5100/-
29.	श्रीमती लता अभयकुमारजी जैन	देवलाली	5100/-
30.	श्री अरुणजी मोदी	मकरोनिया, सागर	5100/-
31.	श्री अनिलकुमारजी जैन	अशोक विहार,दिल्ली	5100/-
32.	श्रीमती श्यामबाई कृष्णचंद जैन (लाल दुकान)	सागर	5100/-
33.	पूजा जैन	संत नगर, दिल्ली	5100/-
34.	स्वाध्याय ग्रुप	फरीदाबाद	5100/-
35.	ताराबेन डाहयाभाई शाह, मुनाई वाले	बोरीबली, मुंबई	5000/-
36.	श्री जयंतकुमार आनंदकुमार जैन	रतलाम	5000/-

37.	श्री अमोल अनिलजी चँवरे	मुंबई	5000/-
38.	श्रीमती अरुणाबाई भोरे	कारंजा (लाड)	5000/-
39.	पिताश्री ॲड शरद कळमकर स्मृति में श्री शिरीषजी कळमकर	एरोली	5000/-
40.	श्री करणराजजी जैन		5000/-
41.	श्रीमती किरण दिनेश जैन एवं अनुश्री-नीतेश जैन	सिवनी	5000/-
42.	रजनी जैन, रिमझिम जैन, गिरिजेश जैन, सरला जैन	सिंरोज	5000/-
43.	श्री धन्यकुमारजी रायबागकर	कारंजा (लाड)	5000/-
44.	श्री सुमेरचंद बेलोकर	नवी मुंबई	5000/-
45.	श्री ललीत पाटणी	वाशिम	5000/-
46.	सौ. भारती भरत भोरे	कारंजा (लाड)	2500/-
47.	श्री भरत ध. भोरे	कारंजा (लाड)	2500/-
48.	श्री शिरीष चवरे	कारंजा (लाड)	2500/-
49.	श्री अभिनंदन भोरे	पुणे	2500/-
50.	श्री दिपकजी खंडारे	मुंबई	2100/-
51.	कु. अनर्घ्या श्रीमती कल्पना सुनील जैन	शहडोल	2100/-
52.	सौ. ज्योति आलोक शास्त्री	कारंजा (लाड)	2100/-
53.	सौ. प्रभावती प्रकाश जैन	चिखली	2100/-
54.	श्री प्रमोद जैन शास्त्री	शाहगढ़	2100/-
55.	सौ. रंजना मनोज गुलालकरी	कारंजा	2100/-
56.	श्री राजकुमार जैन	अलवर	2100/-
57.	अनिता वर्धमान रणदिवे	औरंगाबाद	2001/-
58.	अंजना अमिशी जैन	झांसी	2000/-
59.	श्री महेन्द्रजी जैन		1501/-
60.	श्री राजकुमारजी चँवरे	नागपुर	1100/-
61.	श्री पं. जितेंद्रजी राठी	पुणे	1100/-
62.	श्रीमती मालती डॉ. सुभाष जैन	जबलपुर	1100/-
63.	सौ. प्रतिभाताई विनोद दर्यापूरकर	कारंजा (लाड)	1001/-
64.	डॉ. महेन्द्रजी भा.डोणगांवकर	परभणी	1000/-
65.	श्री गजकुमार चवरे	नागपुर	1000/-
66.	सौ. रजनी इंजनकर	कारंजा (लाड)	200/-

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अधिकार :
छह द्रव्यों का सामान्य विशेष निरूपण

(छन्द 1 से 370)

द्वितीय अधिकार :
सम्यग्दर्शन की विस्तृत व्याख्या
(छन्द 371 से 948)

तृतीय अधिकार :
वैभाविक भावों का स्वरूप

(छन्द 949 से 1144)

श्री वीतरागाय नमः

पंचाध्यायी

सरलार्थ-प्रबोधिनी

सान्वयार्थ हिंदी भाषा टीका

टीकाकार विरचित मंगलाचरण

(वीर छन्द)

महावीर स्तुति

जिसके पाँच सर्ग अवयव हैं ग्रंथराज जो कहलाता।
द्रव्य, विशेष, प्रमाण और नय के स्वरूप को दिखलाता।।
ऐसे ग्रन्थराज में जिनके वचन सहायक होते हैं।
उन्हीं वीर प्रभु के चरणों में नमस्कार हम करते हैं।। 1।।

पंचपरमेष्ठी की स्तुति

इन्द्र-नरेन्द्र आदि, जिनके चरणों में शीश झुकाते हैं।
भव्यजनों को जो अविनश्वर-मोक्षमार्ग बतलाते हैं।।
उन वृषभादि और सिद्धों को नमस्कार मैं करता हूँ।
उपाध्याय, आचार्य तथा मुनियों को शीश नवाता हूँ।। 2।।

जिनशासन की स्तुति

रहे सदा जयवन्त जिनेश्वर का शासन जग-हितकारी।
जो निर्दोष तथा मुनिगण से वन्दित है जग में भारी।।
आदि-अन्त से रहित सदा ही त्रिभुवन उनको सुखकारी।
और महामिथ्यात्व संतमस[1] का है जो विनाशकारी।। 3।।

पद्यानुवादक द्वारा विरचित मंगलाचरण

(वीर छन्द)

पंच प्रभु की परम कृपा से अवसर पाया आज अपूर्व।
ग्रन्थराज पंचाध्यायी का यह अनुवाद हुआ संपूर्ण।।
अहो ग्रन्थकर्ता एवं टीकाकारों को करूँ प्रणाम।
वस्तुस्वरूप समझ कर निज में निर्विकल्प ठहरूँ अभिराम।।

---

1. मिथ्यात्वरूपी अंधकार

ॐ

पाण्डे राजमलजी विरचित

श्री पञ्चाध्यायी ग्रन्थराज

उत्तरार्द्ध

(छन्द 769 से 1909 अथवा 1 से 1144)

प्रथम अधिकार

(छन्द 1 से 370)

वस्तु का सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा।
नासिद्धो धातुसंज्ञोऽपि कश्चित्पीतः सितोऽपरः।। 1॥

जैसे सत् सामान्यरूप है वैसे स्वतःसिद्ध सविशेष।
क्योंकि असिद्ध नहीं कोई धातु पीली अरु कोइ सफेद।। 769।।

अन्वयार्थ : - (**यथा**) जैसे (**वस्तु**) पदार्थ (**सत्सामान्य**) सत् है सामान्य जिसका ऐसा अर्थात् सामान्यता से सत् रूप (**स्वतःसिद्धं**) स्वयंसिद्ध है (**तथा**) वैसे वह (**विशेषवत्**) विशेषवान् भी स्वतःसिद्ध है क्योंकि (**धातुसंज्ञोऽपि कश्चित् पीतः अपरः सितः**) सामान्यरूप से धातुएँ हैं संज्ञा जिसकी ऐसा कोई एक पदार्थ पीत और कोई दूसरा पदार्थ श्वेत है, यह (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं है।। 1।।

भावार्थ : - जिसप्रकार सोना, चांदी आदि सम्पूर्ण धातुएँ सामान्यरूप से धातु कहला करके भी विशेषरूप से कोई पीली धातु और कोई सफेद धातु कहलाती है - यह असिद्ध नहीं है। उसी प्रकार जीवाजीवादिक सम्पूर्ण द्रव्य सामान्यरूप से सत् कहलाकर के भी विशेषरूप से कोई जीवद्रव्य तथा कोई अजीवद्रव्य कहलाता है - यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् जैसे सुवर्णादिक द्रव्यों में धातुरूप से सामान्यपना तथा पीतत्वादि अपने-अपने विशेष गुणों की अपेक्षा से विशेषपना स्वतःसिद्ध है; वैसे ही जीवादिक द्रव्यों में सत् रूप से सामान्यपना और चेतनाचेतनत्व अपने-अपने विशेष गुणों की अपेक्षा से विशेषपना भी स्वतःसिद्ध है।

नोट - * प्रथम पंक्ति में दिये गये क्रमांक कारंजा से प्रकाशित प्रति के अनुसार उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ किये गये हैं और हिन्दी पद्यानुवाद में दिये गये क्रमांक बनारस से प्रकाशित प्रति के अनुसार पूर्वार्द्ध से ही लगातार चालू रखे गये हैं।
* संस्कृत भाषा के छन्द अनुष्टुप् एवं हिन्दी पद्यानुवाद वीरछन्द में है।

सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वत:सिद्ध सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिए जैसे वह सामान्यरूप से स्वत:सिद्ध है, वैसे ही यह विशेषरूप से भी स्वत:सिद्ध है।

सामान्य और विशेष का लक्षण

बहु व्यापकमेवैतत्सामान्यं सदृशत्वतः।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तुविशेषः सदृशेतरः।। 2।।

जो सदृशता से बहु-व्यापक हो वह कहलाता सामान्य।
जो विशेष है वह सदृश नहिं और देश-व्यापी है अल्प।। 770।।

अन्वयार्थ :- (**सदृशत्वतः**) सदृशता से (**यत्**) जो (**बहुव्यापकं**) बहुत देश में व्यापक रहता है (**एतत् एव सामान्य**) इसी को सामान्य कहते हैं (**तु**) और (**यः**) जो (**सदृशेतरः**) सदृश से भिन्न है-सदृश नहीं है तथा (**अल्पव्यापकः**) अल्प देश में व्याप्त हो करके रहता है (**सः**) वह (**विशेषः अस्ति**) विशेष है।। 2।।

भावार्थ :- 'बहु देशवृत्तित्वं व्यापकत्वं अल्प देशवृत्तित्वं तु व्याप्यत्वं' अर्थात् जो वस्तु/धर्म, सदृशपने से बहु-देश में व्याप्त होकर रहता है, उसको व्यापक कहते हैं तथा जो वस्तु धर्म, विशेषता रखते हुए अल्प-देश में व्याप्त होकर रहता है उसको व्याप्य कहते हैं। सामान्य व्यापक धर्म है और विशेष व्याप्यधर्म है। सामान्य-धर्म से सब वस्तुओं में सदृशता का बोध होता है तथा विशेष-धर्म से विसदृशता का अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की विशेषता का बोध होता है।

जीव और अजीव की सिद्धि

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शब्दतोऽर्थतः।
चेतना लक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः।। 3॥
नासिद्धं सिद्धदृष्टांताच्चेतनाचेतनद्वयम्।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा।। 4॥
अस्ति जीवः सुखादीनां स्वसंवेदनसमक्षतः।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः।। 5।।
इति हेतु सनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः।
साध्यो जीवः स्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा।। 6॥

शब्द-अर्थ से द्रव्यों के दो भेद कहे हैं जीव अजीव।
जीव चेतना लक्षणमय है और अचेतनरूप अजीव।। 771।।

चेतन और अचेतन दोनों दृष्टान्तों से नहीं असिद्ध।
जीव-देह एवं घटादि में नहीं अन्यथा भेद दिखे।। 772।।
स्व-संवेदन में प्रत्यक्ष सुख-दुख से जीव ज्ञात होता।
जीव न हो तो स्व-संवेदन नहीं, प्रसिद्ध घटादिक हैं।। 773।।
इस प्रकार प्रत्यक्ष हेतु से साध्य जीव की सिद्धि हो।
इससे भिन्न अजीव सिद्ध होता अभाव में हेतु के।। 774।।

अन्वयार्थ :- (**द्रव्याणां**) द्रव्यों के (**शद्बतः अर्थतः**) शब्द और अर्थ की अपेक्षा से (**जीवाजीव विशेषः अस्ति**) जीव और अजीव ये दो भेद होते हैं, उनमें से (**चेतनालक्षणो जीवः**) जिसमें चेतना पाई जाये वह जीव है (**अपि**) और (**अचेतनः अजीवः स्यात्**) जिसमें चेतना नहीं पाई जाये वह अजीव है।। 3।।

(**सिद्धदृष्टांतात्**) जीवित शरीर और घटादिक के प्रसिद्ध दृष्टांत से (**चेतनाचेतन-द्वयम्**) चेतन और अचेतन में द्वैत (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि चेतन तथा अचेतन ये द्रव्य दो नहीं होते तो (**घटादिभ्यः**) घट आदि से (**जीवद् वपुः**) जीवित शरीर (**विशिष्टं कथं**) विलक्षण क्यों प्रतीत होता है ?।। 4।।

(**सुखादीनां**) सुख आदि के (**संवेदन समक्षतः**) मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ इत्यादि अहं प्रत्यक्षगोचर स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से (**जीवः अस्ति**) जीव का अस्तित्व ज्ञात होता है क्योंकि (**यः जीवः न**) जो जीव नहीं है (**सः**) वह (**एवं न अस्ति**) स्व-संवेदन प्रत्यक्ष वाला भी नहीं है (**यथा**) जैसे (**सुप्रसिद्ध घटः**) सुप्रसिद्ध घट।। 5।।

(**इति**) इस प्रकार (**स्व-सिद्ध्यर्थं**) आत्मसिद्धि के लिए (**साध्यः जीवः**) साध्यरूप जीव (**हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेण**) इस पूर्वोक्त स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सहित आत्म प्रत्यक्ष से (**अवधारितः**) सिद्ध होता है (**च**) और (**ततः अन्यथा अजीवः**) इसके विपरीत होने से अर्थात् स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु के अभाव से अजीव भी सिद्ध होता है।। 6।।

भावार्थ :- सम्पूर्ण द्रव्य, जीव तथा अजीव शब्द से कहे जाते हैं अर्थात् जीव शब्द से जीव द्रव्य और अजीव शब्द से शेष पाँच द्रव्य कहे जाते हैं यह जीव तथा अजीव में शब्दकृत भेद हैं और जिसमें चेतना पाई जावे उसको जीव कहते हैं तथा जिसमें चेतना न पाई जावे उसको अजीव कहते हैं। इसप्रकार अर्थ/वाच्य की अपेक्षा से जो उनमें लक्षणकृत भेद पाया जाता है वह अर्थकृत भेद है। इस तरह चेतनारूपी विशेष-धर्म के सद्भाव और असद्भाव के कारण सम्पूर्ण द्रव्यों के शब्द तथा अर्थ की अपेक्षा से जीव और अजीवरूप से दो भेद हो जाते हैं।

अब आगे-जीव और अजीव का यह द्वैत असिद्ध नहीं है, इसी को दृष्टान्तपूर्वक बताते हैं।

जीवित शरीर और अचेतन घटादिक में सजीव तथा अजीवपने के भेद का, जो ज्ञाता दृष्टापने का सद्भाव और उसका असद्भाव कारण है वही जीव और अजीव में भेद का द्योतक है। यदि जीव और अजीव में चेतना के सद्भाव तथा असद्भाव के निमित्त से भेद नहीं होता तो जीवित शरीर व अचेतन घटादिक में भी भेद नहीं पाया जाना चाहिये था किन्तु भेद पाया जाता है। अतः जीव और अजीव में भेद है – यह कथन सिद्ध होता है।

जीव की सिद्धि में सबसे प्रबल प्रमाण स्व-संवेदन प्रत्यक्ष है। मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, इत्याकारक अहं प्रत्यय को स्व-संवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ पर जीव का अस्तित्व साध्य है और स्व-संवेदन प्रत्यक्ष उसका साधन है। साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिल जाने से साधन अपने साध्य का साधक अवश्य हो जाता है इसलिए पद्य के उत्तरार्द्ध से 'जो जीव नहीं है वह सुखादिक का स्व-संवेदन प्रत्यक्ष करने वाला भी नहीं है – जैसे घट' इस व्यतिरेक व्याप्ति के घट जाने से स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु सत् (निर्दोष) हेतु है और जीव की सिद्धि का साधक है।

सुखादिक के स्व-संवेदन प्रत्यक्षरूप हेतु से और स्वानुभव प्रत्यक्ष से जीव की सिद्धि होती है तथा इसके विपरीतपने से अजीव की सिद्धि होती है।

इसप्रकार तीसरे पद्य से लेकर छठवें पद्य तक चेतना के सद्भाव और असद्भाव के कारण जीव व अजीव की सिद्धि करके आगे द्रव्यों के मूर्तामूर्त भेद के विषय में विचार करते हैं।

द्रव्यों के मूर्त और अमूर्त भेद

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत्।। 7।।
न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम्।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथासति।। 8।।
स्पर्शो रस गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत्।। 9।।
नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा।
सन्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः।। 10।।

मूर्त-अमूर्त भेद द्रव्यों के होते हैं स्वभाव से ही।
इन्द्रिय-ग्राह्य मूर्त होता एवं अमूर्त नहिं इन्द्रिय-गम्य।। 775।।

किन्तु नहीं ऐसा है कि इस जग में केवल मूर्त-पदार्थ।
यदि ऐसा मानें तो होते सर्व शून्य आदिक बहु दोष।। 776।।
स्पर्श तथा रस गन्ध वर्ण की होती है मूर्तिक संज्ञा।
इनमय द्रव्य मूर्तिक होता इनसे रहित अमूर्तिक है।। 777।।
साक्षात् अनुभव होने से नहीं असम्भव मूर्त-अमूर्त।
यथा इन्द्रियों से वर्णादिक सन्निकर्ष, वैसा न अमूर्त।। 778।।

अन्वयार्थ - (**च**) तथा प्रकारांतर से (**द्रव्याणां**) द्रव्यों के (**निसर्गतः**) स्वभाव से (**मूर्तामूर्तविशेषः**) मूर्त और अमूर्त ये दो भेद होते हैं (**इन्द्रियग्राह्यं मूर्तं**) जिसमें इंद्रियों के द्वारा गोचर हो सकने की योग्यता हो, उसको मूर्त और (**तदग्राह्यं अमूर्तिमत् स्यात्**) जिसमें इंद्रियों के द्वारा गोचर हो सकने की योग्यता न हो उसको अमूर्त कहते हैं।। 7।।

(**न पुनः**) किन्तु ऐसा नहीं है कि (**मूर्तं वास्तवं**) यथार्थ में मूर्त पदार्थ ही हो और (**अमूर्त अवास्तवं स्यात्**) अमूर्त कोई वस्तु ही नहीं हो, क्योंकि (**तथासति**) ऐसा मानने पर (**सर्वशून्यादि दोषाणां सन्निपातात्**) सर्वशून्यादि दोषों का प्रसंग आता है।। 8।।

(**स्पर्शः**) स्पर्श (**रसः**) रस (**च**) तथा (**गन्धः**) गन्ध (**च**) और (**वर्णः**) वर्ण (**अमी मूर्तिसंज्ञकाः**) इनकी मूर्त संज्ञा है तथा (**तद्योगात्**) इन्हीं स्पर्शादिक के योग से (**द्रव्यं मूर्तिमत्**) पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान/मूर्तिक कहलाता है और (**तद्ययोगात् अमूर्तिमत्**) इन स्पर्श आदिकों के योग के अभाव से जीव आदि शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक कहलाते हैं।। 9।।

(**प्रत्यक्षानुभवात्**) साक्षात् अनुभव होने के कारण (**एतत् असंभवं न भवेत्**) स्पर्श रस गंध और वर्ण को मूर्तिक कहना असंभव नहीं है क्योंकि (**यथा**) जैसे (**इन्द्रियाणां**) इंद्रियों का (**वर्णाद्यैः**) रूप रसादि के साथ (**सन्निकर्षः अस्ति**) सन्निकर्ष होता है (**तथा**) वैसे (**इतरैः न च**) रूपादि भिन्न गुणों से सन्निकर्ष नहीं होता है।। 10।।

भावार्थ - जैसे जीव और अजीवरूप से सम्पूर्ण द्रव्यों के दो भेद होते हैं; वैसे ही मूर्त तथा अमूर्तरूप से भी द्रव्यों के दो भेद होते हैं। जो इन्द्रियों के विषय हो सकते हैं वे मूर्त द्रव्य कहलाते हैं जैसे कि पुद्गल, और जिनमें इन्द्रियों के विषयभूत होने की योग्यता नहीं है वे अमूर्त द्रव्य कहलाते हैं जैसे कि जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। यद्यपि परमाणु आदि सूक्ष्म पुद्गल भी इन्द्रियों से गृहीत नहीं हो सकते, तथापि वे स्थूल स्कन्ध की पर्याय को प्राप्त होकर इंद्रियों के विषय हो सकते हैं, इसलिये उनमें भी इंद्रिय-ग्राहकपनारूप, मूर्त का लक्षण घट जाता है। इस प्रकार द्रव्यों के मूर्त और अमूर्त - ये दोनों भेद वास्तविक हैं।

यदि मूर्त में ही वस्तुत्व माना जायेगा तो जीव आदि अमूर्त द्रव्यों में वस्तुत्व नहीं रहेगा, और ऐसा होने पर आत्मा के भी अभाव का प्रसंग आयेगा, तथा आत्मा के अभाव में उसके ज्ञानादि गुणों का भी अभाव हो जायेगा और ज्ञान का अभाव हो जाने पर मूर्त द्रव्यों में ज्ञेयत्व/पदार्थत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञान के अभाव में ज्ञेय की कल्पना निष्प्रयोजन ठहरती है। इस तरह सर्व-शून्य दोष का प्रसंग आता है, तथा अमूर्त आत्मा के अभाव में बन्ध और मोक्ष आदि की व्यवस्था भी नहीं ठहर सकेगी। इसप्रकार अनेक दोषों के आने से अमूर्त आदि द्रव्यों को अवास्तविक कहना ठीक नहीं है।

जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जायें वह मूर्त द्रव्य कहलाता है। जैसे कि पुद्गल तथा जिनमें स्पर्शादिक नहीं पाये जायें वे अमूर्त द्रव्य कहलाते हैं जैसे कि जीवादिक।

पहले जो यह कहा जा चुका है कि 'इन्द्रियग्राह्यं मूर्तं' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होने योग्य को मूर्त कहते हैं, तथा इसमें रस, गन्ध और वर्ण ये चारों, इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत होते हैं, इसलिए इनकी मूर्ति संज्ञा साक्षात् अनुभव गोचर होने से युक्तियुक्त है, वह असंभव नहीं है।

शंका

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत्।। 11।।

है अमूर्त की सत्ता इसमें क्या प्रमाण है बतलाओ?
सन्निकर्ष के बिना न कुछ भी जो है वह नभ-कुसुम समान।। 779।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**अमूर्तार्थ सद्भावे**) अमूर्त पदार्थों के सद्भाव में (**किं प्रमाणं**) क्या प्रमाण है (**इति अद्य नः वद**) यह अब हमें बताओ क्योंकि (**इन्द्रियार्थाणां**) इंद्रिय और अर्थ के (**सन्निकर्षात् बिना**) सन्निकर्ष के बिना (**यत् अपि**) जो कुछ है (**तत्**) वह सब (**खपुष्पवत्**) आकाश पुष्प के समान असंभव है।। 11।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि इंद्रियों के गोचर होने से ही पदार्थों का सद्भाव जाना जाता है, क्योंकि जिनका इंद्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है उनका सद्भाव आकाश के फूल के समान अलीक/असत्य ठहरता है, इसलिए इंद्रियगोचर न होने से अमूर्त जीवादि पदार्थों का सद्भाव नहीं माना जा सकता; यदि उनका सद्भाव है तो उसमें प्रमाण क्या है?

समाधान

नैव यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत्।। 12।।

ठीक नहीं यह क्योंकि सुखादिक के अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा।
उनमें[1] नहिं वस्तुत्व असिद्ध, रसादिमयत्व न उनमें सिद्ध ।। 780 ।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) इसप्रकार का कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सुखादीनां संवेदन-समक्षतः**) सुखादिक के संवेदनरूप प्रत्यक्ष से (**तत्र**) उन अमूर्त पदार्थों में (**वास्तवं असिद्धं न**) वस्तुत्व/पदार्थत्व असिद्ध नहीं है (**किंतु**) किंतु (**रसादिमत् असिद्धं**) वे रसादि युक्त वाले हैं - यह असिद्ध है।। 12 ।।

भावार्थ :- केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ही वस्तु का वस्तुत्व नहीं जाना जाता है, किन्तु स्व-संवेदन प्रत्यक्ष आदि से भी वस्तु के वस्तुत्व का बोध होता है। यद्यपि अमूर्त जीवादिक द्रव्यों की सिद्धि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से नहीं हो सकती है, तथापि स्वसंवेदन प्रत्यक्षादि के द्वारा उनकी सिद्धि होती है, इसलिए उनमें भी मूर्त द्रव्य की तरह ही वास्तविक पदार्थ होने से उनमें पदार्थत्व असिद्ध नहीं है, किन्तु इन्द्रियगोचर न होने से उनमें केवल रसादिपना असिद्ध है। रसादिपने का अभाव होने के कारण उनका वस्तुत्व असिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियगोचरता या अगोचरता से पुद्गलों में रूपादिक का सद्भाव तथा जीवादिक में उनका असद्भाव ही सिद्ध किया जा सकता है, पदार्थत्व का सद्भाव और असद्भाव नहीं, अतएव इन्द्रियों के अगोचरपने से जीवादिक में रसादिक का अभाव सिद्ध हो सकता है, पदार्थत्व का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

ज्ञान की भिन्नता और अभिन्नता

तद्यथा यद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत्।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः।। 13 ।।
नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित्।। 14 ।।
न पुनः स्वैरसंचारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात्।। 15 ।।
ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत्।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ।। 16 ।।

जो रसादि का ज्ञान कभी होता रसादि संयुक्त नहीं।
क्योंकि ज्ञान सुख-दुखमय जैसा, वैसा नहि रसयुक्त कभी ।। 781 ।।

1. अमूर्तिक पदार्थों में

सुख-दुखादि हैं नहीं ज्ञान से भिन्न, बात यह नहीं असिद्ध।
क्योंकि सुख-दुख चेतनत्वमय, ज्ञान बिना अन्यत्र नहीं।। 782।।

किन्तु कभी जड़-चेतन में सुख-दुःख स्वेच्छा से होकर व्याप्त-
नहीं विचरते, क्योंकि अचेतन में सुख-दुख हैं नहि सम्भाव्य।। 783।।

अतः चेतनादिक अमूर्तिक वस्तु वास्तविक हैं, यह सिद्ध।
नहिं मानें तो संवेदन-प्रत्यक्ष सुखादिक सिद्ध नहिं।। 784।।

अन्वयार्थ :- (**तद्यथा**) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (**यत् रसज्ञानं**) जो रस का ज्ञान होता है (**तत् स्वयं रसादिमत् न**) वह स्वयं रसादिमान नहीं है (**यस्मात्**) क्योंकि (**यथा**) जैसे (**ज्ञानं सुखं दुखं स्यात्**) ज्ञान, सुख और दुखरूप हो सकता है (**तथा**) वैसे वह ज्ञान (**रसः न**) रसरूप नहीं हो सकता।। 13।।

(**सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं असिद्धं न**) सुख और दुःख ज्ञान से अभिन्न हैं यह असिद्ध नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सुखं दुःखं**) सुख तथा दुख आदि (**चेतनत्वात्**) चेतनात्मक होने से (**ज्ञानात् अन्यत्र क्वचित् न**) ज्ञान के सिवाय और कहीं नहीं पाये जाते हैं।। 14।।

(**न पुनः**) किंतु ऐसा भी नहीं हैं कि (**सुखं दुःखं**) सुख और दुःख (**चिदात्मनि अपि अचिदात्मनि**) चिदात्मा तथा अचिदात्मा में (**व्याप्तं**) व्याप्त होकर (**स्वैरसंचारि**) स्वतंत्रता से रहते हों, क्योंकि ये भाव जीव के ही हैं इसलिए (**वर्णाद्यौ**) वर्णादिक में (**तदसम्भवात्**) उनका पाया जाना असम्भव है।। 15।।

(**ततः**) इसलिए यह कथन (**सिद्धं**) सिद्ध होता है कि (**तत् अमूर्त चिदात्मादि अर्थवत् स्यात्**) वे अमूर्त जीव आदि पदार्थ भी वास्तविक हैं, क्योंकि (**अन्यथा**) यदि इन जीवादिक अमूर्त द्रव्यों को वास्तविक नहीं माना जायेगा तो (**प्रसाधितसुखादीनां अनुपपत्तितः**) स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष से सिद्ध किये गये सुखादिकों का सद्भाव युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा।। 16।।

भावार्थ :- ऊपर के पद्य में जो आत्मा में रसादिक का अभाव कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है कि जैसे सुख या दुख के अनुभव करने से ज्ञान सुखमय तथा दुखमय कहा जाता है, वैसे वह ज्ञान रस को विषय करने से रसमय नहीं कहा जाता; क्योंकि ज्ञान सुखादिक एक ही आत्मा के गुण व पर्याय हैं, अतः एकार्थ सम्बन्ध से उन ज्ञान और सुखादिक में अभेद हो सकता है, किन्तु एकार्थ सम्बन्ध न होने से ज्ञान का पुद्‌गल के रसादिक गुण के साथ अभेद नहीं हो सकता, अतः ज्ञान रसमय नहीं कहा जा सकता।

आत्मा के सुखादिक गुणों को ज्ञान से अभिन्न कहना असिद्ध नहीं है। कारण कि चेतन होने से

सुख-दु:खादि का सद्भाव ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। सारांश यह है कि आत्मा के सुखादि गुण तथा चेतन गुण में द्रव्य दृष्टि से अभेद है, अतः सुखादिक ज्ञान से भिन्न नहीं हैं; किन्तु ज्ञान के साथ उनका अभेद होने से वे ज्ञानमय ही हैं।

सुख-दु:ख ज्ञान से अभिन्न हैं, इसलिये वे ज्ञान से भिन्न होकर, चेतन-अचेतन पदार्थों में व्याप्त होकर, स्वतंत्रता से संचरण करने वाले नहीं हैं, क्योंकि यदि वे चेतन व अचेतन दोनों पदार्थों में स्वतंत्रता से रहते होते तो ज्ञान के समान वर्णादिक के साथ भी उनका अभेद पाया जाना चाहिये था, किन्तु अभेद पाया नहीं जाता, अतः वे ज्ञान से अभिन्न ही हैं, स्वतंत्र नहीं हैं।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि केवल मूर्त पदार्थ ही वास्तविक नहीं है, किन्तु अमूर्त जीवादिक पदार्थ भी वास्तविक हैं, क्योंकि यदि जीवादिक अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं माने जावेंगे तो ज्ञान से अभिन्न और स्वानुभव सिद्ध जो सुख-दु:ख की प्रतीति होती है उसमें बाधा आवेगी अर्थात् अमूर्त पदार्थों को वास्तविक न मानने से जीव में सुखादिक की प्रतीति बाधित हो जावेगी।

शंका

नन्वासिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत्।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसा रसवद्यतः।। 17।।
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्त कारणाद्विना।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात्।। 18।।

सुख-दुख भी हैं मूर्तिमान अतएव अमूर्तिकपना असिद्ध।
जैसे रस का ज्ञान रस सहित होने से वह रस ही है।। 785।।
और मूर्त रस-ज्ञानरूप कारण बिन सुख अमूर्त कैसे।
क्योंकि न्याय अनुसार साध्य से साधन का है अविनाभाव।। 786।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**सुखादीनां मूर्तिमत्वात्**) सुखादिक को मूर्तिक होने के कारण (**तत् अमूर्तिमत् असिद्धं**) वह अमूर्तिकपना असिद्ध है (**यथा**) जैसे कि (**यत् रसज्ञानं**) जो रस का ज्ञान होता है (**तत्**) वह (**यतः**) जिस कारण से (**रसवत्**) रसवान् होता है (**ततः**) उस कारण से वह (**रसः**) रस ही है अर्थात् रस-ज्ञान, रस के अनुभव से मूर्तिक ही है अमूर्तिक नहीं है, और (**तन्मूर्तं**) उस रसज्ञान को मूर्तिक सिद्ध होने पर (**कारणात् बिना**) बिना कारण के सुखादिक में (**अमूर्तं**) अमूर्तिकपना (**कुतस्त्यं स्यात्**) किस प्रमाण से सिद्ध होता है (**यत्**) क्योंकि (**न्यायानतिक्रमात्**) न्यायानुसार (**साध्यं**) साध्य का (**साधनाविभूतं**) साधन के साथ अविनाभाव होता है।। 17-18।।

भावार्थ – शंकाकार का कहना है कि रस को विषय करने के कारण रस–ज्ञान को मूर्तिक सिद्ध होने से ज्ञान से अन्य सुखादिक भी मूर्तिक सिद्ध होंगे अमूर्तिक नहीं; कारण कि रस–ज्ञान के मूर्तिक सिद्ध होने पर उस रस–ज्ञान से अन्य सुखादिक को अमूर्त सिद्ध करने वाला कोई अविनाभावी साधन ही नहीं मिल सकता है।

समाधान

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम्।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः।। 19।।
न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः।
स्वसंवेद्याद्यभावः स्यात् तज्जड़त्वानुषङ्गतः।। 20।।
तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोऽस्त्य मूर्तिमान्।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात्।। 21।।

क्योंकि रसादिक को जो जाने स्वयं नहीं रसमय वह ज्ञान।
वास्तव में वह ज्ञान अमूर्तिक उसे मूर्त कहना उपचार।। 787।।
और नहीं रसज्ञान सर्वथा वर्णादिकमय हो जाता।
क्योंकि अचेतन हो जाने से स्वसंवेद्य भी नहिं होता।। 788।।
इसीलिए वर्णादि शून्य जीवादि पदार्थ अमूर्तिक हैं।
आगम से अरु स्वानुभूति से स्वीकृत करना है कर्त्तव्य।। 789।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) उस प्रकार का कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**यत्**) जो (**रसाद्यर्थं**) रसादिक में जानने के लिये ज्ञान होता है (**तत्**) वह (**स्वयं रसः न**) स्वयं रसमय नहीं हो जाता है, कारण (**अर्थात् ज्ञानं अमूर्तं**) वास्तव में ज्ञान अमूर्तिक ही है, किन्तु (**मूर्तोपचारतः**) मूर्त पदार्थ को विषय करने से वह केवल उपचार से (**मूर्तं स्यात्**) मूर्तीक कहलाता है।। 19।।

(**न पुनः**) किंतु ऐसा नहीं है कि (**ज्ञानं**) रसज्ञान (**सर्वथा वर्णादिमत् मूर्तं**) सर्वथा वर्णादिमान् हो (**यतः**) क्योंकि मूर्त पदार्थों को केवल विषय करने के कारण ज्ञान को सर्वथा मूर्तिक मानने से (**तज्जड़त्वानुषङ्गतः**) उसमें अचेतना का प्रसंग आयेगा और अचेतनता का प्रसंग आने से वह (**स्वसंवेद्याद्यभावः**) स्वसंवेदी आदि नहीं ठहरेगा।। 20।।

(**तस्मात्**) इसलिए (**वर्णादिशून्यात्मा**) वर्णादिक धर्मों से रहित स्वरूप वाले (**अमूर्तिमान**) अमूर्तिक (**जीवाद्यर्थः अस्ति**) जीव आदि पदार्थ हैं – यह (**यथागमात्**) आगमानुसार (**प्रमाणात्**) प्रमाण से (**वा**) और (**स्वानुभूतेः**) स्वानुभव से (**स्वीकर्तव्यः**) स्वीकार करना चाहिये।। 21।।

भावार्थ :- शंकाकार की उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जो रस आदि को विषय करने वाला ज्ञान है, वह केवल रस को विषय करने मात्र से मूर्त नहीं हो जाता है, क्योंकि वास्तव में वह ज्ञान अमूर्तिक आत्मा का गुण होने से अमूर्तिक ही है केवल उपचार से वह मूर्तिक कहा जाता है।

उपचार से जो ज्ञान को मूर्तिक कहा है उसका ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान रूपादिक के समान सर्वथा मूर्तिक है क्योंकि यदि ज्ञान को रूपादिक के समान सर्वथा मूर्तिक मान लिया जायेगा तो ज्ञान गुण में जड़त्व का प्रसंग आयेगा। और उसके जड़ सिद्ध होने पर आत्मा को भी जड़त्व का प्रसंग आयेगा – ऐसी स्थिति में मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ आदिरूप से जो प्रत्यक्ष सिद्ध स्वसंवेदन पाया जाता है, उसका अभाव मानना पड़ेगा जो कि स्वानुभव से बाधित है।

इसलिए रूपादिक धर्मों से रहित अमूर्तिक जीवादिक पदार्थ भी वास्तविक ही हैं; इस कथन को आगमानुसार प्रमाण तथा स्वानुभव से स्वीकार करना चाहिए।

इसप्रकार मूर्तामूर्त भेदरूप से द्रव्यों की विशेषता को बता करके आगे लोकालोक भेदरूप से द्रव्यों की विशेषता को बताते हैं।

लोक और अलोक का स्वरूप

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा।। 22।।

लोक-अलोक भेद दो होते हैं द्रव्यों के लक्षण से।
छहों द्रव्यमय लोक, अलोकाकाश में नहीं हैं छह द्रव्य।। 790।।

अन्वयार्थ :- (**लक्षणात्**) लक्षण से (**द्रव्याणां**) द्रव्यों के (**लोकालोकविशेषः अस्ति**) लोक और अलोक ये दो भेद भी होते हैं (**यथा**) जैसे (**यः**) जो (**षड्द्रव्यात्मा**) छहों द्रव्यमय है (**सः लोकः अस्ति**) वह लोक है (**ततः अन्यथा**) और जो षड्द्रव्यमय नहीं है किन्तु केवल आकाशमय है वह (**अलोकः स्यात्**) वह अलोक है।। 22।।

भावार्थ :- जीव अजीव और मूर्त अमूर्त के समान द्रव्यों के लक्षण में लोक अलोकरूप से भी विशेष भेद होते हैं। उनमें से छहों द्रव्यों के समुदाय का नाम लोक है तथा छहों द्रव्यों के समुदाय के अभाव का नाम अर्थात् केवल अलोकाकाश का नाम अलोक है।

अलोक केवल आकाशमय है

सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वात् व्योमात्मा केवलं भवेत्।। 23।।

वह अलोक भी नहीं सर्वथा शून्य रहे छह द्रव्यों से।
व्योम मात्र है शेष अतः वह है केवल आकाश स्वरूप।। 797।।

अन्वयार्थ :- (**सः अलोकः अपि**) वह अलोक भी (**अशेषतः षडभिः द्रव्यैः**) सम्पूर्ण छह द्रव्यों से (**शून्यः न अस्ति**) शून्य नहीं है, किन्तु (**व्योममात्रावशेषत्वात्**) आकाशमात्र शेष रहने से वह (**केवल व्योमात्मा भवेत्**) अन्य पाँच द्रव्यों से रहित केवल आकाशमय है।। 23।।

भावार्थ :- षड् द्रव्यों के समुदायात्मक लोक के अभावरूप जो अलोक है वह अलोक भी षड द्रव्यों से सर्वथा शून्य नहीं है, किन्तु केवल आकाशरूप से अवशिष्ट है, अतः वह केवल आकाश द्रव्यमय है, क्योंकि लोक की मर्यादा के कारणभूत धर्म, अधर्म द्रव्य वहाँ नहीं हैं, इसलिए क्रियावान जीव और पुद्गल वहाँ जा नहीं सकते तथा कालद्रव्य की संख्या केवल लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होने से वह कालद्रव्य भी वहाँ नहीं पाया जाता, अतः वह अलोक अवशिष्ट आकाशमय ही माना गया है।

क्रियावती और भाववती शक्ति

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगता परे।। 24॥
भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भाव संस्कृताः।। 25॥
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि।। 26॥
नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः।। 27।।[2]

छहों द्रव्य अन्वर्थ दृष्टि से क्रिया-भावमय भेद-स्वरूप।
कोइ द्रव्य है क्रिया-भावमय कोई केवल भाव-स्वरूप।। 792।।

---

2. **सव्वमरूवीदव्वं अवट्ठिदं अचलिदा पदेसावि। रूवी जीवा चलिया तिविअप्पा होंति हु पदेसा।।**
पोग्गल दव्वहिम अणूसंखेज्जा हवदि वलिदा हु। चरिममहाखंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा।।
अर्थात् आकाश आदि चारों द्रव्यों के प्रदेश स्थित और अचलित हैं। जीव के प्रदेश चलित, अचलित तथा चलिताचलित हैं और सिद्धों के प्रदेश अचलित हैं। पुद्गल की अणु आदि महास्कन्ध पर्यन्त तेईस प्रकार की वर्गणायें मानी हैं। उनमें से अणु आदि बाईस वर्गणायें चलित होती हैं तथा महास्कन्धरूप अन्तिम वर्गणा के प्रदेश चलिताचलित होते हैं।

जीव और पुदगल ये दोनों क्रियावान अरु भाव-स्वरूप।
ये दोनों अरु शेष चार भी छहों द्रव्य है भाव-स्वरूप।। 793।।
हलन चलन होता प्रदेश का परिस्पन्द है यही क्रिया।
एक वस्तु में धारावाही परिणामों को भाव कहा।। 794।।
नहि असिद्ध यह क्योंकि परिणमनशील द्रव्य सब हैं प्रतिक्षण।
जीव-रु पुदगल कभी-कभी होते प्रदेश चलनात्मक भी।। 795।।

अन्वयार्थ :- (**अन्वर्थतः**) अन्वर्थदृष्टि से (**तेषां**) उन सभी द्रव्यों में (**क्रियाभावविशेषः अस्ति**) क्रिया और भावरूप भेद पाया जाता है (**यतः**) क्योंकि उनमें से (**केचित्**) कोई द्रव्य (**भावक्रियाद्वयोपेता**) भाव और क्रिया दोनों विशेषों से युक्त हैं तथा (**परे**) कोई द्रव्य (**भावगताः**) केवल भावरूप विशेष से युक्त है।। 24।।

(**जीवपुद्गलौ एतौ द्वौ**) जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य (**भाववन्तौ क्रियावन्तौ**) भाववान् भी हैं तथा कियावान् भी हैं (**च**) और (**तौ**) वे दोनों तथा (**शेष चतुष्कं**) शेष चार (**एते षड्**) ये छहों द्रव्य (**भावसंस्कृताः**) भाव-विशेष से युक्त हैं।। 25।।

(**तत्र**) उनमें से (**प्रदेशानां चलात्मकः परिस्पन्दः क्रिया**) प्रदेशों के चलात्मक- हलन-चलनरूप परिस्पंद को क्रिया कहते हैं और (**एकवस्तुनि**) अखण्ड द्रव्य में (**धारावाही तत्परिणामः भावः अस्ति**) धारावाही प्रवाहरूप से होने वाले द्रव्य के उत्पादादि त्रयरूप परिणमन को भाव कहते हैं।। 26।।

(**इदं असंभवं न**) उपर्युक्त यह कथन असिद्ध नहीं है (**यस्मात्**) क्योंकि (**अर्थाः**) सब ही पदार्थ (**अनिशं**) प्रतिसमय (**परिणामिनः**) परिणमनशील होते हैं और (**तत्र**) उनमें से (**केचित्**) कोई कोई द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गल द्रव्य (**कदाचित्**) कभी-कभी (**प्रदेश-चलनात्मकाः वा**) प्रदेशचलनात्मक भी होते हैं।। 27।।

भावार्थ :- पूर्वोक्त छह प्रकार के द्रव्यों में उक्त तीन प्रकार के भेदों के समान अन्वर्थ दृष्टि से क्रिया और भावरूप से भी विशेष भेद पाया जाता है क्योंकि उनमें से कोई द्रव्य तो क्रिया व भाव इन दोनों ही भेदों से युक्त हैं तथा कोई द्रव्य क्रिया रहित होने से केवल भावरूप भेद से ही युक्त है। आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

भाव व्यापक और क्रिया व्याप्य है, इसलिये छहों द्रव्यों में केवल जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य क्रिया और भाव दोनों से युक्त हैं तथा शेष चार द्रव्य केवल भावयुक्त हैं। सारांश यह है कि शक्तियों के दो प्रकार हैं - 1. क्रियावती शक्ति और 2. भाववती शक्ति। इनमें से

क्रियावती शक्ति के निमित्त से क्रिया होती है तथा भाववती शक्ति के निमित्त से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन होता है। क्रियावती शक्ति केवल जीव और पुद्गल द्रव्य में ही पाई जाती है शेष में नहीं। इसलिए भाववती शक्ति छहों द्रव्यों और क्रियावती शक्ति जीव तथा पुद्गलों में ही कही गई है।

द्रव्य के प्रदेशों के चलनात्मक परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं और अगुरुलघु गुण के निमित्त से प्रतिसमय होने वाले द्रव्य के धारावाही परिणमन को भाव कहते हैं।

द्रव्यों में क्रिया और भाव का पाया जाना असंभव नहीं है। कारण कि सब ही द्रव्यों के गुण सदैव परिणमनशील रहते हैं। कोई भी गुण कभी भी अपरिणामी नहीं होता है अतः प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु गुण के निमित्त से उत्पादादि त्रयरूप से परिणमन होते रहने के कारण, द्रव्यों में भाववती शक्ति का पाया जाना असंभव नहीं है और केवल पुद्गल तथा जीव द्रव्य के ही प्रदेश चलनात्मक होते हैं। इसलिये इन दोनों द्रव्यों में प्रदेशों के परिस्पन्द के पाये जाने से क्रिया पाई जाती हैं। शेष द्रव्यों में प्रदेश परिस्पन्द नहीं होता है। अतः आकाश, धर्म, अधर्म और काल - इन चार द्रव्यों में क्रिया नहीं पाई जाती है, इसलिए जीव और पुद्गल में क्रियावती शक्ति का पाया जाना असंभव नहीं है। ऐसा क्यों होता है इसका कारण वस्तु का स्वभाव ही वैसा है यह समझना चाहिये।

इसप्रकार द्रव्यों की सम्पूर्ण विशेषताओं का सामान्यरूप से वर्णन करके अब आगे - ग्रन्थकार जीव द्रव्य का विशेष रूप से वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं -

जीव द्रव्य का स्वरूप

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यं देशनारभ्यते मया।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात्।। 28।।

प्रागुद्देश्यः स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमन्वयात्।। 29।।

अब युक्ति आगम अनुभव से पूर्वाचार्यों के अनुसार।
जीव द्रव्य के बारे में मैं कहूँ देशना निम्न प्रकार।। 796।।

सर्व प्रथम वक्तव्य जीव तदनन्तर कहने योग्य अजीव।
क्रमशः आस्रवादि हैं, क्योंकि चित् अन्वय सबका आधार।। 797।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) अब (**पूर्वाचार्यानतिक्रमात्**) पूर्वाचार्यों के अनुसार ही (**युक्त्यागमानुभूतिभ्यः**) युक्ति आगम और अनुभव से (**अधिचिद् द्रव्यं**) जीव द्रव्य के विषय में (**मया देशना आरभ्यते**) मेरे द्वारा देशना प्रारम्भ की जाती है (**तद्यथा**) वह इसप्रकार है।। 28।।

(**प्राक् सः जीवः उद्देश्यः अस्ति**) सात तत्त्वों में से सबसे प्रथम वह जीव ही कथन करने के योग्य है (**ततः**) उसके बाद (**अजीवः**) अजीव और (**ततः**) उसके बाद (**क्रमात्**) क्रम से (**आस्रवाद्याः**) आस्रवादिक कथन करने के योग्य हैं (**यतः**) क्योंकि (**अन्वयात्**) शेष तत्त्वों में जीव का अन्वय पाया जाने से (**तेषां**) उन सब तत्त्वों का (**जीवः अधिष्ठानं**) जीव ही आधार है।।29।।

भावार्थ :- ग्रन्थकार, पूर्वाचार्यों की आम्नाय को उल्लंघन नहीं करके युक्ति आगम और स्वानुभव से जीव द्रव्य के विषय में विशेष वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

सातों ही तत्त्व जीव की अवस्था विशेष हैं इसलिए सप्त तत्त्वों का अधिष्ठान होने से सबसे प्रथम जीव का वर्णन किया जाता है। तदनन्तर क्रम क्रम से अजीव आस्रव व संवर निर्जरा और मोक्ष का वर्णन किया जायेगा।

जीव के स्वरूप का निरूपण

अस्ति जीवः स्वतःसिद्धोऽनाद्यनन्तोऽप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्माधिरूढ़त्वाद् द्रव्यमव्ययम्।। 30।।
साधारण-गुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपोऽप्यविश्वस्थः सर्वापेक्षोऽपि सर्ववित्।। 31।।
असंख्यात प्रदेशोऽपि स्यादखण्डप्रदेशवान्।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्य संस्थितोऽपि च।।32।।

जीव अनादि-अनन्त अमूर्तिक स्वतःसिद्ध अविनाशी है।
ज्ञानादिक अनन्त धर्मों में व्याप्त द्रव्य यह शाश्वत है।। 798।।
साधारण गुणयुक्त तथापि असाधारण धर्मों का पिण्ड।
विश्वरूप, पर है अविश्व सबसे निरपेक्ष सर्व ज्ञाता।। 799।।
असंख्य प्रदेशी होने पर भी जीव अखण्ड प्रदेशी है।
सर्व द्रव्य से भिन्न तथापि उनमें संस्थित रहता है।। 800।।

अन्वयार्थ :- (**स्वतःसिद्धः**) स्वयंसिद्ध (**अनाद्यनन्तः**) अनादि अनन्त (**अपि**) और (**अमूर्तिमान्**) अमूर्तिक (**जीवः**) जीव (**ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढ़त्वात्**) ज्ञान दर्शन आदि अनन्त धर्मों से युक्त होने के कारण (**अव्ययं द्रव्यं अस्ति**) अविनाशी द्रव्य है।। 30।।

आत्मा (**साधारणगुणोपेतः अपि**) साधारण गुणों से सहित होता हुआ भी (**असाधारण**

धर्मभाक्) असाधारण धर्म का धारण करने वाला है (**विश्वरूपः अपि**) सर्व पदार्थमय होता हुआ भी (**अविश्वस्थः**) सर्व पदार्थमय नहीं है और (**सर्वापेक्षः अपि**) सबसे निरपेक्ष होता हुआ भी (**सर्व वित्**) सर्व पदार्थों का ज्ञाता है।। 31।।

जीव (**असख्यातप्रदेशः अपि**) असंख्यात प्रदेशी होकर के भी (**अखण्ड-प्रदेशवान् स्यात्**) अखण्ड प्रदेशी है (**अपि च**) और (**सर्वद्रव्यातिरिक्तः अपि**) सम्पूर्ण द्रव्यों से भिन्न होकर भी (**तन्मध्ये संस्थितः**) सर्व द्रव्यों में रहने वाला है।। 32।।

भावार्थ :- स्वतःसिद्ध, अनाद्यनन्त और अमूर्तिक जीव ज्ञानादिक अनन्त गुणों के द्वारा युक्त होने से अविनाशी द्रव्य माना गया है।

यहाँ विरोधाभास अलंकार है। शब्द दृष्टि से विरोध मालूम होता है किन्तु अर्थ की अपेक्षा वह विरोध नहीं रहता है। जैसे कि जीव साधारण गुणों से सहित होकर भी साधारण धर्मों को धारण करने वाला नहीं है - इस तरह विरोध मालूम होता है, परन्तु अस्तित्वादि साधारण गुणों से युक्त हो करके भी जीव सम्यक्त्वादिक असाधारण धर्मों को धारण करने वाला है, अतः शाब्दिक परिहार हो जाने से दोनों विशेषण सार्थक सिद्ध हो जाते हैं।

विश्वरूप होकर भी अविश्वस्थ होने में विरोध मालूम होता है, किन्तु विश्व अर्थात् सब पदार्थों को जानता है, इसलिए यद्यपि विषय में विषयी के उपचार से वह विश्वस्थ कहा गया है, तो भी वह सर्व पदार्थमय नहीं हो जाता है, इसलिए 'अविश्वस्थ' विशेषण भी सार्थक सिद्ध हो जाता है।

सर्व निरपेक्ष होकर भी सर्व पदार्थों के ज्ञाता होने में विरोध मालूम होता है, किन्तु जीव यद्यपि निश्चयनय से अपने-अपने स्वरूप में किसी भी द्रव्य से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता है, तो भी वह स्वभाव से सर्व पदार्थों का ज्ञाता है। इस प्रकार विशेष अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों विशेषणों में किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है, प्रत्युत विशेष ज्ञान होता है।

जीव असंख्यात प्रदेशी होकर भी अखण्ड प्रदेशी है अर्थात् जीव लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशवान् है, इसलिए उसको असंख्यात प्रदेशी कहा है, परन्तु वह अपने अंशों से कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता, इसलिए अखण्ड प्रदेशी कहा जाता है; तथापि जीव सम्पूर्ण द्रव्यों से भिन्न होकर के भी सर्व द्रव्यवर्ती है अर्थात् निश्चयनय से सभी जीवादिक द्रव्य अपने-अपने स्वभावों के कारण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होकर अपने-अपने में ही रहते हैं। किसी का किसी से आधार-आधेयभाव नहीं है। इसलिए जीव द्रव्य भी सर्व द्रव्यों से भिन्न कहा जाता है। तथापि लोकाकाश का ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ छहों द्रव्य नहीं रहते हैं, इसलिए जीव द्रव्य सर्व द्रव्यों में संस्थित भी कहा जाता है।

इसप्रकार जीव तत्त्व के स्वरूप को कहकर आगे उसके प्रकारों का वर्णन करते हैं –

संसारी जीव का स्वरूप

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः।
स्याद् द्विधा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः।। 33।।
बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ।। 34।।
यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः।। 35।।
द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः।। 36।।
तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः।
बन्धाभावोऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम्।। 37।।
अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः।। 38।।
एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा।
द्रव्याभावो गुणाभावो क्रोधादीनामदर्शनात्।। 39।।
तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोमिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत्।। 40।।

जीव शुद्ध अरु एकरूप है शुद्ध-नयापेक्षा जानो।
वही जीव पर्यायार्थिक नय से संसारी-सिद्ध लखो।। 801।।
कर्मबद्ध जो संसारी वह निज-स्वरूप से वञ्चित है।
वह अनादि से ज्ञानावरणादिक कर्मों से मूर्छित है।। 802।।
जैसे जीवात्मा अनादि वैसे अनादि से पुद्गल है।
जीव-कर्म सम्बन्धरूप दोनों का बन्ध अनादि है।। 803।।
स्वर्ण और पाषाण की तरह है अनादि दोनों का बन्ध।
यदि अनादि से नहिं मानें तो इतरेतराश्रय दोष प्रसंग।। 804।।

यदि अनादि से कर्म-रहित यह जीव शुद्ध माना जाये।
तो न बन्ध भी माना जाये, शुद्ध बँधे तो शिव कैसे।। ८05।।

यदि अनादि से शुद्ध सर्वथा पुद्गल को माना जाये।
तो आत्मा में ज्ञान अहेतुकवत् क्रोधादिक भी होंगे।। ८06।।

क्रोधादिक स्वभाव हो तो फिर बन्धन का सद्भाव सदा।
या उनका अभाव मानें तो गुणाभाव से द्रव्य-अभाव।। ८07।।

अतः जीव एवं कर्मों का बन्ध अनादि सिद्ध होता।
सादि-बन्ध नहिं सिद्ध हुआ क्योंकि कोई दृष्टान्त नहीं।। ८08।।

अन्वयार्थ :- (**अथ शुद्धनयादेशात्**) शुद्धनय की अपेक्षा से (**यः**) जो जीव (**शुद्धः**) शुद्ध (**अपि च**) और (**एकविधः**) एक प्रकार का है (**सः**) वही जीव (**पर्यायात्**) पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से (**मुक्तामुक्तप्रभेदतः**) मुक्त और संसारी जीव के भेद से (**द्विविधः अपि**) दो प्रकार का भी (**स्यात्**) है।। 33।।

(**यथा**) जैसे कि (**यः**) जो (**अनादितः**) अनादिकाल से (**अष्टाभिः ज्ञानाद्या वृतिकर्मभिः**) ज्ञानावरणादि आठों कर्म से (**मूर्च्छितः**) मोहित होकर (**अलब्ध-स्वरूपवान्**) अपने स्वरूप को नहीं पाने वाला और (**बद्धः**) बँधा हुआ है (**सः संसारी स्यात्**) वह संसारी जीव है।। 34।।

(**यथा**) जैसे (**सः जीवात्मा अनादिः**) वह जीवात्मा अनादि है (**च**) और (**यथा**) जैसे वह (**पुद्गलः अनादिः**) पुद्गल अनादि है (**तथा**) वैसे ही (**तयोः द्वयोः जीवकर्मणोः**) उन दोनों जीव और कर्मों का (**सम्बन्धः बन्धः अपि**) सम्बन्धरूप बंध भी (**अनादिः स्यात्**) अनादि है।। 35।।

(**कनकोपलसन्निभः**) सुवर्ण और पत्थर के समान (**द्वयोः**) उन दोनों जीव और कर्म का (**अनादिसम्बन्धः**) अनादि सम्बन्ध है क्योंकि (**अन्यथा**) जीव तथा कर्म का अनादि सम्बन्ध न मानने से (**इतरेतरसंश्रयः दोष एव स्यात्**) अन्योन्याश्रय नामक दोष आता है।। 36।।

(**तद्यथा**) उस अन्योन्याश्रय दोष का खुलासा इसप्रकार है कि (**यदि**) यदि (**जीवः**) जीव (**प्राक् एव तादृशः**) बन्ध से पहले ही वैसा (**निष्कर्मा**) निष्कर्म रहता है तो (**बन्धाभावः**) बन्ध नहीं होना चाहिये (**अथ**) और यदि कहो कि (**शुद्धे अपि**) शुद्ध होने पर भी (**बन्धः चेत्**) बंध होता है तो (**निवृत्तिः कथं**) मोक्ष कैसे हो सकता है ?।। 37।।

(**अथ चेत्**) यदि कहो कि अनादि से (**सर्वतः प्राक् अनादितः**) सबसे पहले सब जीवों में (**पुद्गलः शुद्धः**) पुद्गल शुद्ध है तो (**यथा**) जैसे (**हेतोः विना**) बिना किसी कारण के-

स्वभाव होने के कारण (**आत्मनः ज्ञानं**) आत्मा के ज्ञान रहता है (**तथा क्रोधादिः**) वैसे ही बिना किसी कारण के आत्मा में क्रोधादिक रहते हैं, यह मानना पड़ेगा।। 38।।

(**एवं**) इसप्रकार (**हेतोः सद्भावतः**) हेतु के सद्भाव से अर्थात् क्रोधादिक को निर्निमित्त मानने के कारण (**बन्धस्य नित्यत्वं**) बन्ध को नित्यपने का प्रसंग आयेगा अर्थात् बन्ध नित्य हो जावेगा (**अथवा**) अथवा (**क्रोधादीनां अदर्शनात्**) क्रोधादिक के अदर्शन से (**गुणाभावे**) गुणों के अभाव में (**द्रव्याभावः**) द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा।। 39।।

(**तत्**) इसलिए (**सादिसिद्धेः असिद्धत्वात्**) सादि सम्बन्ध के असिद्ध होने से (**जीव-कर्मोभयोः मिथः**) जीव और कर्म इन दोनों के परस्पर में (**सिद्धसम्बन्धः**) प्रसिद्ध अनादि सम्बन्ध (**सिद्धः**) सिद्ध होता है (**च**) तथा (**तत् सादिसिद्धः असिद्धत्वं**) उस सादि सम्बन्ध की सिद्धि की असिद्धता (**असत् संदृष्टितः**) जीव और कर्म में सादि-सम्बन्ध सिद्ध करने वाले किसी दृष्टान्त के नहीं मिलने से सिद्ध होती है।। 40।।

भावार्थ :- शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं कहा जाता है। इसलिए उस नय की अपेक्षा से जीव शुद्ध और एकप्रकार के कहे जाते हैं तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से जीवों में भेद कहा जाता है। इसलिए उस नय की अपेक्षा से जीव संसारी और मुक्तरूप से दो प्रकार के कहे जाते हैं।

जो अनादिकाल से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से मूर्छित होकर अपने स्वरूप को नहीं जानता है। वही कर्म से बंधा हुआ संसारी जीव कहलाता है।

इस प्रकार संसारी जीव को कर्मों से बंधा हुआ बता करके अब आगे जीव का कर्म के साथ जो बंध हो रहा है उसके विषय में विचार करते हैं -

जैसे स्वभाव सिद्ध होने से जीव और पुद्गल ये दोनों अनादि हैं, वैसे ही स्वतःसिद्ध जीव तथा कर्मों का सम्बन्ध भी अनादि से है।

संयोग विशेष को बन्ध कहते हैं। संयोग चार प्रकार का है - 1. सादिसांत 2. अनादि सांत 3. सादि अनन्त और 4 अनादि अनन्त। इनमें से जीव तथा कर्म का अनादिसांत संयोग है। जिसप्रकार खान से निकले हुए सुवर्ण पाषाण में सुवर्ण और पाषाण का अनादि सम्बन्ध है, किन्तु सुवर्णकार के द्वारा उसमें से सुवर्ण के पृथक् किये जाने पर यह निश्चित होता है कि इसमें पाषाण का सम्बन्ध था। उसी प्रकार जीव तथा कर्मों में भी अनादि सम्बन्ध है, किन्तु भेदविज्ञानियों के द्वारा ध्यानाग्नि में तपाये जाने पर वह आत्मा कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है और फिर कर्म-बन्ध नहीं होता, इसलिए जीव व कर्मों का, मुक्ति प्राप्त करने वाले भव्य जीव की अपेक्षा से कनकोपल के समान

अनादिसान्त संयोग बताया गया है। यदि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिसांत नहीं माना जायेगा तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा।

यदि जीव और कर्म का अनादि संयोग न मानकर सादिसंयोग माना जायेगा तो कर्म के सम्बन्ध से पहले जीव को मुक्त के समान निष्कर्म होना चाहिये; तथा निष्कर्म आत्मा के पूर्वबद्ध कर्म की अशुद्धता के निमित्त के बिना कदाचित् शुद्ध होने पर भी बन्ध माना जायेगा तो जब-जब आत्मा शुद्ध होगा तब-तब बन्ध का प्रसंग आने से आत्मा कभी भी शुद्ध नहीं हो सकेगा। अतएव प्राक् (अनादि से) शुद्ध होने पर जब बन्ध सिद्ध हो तब सादि संयोग सिद्ध हो और जब सादि संयोग सिद्ध हो तब प्राक् शुद्ध सिद्ध हो।

यदि कदाचित् उक्त अन्योन्याश्रय दोष के परिहार के लिए कहो कि पुद्‌गल अनादि से शुद्ध है, जीव के निमित्त से वह अशुद्ध नहीं होता है; तो आत्मा का स्वभाव होने से जैसे आत्मा में बिना किसी कारण के सदैव ज्ञान पाया जाता है वैसे ही बिना किसी कारण के आत्मा में क्रोधादिक भी सदैव पाये जाना चाहिए।

सारांश यह है कि पुद्‌गल को सर्वथा शुद्ध मानने पर ज्ञानादिक की तरह क्रोधादिक का भी आत्मा में निर्निमित्त सद्भाव पाये जाने से क्रोधादिक को भी ज्ञानादिक के समान सदैव मानने का प्रसंग आवेगा।

यदि क्रोधादिक निर्निमित्त होते हैं, उनके लिए किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं है तो उन क्रोधादिक की सदैव संभावना होने से बन्ध में नित्यता का प्रसंग आवेगा; क्योंकि वास्तव में क्रोधादिक को ही बंध कहते हैं; अथवा क्रोधादिक निर्निमित्त होने से वे भी ज्ञानादिक की तरह आत्मा के गुण हो जायेंगे और उनके अभाव में द्रव्य के भी अभाव का प्रसंग आवेगा।

इसलिए जीव और कर्मों के सादि-सम्बन्ध के मानने में बन्ध की नित्यता तथा द्रव्याभाव के प्रसंगरूप दो दोषों के आने के कारण उन दोनों का परस्पर में अनादि-सम्बन्ध सिद्ध होता है तथा जीव और कर्मों के सम्बन्ध को सादि सिद्ध करने के लिये कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता है; इसलिये भी उन दोनों का अनादि-संबंध सिद्ध होता है। अब उनके इसी अनादि संबंध को बताते हैं-

जीव और कर्मों का अनादि सम्बन्ध

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत्।। 41।।
पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद् बन्धः पुनस्ततः।। 42।।

एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना।। 43।।
न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात् सापेक्षस्तद्द्वयोरिति।। 44।।
अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी।। 45।।

पूर्वबद्ध कर्मोदय ही रागादि भाव का कारण है।
रागादिक कारण कर्मों के मानों प्रत्युपकारी हैं।। 809।।
कर्मोदय से रागभाव हो रागादिक से कर्म बँधें।
पुनः उदय से रागभाव अरु पुनः राग से कर्म बंधे।। 810।।
इस प्रकार सन्तानरूप से जीव कर्म का है सम्बन्ध।
यह संसार न छूट सके यदि प्राप्त न हो निधि रत्नत्रय।। 811।।
मात्र प्रदेशों का सम्बन्ध नहीं बन्धन कहलाता है।
भाव-अशुद्ध जीव-कर्मों के रखें अपेक्षा बन्धन में।। 812।।
चुम्बक और सुईवत् जीव-कर्म में भिन्न-भिन्न रहती।
इनमें बन्ध कराने वाली है विभाव नामक शक्ति।। 813।।

अन्वयार्थ :- (**प्रत्युपकारिवत्**) परस्पर उपकारक की तरह (**जीवस्य**) जीव के (**अशुद्ध-रागादिभावानां**) अशुद्ध रागादिक भावों का (**कारणं**) कारण (**कर्म**) द्रव्य-कर्म है और (**तस्य कर्मः**) उस द्रव्य कर्म के कारण (**रागादिभावाः**) रागादिक भाव है।। 41।।

(**पूर्वकर्मोदयात् भावः**) पूर्वबद्ध कर्म के उदय से रागादिक भाव होते हैं और (**भावात् प्रत्यग्र संचयः**) उन रागादिक भावों से नवीन कर्मों का संचय होता है तथा (**तस्य पाकात्**) उन नवीन कर्म के उदय से (**पुनः भावः**) फिर रागादिक भाव होते हैं और (**ततः भावात्**) उन रागादिक भावों से (**पुनः बन्धः**) फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता है (**एवं**) इसप्रकार (**संतानतः**) सन्तान परम्परा से जो (**जीवकर्मणोः अनादिसम्बन्धः**) जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है वही (**संसारः**) संसार है (**च**) तथा (**सः**) वह संसार (**सम्यग्दृगादिना विना**) सम्यग्दर्शनादिक के बिना (**दुर्मोच्यः**) छूट नहीं सकता है।। 42-43।।

(**इति**) इसप्रकार (**तद्द्वयोः**) उन जीव और कर्मों के (**अशुद्धैः भावैः**) अशुद्ध भावों से

(सापेक्षः) अपेक्षा रखने वाला **(सः बन्धः अपि)** वह बन्ध भी **(केवलं)** केवल **(प्रदेशानां)** प्रदेश के **(सम्बन्धमात्रतः)** सम्बन्ध मात्र से ही **(न स्यात्)** नहीं होता है।। 44।।

(तद्द्वयोः) उन दोनों जीव और कर्म में **(पृथक्)** भिन्न-भिन्न **(मिथः)** परस्पर में **(बन्धाधिकारिणी)** बन्ध को कराने वाली **(अयस्कांतोपलाकृष्टसचीवत्)** चुम्बक पत्थर के द्वारा खिंचनेवाली लोहे की सुई के समान अर्थात् आकर्षक तथा आकृष्यरूप **(विभावाख्या शक्तिः अस्ति)** विभाव नाम की शक्ति है।। 45।।

भावार्थ :- प्रत्युपकारी के समान जीव के अशुद्ध रागादिक भाव, द्रव्य कर्म के लिये और द्रव्य कर्म, अशुद्ध रागादिक भावों के लिये कारण होते हैं; अर्थात् अशुद्ध रागादिक भावों के निमित्त से कर्मों का बंध होता है तथा उनके निमित्त से आत्मा के चारित्र गुण के विकाररूप अशुद्ध रागादिक भावों की उत्पत्ति होती है और उन अशुद्ध रागादिक के निमित्त से फिर नवीन कर्मों का बंध होता है; तथा उन नवीन कर्मों के निमित्त से फिर अशुद्ध रागादिक भावों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्युपकारी के समान द्रव्य-कर्म और अशुद्ध-रागादिक भाव परस्पर में एक-दूसरे के कारण होते हैं।

पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से भाव-बन्ध (रागादिक) और भाव-बन्ध से नवीन कर्मों के ग्रहणरूप द्रव्य-बन्ध होता है; तथा फिर उन नवीन कर्मों के उदय से भाव-बन्ध होता है और उस भाव-बन्ध से फिर नवीन कर्म का बन्ध होता है। इसप्रकार भाव-बन्ध के निमित्त से द्रव्य-बन्ध तथा द्रव्य-बन्ध के निमित्त से भाव-बन्ध की परस्परा ही जीव और कर्मों के अनादि-सम्बन्ध को सिद्ध करती है; तथा इस जीव-कर्म के अनादि-सम्बन्ध को ही संसार कहते हैं और वह संसार सम्यग्दर्शनादिक के बिना दुर्मोच्य है।

जीव के रागादिक भावों से जो कर्म, बन्ध को प्राप्त होते हैं, उनके साथ विस्रसोपचयरूप कर्म भी रहते हैं; और उनका भी आत्मा के प्रदेश के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होना माना है। यदि उन दोनों आत्मा और कर्मों के एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र को बन्ध माना जाता तो विस्रसोपचयरूप कार्माण वर्गणायें भी बद्ध कहलाती, किन्तु वे बद्ध नहीं कहलाती हैं। इसलिये प्रदेशों के सम्बन्धमात्र को बन्ध नहीं कहते हैं, किन्तु उन दोनों के अशुद्ध-भाव की अपेक्षा से होने वाले जीव और पुद्गल के एकत्व-बुद्धिजनक रागादिरूप सम्बन्ध विशेष को कहते हैं तथा वह बन्ध केवल जीव और पुद्गल में उनकी वैभाविक शक्ति के द्वारा होता है।

जैसे लोहे में आकृष्य शक्ति के तथा चुम्बक में आकर्षक शक्ति के रहने से परस्पर उन दोनों में आकर्षण होता है, वैसे ही जीव में वैभाविक नाम की आकर्षक और पुद्गल में आकृष्यरूप अर्थात् खिंचे जाने योग्य बँधनेरूप जो वैभाविक शक्ति है, उसके निमित्त से जीव व पुद्गल इन दोनों

का परस्पर में बंध होता है। यही कारण है कि जीव का पुद्गल के साथ बंध होता है इतर द्रव्यों के साथ नहीं। यहाँ इतनी विशेषता और समझना चाहिये कि पुद्गलों में दो प्रकार की वैभाविक शक्तियाँ हैं। एक तो वह वैभाविक शक्ति है कि जिसके निमित्त से वह जीव के साथ बंध को प्राप्त हो सकता है; तथा दूसरी वह वैभाविक शक्ति कि जिसके निमित्त से वह पुद्गल, पुद्गल के साथ सजातीय बंध को प्राप्त हो सकता है। इसप्रकार जीव और पुद्गल में वैभाविक शक्ति के मानने के कारण, जीव तथा पुद्गल में ही बंध क्यों होता है। इतर द्रव्यों के साथ उनका बंध क्यों नहीं होता है ? और अनादिकाल से जीव, कर्मों के साथ बंध को प्राप्त क्यों होता आ रहा है इत्यादि प्रश्नों का निराकरण हो जाता है।

बन्ध के तीन प्रकार

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात्।। 46।।
रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा।। 47।।
इतरेतरबन्धश्च देशानां तद् द्वयोर्मिथः।
बन्ध्य बन्धकभावः स्यात् भावबन्धनिमित्ततः।। 48।।

भाव द्रव्य अरु उभय भेद से तीन तरह का बन्ध कहा।
भाव-द्रव्य दोनों में होते पृथक् तीसरा उभय मिलें।। 814।।

भाव-बन्ध रागादिरूप है जीव-बन्ध कहलाता है।
द्रव्य-बंध पौद्गलिक कर्ममय अथवा उनकी शक्ति है।। 815।।

दोनों के प्रदेश में होता बन्धक-बन्ध्य परस्पर भाव।
भाव-बन्ध के ही निमित्त से उभय बन्ध कहलाता है।। 816।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थतः**) वास्तव में (**भावद्रव्योभयात्मकः**) भाव, द्रव्य और उभय इस तरह (**बन्धः त्रिविधः**) बन्ध तीन प्रकार का है उनमें से (**क्रमात् प्रत्येकं तद् द्वयं यावत्**) क्रम से भाव-बन्ध तथा द्रव्य-कर्मबन्ध - ये दो बंध प्रत्येक स्वतंत्ररूप से होते हैं और (**तृतीयः द्वन्द्वजः**) तीसरा उभय-बंध दोनों के मेल से होता है।। 46।।

(**यः रागात्मा भावबन्धः**) जो रागादिरूप भाव-बन्ध है (**सः जीव-बन्धः इति स्मृतः**) वह जीव-बन्ध कहलाता है और (**पौद्गलिक पिण्डः द्रव्यं**) द्रव्य-कर्मरूप पौद्गलिक पिंड को द्रव्य-बन्ध (**वा**) अथवा (**तच्छक्तिः एव बंधः**) कर्म की शक्ति का ही नाम द्रव्य-बन्ध है।।47।।

(च तथा तद् द्वयोः) उन जीव और कर्मों के **(देशानां)** प्रदेशों का **(मिथः)** परस्पर में **(भावबन्धनिमित्ततः)** भावबन्ध के निमित्त से जो **(बन्ध्यबन्धकभावः)** बन्ध्य-बन्धक भाव है वह **(इतरेतरबन्धः स्यात्)** इतरेतर बन्ध-उभय बन्ध कहलाता है।। 48।।

भावार्थ - बंध तीन प्रकार के होते हैं - 1. भावबन्ध, 2. द्रव्यबन्ध और 3. उभयबन्ध। उनमें से बन्ध के मूल कारणभूत जीव के अशुद्ध रागादिक भावों को भाव-बन्ध कहते हैं तथा कर्मस्कंधों को द्रव्य-बन्ध कहते हैं और दोनों के संबंध होने पर होने वाले तृतीय अवस्थारूप बंध को उभय-बंध कहते हैं। आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

नवीन कर्मों के निमित्तभूत रागादिक भाव को भाव-बन्ध कहते हैं। इस बंध का दूसरा नाम जीव-बन्ध भी है और पुद्गल पिण्डाकार कर्म को अथवा उनकी ज्ञानादिक को घातने वाली शक्ति को द्रव्य-बंध कहते हैं।

रागादिरूप परिणत जीव के प्रदेशों का तथा कर्म के प्रदेशों का परस्पर में रागादिक भाव-बन्ध के निमित्त से जो बंध्य-बंधकभाव होता है उसको उभय-बंध कहते हैं। जैसे हल्दी और चूना के परस्पर में अत्यन्त संश्लेष होने से दोनों ही अपनी-अपनी पूर्व अवस्था से च्युत होकर तृतीय अवस्थारूप लालिमा को धारण करते हैं; वैसे ही रागादि परिणत अशुद्ध आत्मा के प्रदेश तथा पुद्गल के प्रदेश, भाव-बन्ध रागादिक के निमित्त से अपनी-अपनी पूर्व अवस्था से च्युत होकर तीसरी अशुद्ध परिणतिरूप अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं; इसी का नाम उभयबंध है और यही वास्तविक बन्ध है, क्योंकि पहले दो बंध की योग्यता के कारण बंध कहलाते हैं जैसे चूना तथा हल्दी। अब आगे इस बंध के कारणभूत जीव और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं -

जीव और कर्म के अस्तित्व की सिद्धि

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा चित्समक्षोपलब्धितः।। 49॥

अहम्प्रत्ययवेद्यत्त्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः।। 50।।

स्वतःसिद्धि से जीव और कर्मों का होता है अस्तित्व।
स्वानुभूति गर्भित युक्ति अरु संवेदन-समक्ष से सिद्ध।। 817।।

प्रत्यय-अहं वेद्यरूप अन्वय से अस्ति जीव की सिद्ध।
कोइ दरिद्री कोई श्रीमत् अतः कर्म का है अस्तित्व।। 818।।

अन्वयार्थ :- (स्वतःसिद्धेः) स्वतःसिद्धि से तथा **(स्वानुभवगर्भयुक्तेः)** स्वानुभव सहित

युक्तियों से **(वा)** और **(चित्समक्षोपलब्धितः)** स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से **(जीवकर्मणोः अपि)** जीव-कर्म का **(अस्तित्वं)** अस्तित्व **(असिद्धं न)** असिद्ध नहीं है।। 49।।

अन्वयार्थ :- (अहंप्रत्ययवेद्यत्वात्) अहं प्रत्यय वेद्यरूप **(अन्वयात्)** अन्वय से **(जीवस्य)** जीव का **(अस्तित्व)** अस्तित्व सिद्ध होता है और **(हि)** निश्चय से **(एकः दरिद्रः)** कोई दरिद्री **(च)** तथा **(एकः श्रीमान्)** कोई श्रीमान् होता है **(इति)** इसलिए इस दशा की विचित्रता से **(कर्मणः)** कर्म का **(अस्तित्वं)** अस्तित्व सिद्ध होता है।। 50।।

भावार्थ :- उभय-बन्ध की सिद्धि के लिए सबसे पहले जीव और कर्मों के अस्तित्व को सिद्ध करना आवश्यक है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जीव तथा कर्म का अस्तित्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वतःसिद्ध स्वानुभव से गर्भित युक्तियों से तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष के द्वारा वह सिद्ध होता है। अब आगे इन दोनों के अस्तित्व की सिद्धि में युक्ति को बताते हैं -

प्रत्येक जीव में जो निरंतर अहं प्रत्यय (मैं ऐसा अनुभव) पाया जाता है उसी से आत्मा का बोध होता है, अतः सदैव अन्वयपूर्वक पाये जाने वाले अहं प्रत्यय से जीव की सिद्धि होती है। और सब जीवों के सदृश होने पर तथा सदृश उद्योग के करते रहने पर भी कोई दरिद्री और कोई श्रीमान् देखा जाता है। अतः दारिद्र व श्रीमतपने के कारणभूत कर्मों के सद्भाव का अनुमान किया जाता है।

इसप्रकार स्वानुभवगर्भित युक्ति से तथा स्वानुभव से जीव और कर्म का अस्तित्व सिद्ध करके आगे जीव तथा कर्मों के अनादि व स्वतःसिद्ध संयोग को सिद्ध करते हैं।

यथास्तित्वं स्वतःसिद्धं संयोगोऽपि तथानयोः।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ।। 51।।

जैसे स्वतःसिद्ध दोनों की सत्ता, वैसे ही संयोग।
नहि तो कर्ता भोक्ता आदि भावों की उपपत्ति न हो।। 819।।

अन्वयार्थ :- (यथा) जैसे **(अनयोः)** जीव और कर्म का **(अस्तित्वं)** अस्तित्व **(स्वतः सिद्धं)** स्वतःसिद्ध है **(तथा)** वैसे ही **(सयोगः अपि)** उन दोनों का संयोग भी स्वतःसिद्ध है क्योंकि **(अन्यथा)** यदि उनका संयोग स्वतःसिद्ध नहीं माना जायगा तो **(कर्तृभोक्त्रादिभावानां)** उनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि भाव की **(अनुपत्तितः)** उपपत्ति नहीं बन सकेगी।। 51।।

भावार्थ :- जिस प्रकार जीव और कर्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है, उसी प्रकार उन दोनों का संयोग भी स्वतःसिद्ध है, क्योंकि यदि जीव तथा कर्म का संयोग स्वतःसिद्ध नहीं होता तो जीव में कर्ता और भोक्तापना नहीं बनता; अर्थात् यदि कर्म-संयोग न होते तो कर्म के फल का भोगना व कर्म का करना - ये दोनों ही भाव जीव में कैसे संभव होते ? कारण कि जीव जो कर्म करता

है और उनका फल भोगता है, वह सब उस स्वत:सिद्ध कर्म संयोगपूर्वक ही होता है। जिस समय कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है, उस समय न वह किसी प्रकार के भाव-कर्म करता है तथा न उनके शुभाशुभ फल को ही भोगता है, इसलिए कर्म-कर्तृत्व और भोक्तृत्व से जीव तथा कर्म के स्वत:सिद्ध संयोग की सिद्धि होती है।

इस प्रकार जीव और कर्म के अनादि स्वत:सिद्ध संयोग को सिद्ध करके आगे मूर्त कर्मों के साथ आत्मा का बन्ध कैसे होता है, इस विषय में ऊहापोहपूर्वक विचार करते हैं।

शंका

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्वयणुकादिवत्।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चित:।। 52।।

समाधान

नैवं यत: स्वत:सिद्ध: स्वभावोऽतर्कगोचर:।
तस्मादर्हति आक्षेपं चेत्परीक्षां च सोऽर्हति।। 53।।
अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत्।
एवं विध: स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम्।। 54।।
तथाऽनादि: स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणो:।
कुत: केन कृत: कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत्।। 55।।
चेद् बुभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम्।। 56।।
अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुत:।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत्।। 57।।
नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धित:।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद् द्वयम्।। 58।।

द्वयणुक आदि स्कन्ध की तरह मूर्तिक का मूर्तिक से बन्ध !
अत: सिद्ध नहिं मूर्त-कर्म से अमूर्तिक आत्मा का बन्ध।। 820।।

ठीक न यह क्योंकि स्वभाव जो स्वत:सिद्ध, नहिं तर्क विषय!
इसीलिए आक्षेप योग्य नहिं, किन्तु परीक्षा करने योग्य।। 821।।

यथा ऊष्णता अग्नि का लक्षण, न किसी से है उत्पन्न !
वह स्वभाव से ही है ऐसा, चाहो तो छूकर देखो।। 822।।
वैसे जीव और कर्मों का स्वयं अनादि से है बन्ध।
तो किसने कैसे कब बन्ध किया यह शंका व्योम-सुमन।।823।।
जीव-कर्म का बन्धन है या नहीं यदि जिज्ञासा हो।
स्वानुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान से इसका भी निर्णय कर लो।। 824।।
वास्तव में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्तिक हैं दोनों।
किन्तु मूर्त-मद्यादि पान से मूर्छित हो जाते दोनों।। 825।।
जैसा जग में देखा जाता उसकी मूर्छा नहीं असिद्ध।
क्योंकि मद्य नहिं पीने वाला पिये हुए वत् नहिं मूर्छित।। 826।।

अन्वयार्थ - (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**द्वयणुकादिवत्**) जैसे द्वयणुक आदि स्कंधों ने मूर्तिमान् परमाणुओं का मूर्त परमाणुओं से ही बन्ध होता है, वैसे ही (**मूर्तिमता मूर्तः बध्यते**) मूर्तिमान् के साथ मूर्त का बन्ध हो सकता है, इसलिए उक्त दृष्टांत से (**स्फुटं**) यह स्पष्ट है कि (**मूर्तिमत् कर्मणा**) मूर्तिमान कर्म के साथ (**अमूर्तस्य चितः बन्धः न**) अमूर्त आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता।। 52।।

(**एवं न**) इसप्रकार का कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**स्वतःसिद्धः स्वभावः**) अनादिकाल के स्वतःसिद्ध-स्वभाव (**अतर्कगोचरः**) तर्क का विषय नहीं होता है (**तस्मात्**) इसलिये (**सः**) वह स्वतःसिद्ध स्वभाव (**आक्षेपं न अर्हति**) आक्षेप करने के योग्य नहीं है (**च**) और (**चेत्**) यदि चाहो तो (**परीक्षां अर्हति**) उसकी परीक्षा की जा सकती है।। 53।।

(**यथा**) जैसे (**यत्**) जो (**अग्नेः औष्ण्यं लक्ष्म**) अग्नि का ऊष्णतारूप लक्षण है (**तत्**) वह (**हि**) निश्चय से (**केन अपि अर्जितं न**) किसी ने भी बनाया नहीं है किन्तु (**स्वभावात् वा एवं विधः**) स्वभाव से ही वह ऐसा है (**न चेत्**) यदि उसे ऐसा नहीं मानते हो तो (**स्पर्शेन स्पृश्यतां**) स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श करके मालूम कर लिया जाय (**तथा**) वैसे ही (**जीवपुद्गलकर्मणो**) जीव और पुद्गलस्वरूप कर्मों का (**बन्धः**) बन्ध (**स्वतः अनादि**) स्वयं अनादि है, इसलिये (**कुतः**) किस कारण से हुआ (**केन कृतः**) किसने किया तथा (**कुत्र**) कहाँ हुआ (**अयं प्रश्नः**) यह प्रश्न (**व्योमपुष्पवत्**) आकाश के फूल की तरह व्यर्थ है।।54-55।।

(**चेत्**) यदि (**तथा वा स्यात् अन्यथा वा**) जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि है किंवा सादि है/

अनादि नहीं है (**इति**) यह (**बुभुत्सा**) जानने की इच्छा (**ते चित्ते अस्ति**) तेरे हृदय में हो तो (**स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण**) स्वानुभव प्रत्यक्ष से (**विमृश्यतां**) परीक्षा कर ली जावे।।56।।

(**वस्तुतः**) वास्तव में (**मतिज्ञानं**) मतिज्ञान (**च**) और (**श्रुतज्ञानं**) श्रुतज्ञान (**अमूर्तं अस्ति**) अमूर्त हैं, किंतु (**तत्**) वह दोनों प्रकार का ज्ञान (**समूर्तेन मद्यादिना**) मूर्तिक मद्य आदि के सम्बन्ध से (**तत्पाकानुसारि स्यात्**) मद्यादिक के परिपाक के अनुसार मूर्च्छित हो जाता है।।57।।

(**यथादृष्टोपलब्धितः**) यथा दृष्टोपलब्धि से अर्थात् जैसा कि लोक में देखा जाता है, यदि उसके अनुसार वास्तव में देखा जाये तो (**तथायोगात्**) मद्यादिक के सम्बन्ध से (**तत्**) वे दोनों मति और श्रुतज्ञान मूर्च्छित हो जाते हैं – यह कथन (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है (**यस्मात्**) क्योंकि (**तद्द्वयं**) वे दोनों मति–श्रुतज्ञान (**विना मद्यादिना**) मद्यादिक के बिना (**तद्विशिष्टं न**) मद्य पीने वाले के समान मलिन/विकारयुक्त नहीं होते हैं।।58।।

भावार्थ :– शंकाकार का कथन है कि द्वयणुकादिक स्कन्धों में मूर्तिमान का मूर्तिमान से ही संयोग बंध देखा जाता है। इसलिए मूर्तिक कर्मों के साथ अमूर्तिक आत्मा का बन्ध नहीं होना चाहिए।

जीव और कर्मों में वैभाविकी शक्ति नाम का एक गुण माना है। उसके अशुद्ध परिणमन के निमित्त से जीव व कर्मों में परम्परा से अनादि सम्बन्ध हो रहा है। वह वैभाविकी शक्ति जीव तथा पुद्गल की स्वाभाविक शक्ति है। इसलिए उसके निमित्त से स्वत:सिद्ध जीव और कर्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि अमूर्तिक जीव से उनका सम्बन्ध क्यों हुआ? कारण कि स्वभाव में तर्क नहीं किया जा सकता। इसलिए इस विषय में आक्षेप नहीं किया जा सकता, हाँ! यदि चाहो तो परीक्षा की जा सकती है।

जीव और कर्म के स्वत:सिद्ध अनादि सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जैसे अग्नि का उष्णता लक्षण है, वह किसी ने अग्नि में उत्पन्न नहीं किया; किन्तु वह अग्नि स्वत:सिद्ध ऊष्ण है, इसलिए अग्नि ऊष्ण क्यों हुई इस प्रकार का प्रश्न नहीं किया जा सकता। हाँ यदि कोई न माने तो स्पर्श के द्वारा परीक्षा कर सकता है। वैसे ही जीव और कर्म का वैभाविक शक्ति के निमित्त से जो स्वत:सिद्ध अनादि सम्बन्ध है उसमें, किसने किया? कहाँ किया? इसप्रकार के प्रश्न नहीं किये जा सकते हैं। प्रत्युत ऐसे प्रश्न करना आकाश कुसुम के समान अलीक (व्यर्थ) है।

यदि तुम्हारे चित्त में यह जिज्ञासा हो कि जीव और कर्म का बंध अनादि से स्वत:सिद्ध है या नहीं तो स्वानुभूति प्रत्यक्ष से उसकी परीक्षा की जा सकती है।

अब आगे मूर्तिक कर्मों के साथ होने वाले अमूर्तिक आत्मा के सम्बन्ध को मद्य के द्वारा गर्हित होनेवाले मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं।

यद्यपि मति-श्रुत ज्ञान अमूर्तिक आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय होने से वास्तव में अमूर्तिक है, तथापि मादक पदार्थों के पीने से जो बेहोशी आती है उसके कारण वे दोनों ज्ञान भ्रान्त हो जाते हैं।

मूर्त मद्य के निमित्त से मति-श्रुत दोनों ज्ञान विकृत हो जाते हैं - यह असिद्ध नहीं है, क्योंकि मद्य के निमित्त बिना वे मति-श्रुतज्ञान मद्य पीने वाले के समान मूर्च्छित (बेहोश) नहीं देखे जाते हैं, अतः मूर्त मद्यादिक के सम्बन्ध से अमूर्त ज्ञान का सम्बन्ध होता है - यह असिद्ध नहीं है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उपचार से मूर्तिक हैं

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात्।। 59।।
नासिद्धश्चोपचारोऽयं मूर्तं यत्तत्वोऽपि च।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः।। 60।।
अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः।। 61।।
न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते।। 62।।

मति-श्रुत दोनों को मूर्तिक उपचार-मात्र से कहा गया।
किन्तु नहीं वे मूर्तिक क्योंकि नहिं स्वभाव छोड़े कोई।। 827।।
मति-श्रुत ज्ञान मूर्तिक हैं - ऐसा उपचार असिद्ध नहीं।
क्योंकि वस्तु की शक्ति विलक्षण, स्वयंसिद्ध उनका अपराध।। 828।।
सत् की स्वाभाविकी क्रिया भी है अनादि से सिद्ध स्वयं-
परिणमन स्वभावी होने से अरु वैभाविकी शक्ति भी है।। 829।।
वैभाविकी क्रिया वस्तु की मात्र-पराश्रित नहिं होती।
क्योंकि द्रव्य में विद्यमान जो, पर से कभी न हो सकती।। 830।।

अन्वयार्थ :- (**अपि च**) और (**यत् ज्ञानद्वयं**) जो उन दोनों ज्ञानों को (**मूर्तं उक्तं**) मूर्तिक कहा है (**तत्तु उपचारतः**) वह तो केवल उपचार से कहा है (**तत्त्वात्**) वास्तव में (**तत् ज्ञानं तथा**

न) वे दोनों ज्ञान मूर्तिक नहीं हैं (**हि**) क्योंकि (**वस्तुसीम्नः अनतिक्रमात्**) कोई भी पदार्थ पर के सम्बन्ध से अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता है।। 59।।

(**अपि च**) तथा (**मूर्त**) मति और श्रुतज्ञान मूर्तिक हैं (**अयं च उपचारः**) यह उपचार (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तत्त्वतः**) वास्तव में (**वस्तुशक्तीनां वैचित्र्यात्**) वस्तुओं के गुणों में विलक्षणता होती है, इसलिये यह स्वभाव उन वस्तुओं का (**स्वतः स्वस्यापराधतः**) स्वयंसिद्ध अपराध है, अतः वह परकृत न होने से दोष का नियामक नहीं कहा जा सकता है।। 60।।

(**अनादिसिद्धस्यापि सतः**) स्वतः अनादि सिद्ध सत् में भी (**पारिणामिक शक्तितः**) परिणमनशीलता से (**स्वाभाविकी क्रिया**) स्वाभाविकी क्रिया (**च**) और (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (**अस्ति**) होती है।। 61।।

(**सतः**) द्रव्य की (**वैभाविकी क्रिया**) वैभाविकी क्रिया (**परं**) केवल (**परायत्ता न स्यात्**) पराधीन नहीं होती है (**यस्मात्**) क्योंकि (**सतः**) द्रव्य की (**असती शक्ति**) अविद्यमान शक्ति (**अन्यैः कर्तुं न शक्यते**) दूसरों के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती है।। 62।।

भावार्थ :- यदि कदाचित् यह कहा जाय कि मति-श्रुतज्ञान तो मूर्तिक माने गये हैं इसलिये मद्यादिक के साथ उनका सम्बन्ध होने से मूर्त का मूर्त से ही सम्बन्ध सिद्ध होता है अमूर्त से मूर्त का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मति-श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं अथवा संसारी आत्मा को मति-श्रुतज्ञान होता है, इसलिए उन्हें उपचार से मूर्तिक माना है। वास्तव में वे दोनों ज्ञान, आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय होने से अमूर्तिक ही हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मूर्तिमत्सम्बन्ध से मूर्त कहे जाते हैं - यह असिद्ध नहीं है, क्योंकि तत्त्वतः जीव तथा पुद्गलों में वैभाविक शक्ति के निमित्त से बंध होता है और उस बंध की अपेक्षा से मति-श्रुत को मूर्त कहते हैं। यदि कदाचित् कहा जाय कि ऐसा क्यों होता है तो उसका उत्तर यही है कि वस्तुओं में शक्तियों की विचित्रता पाई जाती है, इसलिए वह उनके स्वभाव का ही दोष मानना चाहिये।

सारांश यह है कि वैभाविक शक्ति के निमित्त से पर-वस्तु के साथ बन्ध होने के कारण, मूर्तिमत् सम्बन्ध से जो मति-श्रुत को मूर्त कहते हैं, वह जीव की वैभाविक शक्ति का स्वतःसिद्ध अपराध है, कारण कि यदि आत्मा में वैभाविक शक्ति न होती तो उसका मूर्तिमत् पदार्थ से संबंध भी न होता और न फिर संसारी आत्मा व उसके मतिज्ञानादिक मूर्त कहे जाते; इसलिये आत्मा को व मति-श्रुत को उसकी वैभाविक शक्ति के निमित्त से जो उपचारवश मूर्त कहा जाता है, वह किसी का अपराध नहीं है, केवल उस वैभाविक शक्ति का ही अपराध है क्योंकि -

अनादिसिद्ध सत् में पारिणामिक शक्ति अर्थात् स्वत:सिद्ध स्वाभाविक परिणमनशीलता से स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ परिणमित होती रहती हैं, अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, अत: उनमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं पाई जाती है। केवल उत्पादादिक भाव पाये जाते हैं। जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावान् तथा भाववान् हैं, इसलिए उनमें उत्पादादिक भाव और स्वाभाविकी तथा वैभाविकी दोनों प्रकार की क्रियाएँ पाई जाती हैं। अत: जीव और पुद्गल में वैभाविक शक्ति के निमित्त से जो वैभाविक भाव हो रहे हैं, उन्हीं के कारण जीव के मति-श्रुतज्ञान उपचारवश मूर्तिक कहे जाते हैं। उनके मूर्त कहलाने में कारण जीव के वैभाविक भाव ही हैं इतर भाव नहीं। इसलिए मूर्त कहलाने में किसी अन्य का अपराध नहीं है।

जीव और पुद्गलों में वह वैभाविकी क्रिया स्वयं किसी गुण के निमित्त बिना, केवल पराधीनता के कारण से ही नहीं हो सकती है, क्योंकि जिस पदार्थ में जो शक्ति ही नहीं है उसको केवल पर-निमित्त उत्पन्न ही नहीं कर सकता; अर्थात् यदि जीव और पुद्गल में वैभाविक शक्ति न होती तो केवल पर-निमित्त से बंध नहीं हो सकता। इसलिए बन्ध का मूल निमित्त (कारण) वैभाविकी शक्ति को मानना चाहिए। उसके मूल निमित्त (कारण) से होने वाले परवस्तु के संयोग से जीव व पुद्गलों में वैभाविकी क्रिया होती है।

अब आगे वैभाविकी और स्वाभाविकी दोनों ही क्रियाएँ जब पारिणामिकी हैं तो फिर उनमें अंतर क्या है? इस विषय में शंका-समाधानपूर्वक विचार करते हैं -

वैभाविकी और स्वाभाविकी क्रिया

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक्।।63।।
अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया।।64।।
तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद् घटः।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम्।।65।।

यदि परिणमनशीलता से ही वैभाविकी क्रिया होती।
तो उसमें स्वभाव क्रिया से कहो भिन्नता क्या होगी।। 831।।
और पदार्थों का ज्ञाता जो ज्ञान आत्म का लक्षण है।
तो फिर ज्ञेयाकार क्रिया कैसे विभाविकी हो सकती।। 832।।

अतः यथा जो ज्ञान जानता घट को वह घटरूप नहीं।
वैसे मद्यपान से ज्ञान न तन्मय वह तो ज्ञान स्वरूप।। 833।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**चेत्**) यदि (**वैभाविकभावाख्या क्रिया पारिणामिकी**) वैभाविकी क्रिया भी अनादि सत् में परिणमनशीलता से होती है तो (**हि**) निश्चय से (**स्वाभाविक्या क्रियायाः**) उसमें स्वभाविकी क्रिया से (**विशेषभाक्**) विशेषता को रखनेवाला (**कश्च शेषः**) कौनसा विशेष भेद रहेगा ?।। 63।।

(**अपि च**) तथा (**अर्थपरिच्छेदिज्ञानं**) पदार्थों को जानने वाला ज्ञान (**चितः**) आत्मा का (**स्वं लक्षणं**) स्वलक्षण है इसलिये (**अस्य च**) इस ज्ञान की यह (**ज्ञेयाकार क्रिया**) ज्ञेय के आकार होनेरूप क्रिया (**कुतः वैभाविकी क्रिया**) किस तरह से वैभाविकी क्रिया हो सकती है।। 64।।

(**तस्मात्**) इसलिए (**यथा**) जैसे (**घटाकृत्या**) घटरूप ज्ञेयाकार होने से (**तत् घटज्ञान**) वह घट का ज्ञान (**घटः न**) घट नहीं हो जाता है वैसे ही (**मद्याकृत्या**) मद्य के अनुभव से (**ज्ञानं**) ज्ञान (**तन्मयं न**) तन्मय नहीं हो जाता; किन्तु (**ज्ञानं**) ज्ञान (**ज्ञानं**) ज्ञान ही रहता है।। 65।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि यदि वैभाविकी क्रिया भी पारिणामिकी है तो फिर स्वाभाविकी क्रिया और वैभाविकी क्रिया में क्या अंतर रहेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

शंकाकार का कहना है कि पदार्थों को जानना ज्ञान का लक्षण है। इसलिये यदि दोनों ही क्रियाएँ पारिणामिकी हैं तो फिर मति-श्रुत ज्ञान की घटादिक ज्ञेय के आकार होनेरूप जो क्रिया है वह वैभाविकी क्रिया कैसे कही जावेगी ? अर्थात् किसी तरह नहीं।

इसलिए जैसे घटाकार होने से ज्ञान कुछ घट नहीं हो जाता है वैसे ही मद्य के आकार होने से भी वह ज्ञान, ज्ञान ही रहता है कुछ मद्यमय नहीं हो जाता है। अतः मतिज्ञानादिरूप वैभाविक क्रिया में और केवलज्ञानरूप स्वाभाविक क्रिया में क्या अन्तर है अर्थात् कुछ भी अन्तर नहीं है।

समाधान

नैवं यतो विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धावबोध्योः।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात्।। 66।।
मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद् द्विषद्यथा।। 67।।

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम्।।68।।
नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद् दृष्टोपलब्धितः।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि।।69।।
ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा।
अस्त्यमूर्तोऽपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः।।70।।

ऐसा नहिं है क्योंकि मुक्त अरु बद्ध ज्ञान में अन्तर है।
मोह-कर्म से ढंका बद्ध अरु मोह-रहित को मुक्त कहें।।834।।
इष्टानिष्ट पदार्थ योग से जैसे मोही ज्ञान स्वयं।
राग-द्वेषमय होता वैसे उन पदार्थ को विषय करे।।835।।
और मोह के क्षय से व्यक्त हुआ वह ज्ञान अबद्ध स्वरूप।
यही ज्ञान है क्षायिक शुद्ध-रु लोकालोक प्रकाशक है।।836।।
यह प्रसिद्ध दृष्टान्त तथा प्रत्यक्ष-प्रमाणादिक से सिद्ध।
क्योंकि स्वयं शीत-उष्ण का अनुभव नहिं परमात्मा को।।837।।
अतः अमूर्त तथापि ज्ञानद्वयवत् मूर्तिक जीवात्मा है।
मूर्त-कर्म से बद्ध अतः मूर्तिक है दृष्टान्तों से सिद्ध।।838।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) इसप्रकार का कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**बद्धाबद्धावबोधयोः**) बद्ध और अबद्ध ज्ञान में (**विशेषः अस्ति**) भेद है उनमें से (**मोहकर्मावृत बद्धः**) मोहनीय कर्म से आवृत्त ज्ञान को बद्ध कहते हैं तथा (**तदत्ययात् अबद्ध स्यात्**) उस मोहनीय कर्म से रहित ज्ञान को अबद्ध कहते हैं।।66।।

(**यत् ज्ञानं**) जो ज्ञान (**मोहकर्मावृतं**) मोह कर्म से युक्त है वह (**यथा**) जैसे (**इष्टानिष्टार्थ संयोगात्**) इष्ट और अनिष्ट अर्थ के संयोग से (**स्वयं**) स्वयं (**रज्यत् द्विषत्**) रागद्वेषमय होता है (**तथा**) वैसे ही वह (**प्रत्यर्थं परिणामि**) प्रत्येक पदार्थ का विषय करनेवाला होता है; अर्थात् युगपत् सब पदार्थों को विषय करने वाला नहीं होता है।।67।।

(**यथा**) जैसे (**तत्र**) उन बद्ध और अबद्ध ज्ञानों में (**मोहकर्मातिगं ज्ञानं**) मोहकर्म के नाश से व्यक्त होनेवाला ज्ञान (**अबद्धं स्यात्**) अबद्ध कहलाता है तथा (**एतत् एव**) यही ज्ञान (**क्षायिकं**) क्षायिक (**शुद्धं**) शुद्ध और (**लोकालोकावभासकं**) लोक व अलोक का प्रकाशक है।।68।।

(**एतत्**) यह उक्त कथन (**सिद्धदृष्टांतात्**) प्रसिद्ध इस दृष्टांत से और (**दृष्टोपलब्धितः**) प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**स्वस्मिन्**) अपने में (**शीतोष्णानुभवः**) शीत तथा उष्ण का अनुभव होता है किंतु (**तज्ज्ञे परात्मनि**) उस सबके जानने वाले परमात्मा में (**न स्यात्**) नहीं होता है।। 69।।

(**ततः**) इसलिये यह (**सुदृष्टांतः सिद्धः**) सम्यक् दृष्टांत सिद्ध हुआ कि (**यथा**) जैसे (**ज्ञानद्वयं अमूर्तं सत्**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त हो करके भी (**मूर्तं अस्ति**) मूर्त कहलाते हैं (**तथा**) वैसे ही (**अमूर्तः जीवः अपि**) अमूर्त जीवात्मा भी (**मूर्तकर्मभिः बद्धः स्यात्**) मूर्त-कर्मों से बद्ध होता है।। 70।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि बद्ध द्रव्य की वैभाविकी क्रिया और अबद्ध द्रव्य की स्वाभाविकी क्रिया होने से बद्ध तथा अबद्ध ज्ञान में अन्तर रहता है। जो ज्ञान मोह-कर्म से युक्त रहता है उसको बद्ध और जो मोह कर्म से रहित है उसको अबद्ध कहते हैं अर्थात् मोह कर्म से युक्त ज्ञान को बद्ध तथा मोह कर्म के अभाव से ज्ञान को अबद्ध कहते हैं।

जबतक मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक उसी के अनुसार राग-द्वेषमय प्रवृत्ति रहने से ज्ञान की, सर्व पदार्थों को युगपत जाननेरूप स्वाभाविक क्रिया न होकर इष्टानिष्ट अर्थ के ग्रहण और त्यागनेरूप वैभाविक क्रिया ही होती है।

मोह कर्म के अभाव से होने वाला ज्ञान अबद्ध कहलाता है और बन्ध निर्मुक्त वही ज्ञान क्षायिक, लोकालोक का युगपत् प्रकाशक तथा शुद्ध कहलाता है। यही ज्ञान की स्वाभाविकी क्रिया है।

वैभाविकी क्रिया और स्वाभाविकी क्रिया में पारिणामिकपने के रहते हुए भी उक्त बद्ध तथा अबद्ध ज्ञान में जो अन्तर बताया है वह असिद्ध नहीं है क्योंकि रागी-द्वेषी प्राणियों के ज्ञान में शीत और उष्ण का स्वानुभव होता है अर्थात् रागद्वेष के कारण उनको शीत तथा उष्ण के विषय में इष्ट अनिष्टपने की प्रतीति होती है किंतु रागद्वेष रहित परमात्मा सर्व पदार्थों का युगपद् ज्ञान होने से शीत उष्णता आदि का ज्ञान तो होता है, परन्तु रागादिक के अभाव से उनका अनुभव अर्थात् शीतोष्ण के विषय में इष्टानिष्ट की कल्पना नहीं होती है।

इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे अमूर्त मति-श्रुतज्ञान मद्यादिक के द्वारा मूर्छित होकर बद्ध सिद्ध होते हैं; वैसे ही अमूर्त आत्मा भी मूर्त कर्मों के मूर्त-उदयानुसार मूर्च्छित होने के कारण बद्ध सिद्ध होता है। अब बद्धत्व और अशुद्धत्व के विषय में शंका-समाधानपूर्वक विचार करते हैं -

बद्धत्व और अशुद्धत्व की व्याख्या

(छन्द 71 से 132)

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः।
वावदूकोऽथ संदिग्धो बोधः कश्चिदिति क्रमात्।। 71।।

समाधान

अर्थाद्वैभाविकीशक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रातिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः।। 72।।

कहो बद्ध किसको कहते अथवा अशुद्ध किसको कहते।
जिसको है सन्देह किसी वादी को, क्रम से समझाते।। 839।।
वास्तव में वैभाविक शक्ति जब उपयोगरूप होती।
पर-निमित्त से गुणाकार संक्रान्ति बन्ध है कहलाती।। 840।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) अब (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**अर्थतः**) वास्तव में (**बद्धत्वं किं नाम**) बद्धत्व किसे कहते हैं और (**अशुद्धत्वं किं नाम**) अशुद्धत्व किसे कहते हैं (**इति**) इस विषय में (**संदिग्धः कश्चित् वावदूकः**) संदेह रखने वाले किसी वादी को (**क्रमात्**) क्रम से (**बोध्यः**) समझाया जाता है।। 71।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**या**) जो (**वैभाविकी शक्ति**) वैभाविकी शक्ति है (**सा**) वह (**उपयोगिनी चेत्**) यदि उपयोग वाली चरितार्थ हो तो (**अन्यहेतुकः तद् गुणाकार संक्रान्तिः**) जो परद्रव्य के निमित्त से जीव और पुद्गल के गुणों में संक्रमण होना है (**बन्धः स्यात्**) वह बन्ध कहलाता है।। 72।।

भावार्थ - शंकाकार का प्रश्न है कि बद्धत्व और अशुद्धत्व का क्या अर्थ है ?

उपर्युक्त योग सहित वैभाविकी शक्ति के कारण परस्पर में एक-दूसरे के निमित्त से जो बाँधने वाले और बंधनेवाले पदार्थों के गुणों में संक्रमण होता है उसको बंध कहते हैं; अर्थात् दोनों द्रव्यों के गुणों में अपने-अपने स्वरूप से च्युत होकर तृतीय अवस्था का प्राप्त होना बंध कहलाता है।

बन्ध में पराधीनता प्रयोजक है

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिः वैभाविकी परम्।
नोपयोगोऽपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम्।। 73॥

बंधन में केवल वैभाविक शक्ति नहीं कारण होती।
और नहीं उपयोग हेतु है, कारण पराधीनता ही।। 841।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र बन्धे**) उस बन्ध में (**परं**) केवल (**वैभाविकी शक्तिः**) वैभाविकी शक्ति (**हेतुः न स्यात्**) कारण नहीं है और (**न उपयोगः अपि**) न केवल उसका उपयोग भी कारण है (**किंतु**) किंतु (**तत्**) वह (**परायत्तं**) परस्पर में एक-दूसरे के आधीन होकर रहना (**प्रयोजकं**) प्रयोजक है अर्थात् कार्यकारी है।। 73।।

भावार्थ :- केवल वैभाविकी शक्ति तथा उसका उपयोग बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु जीव और पुद्गल का बन्ध होने पर, जीव के गुण कर्म के अधीन होने के कारण स्वतंत्र परिणमन नहीं कर सकते तथा कर्म पुद्गल भी जीव से बद्ध होने के कारण स्वतंत्ररूप से परिणत नहीं हो सकते हैं - इस प्रकार की अनादि पराधीनता ही बन्ध में कारण है। मुक्त होने पर इसके न रहने से पुनः बन्ध नहीं हो सकता है। यदि केवल वैभाविकी शक्ति बन्ध का कारण होती तो वैभाविक शक्ति तो सिद्ध अवस्था में रहती है और यदि उसका उपयोग बन्ध का कारण होता तो उपयोग भी सिद्ध अवस्था में रहता है; इसलिए सिद्धों को भी बंध होना चाहिये था किन्तु होता नहीं है। अतएव सिद्ध होता है कि अनादिकालीन स्वतःसिद्ध परस्पराधीनता ही बन्ध की प्रयोजक है। यही कारण है कि एक बार परस्पराधीनता का अभाव होने पर फिर उसके अभाव में बन्ध नहीं होता।

आगे इसी अभिप्राय का खुलासा करते हैं -

केवल वैभाविकी शक्ति को बन्ध का हेतु मानने में दोष

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद् द्रव्योपजीविनी।
सा चेत् बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः।। 74।।

जीव पुद्गलों में रहने वाली वैभाविक शक्ति मात्र।
वही बन्ध का कारण हो तो मुक्ति असम्भव हो जावे।। 842।।

अन्वयार्थ :- (**या वैभाविकी शक्तिः**) जो वैभाविकी शक्ति (**तत्तद्रव्योपजीविनी अस्ति**) उन जीव और पुद्गलों में सदैव रहनेवाली शक्ति है (**सा**) वह शक्ति (**चेत्**) यदि (**बन्धस्य हेतुः**) बन्ध का कारण मानी जायेगी तो (**अर्थात्**) वास्तव (**मुक्तेरसम्भवः**) मुक्ति नहीं हो सकेगी।। 74।।

भावार्थ :- जो वैभाविकी शक्ति पुद्गल और जीव की अनुजीवी शक्ति है वह यदि बंध का कारण मानी जायेगी तो उसके सदैव रहने से मुक्ति असंभव हो जायेगी अर्थात् सदैव बंध होते रहने का प्रसंग आवेगा।

केवल वैभाविक शक्ति के उपयोग को बन्ध का कारण मानने में दोष

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत्सर्वो बन्धः समस्यताम्।। 75॥

स्व-विषय में शक्ति की अभिव्यक्ति को उपयोग कहें।
उसे बंध का हेतु कहें तो वही बन्धमय हो जाये।। 843।।

अन्वयार्थ :- (**शक्तेः**) शक्ति की (**स्वार्थाधिकारिणी**) अपने विषय में अधिकार रखने वाली (**अभिव्यक्तिः**) व्यक्तता (**उपयोगः स्यात्**) उपयोग है और (**चेत्**) यदि (**सा एव**) वह शक्ति की अभिव्यक्ति ही बन्ध का कारण मानी जावेगी तो (**सर्वः बन्धः समस्यताम्**) सभी प्रकार का बन्ध उसका उसी में समा जायेगा।। 75।।

भावार्थ :- शक्ति की अभिव्यक्ति अर्थात् शक्ति की व्यक्तता के विकास को उपयोग कहते हैं और यदि वह वैभाविक शक्ति का उपयोग ही बंध का कारण माना जायेगा, तो सब बंध ही बंध हो जायेगा, क्योंकि शक्ति के विकास को बंध कहना, बंध की विडम्बना करना है। कारण ऐसा बंध बंध ही नहीं कहला सकता है, क्योंकि दो पदार्थों के मिलने से उनमें जो गुणों की संक्रांति होकर तृतीय अवस्था होती है उसको बन्ध माना है और ऐसा बंध स्वभाव की अभिव्यक्तिरूप नहीं कहा जा सकता। इसलिए वैभाविकी शक्ति की अभिव्यक्ति को बंध कहना बंध की विडम्बना है। कारण वैभाविकी शक्ति की व्यक्तता तो अशुद्धरूप से संसार अवस्था में और शुद्धरूप से मुक्त अवस्था में पाई जाती है, इसलिए वह बंध का कारण कैसे कही जा सकती है?

पूर्व सामग्री सहित परस्पराधीन गुणसंक्रांति ही बन्ध का कारण है

तस्मात्तद्धेतु सामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोपराधवान्।। 76॥

अतः बन्ध-हेतु सामग्री सन्निधि में वह पर-आधीन।
पर- गुण के आकार परिणमन से अपराधी बँधा हुआ।। 844।।

अन्वयार्थ :- (**तस्मात्**) इसलिए (**तद्धेतुसामग्रीसान्निध्ये**) उस बन्ध की कारणभूत सम्पूर्ण सामग्री के मिलने पर (**स्वाकारस्य**) अपने-अपने आकार का (**परायत्ता**) परद्रव्य के निमित्तवश (**तद्गुणाकृतिः**) जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुण के आकाररूप होना 'तद्गुणसंक्रान्ति' कहलाती है और (**तया**) उसके द्वारा (**अपराधवान्**) यह अपराधी - रागद्वेषी जीव (**बद्धः**) बंधा हुआ है।। 76।।

भावार्थ :- इसप्रकार केवल वैभाविकी शक्ति व उसका उपयोग पृथक्-पृथक्रूप से बन्ध का

कारण नहीं, किंतु वह वैभाविकी शक्ति और परायत्तता के कारण उस वैभाविकी शक्ति के उपयोगपूर्वक होने वाली, जीव तथा पुद्गल के परस्पर गुणों की संक्रान्ति, ये सब बन्ध के कारण हैं और उसी के द्वारा रागी-द्वेषी परबुद्धि यह जीव आसक्त होनेरूप अपराध के कारण बद्ध है।

आत्मा की पराधीनता की सिद्धि

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित्।। 77 ॥
तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोऽखिलः।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित।। 78 ॥

पराधीनता नहिं असिद्ध है, जग-प्रसिद्ध दृष्टान्तों से।
ज्यों अनात्मचित् जीव स्वयं को शीत-उष्ण अनुभव करता।। 845।।

यद्यपि शीत-ऊष्णता ये सब मूर्त द्रव्य के ही गुण हैं।
किन्तु अमूर्तिक अज्ञानी निज को शीतोष्ण मानता है।। 846।।

अन्वयार्थ :- (**सिद्धसंदृष्टितः**) इस प्रसिद्ध दृष्टांत से (**तत्परायत्तं**) वह जीव का परवश होकर रहना (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है (**यथा**) जैसे कि (**अनात्मवित् आत्मा**) अज्ञानी आत्मा शीत तथा उष्ण का अनुभव करते समय (**आत्मानं शीतं अपि उष्णं इव कुर्वन् आस्ते**) अपने को शीत-ऊष्ण की तरह मान लेता है।। 77।।

(**तद्यथा**) उक्त उदाहरण का खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि (**शीतः**) शीत (**च**) और (**ऊष्णः**) ऊष्ण वे (**अखिलः गुणः**) सब गुण (**मूर्तद्रव्यस्य**) मूर्त द्रव्य के हैं परन्तु (**अमूर्तस्य च अपि आत्मनः**) अमूर्त आत्मा को भी आत्मा के (**क्वचित्**) अज्ञान अवस्था में (**शीतोष्णा-नुभवः**) मैं शीत हूँ, मैं ऊष्ण हूँ - इत्यादिरूप से मूर्त गुणों का अपने में अनुभव होता है।। 78।।

भावार्थ :- अज्ञानी जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से, शीतत्व का अनुभव करते समय अपने में शीत और ऊष्णता का अनुभव करते समय अपने को शीत और ऊष्ण मान लेता है। यदि जीव की रागादिरूप परायत्त दशा नहीं हुई होती तो यह जीव शीत तथा ऊष्ण आदि मूर्तिक द्रव्यों के धर्मों को अपने अनुभव नहीं करता, किन्तु अपने को अचिन्त्य और अनन्त ज्ञानादिक गुणमय समझता।

उस उदाहरण का खुलासा यह है कि यद्यपि शीत और उष्ण ये पुद्गल के गुण हैं, तथापि रागी-द्वेषी आत्मा को 'मैं शीत तथा उष्ण हूँ' इस प्रकार का अनुभव होता है और वही अनुभव परायत्तता का द्योतक है।

शंका

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा।। 79।।

अन्य योग से यदि वैभाविक शक्ति बन्ध का कारण है।
तो पर-योग बिना अबन्ध है; अथवा अन्यरूप होती।। 847।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि यदि (**वैभाविकी शक्तिः**) वैभाविकी शक्ति (**अन्ययोगतः**) जीव और पुद्गल में परस्पर के योग से (**तथा स्यात्**) बंध कराने में समर्थ होती है तो (**परयोगात् विना किं तथा न स्यात्**) क्या परयोग बिना यह बन्ध कराने में समर्थ नहीं होती है (**वा**) अथवा (**अन्यथा अस्ति**) अन्यथा होती है।। 79।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जैसे जीव की वैभाविकी शक्ति कर्मों की परवशता से बन्ध में कारण होती है, वैसे ही क्या वह कर्मों के सम्बन्ध बिना भी बन्ध में कारण होती है या नहीं होती; अर्थात् क्या कर्मों का सम्बन्ध छूट जाने पर उसमें बन्ध के कारणपनेरूप शक्ति का अभाव हो जाता है या नहीं होता ?

समाधान

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वात् शुद्धशक्तिवत्।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात्।। 80।।
किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः।। 81।।
नासिद्धोऽसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा।
वह्नियोगाज्जलंचोष्णं शीतं तत्तदयोगतः।। 82।।

ठीक कहा, वह शक्ति नित्य है अन्य शुद्ध शक्तियों समान।
यदि अनित्य हो तो विनष्ट सब शक्ति अतः हो द्रव्य विनाश।। 848।।

किन्तु अशुद्ध परिणमन उसका अन्य हेतु से होता है।
पर- निमित्त के बिना स्वयं ही शुद्ध परिणमन मात्र रहे।। 849।।

यह सिद्धान्त असिद्ध नहीं है क्योंकि सिद्ध दृष्टान्तों से।
जैसे अग्नि-योग से जल हो ऊष्ण, अन्यथा शीत रहे।। 850।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) तुम्हारा कहना ठीक ही हैं परंतु (**शक्तित्वात्**) शक्ति होने के कारण

(शुद्धशक्तिवत्) स्वाभाविकी शक्ति की तरह **(शक्तिः)** वैभाविकी शक्ति भी **(तथा नित्या)** वैसी ही नित्य रह जाती है कारण **(अथ अन्यथा)** यदि किसी शक्ति को अनित्य मानोगे तो **(क्रमात्)** क्रम से **(शक्तिनां नाशतः)** शक्तियों के नाश से अर्थात् गुणों के नाश से **(सतः नाश)** सत्-द्रव्य के नाश का प्रसङ्ग आवेगा।। 80।।

(किन्तु) किन्तु **(तस्याः)** उस वैभाविकी शक्ति का **(शुद्धात् अन्य तथाभावः)** वह अशुद्ध परिणमनरूप विभावभाव **(अन्यहेतुकः)** पर-निमित्त से होता है और शुद्ध अवस्था में **(तन्निमित्तात् विना)** उस निमित्त के हट जाने से उसका **(स्वतः केवलं)** स्वयं केवल **(शुद्धः भावः स्यात्)** शुद्ध ही परिणमन होता, अर्थात् संसारी अवस्था की तरह सिद्ध अवस्था में अशुद्ध परिणमन नहीं होता। अतएव आत्मा के शुद्ध होने पर पुनः बन्ध नहीं होता है।। 81।।

(असौ सिद्धान्तः) यह उक्त सिद्धांत **(असिद्धः न)** असिद्ध नहीं है **(हि)** क्योंकि **(संदृष्टितः सिद्धः)** इस दृष्टांत से सिद्ध होता है **(यथा)** जैसे कि **(वन्हियोगात्)** अग्नि के सम्बन्ध से **(जलं उष्णं)** जल उष्ण हो जाता है **(च)** और **(तदयोगतः)** उस अग्नि का सम्बन्ध न रहने से **(तत् शीतं स्यात्)** वह जल स्वभाव से शीत रहता है।। 82।।

भावार्थ :- शंकाकार का कथन ठीक है, परन्तु वैभाविकी शक्ति भी नित्य है क्योंकि जितनी भी जीवत्व शक्तियाँ (गुण) हैं, वे सब आत्मा के शुद्ध ज्ञानादिक के समान नित्य हैं; इसलिए यदि इस वैभाविकी शक्ति को नित्य न माना जायगा तो इसके नाश के प्रसंग की संभावना से इसी के समान इतर शक्तियों के भी नाश का प्रसंग आयेगा; तथा एक-एक करके शक्तियों के नाश हो जाने से द्रव्य के भी नाश का अनिष्ट प्रसंग दुर्निवार हो जायेगा। अतः वैभाविकी शक्ति भी नित्य है अनित्य नहीं है; **किन्तु मुक्त जीव के वैभाविकी शक्ति का शुद्ध परिणमन होता है।**

यद्यपि उपर्युक्त युक्ति से वैभाविकी शक्ति भी नित्य है, अतः वह सिद्ध अवस्था में भी पाई जाती है; तथापि जिसप्रकार संसार अवस्था में वह पर-निमित्त से विभावरूप परिणत होकर नवीन बंध में कारण होती थी, उसप्रकार सिद्ध अवस्था में वह विभावरूप से परिणत होकर नवीन बंध में कारण नहीं होती है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में उसके उस पर-निमित्त का अत्यन्त अभाव हो जाने से, उस शक्ति का भी पर-निमित्त से होनेवाला विभाव परिणमन नहीं होता; किन्तु केवल शुद्ध परिणमन ही होता रहता है।

जिस तरह वन्हि के योग में जल के शीत गुण का ऊष्णरूप परिणमन हो जाता है, उसी तरह आत्मा की वैभाविक शक्ति का भी पूर्व-कर्म के निमित्त से अशुद्ध परिणमन हो जाता है। जैसे अग्नि

का निमित्त हट जाने से जल के शीत गुण का शीतरूप ही स्वाभाविक परिणमन रह जाता है, वैसे ही कर्मबंध का निमित्त हट जाने से आत्मा की वैभाविक शक्ति का भी पुनर्बन्ध का कारणभूत अशुद्ध परिणमन नहीं होता, किन्तु पुनः-पुनः शुद्ध परिणमन ही होता रहता है, क्योंकि आगम में शुद्ध आत्मा के अशुद्ध परिणमन का ही निषेध है, शुद्ध परिणमन का नहीं।

शंका

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्।
एकः स्वाभाविको भावो भावा वैभाविकोऽपरः।। 83।।
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम्।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः विभार्वैविभावजा।। 84।।
सद्भावेऽथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम्।
अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धभावैर्विराजिता।। 85।।
अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी।। 86।।
दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि।
दण्डयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते।। 87।।

यदि शक्ति को एक कहें अरु उसके दो प्रकार के भाव।
एक भाव है स्वाभाविक एवं दूजा वैभाविक भाव।। 851।।
अतः द्रव्य की दो स्वतन्त्र शक्ति मानें तो क्या हानि।
निज स्वभाव से स्वाभाविक एवं विभाव से वैभाविक।। 852।।
पुद्गल कर्मों का होवे सद्भाव तथा नहिं हो सद्भाव।
स्वाभाविकी शक्ति का हो परिणमन सदा स्वाभाविकभाव।। 853।।
कर्मोदय में वैभाविक शक्ति का स्वाभाविक परिणाम।
कर्मोदय अभाव में उसमें नहिं होगा कोई परिणाम।। 854।।
जैसे दण्ड योग से चक्र भ्रमे अपने से अपने में।
दण्ड योग के बिना चक्र स्थिर रहता है चित्र समान।। 855।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**एवं च**) उपर्युक्त इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि (**शक्तिः ऐकाः**) शक्ति एक है (**च**) और (**तद्भावः द्विविधः**) उसका परिणमन दो

तरह का होता है (**एकः स्वाभाविकः भावः**) एक स्वाभाविक भाव तथा (**अपर**) दूसरा (**वैभाविकः भाव**) वैभाविक भाव अर्थात् शंकाकार का कहना है कि उक्त कथन से सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक है किन्तु उस एक शक्ति के ही स्वभाव और विभावरूप से दो परिणमन होते हैं; इसलिये (**चेत्**) यदि (**सतः**) द्रव्य की (**द्वे शक्ती**) स्वाभाविकी और वैभाविकी दोनों ही शक्तियाँ।।83-84।।

(**अवश्यं**) स्वतंत्ररूप से (**स्तः**) मानी जायें तो (**सतां**) द्रव्यों की (**का क्षतिः**) क्या हानि है, क्योंकि (**हि**) निश्चय से द्रव्य में (**स्वैः भावैः स्वाभाविकी**) अपने-अपने स्वभावों से स्वाभाविकी शक्ति तथा (**स्वैः विभावे विभावजा**) अपने-अपने विभाव से वैभाविकी शक्ति बनी रहेगी अर्थात् एक शक्ति के दो परिणाम न माननेकी अपेक्षा द्रव्य में स्वाभाविकी और वैभाविकी इस तरह दो शक्तियाँ मानना ही ठीक हैं कारण कि।।85।।

(**पुद्गलात्मनां कर्मणां**) पुद्गलरूप कर्मों के (**सद्भावे**) सद्भाव में (**अथ**) अथवा (**असद्भावे अपि**) असद्भाव में भी (**शुद्धैः भावैः विराजिता**) अपने शुद्ध परिणमन से युक्त (**स्वाभाविकी शक्तिः अस्तु**) स्वाभाविकी शक्ति सदैव रहो तथा (**वैभाविकी शक्तिः**) वैभाविकी शक्ति (**संयोगात्**) पर-संयोग से तो (**पारिणामिकी अस्तु**) पारिणामिकी हो और (**कर्मणां उदयाभावे**) कर्म का उदय नहीं रहने पर (**सा**) वही वैभाविकी शक्ति (**पारिणामिकी न स्यात्**) पारिणामिकी-परिणमनशील नहीं होगी।।86।।

(**यथा**) जैसे कि (**चक्रं**) कुम्हार का चक्र (**दण्डयोगात्**) दण्ड के सम्बन्ध से (**आत्मना आत्मनि बम्भ्रमति**) अपने द्वारा अपने में बार-बार घूमता है तथा (**दण्डयोगात् बिना**) दण्ड का योग न मिलने से (**चक्रं**) वह चक्र (**चित्रं वा**) चित्र की तरह (**व्यवतिष्ठते**) स्थिर रहता है।।87।।

भावार्थ :- शंकाकार कहता है कि वैभाविकी शक्ति को नित्य मान करके, संसार अवस्था में पर-निमित्त से उसका विभावरूप परिणमन मानने से एक शक्ति के दो प्रकार के परिणमन सिद्ध होते हैं। एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक, किन्तु ऐसा न मान करके द्रव्यों में एक स्वाभाविकी शक्ति तथा दूसरी वैभाविकी शक्ति, इसतरह दो प्रकार की स्वतंत्र शक्तियाँ ही मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से एक शक्ति दो परिणमन भी नहीं मानने पड़ेंगे तथा इन दोनों शक्तियों में से स्वाभाविकी शक्ति को बद्ध व अबद्ध दोनों ही अवस्थाओं में अपने स्वाभाविक परिणमनरूप भावों से युक्त मानना चाहिये और जो वैभाविक शक्ति है उसको कर्मों के संयोग के अभाव में परिणमन मात्र से रहित मानना चाहिये; जैसे कि दण्ड के संयोगपूर्वक कुम्हार का चक्र घूमता है और उसके अभाव में वह स्थिर ही रहता है।

समाधान

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वैपारिणामिकी।। 88।।
पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात् संदृष्टय्भावतः।। 89।।
तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत्।
पारिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम्।। 90।।
ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायात् शक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः।। 91।।
यौगपद्ये महान दोषस्तद्द्वयस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः।। 92।।
नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्।। 93।।

क्योंकि वस्तु की सभी शक्तियाँ सदा परिणमित होती हैं।
तो वैभाविक शक्ति को भी क्यों न परिणमनशील कहें।। 856।।
कोइ शक्ति परिणमन स्वभावी और कोइ परिणमे नहीं।
इसका कोइ प्रमाण नहीं है क्योंकि कोइ दृष्टान्त नहीं।। 857।।
इसीलिए कर्मोदय नहिं होने पर भी विभाव शक्ति।
स्वयं पारिणामिक स्वभाव से स्वाभाविक परिणमती है।। 858।।
अतः न्याय अनुसार सिद्ध है दो शक्तियाँ वस्तु में हैं।
किन्तु मात्र सत्-रूप द्वैत है, युगपत् द्वैत नहीं होता।। 859।।
न्याय दृष्टि से महादोष है युगपत् दो शक्तियाँ कहें।
बन्ध-मोक्ष अरु कारण-कार्य व्यवस्था का भी लोप करें।। 860।।
एक शक्ति में दो प्रकार के युगपत् हो न सकें परिणाम।
ऐसा होने पर विभाव में नित्यपना निर्बाधित हो।। 861।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) पर-निमित्त के बिना वैभाविकी शक्ति को शुद्ध अवस्था में अपरिणमनशील मानना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि जब (**सतः अखिलं शक्तिजातं**) पदार्थ

की सर्व शक्तियाँ **(परिणामि अस्ति)** सदैव परिणमनशील होती हैं तो फिर **(वैभाविकी शक्तिः)** वैभाविकी शक्ति **(वै)** निश्चय से **(पारिणामिकी कथं न स्यात्)** शुद्ध अवस्था में परिणमनशील क्यों नहीं होगी ?।। ८८ ।।

(काचित् शक्तिः पारिणामिका च अपारिणामिकी) कोई शक्ति परिणमनशील और कोई शक्ति अपरिणमनशील होती है इसप्रकार के **(संदृष्ट्याभावतः)** उदाहरण का अभाव होने से **(ग्राहक प्रमाणस्य अभावात्)** तुम्हारे सिद्धांत को विषय करने वाले प्रमाण का अभाव है।।८९।।

(तस्मात्) इसलिये **(वैभाविकी शक्तिः)** वैभाविकी शक्ति **(कृत्स्नकर्मणां अभावे)** सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने पर **(भावैः)** अपने भावों से **(स्वयं स्वाभाविकी पारिणामात्मिका भवेत्)** स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील रहती है।। 90।।

(ततः सिद्धं) इसलिए यह सिद्ध होता है कि **(न्यायात्)** न्यायानुसार **(सतः शक्ति द्वयं अवश्यं)** पदार्थ में दो शक्तियाँ तो अवश्य हैं परंतु **(यतः)** जिस कारण से **(तयोः)** उन दोनों शक्तियों में **(सदवस्थाभेदतः द्वैतं)** केवल सत् की अवस्था के भेद से द्वैत है **(ततः)** इसलिये **(युगपत् द्वैतं न)** एक काल में ही स्वाभाविकी और वैभाविकी - इन दोनों शक्तियों का द्वैत नहीं है।। 91।।

(तद् द्वैतस्य) उस स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्ति का **(यौगपद्ये)** एक काल में सद्भाव मानने पर **(नयात् अपि)** न्यायशास्त्र में भी **(महान दोषः स्यात्)** बड़ा भारी दोष आवेगा, क्योंकि युगपत् स्वाभाविक और वैभाविक भाव के मानने से **(कार्यकारणयोः नाशः)** कार्य-कारण भाव के नाश का तथा **(बन्धमोक्षयोः नाश)** बन्ध व मोक्ष का नाश होने का प्रसंग आता है।। 92।।

(एकशक्तेः द्विधाभावः न) तथा एक काल में एक शक्ति के दो तरह के परिणमन नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक शक्ति के युगपत् दो परिणमन मानने से **(यौगपद्यानुषङ्गतः)** युगपत् दोनों प्रकार के परिणमन के सद्भाव का प्रसंग आता है तथा **(तत्र सति)** ऐसा होने पर **(विभावस्य)** विभाव परिणमन में भी **(अबाधित नित्यत्वं स्यात्)** अबाधित नित्यत्व का प्रसंग आता है।।93।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शक्ति का प्रत्येक समय परिणमन अवश्य ही होता है; इसलिए वैभाविकी शक्ति का भी शुद्ध अवस्था में परिणमन नहीं मानना ठीक नहीं है। क्योंकि -

वैभाविकी शक्ति को शुद्ध अवस्था में अपारिणामिकी मानने से पदार्थ की किसी शक्ति को परिणमनशील और किसी शक्ति को अपरिणमनशील मानने का प्रसंग आता है, किन्तु पदार्थ की

यावत् सम्पूर्ण शक्तियाँ सदैव परिणमनशील रहती हैं, इसलिए शुद्ध अवस्था में वैभाविकी शक्ति को अपारिणामिकी मानना उसके पोषक उदाहरण के न मिल सकने से अप्रमाणिक है।

इसलिए वैभाविकी शक्ति भी अन्य शक्तियों के समान नित्य है तथा शुद्ध अवस्था में सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने से अपने स्वभावरूप से परिणमनशील रहती है।

जैन सिद्धांत में इन शक्तियों के द्वैत को केवल सत् की अवस्था के भेद से माना है। युगपत उन दोनों शक्तियों के द्वैत को नहीं माना है। इसलिए जो पहले शंकाकार ने युगपत् वैभाविकी और स्वाभाविकी शक्ति का सद्भाव मान करके 'स्वाभाविकी शक्ति स्वाभाविक भावों से सदैव विराजमान रहती है तथा आत्मा की सकर्म अवस्था के सद्भाव तक तो वैभाविकी शक्ति पारिणामिकी रहती है और कर्मों का अभाव हो जाने पर शुद्ध सिद्ध अवस्था में उसके परिणमन के निमित्त न मिलने से वह कुंभकार के चक्र के समान अपरिणामिकी रहती है' – इसप्रकार युगपत् शक्तियों का द्वैत माना है, वह ठीक नहीं है।

वैभाविक शक्ति के विभाव और स्वभावरूप दो अवस्था मानने से बंध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है तथा विभाव और स्वभाव अवस्था क्रमवर्ती है, इसलिए उनमें कार्य-कारणभाव बन जाता है, किन्तु दोनों शक्तियों को युगपत् मानने से न तो कार्य-कारणभाव बनेगा और न बंध मोक्ष की व्यवस्था ही बन सकेगी।

उन वैभाविक शक्ति के विभाव तथा स्वभाव परिणमन युगपत् नहीं होते, किन्तु क्रम पूर्वक ही होते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार के परिणमन को युगपत् मानने से स्वाभाविक परिणमन के समान वैभाविक परिणमन को भी नित्य मानना पड़ेगा।

शंका

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम्।
तथा जातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम्।। 94।।
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम्।। 95।।
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत् किञ्चित् चित् जडात्मकम्।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यै स्यादनन्यगतिः स्वतः।। 96।।
अयमर्थः कोऽपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात्।। 97।।

व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेऽपि मूर्तिमत्।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम्।। 98।।
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः।
तत्रस्थोऽप्यपरो हेतुर्न स्यात्किंवा वतेति चेत्।। 99।।

जैसे वस्तु-स्वभाव अहेतुक है अनादि से सिद्ध स्वयं।
वैसे ही परिणमनशीलता स्वाभाविक है सिद्ध स्वयं।। 862।।
वह अवश्य ही है स्वतन्त्र अन्यथा सर्व सङ्कर एवं -।
सर्व-शून्यता आदि दोष का दुर्निवार होगा निग्रह।। 863।।
अतः सिद्ध है चेतन और अचेतन जो भी वस्तु हैं।
वे सब ही अपने स्वरूप से स्वतः अन्यगत नहिं होते।। 864।।
कोइ किसी का अंशमात्र भी अपने में न मिला सकता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव से सीमोल्लंघन नहीं करें।। 865।।
व्यापक-व्याप्य नहीं है फिर भी आत्मा का विभाव हेतु।
मूर्त-कर्म ही क्यों होते हैं, अन्य द्रव्य क्यों हेतु नहीं।। 866।।
वैभाविक भावों में यदि तुम सन्निकर्ष को हेतु कहो।
अन्य मूर्त भी क्यों न हेतु हैं - खेद सहित यह शंका है।। 867।।

अन्वयार्थ :- (**ननु च**) शंकाकार का कहना है कि (**यथा**) जैसे (**अनादितः**) अनादि से (**वस्तुजातं अहेतुकं सिद्धं**) सम्पूर्ण पदार्थ किसी अन्य कारण से उत्पन्न न होने के कारण स्वत:सिद्ध है (**तथा**) वैसे ही उनका (**परं जातं नाम**) प्रतिसमय परिणमनशील होना भी (**अहेतुकं स्वतःसिद्धं**) किसी अन्य कारण से उत्पन्न न होने के कारण स्वत:सिद्ध है, अर्थात् जैसे द्रव्य स्वत:सिद्ध है वैसे ही उनका परिणाम भी स्वत:सिद्ध है इसलिए (**तत्**) वह परिणमनशील वस्तु समूह -।। 94।।

(**अवश्यं अवश्यं स्यात्**) अवश्य स्वतंत्र है, अर्थात् अपने-अपने परिणमन में कोई किसी की आवश्यकता नहीं रखता, क्योंकि (**अन्यथा**) यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो (**दुर्वारः**) अनिवार्य तथा (**निग्रहास्पदं**) निग्रहास्पद (**सर्वसंकरः**) सर्वसंकर दोष (**च**) और (**सर्वशून्यदिदोषः**) सर्व शून्यता आदि दोषों का प्रसंग आवेगा।। 95।।

(**ततः सिद्धं**) इसलिये सिद्ध होता है कि (**यथावस्तु**) अपने-अपने वस्तु का उलंघन नहीं करने वाला (**चित् जडात्मकं**) चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक (**यत्किंचित्**) जो कुछ भी है

(तत्सर्वं) वह सब अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ **(स्वस्वरूपाद्यैः)** अपने स्वरूप आदि से **(स्वतः)** स्वयं **(अनन्यगतिः स्यात्)** एक-दूसरे स्वरूप नहीं हो जाते, अर्थात् कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता है।। 96।।

(अयं अर्थः) पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि **(कः अपि)** कोई भी पदार्थ **(कस्य अपि)** किसी पदार्थ का **(हि)** निश्चय करके **(द्रव्यतः)** द्रव्य से **(क्षेत्रतः)** क्षेत्र से **(कालात्)** काल से और **(भावात्)** भाव से **(देशमात्रं)** अंश मात्र भी **(न अश्नुते)** अपने में नहीं मिला सकता, क्योंकि **(सीम्नः अनतिक्रमात्)** पदार्थ अपने स्वभाव की मर्यादा का उलंघन नहीं करता।। 97।।

(व्याप्यापक भावस्य अभावे अपि) जीव और पुद्गल में व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव होने पर भी **(तत्र)** आत्मा के **(विभावस्य हेतुः)** विभाव परिणमन में कारण **(तत् मूर्तिमत् द्रव्यं अपि)** यह मूर्तिक द्रव्य ही क्यों होता है **(अपरं किं न)** अन्य द्रव्य भी क्यों नही है ? यदि कदाचित् कहा जाय कि आत्मा में -।। 98।।

(सन्निकर्षतः) मूर्तिक द्रव्य का सन्निकर्ष होने से अर्थात् आत्मा के साथ मूर्त द्रव्य का एकक्षेत्रावगाहरूप होने से वह मूर्त द्रव्य जीव के **(वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्)** वैभाविक भाव में कारण हो जाता है तो **(यतः)** खेद है कि **(तत्रस्थ अपर अपि)** वहीं पर रहने वाला विस्रसोपचयरूप अन्यमूर्तद्रव्य समुदाय भी **(हेतुः किं वा न स्यात्)** विभाव परिणमन का कारण क्यों नहीं होता है **(इति चेत्)** यदि ऐसा कहो तो।। 99।।

भावार्थ :- जो किसी कारण से उत्पन्न न होकर स्वतःसिद्ध होता है वह अनादि होता है। इस नियम के अनुसार जैसे यावत् पदार्थ अहेतुक स्वतःसिद्ध होने से अनादि माने जाते हैं, वैसे ही परिणमन भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होने से अनादि मानना चाहिए अर्थात् द्रव्यों के समान परिणमन को भी अहेतुक स्वतःसिद्ध होने से अवश्य स्वतंत्र मानना चाहिए। यदि वह स्वतंत्र नहीं माना जायेगा तो निग्रहास्पद तथा अनिवार्य सर्व संकर दोष और सर्व शून्यादि दोषों का प्रसंग आवेगा; अर्थात् जीव की वैभाविक शक्ति कर्म के निमित्त से विभाव परिणमन करती है, यह मानकर यदि वैभाविकी शक्ति के परिणमन में पुद्गल निमित्त माना जायगा तो एक गुण की पर्याय को अन्य द्रव्य के आश्रित होने के कारण चाहे जिस द्रव्य के गुण को चाहे जिस द्रव्य के निमित्त से परिणमनशील हो सकने की सभावनायें, सर्व संकर दोष आवेगा तथा आश्रयी के अभाव से आश्रय के अभाव से पर-निमित्त के अभाव में गुण का परिणमन न होने से परिणाम के अभाव में गुण का अभाव हो जायेगा और विवक्षित गुण के अभाव में शेष गुणों के अभाव की भी संभावना से सर्व शून्यता दोष आयेगा।

इसलिए जितने भी चेतनात्मक तथा अचेतनात्मक पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने वस्तुत्व को उल्लंघन न करके अपने-अपने स्वरूप आदि के द्वारा अनन्यगति हैं।

सारांश यह है कि कोई भी पदार्थ, अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अपनी-अपनी सीमा का उल्लंघन न करने के कारण किसी भी अन्य द्रव्य के अंश का भी उपभोग नहीं करता है। इसलिए; तथा जब जीव द्रव्य में और पुद्गल में किसी प्रकार का व्याप्य-व्यापक भाव भी नहीं माना गया है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि जीव के विभाव परिणमन के लिए (बद्ध) मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्य हेतु होता है इतर नहीं। यदि कदाचित् कहा जाये कि (बद्ध) कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का और जीव का सन्निकर्ष हो रहा है, इसलिए (बद्ध) कर्मरूप मूर्तिमान पुद्गलद्रव्य जीव के विभाव परिणमन में हेतु होता है तो फिर जीव के प्रदेश के साथ सन्निकर्ष को प्राप्त विस्रसोपचयरूप कार्माण परमाणुओं को जीव के विभाव परिणमन में कारण क्यों नहीं मानते हो?

समाधान

सत्यं बद्धमबद्धं स्यात् चिद् द्रव्यं चाथ मूर्तिमत्।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः।। 100।।

बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः।
तयोर्जात्यन्तरत्वेऽपि हेतुमद्धेतुशक्तितः।। 101।।

बद्धः स्याद् बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोऽप्यबद्धयोः।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः।। 102।।

जीव और पुद्गल दोनों ही बद्ध-अबद्ध उभयविध हैं।
जिनका बन्धक-बन्ध्य भाव वे बद्ध और दूसरे अबद्ध।।868।।

उनमें जाति अपेक्षा अन्तर होने पर भी कारण-कार्य-।
शक्ति अतः है भेद वास्तविक बद्ध-अबद्धपने के बीच।।869।।

दोनों बँधे हुए भावों को बद्ध तथा नहिं बँधा अबद्ध।
सानुकूलता से बन्धन, यदि हो प्रतिकूल नहीं हो बन्ध।।870।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) सत्य है कि (**चिद् द्रव्यं**) जीव द्रव्य (**अथ**) और (**मूर्तिमत्**) पुद्गलद्रव्य (**बद्धं च अबद्धं स्यात्**) बद्ध तथा अबद्ध दोनों प्रकार के होते हैं क्योंकि (**स्वीयसम्बन्धिभिः बद्धं**) जिनसे जिनका परस्पर में बन्ध्य-बन्धक भाव है उनसे वे बद्ध हैं और (**परबन्धिभिः अबद्धं**) जिनसे जिनका बन्ध्य-बन्धक भाव नहीं उनसे वे अबद्ध हैं।। 100।।

(तयोः) उन जीव कर्मों में **(जात्यन्तरत्वे अपि)** जाति की अपेक्षा अन्तर रहने पर भी **(हेतुमद्धेतुशक्तिः)** कार्य-कारणशक्ति से होने वाली **(बद्धाबद्धत्वयोः)** बद्धता तथा अबद्धता में **(पारमार्थिकः विशेषः अस्ति)** वास्तविक भेद है।। 101।।

(बद्धयोः भावः बद्ध स्यात्) एक-दूसरे से बँधे हुए दोनों के भाव को बद्ध कहते हैं **(अपि)** और **(अबद्धयोः अबद्धः स्यात्)** एक-दूसरे से नहीं बंधे हुए दोनों के भाव/अवस्था को अबद्ध कहते हैं, क्योंकि **(सानुकूलतया बन्धः)** जीव में बन्धक शक्ति तथा कर्म में बंधने की शक्ति की परस्पर अनुकूलता से बन्ध होता है और **(प्रतिकूलयोः बन्धः न)** उन दोनों के परस्पर प्रतिकूल होने पर बन्ध नहीं होता है।। 102।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण जीव और सम्पूर्ण मूर्तिमान पुद्‌गलद्रव्य परस्पर में बद्ध ही हैं - ऐसा नहीं है किंतु कोई बद्ध तथा कोई अबद्ध है अर्थात् जीव और पुद्‌गल द्रव्य में सब ही जीव सब ही पुद्‌गलों से बँधे हैं तथा सब ही पुद्‌गल सब ही जीवों से बंधे हैं - ऐसा नहीं है, किन्तु अपने-अपने योग व कषायों से उत्पन्न होने वाली आकर्षक शक्ति से और अपने-अपने द्रव्य क्षेत्र कालादिकको योग्यता के द्वारा पुद्‌गलों में रहनेवाली आकृष्य शक्ति से, जीव पुद्‌गल बंधते हैं, इसलिए सन्निकर्ष के रहते हुए भी केवल कर्मपरिणत पुद्‌गलों से बंध होता है इतर से नहीं!

जीव और कर्मों में जाति की अपेक्षा से भिन्न होने पर भी कार्य-कारण भाव से आपस में बँधने वाले द्रव्यों के गुणों में अपने-अपने स्वरूप को छोड़कर के तृतीय अवस्था के होने को बन्ध तथा उस बन्ध से युक्त को बद्ध कहते हैं और इसमें विपरीत को अबद्ध कहते हैं, इसलिए बद्धता तथा अबद्धता में यही पारमार्थिक भेद है। आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

आपस में बंधे हुए दोनों की तृतीय अवस्थारूप भाव/पर्याय को बद्ध कहते हैं तथा परस्पर में नहीं बंधे हुए उन दोनों के भाव अर्थात् अपनी-अपनी पर्याय में जो अवस्था रहती हैं उनको अबद्ध कहते हैं, क्योंकि जीव में योग और कषाय के निमित्त से बाँधने की शक्ति के आविर्भाव होने से और पुद्‌गलों में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार जीव के साथ बँधने योग्य शक्ति के आविर्भाव होने पर बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए जीव तथा पुद्‌गलों में भी बद्ध- अबद्ध भाव पाया जाता है; अतः जीव और कर्मों में परस्पर बध्य-बंधक भाव की संभावना होने से जीव के विभाव परिणमन में बद्ध कर्म ही हेतु हो सकता है। किन्तु विस्रसोपचयरूप इतर पुद्‌गलों के साथ सन्निकर्ष रहते हुए भी बन्ध्य-बन्धक भाव के न रहने से वे जीव के विभाव परिणमन में हेतु नहीं हो सकते हैं। अब आगे बद्धभाव के स्पष्टीकरणार्थ बन्ध का विस्तारपूर्वक स्वरूप कहते हैं -

बन्ध के भेद और कारण

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद् द्वयं यावत् तृतीयस्तूच्यतेऽधुना।। 103।।
जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्।। 104।।

अर्थ अपेक्षा तीन भेद हैं अतः सभी के लक्षण वाच्य।
पहले दो हैं भिन्न-भिन्न अब कहें तीसरे का लक्षण।। 871।।
जीव-कर्म का बन्ध परस्पर इक दूजे से होता है।
जीव-कर्म से कर्म जीव से बँधे हुए यह बन्ध उभय।। 870।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थतः**) अर्थ की अपेक्षा से (**बन्धः त्रिविधः**) बन्ध तीन प्रकार का होता है, इसलिये (**तत् लक्षण त्रयं**) तीनों के लक्षण (**वाच्यं**) कहना चाहिये उनमें से (**तत् द्वयं तु यावत् प्रत्येकं**) आदि के दो दो बन्ध तो जीव-बन्ध और कर्म-बन्ध इस तरह प्रत्येक भंग की अपेक्षा से है, किन्तु उभय-बन्ध दोनों के संयोग से होता है अतः (**अधुना तृतीय उच्यते**) अब तीसरे उभय बन्ध का स्वरूप कहा जाता है।। 103।।

(**यः**) जो (**जीवकर्मोभयोः**) जीव और कर्म का (**मिथः**) परस्पर में (**साभिलाषुकः**) एक-दूसरे की अपेक्षा से बन्ध होता है (**सः बन्धः स्यात्**) वह उभय-बन्ध कहलाता है (**हि**) क्योंकि (**जीवः कर्मनिबद्धः**) जीव कर्म से बँधा हुआ है तथा (**तत् कर्म हि जीवबद्धं**) यह कर्म जीव से बँधा हुआ है।। 104।।

भावार्थ :- जीव के रागादिक को भाव-बन्ध और कर्म व कर्म की ज्ञानादिक के घातने की शक्ति को द्रव्य-बन्ध कहते हैं। इन दोनों में उपचार से बन्ध का लक्षण समझना चाहिये अर्थात् रागादिक-भावों में और कर्मरूप कार्माण-वर्गणा में उभय-बन्ध की योग्यता है केवल इसीलिए उपचार से रागादिभाव तथा कार्माण-वर्गणाएँ इन दोनों को बन्ध कहा है। वास्तव में उभय-बन्ध में ही बन्ध का लक्षण घटता है। इसलिए आदि के उन दोनों बन्धों का नाममात्र निर्देश करके ग्रन्थकार अब आगे उभय-बन्ध के निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

जीव अपने रागादिक के निमित्त से जिस समय कार्माण-वर्गणओं का आकर्षण करता है उसी समय बँधने योग्य कार्माण वर्गणाओं में, जीव के योग-कषायादिक के निमित्त से ज्ञानावरणादि की शक्ति प्रगट होती है और उन्हीं से जीव बँधता है तथा जब तक उन बँधे हुए कर्मों की स्थिति पूरी नहीं हो तब तक वे भी जीव से मुक्त नहीं हो सकते हैं, इसलिये कर्म जीव से बँधा हुआ है और

जीव कर्म से बँधा हुआ है। इस (रागादि तथा ज्ञानावरणादि) रूप से जीव और कर्म पुद्गलों में जो अपने-अपने पूर्व पर्यायवर्ती द्रव्य-सम्बन्धी गुणों से च्युत होकर अवस्थान्तर तृतीय अवस्था प्राप्त होती है उसको उभयबन्ध कहते हैं।

अब यद्यपि बन्ध जीव और कर्म दोनों में है, तथापि जीव के स्वरूप का वर्णन करना है, इसलिये कर्म के बन्ध का विचार न करके ग्रन्थकार जीव के बंध के निमित्त आदि के विषय में विचार करते हैं।

बन्ध का निमित्त

तद्गुणाकारसंक्रांतिर्भावो वैभाविकश्चितः।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्य कारणम्।। 105।।
अर्थोऽयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम्।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोऽयं द्वन्द्वजः स्मृतः।। 106।।
तथाऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत्।। 107।।

जीव-गुणों की कर्म-गुणों में संक्रान्ति वैभाविक भाव।
पूर्वबद्ध कर्मों की वैसी है सामर्थ्य निमित्त-कारण।। 873।।

एक भाव अरु एक कर्म दोनों से हो बन्धन उत्पन्न।
जिन कर्मों का भाव कार्य है वैसे कर्मों का कारण।। 874।।

दर्पण में स्वाकार रूप से प्रतिबिम्बित चक्षु है कार्य।
और वही निज चक्षु-ज्ञान की उत्पत्ति में है कारण।। 875।।

अन्वयार्थ :- (**चितः**) आत्म के गुणों का (**तद्गुणाकार संक्रान्तिः**) कर्मरूप पुद्गल के गुणों के आकाररूप कथंचित् संक्रमण होना (**वैभाविकः भावः**) वैभाविक भाव कहलाता है (**च**) और (**तन्निमित्तं**) उसका निमित्त (**तथा सामर्थ्यकरणं**) जीव को वैभाविकरूप परिणमन कराने की सामर्थ्य रखने वाला (**तत्कर्म**) पूर्वबद्ध द्रव्य-कर्म होता है।। 105।।

(**अयं अर्थः**) सारांश यह है कि (**भावः एकः**) मात्र एक है (**च**) और (**कर्म एकं**) कर्म एक है तथा (**अर्थः बन्धः द्वन्दजः स्मृतः**) यह बन्ध उन दोनों से उत्पन्न तृतीय दशारूप कहा गया इसलिए (**यस्य कर्मणः**) जिस द्रव्य-कर्मरूप क्रोधादिक का (**तत्कार्यं**) वह कार्य है (**तस्य कर्मणः कारणं**) उस कर्म के आस्रव के लिये वह कारण होता है।। 106।।

(यथा) जैसे **(आदर्शे)** दर्पण में **(स्वाकाराकारसंक्रान्तं)** अपने आकार से प्रतिबिंबित **(स्वरूपं सन्दधत् चक्षुः)** अपने स्वरूप का प्रतिबिंब स्थापित करने वाला वह चक्षु **(स्वयं कार्यं)** स्वयं कार्य है **(पुनः)** और **(हेतु)** स्वयं कारण भी है।। 107।।

भावार्थ :- आत्मा के गुणों का पुद्गल (कर्म) के गुणों के आकाररूप में जो संक्रमण हो रहा है वही आत्मा का वैभाविक भाव है और उस वैभाविक भाव का निमित्त, जीव को ज्ञानादिक गुणों के आवरणादि करने की अर्थात् उनको घात करने की शक्ति रखने वाले ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म हैं।

द्रव्य-क्रोधादिक से भाव-क्रोधादिक और भाव-क्रोधादिक से द्रव्य-क्रोधादिक का आस्रव होने से द्रव्य-कर्म-बन्ध से भाव-कर्म तथा भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म बंध होता है तथा इन दोनों से उत्पन्न होने वाले तृतीय अवस्थारूप बंध को उभयबंध कहते हैं।

जैसे मुँह देखते समय चक्षु का प्रतिबिंब दर्पण में पड़ता है, इसलिए प्रतिबिम्बरूप कार्य के लिये चक्षु कारण है और उस प्रतिबिम्ब द्वारा चक्षु के देखे जाने के लिए वह चक्षु स्वयं कार्यरूप भी है; वैसे ही जीव के नवीन द्रव्य-कर्म के लिए रागादिक कारण हैं और द्रव्य-कर्म कार्य हैं; तथा उस द्रव्य-कर्म के निमित्त से गुणों में संक्रांति होकर रागादिक की उत्पत्ति होती है। इसलिये वह द्रव्य-कर्म कारण है और उससे उत्पन्न होने वाले रागादिक भाव उसके कार्य हैं। इसप्रकार आदर्श/दर्पण में सक्रांत चक्षु के समान द्रव्य और भाव दोनों ही कर्मों में संतान क्रम से कार्य-कारणभाव घट जाता है, अत: जो कारण है वह कार्य कैसे होगा इसका भी निराकरण हो जाता है।

द्रव्य-कर्म का स्वरूप

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा।
आत्मनाबध्यते नित्यं भित्तौ क्षिप्त कनकादिवत्।। 108।।[3]

ज्यों दिवाल पर फेका रजकण उस दिवाल से बँध जाता।
वैसे कर्म अचेतन पुद्गल भी आत्मा से बँध जाता।। 876।।

अन्वयार्थ : - (अपि च) तथा **(तत्कर्म)** वह कर्म **(अचेतनं)** अचेतन **(मूर्तं)** मूर्त और **(पौद्गलं)** पौद्गलिक है **(यथा)** जैसे कि **(भित्तौ)** दीवार पर **(क्षिप्तकनकादिवत्)** फैंके गये रजकण के समान **(आत्मना बन्ध्यते)** आत्मा से बँध जाते हैं।। 108।।

भावार्थ :- वह कर्म अचेतन, मूर्त और पुद्गलात्मक है।

---

3. इस छन्द का उत्तरार्द्ध पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित कृति से लिया गया है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में कार्य-कारण भाव

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद् द्रव्यकर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः।। 109।।
चिद्विकारा कृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः।। 110।।
तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि।
न हेतवो भवन्त्येक-क्षेत्रस्थाऽप्यबद्धवत्।। 111।।
तद् बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात्।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात् स्वतोन्यतः।। 112।।

ज्ञानादिक चित् के विकार का कारण द्रव्य-कर्म होता।
वह विकार कर्मास्त्रव का कारण हो प्रत्युपकार करे।। 877।।
चिद्-विकार उस आकृति को ही कहा गया वैभाविक भाव।
वह विकार भी पृथक्भूत पुद्गल-कर्मास्त्रव का कारण।। 878।।
उभय-बन्ध बिन द्रव्य-कर्म भी नहिं विकार का है कारण।
एक क्षेत्र में भी अनादि से वे अबद्धवत् नहिं कारण।। 879।।
बन्धन से अविनाभावी तत्क्षण अशुद्धता होती है।
पर-निमित्त से छोड़ अद्वैतपना, हो द्वैत अशुद्धता है।। 880।।

अन्वयार्थ :- (**तत् द्रव्य-कर्म**) वह द्रव्य-कर्म (**जीवभावविकारस्य हेतुः स्यात्**) जीव के ज्ञानादिक भावों के विकार का कारण होता है (**च**) और (**तद्विकारः**) जीव के भावों का विकार (**तद्धेतुः**) द्रव्य-कर्म के आस्रव का कारण होता है (**यथा**) जैसे कि (**प्रत्युपकारकः**) परस्पर उपकार करने वाले एक-दूसरे को कार्यकारणरूप होते हैं।। 109।।

(**तस्य चिद्विकाराकृतिः**) उस जीव की भावक्रोधादिकरूप-रागद्वेषरूप परिणति ही (**वैभाविकः भावः स्मृतः**) उसका वैभाविक भाव माना गया है और (**तन्निमित्तात्**) उस जीव के वैभाविक भाव के निमित्त से (**पृथक्भूतः अपि अर्थः**) पृथक् रहनेवाला कार्माण-वर्गणा रूप पुद्गल (**तन्निमित्तकः स्यात्**) वह है निमित्त जिसमें ऐसा अर्थात् जीव के वैभाविक भाव के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाता है।। 110।।

(**हि**) निश्चय से (**तत्**) यह द्रव्य-कर्म (**उभयबन्धात् बहिः न**) उभय-बन्ध के बिना जीव

के विकार का कारण नहीं होता, क्योंकि (**वै**) निश्चय से (**चिरात् अपि बद्धाः**) चिरकाल से ही कर्म-परमाणुओं के साथ सम्बन्ध को प्राप्त तथा (**एकक्षेत्रस्थाः अपि**) एकक्षेत्रावगाही होकर रहने वाली भी विस्रसोपचयरूप कार्माण-वर्गणायें (**अबद्धवत्**) अबद्ध कार्माण-वर्गणाओं की तरह (**हेतवः न भवन्ति**) जीव के विकार में कारण नहीं होती है।। 111।।

(**अक्रमात्**) जिस समय बन्ध होता है उसी समय (**तद् बद्धत्वाविनाभूतं**) बद्धता से अविनाभाव रखनेवाली (**अशुद्धत्वं स्यात्**) अशुद्धता उत्पन्न होती है (**यथा**) जैसे (**स्वतः अद्वैतात्**) स्वयं अद्वैत अवस्था से (**अन्यतः**) पर-निमित्त के कारण (**द्वैतं**) द्वैत-रूप हो जाना ही (**तल्लक्षणं स्यात्**) उस अशुद्धता का स्वरूप है।। 112।।

भावार्थ :- जीव का रागद्वेषरूप परिणमन ही उसका वैभाविक भाव है और उसके निमित्त से पुद्गल भी ज्ञानावरणादि कर्मरूप हो जाता है, क्योंकि पुद्गलों का कार्माण-वर्गणारूप से परिणमन तो अपने द्रव्य-क्षेत्रादिक के निमित्त से होता है, परन्तु उनमें ज्ञानावरणादिरूप कर्म की अवस्था जीव के वैभाविक भाव के कारण होती है।

जीव के भावों के विकार में कारण पूर्वबद्ध द्रव्य-कर्म होता है और नवीन-द्रव्यकर्म के बन्ध में जीव के भाव का वह विकार कारण होता है। इस प्रकार परस्पर उपकार-प्रत्युपकार से करने वाले वृक्ष-बीज के समान संतान क्रम से जीव तथा कर्मों में कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है।

जैसे केवल द्रव्य-बन्ध से आने वाली विस्रसोपचयरूप कार्माण-वर्गणायें कर्म के साथ आत्मा में एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहती हैं, परन्तु जब तक भाव-बन्ध के निमित्त से उनमें बन्ध की योग्यता नहीं होती, तब तक उनका आत्मा के साथ बन्ध नहीं होता; वैसे ही उभय-बन्ध के बिना किसी भी कार्माण-वर्गणा का बन्ध नहीं होता है।

स्वभाव से ही जिनका उपचय-संचय होता है उन्हें विस्रसोपचय कहते हैं - यह विस्रसोपचय शब्द का निरुक्तयर्थ है, जो कार्माण-वर्गणारूप पुद्गल, जीव के वैभाविक भावों के निमित्त से बँधने वाले कर्म-परमाणुओं के साथ खिंचकर आत्मा से संबंध को प्राप्त तो होते हैं, किन्तु जिनमें योगादिक के निमित्त से ज्ञानावरणादिरूप योग्यता की व्यक्ति नहीं हुई है अर्थात् आत्मा के योग और कषायों से जिनका सम्बन्ध नहीं है, केवल बंधे हुए कर्मों के साथ जिनका स्निग्ध-रुक्षत्वादिक के द्वारा संबध है, उन्हें विस्रसोपचय कहते हैं और वे प्रत्येक कर्मपरमाणु के साथ अनन्तानन्त रहा करते हैं, तथा आत्मा के साथ आसन्न-वृत्ति होने से बँधते समय बहुधा उनमें ही बन्ध की योग्यता उत्पन्न होती है।

जीव और पुद्गल का योग होने पर तृतीय अवस्थारूप होने को बन्ध कहते हैं। बन्ध होते ही

अशुद्धता होती है। शुद्धता और अशुद्धता में कालभेद नहीं है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में बन्ध के साथ अशुद्धता का अविनाभावी सम्बन्ध तथा उत्तरार्ध में अशुद्धता का लक्षण कहा गया है; अर्थात् अद्वैत अवस्था से च्युत होकर जीव की द्वैत अवस्था को अशुद्धता कहते हैं, क्योंकि जीव की शुद्ध अवस्था अद्वैतरूप है और अशुद्ध अवस्था द्वैतरूप मानी है।

द्वैत उपचरित है

तत्राद्वैतेऽपि यद् द्वैतं तद् द्विधाप्यौपचारिकम्।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत् सोपाधि द्वितीयकम्।। 113।।

उस अद्वैत में भी जो द्विधा द्वैत वह भी उपचार कहें।
निज में अंश कल्पना पहला अरु दूजा सोपाधिक है।। 881।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र अद्वैते अपि**) उस अद्वैत में भी (**यत्**) जो (**द्विधा अपि द्वैतं**) दोषकारक भी द्वैत कहा जाता है (**तत् औपचारिकं**) वह औपचारिक है अर्थात् व्यवहारनय से है। उनमें से (**आद्यं स्वांशसंकल्पः चेत्**) यदि अपने-अपने अंश की कल्पना करना प्रथम द्वैत है तो (**सोपाधि द्वितीयकं**) उपाधि सहित होना द्वितीय द्वैत है।। 113।।

भावार्थ :- दोनों के एकत्व-बुद्धि जनक परिणमन होने पर दो तरह के द्वैत कल्पना की जाती है। एक तो अपने-अपने अंशरूप कल्पना और दूसरी सोपाधिरूप कल्पना। अद्वैत/अभेद जीव तत्त्व में जो द्वैत/भेद व्यवहार होता है वह दो प्रकार का होता है। एक अखण्ड द्रव्य में खण्ड कल्पनारूप द्वैत/भेद कल्पना जैसे जीव असंख्यात प्रदेशी है इत्यादि और दूसरी सोपाधि कल्पना; जैसे जीव को रागी-द्वेषी मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी आदि कहना। ये दोनों ही कल्पनायें पर-निमित्त से होती हैं, क्योंकि वास्तव में निश्चयनय से शुद्ध जीवद्रव्य अभिन्न है, किन्तु उसके महत्त्व व अमहत्त्व को समझाने के लिए जो प्रदेश/क्षेत्र की अपेक्षा से उसमें (जीव में) असंख्यात प्रदेश की कल्पना की जाती है, वह स्वांश संकल्पनात्मक द्वैत/भेद व्यवहार है तथा योग-कषाय के निमित्त से संचित द्रव्य-क्रोधादिक के कारण जो जीव में विकृत अवस्था होती है, उसकी अपेक्षा से जीव को रागी-द्वेषी कहना सोपाधि अंशकल्पना है।

शंका

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः।
तद्विशेषेऽपि सोपाधि निरूपाधि कुतोऽर्थतः।। 114।।
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः।। 115।।

सत्, सामान्य अपेक्षा से है एक विशेषापेक्षा द्वैत।
सोपाधि-निरुपाधि कल्पना क्यों विशेष में की जाती।।882।।
जैसे रस का और रूप का ज्ञान मात्र है ज्ञान स्वरूप।
वह न रूप-रसमय होता है वह यथार्थ में ज्ञान स्वरूप।।883।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**सामान्यात्**) सामान्य की अपेक्षा से (**सत् एकं**) सत् एक है (**च**) और (**विशेषतः**) विशेष की अपेक्षा से (**सत् द्वैतं स्यात्**) सत् द्वैतरूप है इसलिए (**सद्विशेषेऽपि**) सत्-विशेष में भी अर्थात् सामान्यरूप से सत् को एक तथा विशेष की अपेक्षा से सत् को अनेक मानने पर भी जीवद्रव्य में (**सोपाधिः**) सोपाधि और (**निरुपाधिः**) निरुपाधि कल्पना (**कुतः अर्थतः**) किस प्रयोजन से की जाती है ?।। 114।।

(**अत्र च**) इस विषय में (**अभिज्ञानं अपि अस्ति**) दृष्टांत भी है (**यथा**) जैसे कि (**यत् रसरूपयोः**) जो रस और रूप का (**ज्ञानं**) ज्ञान होता है (**तत् ज्ञानं**) वह ज्ञान (**न रूपं**) न रूप स्वरूप ही हो जाता है (**अथ**) और (**न रसः**) न रस स्वरूप ही हो जाता है क्योंकि वह (**अर्थतः**) वास्तव में (**ज्ञानमात्रं**) ज्ञान स्वरूप ही होता है।। 115।।

भावार्थ :- सामान्य की अपेक्षा से सत् को एक और विशेष की अपेक्षा से सत् को अनेक मानते हुए भी जीव द्रव्य में सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पना की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे पर-पदार्थ को विषय करने से ज्ञान वास्तव में पररूप नहीं हो जाता, वैसे ही पर के साथ बन्ध होने से आत्मा भी पररूप नहीं हो जाता है, इसलिए जीव में परनिमित्त से होने वाली सोपाधि कल्पना व उसके अभाव में होनेवाली निरुपाधि कल्पना करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान

नैवं यतो विशेषोऽस्ति सद्विशेषेऽपि वस्तुतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात्।। 116।।

क्योंकि वस्तुतः सत् विशेष में भी अन्वय-व्यतिरेकों से-।
हेतु-सिद्धि होने से होती साध्य विशेषतायें सत् में।।884।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) ऐसा कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**वस्तुतः**) वास्तव में (**सद्विशेषे अपि**) जीव सत्, अजीव सत्, आस्रव सत् इत्यादिरूप से सत् में द्वैत रहने पर भी (**वै**) निश्चय से (**द्वाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां**) दोनों प्रकार के अन्वय और व्यतिरेक दृष्टांत से (**सिद्धसाधनात्**) साधन के सिद्ध होने के कारण (**विशेषः अस्ति**) विशेषता पाई जाती है।।116।।

भावार्थ :- शंकाकार ने जो यह पहले कहा था कि जब सत् रूप से सब द्रव्यों में अद्वैत है और जीवाजीवादिरूप विशेषों के कारण द्वैत है तो फिर जीव में सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पना क्यों की जाती है? उसका उत्तर यह है कि सामान्यरूप से अद्वैत और विशेषरूप से द्वैत के रहने पर भी जीवादि विशेष द्रव्यों में और भी अनेक विशेषतायें पाई जाती हैं, जो कि उनमें अपने-अपने अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती हैं, इसलिए सोपाधिरूप द्वैत मानना अयुक्त नहीं है। आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं।

अन्वय दृष्टांत

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगाद्धि वारिवत्।। 117।।
नासिद्धोऽसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्वतः।। 118।।

जैसे अर्थ दृष्टि से ज्ञान अजानरूप पर-हेतु से।
अग्नि-योग से शीत वस्तु भी ऊष्णपना पाती जलवत्।। 885।।
यह दृष्टान्त असिद्ध नहीं है क्योंकि जब होता अज्ञान।
तब उसके वास्तविक रूप से अन्य अवस्था हो जाती।। 886।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उनमें (**अन्वयः**) अन्वय दृष्टांत इसप्रकार है (**यथा**) जैसे कि (**अर्थात्**) अर्थ-दृष्टि से (**ज्ञानं**) ज्ञान (**परहेतुतः**) पर के निमित्त से (**अज्ञानं**) अज्ञान हो जाता है (**हि**) क्योंकि (**शीतं**) शीत पदार्थ (**वन्हियोगात्**) अग्नि के संयोग से (**वारिवत्**) जल के समान (**अशीतं स्यात्**) उष्ण हो जाता है।। 117।।

(**असौ**) यह (**दृष्टांत**) दृष्टान्त (**असिद्धः न**) असिद्ध नहीं है (**हि**) क्योंकि (**सतः ज्ञानस्य**) सम्यग्ज्ञान को (**अज्ञानतः**) अज्ञानरूप हो जाने से (**तस्य**) उसकी (**यथाजातप्रमात्वतः**) वास्तविक ज्ञानत्व से (**अवस्थांतरं अस्ति**) भिन्न अवस्था हो जाती है।। 118।।

भावार्थ - उक्त कथन का समर्थन अन्वय साधक दृष्टांत से इसप्रकार होता है कि ज्ञान पर-निमित्त से अज्ञान कहलाता है। जैसे जल शीतल होकर के भी वन्हि के योग से ऊष्ण कहलाता है वैसे ही कर्म के सम्बन्ध से आत्मा अज्ञानी, रागी-द्वेषीरूप सोपाधि कहलाता है।

यदि पर-निमित्त से ज्ञान की अवस्थान्तररूप दशा नहीं मानी जाती तो केवली की तरह सब ही जीवों में परिपूर्ण शुद्धज्ञान पाया जाना चाहिए था, किन्तु नहीं पाया जाता है, इसलिए पर-निमित्त से ज्ञान-अज्ञान हो जाता है - यह दृष्टांत असिद्ध नहीं है।

व्यतिरेक दृष्टांत

व्यतिरेकोऽस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद् यन्नैवं शुद्धमेव तत्।। 119।।

खुलासा

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम्।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः।। 120।।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम्।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद् बद्धं चाशुद्धमक्रमात्।। 121।।

न स्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात्।। 122॥

अथ चेद् बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक्।। 123॥

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः।। 124।।

जैसे मोह-उदय से ही मिथ्यात्व दशामय हो जाता-
निज आत्मा का ज्ञान, किन्तु बिन मोह शुद्ध ही वह रहता।।887।।

जैसे क्षायिक ज्ञान जगत के सब पदार्थ का ज्ञाता है।
स्वाभाविक है अतः शुद्ध है निरुपाधिक है अतः अबद्ध।।888।।

सत्ता में कर्मों का क्षय नहिं अतः अपने स्वभाव से दूर।
क्षायोपशमिक ज्ञान है युगपत् बद्ध तथा वे रहें अशुद्ध।।889।।

शुद्ध-अशुद्ध ज्ञान होता है यदि इसका सर्वथा निषेध-।
हो तो बन्ध हेतु नहिं होंगे अतः न बन्ध-रु-फल उनका।।890।।

अथवा बन्ध कहें तो फिर वह कभी अबन्ध नहीं होगा।
चित्-विशेष हों एकरूप तो कोइ विशेष अबन्ध नहीं।।891।।

सिद्ध प्रसिद्ध अबन्धरूप अतएव सर्वथा बन्ध असिद्ध !
बन्ध कार्य उपलब्ध अतः सर्वथा अबन्धपना नहिं सिद्ध।।892।।

अन्वयार्थ :- (**व्यतिरेकः अस्ति**) व्यतिरेक दृष्टांत भी इसप्रकार है (**यथा**) जैसे कि (**स्वं**

आत्मविज्ञानं) अपनी आत्मा का ज्ञान (**परहेतुतः**) केवल मोहादि कर्मों के निमित्त से ही (**मिथ्यावस्था विशिष्टं स्यात्**) मिथ्यात्वरूप दशा से युक्त रहता है क्योंकि (**यत्**) जो ज्ञान (**एवं न**) कर्मों से आवृत्त नहीं होता है (**तत्**) वह ज्ञान (**शुद्धं एव**) शुद्ध ही रहता है अर्थात् अशुद्ध भी नहीं होता है।। 119।।

(**तद्यथा**) उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**सार्थं सर्वार्थगोचरं**) युगपत् सर्व पदार्थों का विषय करने वाला (**क्षायिकं ज्ञानं**) क्षायिक ज्ञान (**स्वजातिमात्रत्वात्**) केवल स्वाभाविक ज्ञान होने से (**शुद्धं**) शुद्ध है और (**निरुपाधितः अबद्धं**) रागादिरूप उपाधि से रहित होने के कारण अबद्ध है।। 120।।

(**क्षायोपशमिकं ज्ञानं**) मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान (**सतां कर्मणां अक्षयात्**) सत्ता में रहने वाले सर्वघाति स्पर्धकों के क्षय न होने से अर्थात् पर-निमित्त के सद्‌भाव से (**आत्मजातेः च्युतेः**) स्वाभाविक ज्ञानरूप आत्मजाति से च्युत हो जाता है इसलिए (**एतत्**) ये चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञान (**अक्रमात्**) युगपत् (**बद्धं**) बद्ध (**च**) और (**अशुद्धं**) अशुद्ध कहे जाते हैं।। 121।।

(**ज्ञानं**) ज्ञान (**सर्वतः**) सर्वथा (**शुद्धं न स्यात्**) शुद्ध नहीं होता है (**च**) और (**अशुद्धं न**) अशुद्ध भी नहीं होता है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो (**तस्य**) उस ज्ञान के (**बन्ध हेतोः**) बन्ध के कारण का (**असंभवात्**) अभाव होने से (**बन्धः न**) बन्ध नहीं होगा तथा (**फलं न**) उस बन्ध का फल भी सिद्ध नहीं होता है।। 122।।

(**अथ**) अथवा (**बन्धः चेत्**) यदि बन्ध होगा (**तदा**) तो (**यः बन्धः**) जो बन्ध है (**सः बन्धः एव**) वह बन्ध ही रहेगा (**अबन्धः न**) अबन्ध नहीं होगा क्योंकि (**चिद्विशेषाणां निर्विशेषात्**) चेतना की पर्यायों में किसी प्रकार का अन्तर न रहने से (**अबन्धभाक् शेषः न**) अमुक अवस्था में बन्ध नहीं होता है - ऐसी कोई विशेषता न रहेगी, अर्थात् सब अवस्थाओं में बन्ध होता ही रहेगा।। 123।।

(**अबन्धप्रसिद्धतः**) सिद्ध अवस्था में बन्ध नहीं होता, यह प्रसिद्ध है इसलिए (**सर्वतः**) सर्वथा सब जीवों में (**बन्धः स्यात्**) बन्ध ही होता है यह (**माभूत्**) सिद्ध नहीं हो सकता है (**वा**) अथवा (**बन्धकार्योपलब्धितः**) बन्धरूप कार्य के हेतु का सद्भाव होने से (**सर्वतः**) सर्वथा (**अबन्धः**) बन्ध का अभाव कहना भी (**श्रेयान् न**) ठीक नहीं कहा जा सकता है।। 124।।

भावार्थ :- ज्ञान पर-निमित्त से ही अज्ञानरूप हो रहा है। पर-निमित्त के न रहने से ज्ञान मिथ्यात्वरूप अवस्था से युक्त नहीं रहता, अतः सोपाधि होने के कारण ज्ञान अज्ञान कहलाता है और

उसके अभाव में अज्ञानरूप नहीं कहलाता; इसलिये सद्विशेष में भी विशेषता का साधक यह व्यतिरेक दृष्टान्त पाया जाता है।

इसप्रकार सामान्यरूप से अद्वैत तथा विशेषरूप से द्वैत के रहते हुए भी अन्वय-व्यतिरेक साधक दृष्टान्तपूर्वक सद्विशेष में जीव में विशेषता सिद्ध होती है। इसलिए जीव में सोपाधि और निरुपाधि कल्पना युक्ति-विरुद्ध नहीं है।

उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि ज्ञानावरणादि पर-निमित्त के अभाव से ही ज्ञान क्षायिक कहला कर सब पदार्थों को युगपत् जानता है तथा वह केवल ज्ञानत्वरूप अपनी जाति से युक्त होने के कारण शुद्ध और किसी प्रकार की रागद्वेषादिरूप उपाधि के न रहने के कारण अबद्ध कहलाता है।

मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्यय ये चारों ही ज्ञान ज्ञानावरणादिरूप पर-निमित्त के क्षय न होने के कारण, क्षायोपशमिक तथा अपनी शुद्ध ज्ञानत्व जाति से च्युत होने के कारण युगपत् बद्ध और अशुद्ध कहलाते हैं, क्योंकि बद्धता तथा अशुद्धता में अविनाभाव है।

यदि सत् विशेष में उपर्युक्त सोपाधि और निरुपाधि कल्पना को न मानकर कोई यह कहे कि ज्ञान न शुद्ध है तथा न अशुद्ध है; किन्तु वह तो केवल अद्वैतरूप है तो उसका उत्तर यह है कि ज्ञान में सोपाधि व निरुपाधि कल्पना के न मानने से बन्ध के हेतुओं के अभाव से बंध के अभाव का और बंध के अभाव में बंध के फल के अभाव का भी प्रसंग आवेगा।

यदि सोपाधि तथा निरुपाधि कल्पना के बिना बन्ध माना जायगा तो जो बन्ध होगा वह सदैव बन्ध ही रहेगा, वह बन्ध कभी भी अबन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीव में सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषता के न मानने से उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में किसी प्रकार की विशेषता न रहने के कारण सर्वथा बन्ध मानने पर अबन्ध धारक विशेष ही कुछ शेष नहीं पाया जा सकता है।

इसलिए सिद्धों में अबन्ध की प्रसिद्धि से सर्वथा बंध मानना भी ठीक नहीं है और संसारी आत्माओं में बंध के कार्य अज्ञानादिक पाये जाते हैं, इसलिए सर्वथा अबन्ध मानना भी ठीक नहीं है अर्थात् दोनों दृष्टान्तों के पाए जाने से सर्वथा बन्ध व अबन्ध मानना ठीक नहीं है।

अबद्ध का दृष्टान्त

अस्तिचित् सार्थ सर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक्।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात्।। 125।।

आत्मा और समस्त वस्तु का जो युगपत् ज्ञाता प्रत्यक्ष।
निर्विकार जो अक्षय क्षायिक-ज्ञान उसी को कहें अबद्ध।।893।।

अन्वयार्थ :- (**बन्धव्यत्ययात्**) बन्ध के अभाव होने से (**चित्सार्थ सर्वार्थसाक्षात्कारि**) आत्मा और सर्व पदार्थों को युगपत् जानने वाला (**अविकार भुक्**) निर्विकार (**अक्षयि**) अनन्त (**क्षायिकं**) क्षायिक और (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष करने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान (**अबद्धं अस्ति**) अबद्ध कहलाता है।। 125।।

भावार्थ :- आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव होने पर जो युगपत् चराचर पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला निर्विकार अनन्त और क्षायिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह ज्ञान अबद्ध कहलाता है।

बद्ध का दृष्टान्त

बद्धः सर्वोऽपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः।। 126।।

संसार दशा में होता है विपरीतपना तो जीव सभी।
बन्ध और सोपाधि सिद्ध, अन्यथा न हो संसार दशा।। 834।।

अन्वयार्थ :- (**संसारकार्यत्वे सति वैपरीत्यतः**) संसाररूप कार्य के होते हुए विपरीतता पाई जाती हैं, इसलिए (**सर्वः अपि बद्धः**) सब ही संसारी जीव कर्मों से बँधे हुए हैं अतः उनका ज्ञान (**सोपाधि सिद्धं**) कर्मरूप उपाधि सहित सिद्ध होता है, क्योंकि (**अन्यथा**) यदि उनका ज्ञान उपाधि सहित न होता तो (**तद्धेतोः**) संसाररूप कार्य के होते हुए बन्ध के कारण से उत्पन्न होने वाली जो जीव के स्वभाव की विपरीतता पाई जाती है, वह (**अनुपपत्तितः**) नहीं पाई जाना चाहिए।। 126।।

भावार्थ :- बन्ध के कार्यरूप संसार के होते हुए जीव के स्वभाव में जो विपरीतता पाई जाती है, उससे सम्पूर्ण संसारी जीव कर्मों के द्वारा बंधे हुए हैं - यह सिद्ध होता है। इसलिए बद्ध संसारी जीवों के ज्ञान को सोपाधि किंवा बद्ध कहते हैं। यदि संसारी जीवों का ज्ञान बद्ध न होता तो संसाररूप कार्य के होते हुए उनके ज्ञान में विपरीतता भी नहीं पाई जाती; किन्तु संसारी अवस्था में उनका ज्ञान स्वभाव से च्युत होता हुआ विपरीत पाया जाता है। अतः संसारी आत्माओं का ज्ञान सोपाधि अर्थात् बद्ध सिद्ध होता है।

उपसंहार

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत्।। 127।।

इस प्रकार सोपाधि और निरुपाधि ज्ञान की सिद्धि हुई।
जो अशुद्ध है वह सोपाधिक और शुद्ध निरुपाधिक है।। 895।।

अन्वयार्थ :- (**एतावता**) इस प्रकार से (**ज्ञानं**) ज्ञान (**सोपाधि**) सोपाधि (**च**) और (**निरुपाधि**) निरुपाधि सिद्ध होता है (**तत्र**) उनमें से (**हि**) निश्चय करके (**यत्**) जो ज्ञान (**अशुद्धं**) अशुद्ध होता है वह (**सोपाधि**) सोपाधि कहलाता है तथा जो ज्ञान (**शुद्धं**) शुद्ध होता है (**तत्**) वह (**निरुपाधि**) निरुपाधि कहलाता है।। 127।।

भावार्थ :- इस प्रकार से जीव में सोपाधि और निरुपाधिरूप कल्पना के मानने से बद्ध तथा अशुद्ध ज्ञान सोपाधि और अबद्ध तथा शुद्ध ज्ञान निरुपाधि सिद्ध होता है।

इसप्रकार 114वें पद्य में प्रतिपादित जीव की सोपाधि और निरुपाधिरूप विशेषता का निरूपण करके अब आगे बद्धता तथा अशुद्धता के विषय में शंका-समाधानपूर्वक विचार करते हैं -

शंका

ननु कस्को विशेषोऽस्ति बद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः।। 128।।

समाधान

नैवं यतो विशेषोऽस्ति हेतुमद्धेतुभावतः।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा।। 129।।
बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद् द्वयोः स्वगुणच्युतिः।। 130।।
बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।
यस्माद् बन्धं बिना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन।। 131।।
कार्यरूपः स बन्धोऽस्ति कर्मणां पाकसंभवात्।
हेतु रूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः।। 132।।

कहो बद्धता अरु अशुद्धता दोनों में क्या अन्तर है?
क्योंकि एकता दोनों में ही दिखे न कोई अन्तर है।। 896।।
हेतु-हेतुमत् भावपने से इन दोनों में अन्तर है।
अथवा कारण-कार्य भेद है उनका लक्षण यहाँ कहें।। 897।।
बन्ध पारिणामिकी क्रिया है पर-गुण के आकार स्वरूप।
उसके होने पर निज-गुण से च्युत होना अशुद्धतारूप।। 898।।

यह निश्चित है बन्ध हेतु है अरु अशुद्धता उसका कार्य।
क्योंकि बन्ध के बिना कभी भी नहिं अशुद्धता हो सकती।।899।।
कर्मों के विपाक से होता अतः बन्ध है कार्य स्वरूप।
कारण है अशुद्धता क्योंकि उससे नये कर्म का बन्ध।। 900।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**द्वयो बद्धाशुद्धत्वयोः**) उन दोनों बद्धता और अशुद्धता में (**कः कः**) क्या क्या (**विशेषः अस्ति**) अन्तर है (**यस्मात्**) क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तव में (**ऐक्योपलब्धितः**) उन दोनों में एकता पाये जाने के कारण (**अनर्थान्तरं अस्ति**) कुछ अर्थान्तर नहीं पाया जाता है।। 128।।

(**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**हेतुमद्धेतुभावतः**) कार्य कारणपने से कार्यकारणभाव से (**वा**) अथवा (**कार्यकारणभेदात्**) कार्यकारण भेद से (**द्वयोः विशेषः अस्ति**) दोनों में भेद है (**यथा तल्लक्षणं**) जैसे कि उनका लक्षण इसप्रकार है।। 129।।

(**पर-गुणाकाराः**) परगुण के आकाररूप (**पारिणामिकी क्रिया**) परिणामी क्रिया (**बन्धः स्यात्**) बन्ध कहलाती है और (**तस्यां सत्यां**) उसी क्रिया के होने पर ही जो (**तद् द्वयोः स्वगुणच्युतिः**) उन दोनों जीव तथा कर्मों का जो अपने-अपने गुणों से च्युत होना है वह (**अशुद्धत्वं**) अशुद्धता कहलाती है।। 130।।

(**बन्धहेतुः**) बन्ध कारण है (**च**) और (**अशुद्धत्वं हेतुमत्**) अशुद्धता बन्ध का कार्य है (**इति निर्णयः**) यह निश्चित है (**यस्मात्**) क्योंकि (**बन्धं बिना**) बन्ध के बिना (**कदाचन**) कभी भी (**अशुद्धत्वं न स्यात्**) अशुद्धता नहीं होती है।। 131।।

(**स बन्धः**) वह बन्ध (**कार्यरूपः अस्ति**) कार्यरूप है क्योंकि (**कर्मणां पाक सम्भवात्**) कर्म के पाक से उदय से होता है और (**अशुद्धत्वं**) अशुद्धता (**हेतुरूपं**) कारणरूप है क्योंकि (**तत्रवाकर्षणत्वतः**) उनके द्वारा ही नवीन कर्मों का आकर्षण होकर उनका बन्ध होता है।। 132।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि बद्धता और अशुद्धता का एक ही अर्थ है, इसलिए इन दोनों में कुछ अन्तर नहीं है।

शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि कार्यकारणभाव से तथा कार्यकारण भेद से बद्धता और अशुद्धता अन्तर है जिसको कि आगे प्रतिपादन करते हैं -

जीव और कर्मों की परस्पर में पर -गुण के आकार जो पारिणामिकी क्रिया होती है उसको बंध कहते हैं, तथा उस पारिणामिकी क्रिया के होने पर जो उन दोनों का अपने-अपने गुणों से च्युत होना है उसको अशुद्धता कहते हैं। अब आगे बंध और अशुद्धता में कारण-कार्यभाव बताते हैं।

बंध कारण और अशुद्धता उसका कार्य है क्योंकि पूर्व बन्ध के बिना अशुद्धता नहीं होती है। अब आगे बंध तथा अशुद्धता में कार्य-कारणभाव बताते हैं -

अशुद्धतापूर्वक ही नवीन कर्मों का आस्त्रव होकर बंध होता है इसलिए अशुद्धता कारण और बंध कार्य भी कहा जाता है क्योंकि वह बंध, अशुद्धता के निमित्त से आने वाले कर्मों के उदय से होता है।

इसप्रकार बद्धता और अशुद्धता में अन्तर बताकर आगे जीव की शुद्धता-अशुद्धता के विषय में विचार करते हैं -

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोऽपि तत्त्वतः।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोऽपि बद्धाबद्धनयादिह।। 133।।
एकः शुद्ध नयः सर्वो निर्द्वंदो निर्विकल्पकः।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्दः सविकल्पकः।। 134।।
वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः।। 135।।

वास्तव में है जीव शुद्ध भी कहें शुद्धनय के द्वारा।
अरु अशुद्धता नहिं असिद्ध है बद्धाबद्ध सुनय द्वारा।। 901।।
पूर्ण शुद्धनय एक और निर्द्वन्द विकल्पातीत अहो।
सविकल्पक अरु द्वन्दरूप व्यवहार अनेक स्वरूप कहो।। 902।।
शुद्ध चिदात्मक जीव मात्र ही वाच्य शुद्धनय का जानो।
जीवादिक नव तत्व कहे जो नय-व्यवहार विषय मानो।। 903।।

अन्वयार्थ :- (**तत्त्वतः**) वास्तव में (**इह**) यहाँ पर (**शुद्धनयादेशात्**) शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से (**जीवः**) जीव (**शुद्धः अपि**) शुद्ध भी (**अस्ति**) है (**अपि च**) और (**बद्धाबद्धनयात्**) कथंचित् बद्धाबद्धनय अर्थात् व्यवहारनय से जीव (**अशुद्धः अपि**) अशुद्ध भी है - यह भी (**असिद्ध न**) असिद्ध नहीं है।। 133।।

(**सर्वः शुद्धनयः**) सम्पूर्ण शुद्धनय (**एकः**) एक (**निर्द्वन्दः**) निर्द्वन्द और (**निर्विकल्पः**) निर्विकल्प है तथा (**व्यवहारनयः**) व्यवहारनय (**अनेकः**) अनेक (**सद्वन्दः**) सद्वन्द और (**सविकल्पकः**) सविकल्प है।। 134।।

(**अस्य शुद्धनयस्य**) इस शुद्धनय का विषय (**चिदात्मकः शुद्धः जीवः वाच्यः**) चेतनात्मक

शुद्ध जीव कहना चाहिये क्योंकि (**शुद्धात् अन्यत्र**) व्यवहार के विषयस्वरूप (**ते जीवाद्याः**) वे जीव आदि (**नवपदार्थाः स्मृताः**) नौ पदार्थ कहे गये हैं।। 135।।

भावार्थ :- शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध कहा जाता है और व्यवहारनय से जीव अशुद्ध कहा जाता है।

निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनय, एक निर्द्वन्द और निर्विकल्पक होता है तथा व्यवहारनय-पर्यायार्थिकनय अनेक द्वन्द सहित और सविकल्पक होता है।

शुद्धनय का विषय केवल चेतनात्मक शुद्ध जीव होता है और व्यवहारनय का विषय जीवादिक नौ पदार्थ होते हैं, क्योंकि जीव अजीव आदि नवपदार्थ जीव के ही भेद होने से विवक्षा वश व्यवहारनय के विषय माने जाते हैं।

शंका

ननु शुद्धनयः साक्षादस्ति सम्यक्त्वगोचरः।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत्।। 136।।

समाधान

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः।। 137।।
तद्यथानादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी।। 138।।
किंच पर्यायधर्माणो नवामी पदसंज्ञकाः।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता।। 139।।
नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः।
यतो नवपदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत्।। 140।।
सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोऽनुभूयते।। 141।।

एक शुद्धनय ही प्रत्यक्ष सम्यक् स्वरूप को बतलाता।
अतः वही वक्तव्य कहो क्या लाभ दूसरे नय द्वारा।। 904।।
सत्य कहा कि उपादेय नय-शुद्ध, दूसरा श्रेय नहीं।
किन्तु न्यायबल से दूजा भी उपादेय पहले जैसा।। 905।।

इसका वर्णन ऐसा है कि जीव एक नौ भेद स्वरूप!
है अनादि सन्तान बन्ध पर्याय मात्र की दृष्टि से।। 906।।
नव पद संज्ञक ये पदार्थ हैं धर्मरूप पर्यायों के।
किन्तु मात्र पर्यायरूप नहिं ये उपरक्त उपाधि हैं।। 907।।
है अनादि से सोपरक्ति की औपाधिकता नहीं असिद्ध।
क्योंकि व्याप्त है नौ भेदों में पूर्ण जीव में रहे अव्याप्त।। 908।।
सोपरक्ति से उपाधित्व है अतः निषेध करें इनका।
तो ये नवपद सिद्ध न होंगे, शुद्ध जीव-अनुभूति नहीं।। 909।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**शुद्धनयः**) शुद्धनय ही (**साक्षात् सम्यक्त्व गोचरः**) साक्षात् सम्यक्त्व को यथार्थता को विषय करने वाला है इसलिए (**एकः वाच्यः**) एक वह शुद्धनय ही मानना चाहिये (**अन्येन व्यवहारनयेन**) अन्य व्यवहारनय से (**किं**) क्या प्रयोजन है ? (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो ?।। 136।।

(**सत्यं**) ठीक है कि (**शुद्धनयः श्रेयान्**) शद्धनय ही उपादेय है (**इतरः नयः श्रेयान् न**) दूसरा व्यवहारनय उपादेय नहीं है (**अपि**) किन्तु फिर भी (**न्यायबलात्**) न्याय बल से अर्थात युक्तियुक्त होने के कारण (**इतरः नयः**) व्यवहारनय (**श्रेयान् इव अस्ति**) शुद्धनय के समान उपादेय है।। 137।।

(**तद्यथा**) पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**एकः जीवः**) एक जीव ही (**अनादिसन्तानबन्ध-पर्याय मात्रतः**) केवल अनादि सन्तान के क्रम से होनेवाले बन्ध के पर्याय की अपेक्षा से (**विवक्षितः सन्**) विवक्षित होकर जीव के (**अमी नवपदाः स्मृता**) इन जीव आदि नव-पदार्थरूप कहा जाता है।। 138।।

(**किं च**) तथा (**अमी नवपदसंज्ञकाः**) ये नव-पदार्थ (**पर्यायधर्माणः**) पर्याय के धर्म हैं और (**अत्र**) इनमें (**पर्यायमात्रतः न**) केवल पर्यायरूपता नहीं है, किन्तु (**उपरक्ति उपाधिः स्यात्**) उपरक्तिरूप उपाधि भी है।। 139।।

(**अत्र**) जीव आदि नव-पदार्थों में (**स्वतः**) अनादिकाल से (**तथा**) वैसी (**सोपारक्तेः उपाधित्वं**) सोपरक्ति की उपाधिता (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तत् पर्ययेषु-अव्याप्तं**) वह उपाधि 'व्यापक' जीव की सम्पूर्ण पर्यायों में अव्याप्त और (**नवपदव्याप्तं**) नव-पदों में व्याप्त है।। 140।।

(**चेत्**) यदि (**सोपरक्तेः उपाधित्वात्**) सोपरक्ति के उपाधित्व के कारण (**अनादरः विधीयते**)

उसका अनादर किया जावे तो (**अमूनि नव पदानि**) ये नव पद (**क्व**) कहाँ मिलेंगे ? और उनके अभाव में (**शुद्धजीवः क्व अनुभूयते**) शुद्ध जीव का भी अनुभव कहाँ होगा ?।। 141 ।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि शुद्ध निश्चयनय ही सम्यक्त्व को अर्थात् परमार्थभूत विषय को विषय करता है। इसलिए केवल एक शुद्ध निश्चयनय ही मानना चाहिए अपरमार्थभूत व्यवहारनय नहीं।

ठीक है क्योंकि यद्यपि परमार्थ को विषय करनेवाला केवल शुद्धनय ही उपादेय है व्यवहारनय नहीं। तथापि व्यवहारनय भी न्यायानुसार उपादेय तो नहीं, किन्तु उपादेय के समान माना है अर्थात् कार्यकारी माना है अकार्यकारी नहीं।

उपर्युक्त कथन का खुलासा यह है कि जीव की अनादि सन्तान क्रम से होने वाली केवल बंधरूप पर्याय की अपेक्षा से जीव की विवक्षा करने पर उस जीव के ही स्वरूप ये नवपदार्थ हैं, अर्थात् विवक्षा वश जीव ही नव-पदार्थमय कहा जाता है। इसलिए व्यवहारनय सर्वथा अनुपादेय नहीं कहा जा सकता है।

उपरक्ति का अर्थ परायत्त/पराधीनता है और वे जीवादिक नौ-पदार्थ उपरक्ति सहित पर्याय के धर्म हैं, क्योंकि '*तत्रबन्धे न हेतुः स्यात्*' इत्यादि 73वें श्लोक से 77वें श्लोक तक बंध के कारणों को बताते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने अनादिकाल से जीव और कर्मों का एक-दूसरे के आधीन होकर अपने-अपने गुणों से च्युत होने रूप परस्पर परायत्त हो जाने को ही बन्ध का कारण बताया है। परायत्तता के कारण कर्मों का जीव के साथ बन्ध होता है, उसके अभाव में नहीं। इसीलिये मुक्त जीव सदा निर्बंध रहते हैं। '**साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमवाप्ति उपाधिः**' अर्थात् साधन के साथ व्यापकरूप से न रहकर, साध्य के साथ व्यापक रूप से रहे उसको उपाधि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो साधन के साथ तो नियम से न रहे किंतु साध्य के साथ अवश्य रहे उसे उपाधि कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत धूमवान है, क्योंकि यहाँ पर अग्नि है।' यहाँ (यहाँ पर्वत को अग्निमान न कहकर धूमवान को साध्य बनाया गया है अर्थात् अग्नि को साधन और धूम को साध्य बताया गया है और गीला ईंधन धूर्मरूप साध्य के साथ अवश्य रहने से उसे उपाधि कहा गया है) गीला ईंधन उपाधि है, क्योंकि गीला ईंधन, साधनरूप अग्नि के साथ नियम से नहीं रहता है किंतु साध्यभूत धूम के साथ अवश्य रहता है।

उपाधि का लक्षण कहा जा चुका है। उक्त दृष्टान्त में गीले ईंधनरूप उपाधि सहित अग्निरूप साधन के द्वारा घूमवान् पर्वत साध्य किया है यदि अग्नि निरुपाधि होती तो पर्वत में धूमवत्व, साध्य की सिद्धि में नियामक नहीं होता, क्योंकि अग्नि के शुद्ध हो जाने पर फिर उसमें धुँआ नहीं हो

सकता है। 'गीले ईंधन की अग्नि' यह विशेषण देने पर उपाधि सहित अग्नि धूमवत्व साध्य की नियामक अवश्य होती है। इसीतरह केवल पर्यायमात्र से जीवादिक नव-पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में पर्यायत्व रहते हुए भी नव-पदार्थरूपता नहीं पाई जाती है, इसलिए उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्याय मात्रता ही नव-पदार्थों के साथ व्याप्त होकर रहती है।

सारांश यह है कि जीव को नवपदार्थमय होने में केवल पर्यायमात्रता कारण नहीं है, किन्तु उपरक्तिरूप उपाधि सहित पर्यायता कारण है, क्योंकि बंध की उपरक्ति सहित पर्यायमात्रता के कारण ही जीवन पदार्थमय कहा जाता है, केवल पर्यायपने से नहीं।

सोपरक्तिरूप उपाधि से सहित होने वाली पर्यायों के ही कारण व्यवहारनय से जीव नवपदार्थरूप सिद्ध होता है; यदि उपरोक्त को उपाधि को नहीं माना जावे तो उसके निमित्त से होने वाले जीवादिक नवपदार्थ भी सिद्ध न हो सकेंगे। अत: बंध मोक्षादि दशाओं के अभाव में शुद्ध जीव की भी उपलब्धि नहीं होगी, इसलिए उपरक्ति को यहाँ उपाधि मानना आवश्यक है।

सारांश यह है कि रागादि उपाधि सहित पर्यायों की अपेक्षा से ही व्यवहारनय के द्वारा नवपदार्थ माने जाते हैं, केवल पर्यायत्व से नहीं। यदि उपाधि को छोड़कर केवल पर्यायत्व से नवपदार्थों की सिद्धि करना चाहो तो उनकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जीव अजीव आस्रवादि परस्पर विरुद्ध पदार्थ केवल पर्याय सामान्य की अपेक्षा से कैसे कहे जा सकेंगे अर्थात् नहीं कहे जा सकते क्योंकि पर्यायमात्रत्व सामान्य धर्म है; इसलिए वह सब पदार्थों में सदृशता से पाया जाता है। अत: वह वैसा दृश्य सहित पदार्थों को सिद्ध नहीं कर सकता, तथा पदार्थों के अभाव में पर्यायी जीव भी कहाँ अनुभव करने को मिलेगा, क्योंकि पर्याय-निरपेक्ष द्रव्य भी सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए नवपदार्थों की सिद्धि के लिए पर्यायमात्रता में उपरक्ति को उपाधि मानना चाहिए।

इसप्रकार जीवादिक नव-पदार्थों में उपाधि सहित पर्यायधर्मपना सिद्ध करके अब आगे उपरक्ति के विषय में अस्ति आदि चतुष्टयरूप से शंका-समाधानपूर्वक विचार करते हैं -

शंका

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम्।। 142।।

अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः।
नास्तीति चेदसत्त्वस्याः सिद्धो नानादरो नयात्।। 143।।

सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः।। 144।।

असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यमन्यस्य दर्शनात्।। 145।।
उभयं चेत् क्रमणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम्।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा।। 146।।
यौगपद्येऽपि तद् द्वैतं न समीहितसिद्धये।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः।। 147।।
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्वैताद्वैतस्य का कथा।। 148।।
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः।
तद्वाचकश्च यः कोऽपि वाच्यः शुद्धनयोऽपि सः।। 149।।

वास्तव में यह उपरक्ति है अथवा नहिं यह बतलाओ।
क्या यह क्रम से उभयरूप या अक्रम से नहिं उभय स्वरूप।।910।।
अस्तिरूप यदि उपरक्ति है तो निषेध कैसे होगा।
यदि नास्तित्व कहें तो कहो असत् का कैसे करो निषेध।।911।।
उपरक्ति सद्भावरूप हो तो नहिं उपादेय नौ भेद।
शुद्ध जीव से भिन्न अशुद्ध द्रव्य नहिं विषय शुद्धनय का।।912।।
यदि उपरक्ति का अभाव हो तो नौ पद भी सिद्ध नहीं।
क्योंकि हेतु के असद्भाव में अविनाभावी कार्य नहीं।।913।।
नौ पद में उपरक्ति को क्रमशः सत्-असत्रूप मानें।
तो न्यायानुसार शुद्ध ही उपादेय अरु हेय अशुद्ध।।914।।
वे दोनों युगपत् मानें तो भी अभीष्ट की सिद्धि नहीं।
क्योंकि मात्र शुद्धाँश ग्राह्य होगा अशुद्ध तो ग्राह्य नहीं।। 915।।
एक द्रव्य के इक पद में नहिं होती दो किरिया दो कर्म।
अतः असिद्ध उभय युगपत् तो कैसे द्वैत-अद्वैत विचार।। 916।।
अतः अन्यगति नहीं न्याय से जो यथार्थ-गोचर है शुद्ध-
और उसे बतलाने वाला मात्र शुद्ध नय ही वक्तव्य।। 917।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**उपरक्तिः अस्ति इति**) उपरक्ति है (**किंवा**) अथवा (**नास्ति इति**) नहीं है (**किंवा**) अथवा (**तत्क्रमेण उभयं**) अस्तित्व नास्तित्व के क्रम से उभयरूप है (**किं**) अथवा क्या (**अक्रमेण उभयं न**) युगपत् उभयरूप नहीं है।। 142।।

(**अस्ति इति चेत्**) यदि जीवादिक पदार्थों में उपरक्ति का सद्भाव मानते हो (**तदा**) तो (**तस्यां सत्यां**) उसका सद्भाव होने पर (**अनादरः कथं**) उसका अनादर कैसे होगा अर्थात् यदि जीवादिक नव-पदार्थों में रहने वाली उपरक्ति वास्तविक है तो जीव आदि नव-पदार्थ रूप ही जीव का स्वरूप क्यों नहीं मान लिया जाता (**नास्ति इति चेत्**) यदि उनमें उपरक्ति का सद्भाव वास्तव में नहीं है तो (**अस्याः असत्वे**) इसका असद्भाव होने पर (**नयात् अनादरः न सिद्धः**) न्यायानुसार उसका अनादर सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि जो पदार्थ खरविषाण के समान अभावरूप होते है, उनका अनादर किसप्रकार किया जा सकता है, क्योंकि आदर-अनादर सद्भावात्मक पदार्थ का ही होता है अभावात्मक पदार्थ का नहीं।। 143।।

(**वै**) निश्चय से (**तस्यां उपरक्तौ सत्यां**) उस उपरक्ति के सद्भावात्मक होने पर शुद्धनय से (**पदानि आदेयानि न**) जीवादिक नव-पदार्थ उपादेय नहीं ठहरते हैं अर्थात् वे जीव के नवपद नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि (**शुद्धात् अन्यत्र सर्वत्र**) शुद्ध द्रव्य को छोड़ करके अशुद्ध सम्पूर्ण द्रव्यों में (**अस्य नयस्य अनधिकारतः**) इस शुद्ध निश्चयनय का अधिकार नहीं है अर्थात् शुद्ध निश्चयनय अशुद्ध द्रव्य का ग्रहण नहीं करता है।। 144।।

(**वा**) अथवा (**उपरक्तौ असत्यां**) उपरक्ति का अभाव मानने पर (**अमूनि पदानि च न एव**) ये नव-पद ही नहीं बन सकेंगे क्योंकि (**हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात्**) हेतु के अभाव से अविनाभाव रखने वाले कार्य का भी अभाव देखा जाता है।। 145।।

(**इह**) जीवादिक नव-पदों में (**क्रमेण उभयं विवक्षितं सिद्धं चेत्**) यदि क्रमपूर्वक उपरक्ति का सद्भाव और असद्भावरूप उभय विवक्षित सिद्ध हो (**तदा**) तो (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**शुद्धमात्रं उपादेयं**) केवल शुद्धांश उपादेय और (**शुद्धेतरं हेय**) अशुद्धांश हेय ठहरेगा।। 146।।

(**यौगपद्ये**) उन दोनों के युगपत् होने पर (**तद्वैतं अपि**) उपरक्ति और अनुपरक्ति का द्वैतरूप भंग ही (**समीहितसिद्धये न**) अभीष्ट सिद्धि के लिए समर्थ नहीं हो सकता है (**यतः**) क्योंकि (**केवलं शुद्धं आदेयं**) केवल उपरक्ति रहित शुद्धांश उपादेय होगा और (**तत्परं**) उससे विपरीत उपरक्ति रहित अशुद्धांश (**आदेयं न**) उपादेय नहीं होगा।। 147।।

(**एकस्य**) एक द्रव्य के (**एकपदे**) एक पद में (**द्वे क्रिये वा कर्मणी नस्तः**) दो क्रियायें अथवा दो कर्म नहीं हो सकते हैं (**ततः**) इसलिए जब (**यौगपद्यं असिद्ध स्यात्**) उपरक्ति और

अनुपरक्ति का यौगपद्य ही सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर (**द्वैताद्वैतस्य का कथा**) द्वैताद्वैत का विचार ही कैसे किये जा सकता है ?।। 148 ।।

(**ततः**) इसलिए (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**अनन्यगतेः**) और कोई गति न रहने से (**सम्यक्त्वगोचरः**) यथार्थता का विषयभूत (**शुद्धः**) उपरक्ति रहित द्रव्य ही शुद्ध है (**च**) और (**तद्वाचक यः कः अपि**) उस शुद्ध द्रव्य का वाचक जो कोई भी नय है (**सः शुद्धनयः अपि**) वह शुद्धनय ही वक्तव्य है अर्थात् शुद्ध द्रव्य तथा शुद्ध द्रव्य का वाचक शुद्धनय ही कहना चाहिये, किन्तु अशुद्ध द्रव्यरूप जीवादिक नव-पदार्थ व उनका वाचक व्यवहारनय नहीं कहना चाहिये ।। 149 ।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जीवादिक नव-पदार्थों में उपरक्ति का सद्भाव है अथवा असद्भाव है अथवा उपरक्ति और अनुपरक्ति की क्रमपूर्वक उभय अवस्था है अथवा अक्रमपूर्वक अनुभय अवस्था है।

यदि जीवादिक नौ-पदार्थों में उपरक्ति वास्तविक है तो जीवादिक नौ पदार्थों को अनुपादेय नहीं कहना चाहिये और यदि उपरक्ति अवास्तविक है तो उसका अनादर कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि सद्भावात्मक पदार्थों में ही आदर-अनादर होता है, अभावात्मक पदार्थ में नहीं।

तथा यदि जीवादिक नव-पदार्थों में उपरक्ति का सद्भाव मानोगे तो वह उपरक्ति उनमें सदैव रहना चाहिए और उसके सदैव रहने से केवल शुद्ध जीव को विषय करने वाले शुद्धनय के द्वारा वे नव-पदार्थ उपादेय नहीं कहे जा सकेंगे क्योंकि निश्चयनय शुद्ध द्रव्य को ही विषय करता है अशुद्ध द्रव्य को नहीं।

जीव के नव-पद उपरक्ति के निमित्त से माने जाते हैं इसलिये उपरक्तिरूप हेतु के अभाव में नव-पदरूप कार्य की सिद्धि कैसे हो सकती है अर्थात् उपरक्ति के अभाव में नव-पद नहीं बन सकते हैं।

यदि जीवादिक नव-पदार्थों में क्रमपूर्वक उपरक्ति के सद्भाव और असद्भाव के कारण उपरक्ति-अनुपरक्ति की क्रमपूर्वक उभय अवस्था मानी जायगी तो उपरक्ति के सद्भाव से जितना अशुद्धांश है उसको हेय तथा उसके असद्भाव से जितना शुद्धांश है उसको उपादेय मानना पड़ेगा।

युगपत् उपरक्ति के सद्भाव और असद्भाव को मानने पर भी नव-पदार्थों में उपादेयता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शुद्धमात्र ही उपादेय माना गया है इतर नहीं।

द्रव्य के किसी एक पद में युगपत् दो क्रिया अथवा दो कर्म नहीं हो सकते हैं इसलिये जब जीवादिक पदार्थों में उपरक्ति और अनुपरक्ति का यौग पद्य ही सिद्ध नहीं होता है तो फिर यौगपद्य के कारण द्वैताद्वैत का विचार ही कैसे किया जा सकता है, अर्थात् नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार उपरक्ति के सद्भाव असद्भाव तथा क्रमपूर्वक उभयरूपता और युगपत् अनुभयरूपता से भी जीवादिक नव-पदार्थों के विषय में उपादेयता सिद्ध नहीं होती है, इसलिए अशुद्ध द्रव्य व उसके वाचक व्यवहारनय के लिए कोई गति न रहने से केवल शुद्ध द्रव्य और उसका वाचक एक शुद्ध निश्चयनय ही कहना चाहिये।

इस तरह शंकाकार ने उपरक्ति तथा अनुपरक्ति विषय में होने वाली अपनी शंका को 8 पद्यों द्वारा पुष्ट किया है। अब आगे ग्रंथकार उसका समाधान करते हैं -

समाधान

नैवं त्वमन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः।। 150।।
नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेऽपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते।। 151।।

इक दूजे के बिना शुद्धता अरु अशुद्धता सिद्ध नहीं।
यद्यपि दोनों में विरोध, पर नहिं विरोध सापेक्षपने।।918।।
एक वस्तु ही दोनों में है अतः अनन्यथा सिद्धि रहे।
क्योंकि समस्त विशेषों में भी एक मात्र सामान्य रहे।। 919।।

अन्वयार्थ :- (**एवं तु न**) शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (**सतः शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः**) सत् की शुद्धता और अशुद्धता इन दोनों में (**अनन्यथा सिद्धेः**) अनन्यथा सिद्धि है अर्थात् सत् की शुद्धता, अशुद्धता के बिना तथा अशुद्धता, शुद्धता के बिना सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये (**मिथः**) दोनों में परस्पर की (**सापेक्षतः**) अपेक्षा से पाये जाने से (**विरोधे अपि**) कथंचित् विरोध के रहते हुए भी (**अविरोध स्यात्**) अविरोध है, विरोध नहीं है।। 150।।

(**तद्द्वयोः एक वस्तुतः**) उन दोनों अवस्थाओं में एक ही द्रव्य होने से अर्थात् एक ही द्रव्य की पूर्वापर अशुद्ध तथा शुद्ध दशा होने से (**अनन्यथा सिद्धिः**) अनन्यथा सिद्धि (**असिद्धा न**) असिद्ध नहीं है (**यत्**) क्योंकि (**विशेषे अपि**) विशेष में भी अर्थात् अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओं में भी (**एकमात्रं सामान्यं**) एकमात्र सामान्य (**प्रतीयते**) प्रतीत होता ही रहता है।। 151।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सत् की शुद्धता और अशुद्धता परस्पर सापेक्ष भाव से ही सिद्ध होती है एकान्त से नहीं, इसलिए यद्यपि उपरि दृष्टि से दोनों के कथन में विरोध मालूम होता है, तथापि भिन्न-भिन्न दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कथन होने के कारण वह विरोध, विरोध नहीं कहला सकता है।

अशुद्धता और शुद्धता ये दोनों ही जीव की पर्यायें हैं, जीव को अशुद्ध से शुद्ध होने पर केवल पर्याय में भेद होता है द्रव्य में नहीं, क्योंकि द्रव्य तो वही जीव द्रव्य रहता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए शुद्धता तथा अशुद्धता में दिया हुआ अनन्यथा सिद्धिरूप हेतु असिद्ध नहीं है।

नव तत्त्वों में मूलभूत जीव और पुद्गल द्रव्य हैं

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ।। 152 ।।
ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद् द्रव्यान्तरं पृथक्।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ।। 153 ।।
किन्तु सम्बन्धयोरेव तद् द्वयोरितरेतरम्।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ।। 154 ।।

नौ पदार्थ ये केवल जीव और पुदगल स्वरूप ही हैं।
वास्तव में स्व-द्रव्यादिक से कर्त्ता-कर्म अनन्य रहें ।। 920 ।।
इन दोनों के बिना न कुछ भी नव तत्त्वों में द्रव्य नहीं।
शुद्ध जीव एवं विशुद्ध पुद्गल के ये नौ तत्त्व नहीं ।। 921 ।।
किन्तु परस्पर एक दूसरे के सम्बन्धित होने पर।
दोनों है निमित्त-नैमित्तिक उनके नौ पदार्थमय भाव ।। 922 ।।

अन्वयार्थ :- (**तद्यथा**) पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**नव तत्त्वानि**) ये नव तत्त्व (**केवलं जीवपुद्गलौ**) केवल जीव और पुद्गलरूप हैं क्योंकि (**वस्तुतः**) वास्तव में (**स्वद्रव्याद्यै**) अपने द्रव्य-क्षेत्रादिक के द्वारा (**कर्तृकर्मणोः**) कर्ता तथा कर्म में (**अनन्यत्वात्**) अनन्यत्व है, अनन्य नहीं है ।। 152 ।।

(**ताभ्यां अन्यत्र**) उन जीव और पुद्गलों के सिवाय (**एतेषां**) इन नव-तत्त्वों में (**किंचित् पृथक् द्रव्यांतरं न**) पृथक्रूप से कुछ दूसरे द्रव्य नहीं हैं तथा (**प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य च पुद्गलस्य न**) पृथक्-पृथक् विशुद्ध जीव और विशुद्ध पुद्गल के भी ये नव-पदार्थ नहीं होते हैं ।। 153 ।।

(**किंतु**) किन्तु (**इतरेतर**) परस्पर में (**तद् द्वयोः सम्बन्धयोः एवं**) सम्बन्ध को प्राप्त उन दोनों जीव और पुद्गलों की (**नैमित्तिक-निमित्ताभ्यां**) नैमित्तिक-निमित्त सम्बन्ध से होने वाले (**भावाः**) भाव (**अमी नव पदाः**) ये नव-पदार्थ हैं ।। 154 ।।

भावार्थ :- कर्ता और कर्म की भेद-विवक्षा से केवल जीव तथा पुद्गल के द्वारा नव तत्त्वों की सिद्धि हो जाती है और उनकी अभेद विवक्षा से जीव व पुद्गल ये दो ही द्रव्य/पदार्थ सिद्ध होते हैं। केवल विशुद्ध जीव और पुद्गल के भी नव पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

जीव और पुद्गल के सिवाय नव-पदों में अन्य किसी द्रव्य का सम्बन्ध नहीं है, तथा ये नव-पद शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल के भी नहीं हैं किन्तु परस्पर संयुक्त जीव और पुद्गल के हैं, क्योंकि बिना पर-निमित्त के शुद्ध द्रव्यों में विकार नहीं होता, किन्तु नव-पदार्थ परस्पर में सम्बन्ध को प्राप्त जीव तथा पुद्गल के विकार हैं।

बंध कार्य है आस्रव उसका कारण है। मोक्ष कार्य है संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। मोक्ष बंधपूर्वक होता है। बंध ही जीव तथा पुद्गल में वैभाविक भाव उत्पन्न करता है - इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबध से जीव और पुद्गल में बंध होकर उनके संयोग व वियोग स्वरूप ये नव-पद होते हैं। अन्यथा नहीं अर्थात् पुद्गल के निमित्त से जीव में बंधादिक नैमित्तिक भाव होते हैं, पुद्गल के निमित्त बिना नहीं।

सारांश यह है नैमित्तिक जीव तथा निमित्त पुद्गल इन दोनों के परस्पर संबंध से ही नव-पद सिद्ध होते हैं।

जीव के ही नौ पद हैं

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते।
तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते।। 155।।
नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम्।। 156।।

इन नौ तत्त्वों के स्वरूप में एक जीव ही शोभित है -
यदि विशेष अविवक्षित हो तो केवल शुद्ध जीव ही हैं।। 923।।
नौ पदार्थ में जीवमात्र की उपलब्धि न असम्भव है।
सोपरक्ति है अभूतार्थ इसलिए न्याय से गौण करें।। 924।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थात्**) अर्थात् (**एकः जीवः**) एक जीव ही (**नवपदीभूय**) जीवाजीवादिक नव-पदार्थरूप होकर (**विराजते**) विराजमान है (**च**) और (**तदात्वे अपि**) उन नव पदार्थों की अवस्था में भी (**तद्विशिष्टदशां ऋते**) यदि विशेष दशा की विवक्षा न की जावे तो (**परं शुद्धः**) केवल शुद्ध जीव ही अनुभव में आता है।। 155।।

(तद्विधे उपलब्धितः) नव-पदार्थों में जीव ही अन्वयरूप से पाये जाने के कारण **(एतत्)** यह उक्त कथन **(असंभवं न भवेत्)** असंभव नहीं है, क्योंकि **(सोपरक्तेः अभूतार्थात्)** सोपरक्ति के वास्तविक नहीं होने के कारण **(न्यायात्)** न्यायानुसार उस उपरक्ति की **(अदर्शनं सिद्धं)** उपेक्षा हो जाती है।। 156।।

भावार्थ :- उक्त कथन का सारांश यह है कि पुद्‌गल के निमित्त से बन्ध को प्राप्त जीव ही जीवादि नव-पदार्थमय है अर्थात् जीवादिक नव पदार्थ जीव की ही विशेष अवस्थायें हैं; इसलिए यदि विशेष अवस्था को गौण करके एक मात्र सामान्य की विवक्षा की जावे तो जीव अपनी सम्पूर्ण अवस्थाओं में केवल शुद्ध ही प्रतीत होता है।

अपने संपूर्ण विशेषों में सामान्य का अन्वय पाया जाता है, इसलिए सामान्य की अपेक्षा से जीवाजीवादि विशेष-धर्मों की उपेक्षा होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि जिस सोपरक्ति से जीव में कर्म के संयोग पूर्वक ये नव-पद होते हैं, वह उपरक्ति जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है किन्तु केवल उपाधि है। अतः शुद्ध दृष्टि से उसकी उपेक्षा होना युक्तियुक्त है, असिद्ध नहीं है।

नवपदार्थों में जीवोपलब्धि के दृष्टान्त

सन्त्यनेकेऽत्र दृष्टान्ताः हेमपद्मजलानलाः।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैंधवाः।। 157।।

स्वर्ण कमल जल अग्नि दर्पण अरु स्फटिकमणि पाषाण!
ज्ञान वारिधि अरु सैन्धव, नव तत्त्वों में चित् के दृष्टान्त।।925।।

अन्वयार्थ :- **(अत्र)** इस विषय में **(हेमपद्मजलानलाः)** सुवर्ण, कमल, जल, अग्नि **(आदर्शस्फटिकाश्मानौ)** दर्पण, स्फटिक-पत्थर **(बोधवारिधिसैन्धवाः)** ज्ञान, समुद्र और नमक इसप्रकार **(अनेके दृष्टांताः सन्ति)** अनेक दृष्टांत हैं कि जिनके द्वारा नव-पदार्थों में शुद्ध जीव का अनुभव सिद्ध किया जा सकता है।। 157।।

भावार्थ :- यहाँ पर उक्त कथन के साधक हेम, पद्म, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक, ज्ञान, समुद्र और सैन्धवादि अनेक दृष्टान्त हैं।

सुवर्ण का दृष्टान्त

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम्।। 158।।
नचाशंक्य सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात्।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोऽपिवा।। 159।।

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत्।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः।। 160।।
न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम्।। 161।।
यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम्।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत्।। 162।।
ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक्।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेऽपि वस्तुतः।। 163।।
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु।। 164।।

जैसे शुद्ध स्वर्ण में दिखते अन्य योग से वर्ण अनेक।
उनकी नास्ति समझकर करें उपेक्षा तो है कञ्चन एक।। 926।।
उस सत् से संयुक्त द्रव्य को कैसे करें अचानक गौण।
करो न शंका क्योंकि स्वर्ण में पर का कोई प्रमाण नहीं।। 927।।
सोपरक्त सोपाधिक भी वह स्वर्ण त्यागने योग्य नहीं।
क्योंकि उसका त्याग करें तो सर्वशून्यता दोष प्रसङ्ग।। 928।।
यह कहना भी ठीक नहीं जब स्वर्ण शुद्ध तब केवल शुद्ध।
क्योंकि शुद्ध जब अनुपलब्ध तो उसका हेतु नहीं दिखता।। 929।।
ज्यों अशुद्ध सोने के वर्णों में पर-वस्तु का संयोग-
होने पर भी स्वर्ण शुद्धवत् जीव वस्तु भी भिन्न रहे।। 930।।
जब अनेक वणों में केवल शुद्ध स्वर्ण देखा जाये।
जब उपाधि नहिं दिखे अभीष्ट स्वर्ण ही दिखता है प्रत्यक्ष।। 931।।
साध्य-संग साधन को भूषित करने वाले सब दृष्टान्त।
उनमें यही प्रक्रिया अविरोधी सर्वत्र घटित कर्तव्य।। 932।।

अन्वयार्थ :- (**यत्र**) जैसे (**एकं हेम**) शुद्ध सुवर्ण (**परयोगतः**) अन्य धातुओं के संयोग से (**अनेकवर्णं**) नाना प्रकार के रूपों को धारण करने वाला होता है, किंतु यदि (**तं असन्तं इव**) उस पर-योग को नहीं के समान मानकर के उसकी (**उपेक्ष्य**) उपेक्षा करके उस सुवर्ण को

(पश्य) देखो तो **(तत्)** वह अन्य धातु से मिश्रित सुवर्ण **(केवलं हेम)** केवल शुद्ध सुवर्ण ही प्रतीत होता है।। 158।।

(तस्य सतः) उस सत्स्वरूप पर-संयुक्त द्रव्य की **(जवात्)** सहसा **(उपेक्षा)** उपेक्षा **(कथं स्यात्)** कैसे हो जायेगी **(इति न च अशक्यं)** ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि **(तत्सत्त्वं वाकुतः प्रमाणात्)** उस पर-द्रव्य का सत्त्व सुवर्ण में भी किस प्रमाण से **(सिद्धं)** सिद्ध होता है? अर्थात् **(कुतः अपि वा न)** किसी भी प्रमाण से नहीं होता।। 159।।

(सोपरक्तेः उपाधिवत्) सोपरक्ति से उपाधि सहित **(तत् हेम)** वह सुवर्ण **(अनादेयं न हि)** त्याज्य नहीं है, क्योंकि **(तत्त्यागे)** उसका त्याग करने पर **(सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः)** सर्व शून्यता आदि दोषों का प्रसंग आता है।। 160।।

(एतत्) यह कथन भी **(परीक्षाक्षमं न च)** परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकता कि **(यदा)** जिस समय **(शुद्धं)** सुवर्ण शुद्ध है **(तदा शुद्धं)** उस समय वह शुद्ध ही है, क्योंकि **(शुद्धस्य अनुपलब्धौ)** शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति नहीं होने पर **(लब्धि हेतोः अदर्शनं स्यात्)** उसकी प्राप्ति के हेतु का भी अदर्शन सिद्ध होता है।। 161।।

(यदा) जिस समय **(तद्वर्णमालायां)** उस अशुद्ध सुवर्ण के रूपों में **(केवलं हेम दृश्यते)** केवल शुद्ध सुवर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है **(तदा)** उस समय **(परोपाधिः न दृश्यते)** परद्रव्य की उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती है, किन्तु **(दृष्टेन)** प्रत्यक्ष प्रमाण से **(स्वेष्टं)** अपना अभीष्ट **(तत् हेम)** वह केवल शुद्ध सुवर्ण ही दृष्टिगोचर होता है।। 162।।

(ततः) इसलिए **(सिद्धं)** सिद्ध हुआ कि **(यथा)** जैसे **(तद्वर्णमालायां)** उस अशुद्ध सुवर्ण की वर्णमाला में **(अन्ययोगे अपि)** अन्य धातु का संयोग होने पर भी **(वस्तुतः)** वास्तव में **(परयोगात् विना)** पर-संयोग के बिना **(पृथक् हेम)** पृथक्रूप से शुद्ध सुवर्ण का अस्तित्व **(सिद्धं)** सिद्ध होता है **(तथा)** वैसे ही जीवादिक नव पदार्थों में शुद्ध जीव का अस्तित्व सिद्ध है।। 163।।

(अविरोधेन) अविरोधपूर्वक **(साध्यार्थस्य)** साध्यार्थ के साथ **(साधनालंकरिष्णुषु)** साधन को भूषित करने वाले **(सर्वदृष्टान्त भूमिषु)** सम्पूर्ण दृष्टान्तों में भी **(इयं हि प्रक्रिया)** यही प्रक्रिया **(संयोज्या)** घटित करना चाहिये।। 164।।

भावार्थ :- जैसे अन्य धातुओं के संयोग से सुवर्ण में अनेक प्रकार के रूप दिखाई देते हैं, किन्तु यदि पर-संयोग से होने वाली सुवर्ण की अवस्था पर ध्यान नहीं देकर उस सुवर्ण को देखा जावे तो वह सुवर्ण शुद्ध सुवर्ण ही प्रतीत होता है; वैसे ही जीव भी कर्म के निमित्त से अजीव आस्रव आदि

पदों में अशुद्धरूप से पाया जाता है-दिखाई देता है, किन्तु यदि पर-संयोगरूप कर्म-निमित्त की उपेक्षा करके उसको देखा जावे तो वह जीव शुद्ध ही प्रतीत होता है, अनुभव में आता है।

यहाँ पर यह आशंका करना ठीक नहीं है कि संयुक्त द्रव्य में विवक्षावश असत्व कैसे कहा जाएगा, क्योंकि किसी द्रव्य में किसी द्रव्य का सत्त्व मानना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता; अर्थात् जब सुवर्ण में अन्य धातु का सत्व ही सिद्ध नहीं है तो फिर उसमें रहने वाले संयुक्त द्रव्य की उपेक्षा क्यों जाती है – यह आशंका निर्मूल सिद्ध होती है, क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य का सद्भाव केवल उपचार वश कहा जाता है, वास्तव में नहीं।

अन्य धातु से संयुक्त वह सुवर्ण त्याज्य नहीं है, यदि उसका त्याग कर दिया जायेगा तो सर्व शून्यता आदि अनेक दोषों का प्रसंग आवेगा अर्थात् खान से निकली हुई सोने की मिट्टी आदि सब अवस्थाएँ सुवर्ण के पर्याय-धर्म है; अतः उनको त्याज्य मानने में उनका अभाव होने से पर्याय के अभाव में पर्यायी के भी अभाव की सभावना से सर्वशून्यता दोष का प्रसंग आता है।

यदि कदाचित् कहा जाय कि जो जिस समय शुद्ध है वह उस समय शुद्ध ही रहता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता में अनन्यथा सिद्धि रहती है, अर्थात् अशुद्ध-अवस्था पूर्वक ही शुद्ध अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसलिए जब अशुद्ध निरपेक्ष केवल शुद्ध की उपलब्धि न होने से उसका साधक हेतु भी प्राप्त नहीं हो सकता है, तो फिर बिना हेतु के वह केवल शुद्ध ही कैसे सिद्ध हो सकता है ?

जिस समय अन्य धातु-संयुक्त सुवर्ण की वर्णमाला में केवल सुवर्ण की अपेक्षा से दृष्टि रक्खी जाती है, उस समय इतर वर्ण लक्ष्यगत न होकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही दृष्टिगोचर होता है।

इसलिए सिद्ध होता है कि जैसे परसंयोग के बिना वास्तव में सुवर्ण की शुद्धरूप से प्रतीति होती है वैसी परसंयोग के बिना वास्तव में जीव की भी शुद्धरूप से प्रतीति होती है।

जैसे सुवर्ण के दृष्टान्त में प्रक्रिया लगाई है, वैसे ही साध्यार्थ के साथ साधन को दिखाने वाले अर्थात् जिनमें साध्य-व्याप्त साधन की दृष्टान्तरूप से सिद्धि की जाती है – ऐसे कमलादि के दृष्टान्त में यही प्रक्रिया लगाना चाहिये।

अस्पृश्य का दृष्टान्त

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत्।
तदस्पृश्य स्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः।। 165।।

जल में डूबा कमल-पत्र ज्यों जल में भी जलरूप नहीं।
जल से अस्पर्शी स्वभाव होने से उसमें नीर नहीं।।933।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**पद्मपत्रं**) कमल का पत्ता (**तोयमग्नं**) जल में डूबा हुआ रहता है परन्तु (**तत्**) वह कमल का पत्ता (**अत्र तथा न**) जल में जलरूप से नहीं रहता, किन्तु अपने स्वरूप से रहता है, क्योंकि (**तदस्पृश्य तद्स्वभावत्वात्**) वह जल से अस्पृश्य स्वभाव वाला है इसलिए (**अर्थतः**) वास्तव में (**पत्रतः**) पत्र में (**नास्ति**) जल नहीं है।। 165।।

भावार्थ :- जैसे यद्यपि जल के बिना कमल-पत्र उपलब्ध नहीं होता, तो भी कमल-पत्र जल में लिप्त नहीं है। वैसे ही नव तत्त्वों के बिना जीव की उपलब्धि नहीं होती है; तथापि शुद्ध जीव नव-तत्त्वों में लिप्त नहीं है, किन्तु शुद्ध दृष्टि से कमल के समान भिन्न है।

सारांश यह है कि जैसे कमल जल से भिन्न है वैसे ही पर-संयोग वियोग पूर्वक होने वाले व्यवहारनय के विषयभूत जीवादि नव-पदार्थों से शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा जीव भिन्न हैं।

जल का दृष्टांत

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम्।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत्।। 166।।

जैसे कीचड़ सहित नीर में भी जल का ही लक्ष्य करें।
तो कीचड़ नहिं दिखे किन्तु उसमें भी निर्मल नीर दिखे।। 934

अन्वयार्थ :- (यथा) जैसे यदि (**सकर्दमं वारि**) कीचड़ सहित जल को (**वारि**) जलरूप से (**पश्य**) देखो तो (**कर्दमं न**) कीचड़ लक्ष्यगत नहीं होता, किन्तु (**तदवस्थायां**) उसी कर्दम सहित अवस्था में भी (**विपंकवत्**) कर्दम रहित शुद्ध जल के समान (**शुद्धं वारि**) निर्मल जल ही (**दृश्यते**) दृष्टिगोचर होता है।। 166।।

भावार्थ :- जिस प्रकार कीचड़ और जल दोनों मिले हुये मालूम होते हैं, किन्तु शुद्ध जल की ओर ही लक्ष्य करने पर कीचड़ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वास्तव में जल कीचड़ से भिन्न है; उसी प्रकार जीव भी नव-तत्त्वों में पाया जाता है; किन्तु शुद्ध जीव उनसे वास्तव में पृथक् है।

अग्नि का दृष्टान्त

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन्।
नाग्नितृणं तृणं नाग्निरग्निस्तृणं तृणम्।। 167।।

जैसे तृण-दाहक अग्नि को तृण की कहना है उपचार।
किन्तु अग्नि-तृण भिन्न परस्पर अग्नि अग्नि है तृण तृणरूप।।935।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे यद्यपि (**तृणं दहन् अग्निः**) तृण/तिनका को जलाने वाली अग्नि

(**उपचारात्**) उपचार से (**तृणाग्निः स्यात्**) तृण की अग्नि कही जाती है; तथापि वास्तव में (**अग्निः**) अग्नि (**तृणं न**) तृणरूप नहीं हो जाती और (**तृणं**) तृण (**अग्निः न**) अग्निरूप नहीं हो जाता, किन्तु (**अग्निः अग्निः**) अग्नि, अग्निस्वरूप रहती है तथा (**तृणं तृणं**) तृण, तृणस्वरूप रहता है।। 167।।

भावार्थ :- जैसे लोक में यह तृणाग्नि है, यह काष्ठाग्नि है, यह कारीषाग्नि है और यह पाषाणाग्नि है, इत्यादि रूप से अग्नि कही जाती है, किन्तु वास्तव में अग्नि, तृण काष्ट, ईंट या पत्थर आदिरूप नहीं हो जाती, वह उनसे वस्तुतः भिन्न है। वैसे ही जीव भी नव-तत्त्वों में पाया जाता है; किन्तु वह वस्तुतः नव-तत्त्वरूप नहीं हो जाता है।

दर्पण का दृष्टान्त

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी।। 168।।

दर्पण के सम्मुख मयूर होने पर ज्यों प्रतिबिम्ब दिखे।
प्रतिबिम्बित होने पर भी दर्पण में मोर रहे कैसे।। 936।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**आदर्शे**) दर्पण में (**कलापिनः सन्निकर्षात्**) मयूर के सन्निकर्ष से मयूर का (**प्रतिबिम्बं**) प्रतिबिंब पड़ता है, परन्तु (**तदात्वे**) उस समय (**तत्र**) उस दर्पण में (**तदवस्थायां अपि**) उस प्रतिबिंबरूप अवस्था के पाये जाने पर भी (**शिखी कुतः**) वास्तविक मयूर कहाँ से आ जायेगा ?।। 168।।

भावार्थ :- जैसे दर्पण में जो मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब वास्तविक मयूर नहीं कहलाता, यदि वह भी वास्तविक हो तो प्रत्यक्ष मयूर के समान प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु दर्पण में उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल उसका प्रतिबिम्ब ही पाया जाता है; वैसे ही जीवादिक नव-तत्त्वों में जीव का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह वास्तविक जीव नहीं है, इसलिए जीवादिक नव-तत्त्व, परोपाधि-निमित्तक जीव की अवस्थाएँ हैं, शुद्ध जीव द्रव्य नहीं।

स्फटिक का दृष्टांत

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि।
अर्थात्सोऽपि विकारश्चावास्तवस्तत्र वस्तुतः।। 169।।

जैसे लाल फूल के संग में फटिकमणि भी दिखता लाल।
निर्मल फटिकमणि में वह विकार भी वास्तव में उपचार।। 937।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थात्**) यथार्थ में (**जपापुष्पापयोगेन**) जपाकुसुम के/एक प्रकार के लाल

फूल के संयोग से (**स्फटिकाश्मनि**) स्फटिक मणि में (**यः**) जो (**विकारः**) विकार अर्थात् लालिमा पड़ने लगती है (**स च विकारः अपि**) वह विकार भी (**तत्र**) उस स्फटिक में (**वस्तुतः**) वास्तव में (**अवास्तवः**) अवास्तविक है।। 169।।

भावार्थ :- जैसे जपाकुसुम के योग से जो स्फटिक में लालिमा का प्रतिभास होता है, वह पर-निमित्त-जन्य है, वास्तविक नहीं; वैसे ही परद्रव्य के संयोग-वियोग पूर्वक होने वाले जीवादि नव-तत्त्वों में जो जीव का प्रतिभास होता है। वह वास्तविक नहीं है, किन्तु केवल व्यवहार-दृष्टि से है, शुद्ध-दृष्टि से नहीं। शुद्ध-दृष्टि से तो जीव अद्वैतरूप ही है, उसमें पर-निमित्त से होने वाली अवस्थाओं का प्रतिभास प्रतीत नहीं होता।

ज्ञान का दृष्टान्त

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम्।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः।। 170।।

जैसे जो घट को जाने उसको भी कहते हैं घट-ज्ञान।
घट नहिं होता ज्ञानरूप, घट, घटमय ज्ञान, ज्ञानमय जान।।938।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**घटं परिछिन्दत् ज्ञानं**) घट को विषय करने वाला/जानने वाला ज्ञान (**स्वयं**) स्वयं (**घटज्ञानं**) घट-ज्ञान कहलाता है, परन्तु (**अर्थात्**) वास्तव में (**अयं घटः**) यह घट (**ज्ञानं न**) ज्ञानरूप नहीं हो जाता है किन्तु (**ज्ञानं ज्ञानं**) ज्ञान, ज्ञानरूप और (**घट घटः स्यात्**) घट घटरूप ही रहता है।। 170।।

भावार्थ :- जैसे घट को जानने वाला ज्ञान घट-ज्ञान कहलाता है। वास्तव में ज्ञान घटरूप नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान, ज्ञान और घट, घट ही रहता है; वैसे ही जीव व्यवहारनय से नव-तत्त्वमय कहा जाता है, किन्तु शुद्ध दृष्टि से वह नव-पदार्थमय नहीं है।

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा।
नार्थादैक्यं तदात्वेऽपि पारावारसमीरयोः।। 171।।

यथा वायु से प्रेरित होकर ही जलनिधि में उठें तरंग।
किन्तु तरंगित होने पर भी वायु-वारिधि एक नहीं।।939।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**वायुना प्रेरितः वारिधिः**) वायु से प्रेरित समुद्र यद्यपि (**सोत्तरङ्गः अपि**) तरंगित हो रहा है तथापि (**तदात्वे अपि**) उस अवस्था में भी (**पारावारसमीरयोः**) समुद्र और वायु में (**अर्थात्**) वास्तविक (**ऐक्यं न**) एकता नहीं है।। 171।।

भावार्थ :- जैसे यद्यपि वायु के निमित्त से समुद्र सदा लहराता रहता है, तथापि वायु और समुद्र वास्तव में एक नहीं हो जाते हैं; वैसे ही जीव यद्यपि परद्रव्य के संयोग-वियोग पूर्वक होने वाले नव-पदार्थमय कहलाता है, तथापि वह परद्रव्यमय नहीं हो जाता है। किन्तु शुद्धनय से शुद्ध ही रहता है।

नमक का दृष्टान्त

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम्।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः।। 172।।

जैसे सभी अवस्थाओं में नमक एक रस रहता है।
उत्तम भिन्न भिन्न व्यञ्जन में वह अनेक रस नहिं होता।। 940।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**सर्वतः**) सब अवस्थाओं में (**अर्थात्**) वास्तविक (**स्वयं**) स्वयं (**एकरसं**) एक रसवाली अर्थात् खारे रसवाली (**यत् सैन्धवं खिल्यं**) जो नमक की डली है (**तत्**) वह (**उच्चैः चित्रोपदंशकेषु**) उत्तम नाना प्रकार के व्यंजनों में मिलकर (**अनेक रसं न**) अनेक रसवाली नहीं हो जाती है।। 172।।

भावार्थ :- जैसे वास्तव में स्वयं एकरस वाला नमक नाना प्रकार के व्यंजनों में मिलकर भिन्न रसवाला नहीं हो जाता है, वैसे ही जीव स्वयं अद्वैतरूप होकर सब अवस्थाओं में चिदात्मक ही है, वह परद्रव्य के संयोग-वियोग पूर्वक होने वाले जीवादि नव-तत्त्वों में विमिश्रित होकर भी अशुद्ध/द्वैतरूप नहीं हो जाता है।

उपसंहार

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः।। 173।।

इस प्रकार दृष्टान्त सहित प्रत्यक्ष प्रमाणों से है सिद्ध।
यह अभीष्ट कि नौ पदार्थ ये वास्तव में वक्तव्य अवश्य।। 941।।

अन्वयार्थ :- (**इति**) इस प्रकार (**दृष्टांतसनाथेन दृष्टेन**) दृष्टांतपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण से (**यत् स्वेष्टं**) जो अपना इष्ट था (**तत् सिद्धिमत्**) वह सिद्ध होता है कि (**अर्थात्**) वास्तव में (**अमूनि नव पदानि**) ये नव-पद (**अवश्यतः**) अवश्य (**वाच्यानि**) कहना चाहिये अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत मानना चाहिये।। 173।।

भावार्थ :- उक्त दृष्टांतों से सिद्ध होता है कि यद्यपि निश्चयनय से शुद्ध जीव द्रव्य का स्वरूप

नव-पदार्थों से वस्तुतः भिन्न है, तथापि उन नव-पदार्थों को छोड़ करके अन्यत्र शुद्ध जीव द्रव्य उपलब्ध नहीं हो सकता; अर्थात् जैसे अग्नि, तृण काष्ट-पाषाण आदि विशिष्ट द्रव्यों के आधार बिना, समुद्र वायु के बिना, सुवर्ण खनिज अन्य द्रव्य के संयोग के बिना, ज्ञान घटादिक बिना और कमल जल बिना, उपलब्ध नहीं हो सकता; वैसे ही नव-द्रव्यरूप पर्यायों को छोड़ करके अन्यत्र शुद्ध जीव-द्रव्य का स्वरूप भी उपलब्ध नहीं हो सकता है, इसलिए जीव के स्वरूप को समझाने के लिए नव- पदार्थ अवश्य कहना चाहिए अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत मानना चाहिये। अब आगे शुद्ध जीव को नव-पदों से सर्वथा भिन्न मानने में दोष बताते हैं।

शंका

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः।। 174।।

समाधान

तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य शुद्धस्यानुपलब्धितः।। 175।।
नावश्यं वाच्यता सिद्धयेत्सर्वतो हेयवस्तुनि।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक्।। 176।।
नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिंचित्करत्वतः।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः।। 177।।
न स्यात्तेभ्याऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः।
साधना भावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः।। 178।।

कोइ कल्पना करें कि ये पद मोह भाव से हैं वक्तव्य।
अतः हेय होने से कहने योग्य नहीं, चित् शुद्ध पृथक्।। 942।।
ठीक न, क्योंकि त्याग सर्वथा उनका नहिं प्रमाण से सिद्ध।
और न उनके बिना शुद्ध आत्मा की हो न सके उपलब्धि।।943।।
और सर्वथा हेय वस्तु नहिं कथन योग्य हो सके कभी।
अन्धकार के अनुभव बिन अनुभव प्रकाश का नहीं कभी।।944।।
क्योंकि प्रयोजनवश सार्थक ये नौ पदार्थ वक्तव्य अवश्य।
अतः अकिंचित्कर हेतु से नहिं अवाच्यता इनकी सिद्ध।।945।।

नौ पदार्थ के बिना सर्वथा शुद्ध द्रव्य की सिद्धि नहीं।
क्योंकि साधन के अभाव में शुद्ध द्रव्य उपलब्ध नहीं।। 946।।

अन्वयार्थ :- (**कैश्चित् तु**) किन्हीं लोगों के द्वारा (**मोहात्**) मोह से (**हेयानि पदानि वक्तव्यानि न**) वक्तव्य पद हेय हैं, इसलिए उन्हें नहीं कहना चाहिये (**इति**) ऐसा (**कल्प्यते**) कल्पित किया जाता है (**यतः**) क्योंकि (**तेभ्यः सर्वतः अन्यत्र**) उन सब पदार्थों से अतिरिक्त (**शुद्धं**) शुद्ध द्रव्य है।। 174।।

(**तत् असत्**) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (**सर्वतः त्यागः**) उनका सर्वथा त्याग अर्थात् अभाव (**प्रमाणतः असिद्धः स्यात्**) प्रमाण से असिद्ध है (**तथा**) तथा उन नव पदार्थों को सर्वथा हेय मानने पर (**तेभ्यः अतिरिक्तस्य**) उनके बिना (**शुद्धस्य अनुपलब्धितः**) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती है।। 175।।

किन्तु (**सर्वतः हेयवस्तुनि**) सर्वथा हेय वस्तु में/अभावात्मक वस्तु में (**वाच्यता**) वाच्यता (**अवश्यं न सिद्ध्येत्**) अवश्य सिद्ध नहीं हो सकती; अर्थात् सर्वथा अभावात्मक पदार्थ अलीक होता है, अतः उसके कहने से अवश्य कुछ प्रयोजन नहीं निकलता, क्योंकि (**अन्धकारे अप्रविष्टस्य**) अन्धकार में प्रवेश नहीं करने वाले मनुष्य को (**मनाक्**) कुछ भी (**प्रकाशानुभवः न**) प्रकाश का अनुभव नहीं होता।। 176।।

(**यतः**) क्योंकि (**अर्थतः**) प्रयोजनवश (**सार्थानि नव अवश्यं वक्तव्यानि**) प्रयोजनभूत नव-पदार्थ अवश्य वक्तव्य है (**इति**) इसलिए (**अकिंचित्करत्वतः**) अकिञ्चित्कर हेतु से (**पदार्थानां अवाच्यता न स्यात्**) पदार्थ में अवाच्यता सिद्ध नहीं होती है।। 177।।

(**तेभ्यः अतिरिक्तस्य सर्वतः शुद्धस्य**) उन नव-पदार्थों से अतिरिक्त सर्वथा शुद्ध द्रव्य की (**सिद्धिः न स्यात्**) सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि (**साधनाभावतः**) साधन का अभाव होने से (**तस्य**) उस शुद्ध द्रव्य की (**अनुपलब्धितः**) उपलब्धि नहीं हो सकती है, (**तद्यथा**) जैसा की आगे शंका-समाधान से प्रगट होता है।। 178।।

भावार्थ :- कोई ऐसी कल्पना करते हैं कि शुद्ध जीव नव-तत्त्वों से सर्वथा भिन्न है, इसलिए यहाँ पर अप्रयोजनभूत हेय नव-तत्त्व नहीं कहना चाहिये।

शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवाजीवादिक नव-पदार्थ जीव के ही पर्याय/धर्म हैं, अतः उनका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पर्यायों के सर्वथा अभाव को मानने से पर्यायी के भी अभाव का प्रसंग आता है, इसलिए उनका सर्वथा अभाव मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है तथा **विशेषमात्र के अभाव में सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आने से नव-तत्त्वों के नहीं मानने पर जीव की भी उपलब्धि नहीं हो सकती।**

यदि जीवादिक नौ पदार्थ खरविषाण की तरह सर्वथा अभावात्मक होते तो उनमें वाच्यता अवश्य सिद्ध नहीं होती, किन्तु वे सर्वथा अभावात्मक नहीं हैं, भावसापेक्ष अभावात्मक हैं, अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध जीव की अशुद्ध-पर्यायरूप जीवादिक नौ पदार्थ हैं, इसलिए जैसे अन्धकार के बिना प्रकाश का अनुभव नहीं होता है; वैसे ही अशुद्ध की अपेक्षा के बिना शुद्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव जीवादिक नौ-पदार्थों में वाच्यता अवश्य सिद्ध होती है।

सारांश यह है कि जैसे प्रकाशानुभव अन्धकारानुभव की अपेक्षा रखता है, वैसे ही शुद्ध आत्मा का ज्ञान नव-तत्त्वरूप अशुद्ध जीव की दशा के ज्ञान की अपेक्षा रखता है; इसलिए नव-तत्त्वों का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता।

नव-तत्व प्रयोजनभूत हैं, अतः अवाच्यता युक्तियुक्त नहीं है।

व्यवहार के लिये जीवादिक नव-पदार्थ प्रयोजनभूत हैं, इसलिये उन्हें अकिंचित्कर हेतु से अवाच्य कहना युक्तियुक्त नहीं है। नव-पदार्थों से अतिरिक्त (द्रव्य) को शुद्ध मानने में साधन नहीं मिल सकता है।

शुद्ध द्रव्य नव-पदार्थों से सर्वथा भिन्न है - यह सिद्ध करने के लिए कोई साधन नहीं मिल सकता; इसलिए साधन का अभाव होने से साध्यरूप शुद्ध-द्रव्य का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

शंका

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम्।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम्।। 179।।
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम्।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात्।। 180।।

नौ तत्त्वों से भिन्न शुद्ध, सम्यग्दर्शन का विषय अहो।
शुद्ध जीव है सदा प्रकाशित आधि-व्याधि से रहित अहो।।947।।
किन्तु जगत् यह मोह महातम से जब तक रहता है व्याप्त।
तब तक देख सके नहिं उसको मोह अस्त हो तब अनुभाव्य।।948।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**तेभ्यः अर्थान्तरं**) उन नव-पदों से सर्वथा भिन्न (**शुद्धं**) शुद्ध (**सम्यक्त्वगोचरं**) सम्यग्दर्शन का विषयभूत (**नित्योद्योतं**) नित्य प्रकाशमान (**निरामयं**) आधि-व्याधि रहित (**जीवस्य**) जीव का (**स्वं रूपं अस्ति**) शुद्ध स्वरूप है, किंतु (**जगत्**) लोग (**यावत्**) जब तक (**मिथ्यांधतमसा ततं**) मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकार से व्याप्त रहते; (**तावत्**) तब तक वे उस जीव के शुद्ध स्वरूप को (**न पश्यति**) नहीं देखते हैं और जिस

समय (**जगत्**) लोग (**अस्त मिथ्यांधकारं चेत्**) मिथ्यारूपी अन्धकार से रहित हो जाते हैं, उस समय (**जवात्**) तत्काल वे (**इदं पश्यति**) इस जीव के शुद्ध स्वरूप को देखने लगते हैं-अनुभव करने लगते हैं।। 179-180।।

भावार्थ :- उक्त जीव का शुद्ध स्वरूप नव पदार्थों से सर्वथा भिन्न है और वह सदैव जीव में विद्यमान रहता है, किन्तु मिथ्यात्वोदय के कारण लोगों को उसका ज्ञान नहीं होता और मिथ्यात्व के हट जाने पर उन्हें अपना शुद्ध स्वरूप अपने में ही विद्यमान तत्काल ही ज्ञात हो जाता है।

समाधान

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
नैकस्यैकपदे द्वे स्तःशुद्धाशुद्धे क्रियेऽर्थतः।। 181॥
अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा।। 182।।
अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावोविरुद्धभाक्।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः।। 183॥
ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः।। 184।।
तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः।। 185॥

ठीक नहीं यह क्योंकि शुद्ध एवं अशुद्ध द्वय धर्म विरुद्ध।
अतः एक ही पद में दोनों क्रिया साथ नहिं हो सकती।। 949।।
आत्मा की जब शुद्ध क्रिया हो तब अशुद्ध कैसे होगी।
यदि होना मानें तो क्रिया अशुद्ध नित्य क्यों नहिं होगी।। 950।।
तथा अशुद्ध क्रिया होने पर बन्ध-नाश नहिं हो सकता।
और अशुद्ध क्रिया शाश्वत हो तो शिव-प्राप्ति असम्भव हो।। 951।।
अतः सिद्ध है जब आत्मा जिस भावरूप परिणत होता।
तब उससे ही तन्मय होता अन्य भावमय नहिं होता।। 952।।
उसी भाव से तन्मय होने से जो शुभ है वह शुभ है।
अशुभ भाव से अशुभ तथा वह शुद्ध भाव से शुद्ध रहे।। 953।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) इसप्रकार का कहना ठीक नहीं है क्योंकि (**शुद्धाशुद्धत्वयोः द्वयोः**) उन शुद्ध और अशुद्ध दोनों धर्मों को (**विरुद्ध धर्मत्वात्**) परस्पर विरुद्ध धर्म होने से (**अर्थतः**) वास्तव में (**एकस्य**) एक द्रव्य के (**एकपदे**) एकपदरूप पर्याय में (**शुद्धाशुद्धे द्वे क्रिये**) शुद्ध तथा अशुद्ध - दोनों क्रियायें एक साथ (**न स्तः**) नहीं हो सकती हैं।। 181।।

(**अथ**) अब उक्त कथन का खुलासा करते हैं कि (**अर्थतः**) वास्तव में (**चितः**) आत्मा की (**शुद्धायां क्रियायां सत्यां**) शुद्ध क्रिया होने पर (**अशुद्ध कथं वा स्यात्**) अशुद्ध क्रिया कैसे होगी (**अस्ति चेत्**) यदि होगी तो (**हि**) निश्चय से (**सा नित्या कथं न स्यात्**) वह अशुद्ध क्रिया नित्य क्यों नहीं होगी ?।। 182।।

(**अथ**) तथा (**अशुद्धायां सत्यां**) अशुद्ध क्रिया के रहने पर (**बन्धाभावः विरुद्ध भाक्**) बन्ध का अभाव मानना बाधित हो जायेगा (**अथ**) और (**तस्यां नित्यायां सत्यां**) उस अशुद्ध क्रिया के नित्य सिद्ध होने पर (**हि**) निश्चय से (**मुक्तेः असंभवः**) मुक्ति का होना असंभव हो जायेगा।। 183।।

(**ततः सिद्धं**) इसलिए सिद्ध होता है कि (**आत्मा**) आत्मा (**यदा**) जिस समय (**येन भावेन समन्वितः**) जिस भाव से युक्त होता है (**तदा**) उस समय (**तेन भावेन**) उसी भाव से (**अनन्य-गति**) अन्यभावरूप न होकर (**आत्मा**) आत्मा (**तन्मयः अस्ति**) उसी भावमय होता है।। 184।।

(**तस्मात्**) इसलिए (**तदात्वे तन्मयत्वतः**) उस समय उसी भावरूप परिणत होने के कारण (**यः शुभः**) जो शुभ है वह (**शुभेन एव**) शुभ भाव से ही जो (**अशुभः**) अशुभ है वह (**अशुभेन**) अशुभ भाव से और (**शुद्धः**) जो शुद्ध है वह (**शुद्धेन भावेन**) शुद्धभाव से ही कहा जाता है।। 185।।

भावार्थ :- जीव का शुद्ध स्वरूप सदैव विद्यमान है, किन्तु मिथ्यात्व अवस्था प्राप्त जीव उस शुद्ध जीव के स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता। यदि ऐसा माना जावे तो एक काल में युगपत् परस्पर विरुद्ध शुद्ध और अशुद्ध दोनों क्रियाओं के पाये जाने का प्रसंग आवेगा जो कि ठीक नहीं हो सकता।

यदि शुद्ध क्रिया के रहते हुए भी अशुद्ध क्रिया रहती है तो शुद्ध क्रिया के समान अशुद्ध क्रिया का सद्‌भाव भी सदैव पाया जायेगा और उसका सद्‌भाव सदैव पाये जाने से उसमें भी नित्यता का प्रसंग आवेगा।

यदि अशुद्ध क्रिया का सद्भाव सदैव माना जायेगा तो कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि जीव की अशुद्ध अवस्था के अभाव का नाम ही तो मुक्ति है।

इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा जिस समय जिस भाव से युक्त होता है, उस समय वह अनन्य गति होकर उसी भावमय अर्थात् शुद्ध अवस्था में शुद्ध और अशुद्ध अवस्था में अशुद्ध प्रतीत होता है।

जीवों की शुभ-अशुभ और शुद्ध रूप - ये तीन प्रकार की परिणति होती है तथा उन तीनों प्रकार की परिणतियों में से जिस समय जो परिणति होती है, उस समय वह उसी परिणति रूप से कहा जाता है अर्थात् शुभ अवस्था में केवल शुभ, अशुभ अवस्था में केवल अशुभ और शुद्ध अवस्था में केवल शुद्ध ही कहलाता है अन्य नहीं।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकाराद्रते परम्।। 186।।
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि।। 187।।

इसीलिए वह शुद्धतत्त्व उनसे न विलक्षण भिन्न नहीं।
किन्तु मात्र नौ भेद रहित ये नव पदार्थ ही शुद्ध सही।। 954।।
अतः सूत्र में तत्त्वार्थों की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा।
वे भी जीव अजीवरूप नौ क्रमशः है कर्तव्य कथन।। 955।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) इसलिए (**शुद्ध**) शुद्ध तत्त्व (**किंचित्**) कुछ (**तेभ्यः**) उन नव तत्त्वों से (**अनीदृशं**) विलक्षण (**अर्थान्तरं न**) अर्थान्तर नहीं हैं किन्तु (**परं**) केवल (**तद्विकारात् ऋत्ते**) नव तत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़कर (**नवतत्त्वानि एव शुद्धं**) नव तत्त्व ही शुद्ध है।। 186।।

(**अतः**) इसलिए (**सूत्रे**) सूत्र में (**तत्त्वार्थश्रद्धानं**) तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना (**सद्दर्शनं मतं**) सम्यग्दर्शन माना गया है और (**तत् तत्त्वं अपि**) वे तत्त्व भी (**जीवाद्याः नव**) जीवाजीवादिरूप से नव हैं अतः (**यथाक्रमात्**) क्रमानुसार उन नव तत्त्वों का (**उद्देश्याः**) कथन करना चाहिये।। 187।।

भावार्थ :- इसलिए सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से नव तत्त्व ही शुद्ध जीव है। नव तत्त्वों से कुछ सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नहीं है।

विकार की उपेक्षा करने से नवतत्त्वों से अभिन्न शुद्धत्व है। अतः सूत्रकार ने इन नवतत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिए अब यथाक्रम से उन नव तत्त्वों का निर्देश करना चाहिये।

नव तत्त्वों के कथन का क्रम एवं जीव तत्त्व के चेतना लक्षण की व्याख्या

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्त्रवः।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि।। 188।।

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः।
सन्ति सद्दर्शनोस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः।। 189।।

उनका नाम कथन है ऐसा जीव अजीव और आस्रव।
बन्ध तथा संवर एवं निर्जरा मोक्ष ये सात कहे।। 956।।
पुण्य-पाप अरु सात तत्त्व मिल सब पदार्थ कहलाते हैं।
ये नव ही भूतार्थ-आश्रित वास्तव में सम्यक्त्व विषय।। 957।।

अन्वयार्थ :- (**तदुद्देश्यो यथा**) उनका निर्देश-नाममात्र कथन इस प्रकार है कि (**जीवः अजीवः तथा आस्रवः स्यात्**) जीव, अजीव और आस्रव (**बन्धः च संवरः अपि स्यात्**) बन्ध तथा संवर (**निर्जरा अपि मोक्षः**) निर्जरा और मोक्ष (**इति**) ये सात तत्त्व हैं।। 188।।

(**पुण्यपापाभ्यां सह**) पुण्य और पाप के साथ (**सप्तैते**) ये सात तत्त्व ही (**तेनवपदार्था स्मृताः**) ये नव पदार्थ कहे गये हैं तथा (**भूतार्थ आश्रिताः**) ये ही नवपदार्थ यथार्थता को लिये हुये (**सद्दर्शनस्य उच्चैः विषयाः सन्ति**) सम्यग्दर्शन के वास्तविक विषय हैं।। 189।।

भावार्थ :- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इस प्रकार से सात तत्त्वों का निर्देश है।

तथा पुण्य और पाप के साथ जीवादि सात तत्त्व ही नवपदार्थ कहलाते हैं तथा ये नव पदार्थ ही यथार्थता को लिये हुए सम्यग्दर्शन के यथार्थ विषय हैं।

जीव तत्त्व के वर्णन की प्रतिज्ञा

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः।। 190।।
जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये।। 191।।

पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक पर्यालोचन में निष्णात।
कवि अब नौ पदार्थों में से जीव तत्त्व का करे कथन।। 958।।
पहले सिद्धि जीव की करके अब विस्तृत सिद्धि के हेतु।
अब उसका लक्षण कहता हूँ साक्षात् उपलब्धि हेतु।। 959।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उन तत्त्वों में से (**अधुना**) अब (**पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः कविः**) पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक पर्यालोचन करने वाला कवि (**अधिजीवं आख्यानं**) जीव का व्याख्यान (**विदधाति**) करता है (**यथा**) जैसे -।। 190।।

(पुरा) पहले **(सती सिद्धा)** भले प्रकार सिद्ध की गई **(जीवसिद्धिः)** जीव की सिद्धि **(साधीयसी साध्या)** अत्यन्त विशारद रूप से सिद्ध करना है इसलिए **(साक्षात्तल्लब्धि सिद्धये)** साक्षात् जीव की उपलब्धि के लिए **(तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये)** उसका प्रसिद्ध लक्षण कहता हूँ।। 191।।

भावार्थ :- उन नव तत्त्वों में से अब ग्रन्थकार जीव तत्त्व का कथन करते हैं।

यद्यपि साधारणरूप से पदार्थों के विशेष स्वरूप को बताते समय जीव की सिद्धि की जा चुकी है, तथापि साक्षात् जीव की उपलब्धि के लिये उसको विशद रीति से सिद्धि करना है, इसलिए अब जीव की सिद्धि के लिये जीव का प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं।

जीव का लक्षण

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह।। 192।।

चेतना के भेद और उनका स्वरूप

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धात्मकर्मजा।। 193।।

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ।। 194।।

जीव स्वरूप चेतना है सामान्य दृष्टि से एक प्रकार।
वह पर्याय दृष्टि से युगपत् द्वय-विधि होती है क्रमशः।।960।।

एक शुद्ध चेतना कही दूजी अशुद्ध चेतना कहें।
शुद्ध चेतना आत्मरूप है दूजी कर्म संयोगज है।।961।।

शुद्ध चेतना एकरूप है क्योंकि शुद्धता एक प्रकार।
शुद्ध कहें शुद्धोपलब्धि से ज्ञान चेतना ज्ञान-स्वरूप।। 962।।

अन्वयार्थ :- **(जन्तोः स्वरूपं चेतना)** जीव के स्वरूप को चेतना कहते हैं और **(सा)** वह चेतना **(इह)** यहाँ पर **(सामान्यात्)** सामान्यरूप से द्रव्यदृष्टि से **(सदा)** सदा **(एकधा)** एक प्रकार की होती है **(अपि)** तथा **(सद्विशेषात्)** विशेषरूप से पर्याय दृष्टि से **(सा)** वह चेतना **(क्रमात्)** क्रम से **(द्वेधा)** दो प्रकार की होती है **(अक्रमात् न)** युगपत् नहीं।। 192।।

(एका शुद्धः चेतना स्यात्) एक शुद्ध चेतना है और **(ततः परा अशुद्धा स्यात्)** उससे विपरीत दूसरी अशुद्ध चेतना है उनमें से **(शुद्धा)** शुद्ध चेतना **(आत्मनः तत्त्वं स्यात्)** आत्मा का

स्वरूप है तथा (**अशुद्धा**) अशुद्ध चेतना (**आत्मकर्मजा अस्ति**) आत्मा और कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाली है अर्थात् आत्मा के अशुद्ध स्वरूपमय है।। 193।।

(**शुद्धस्य एकविधत्वतः**) शुद्ध ज्ञान एक प्रकार का ही होता है इसलिए (**शुद्ध चेतना एकधा**) शुद्ध चेतना एक प्रकार की होती है और वह (**शुद्धोपलब्धित्वात्**) शुद्ध आत्मा को विषय करने के कारण (**शुद्धा**) शुद्ध तथा (**ज्ञानत्वात्**) ज्ञानमय होने के कारण (**ज्ञानचेतना**) ज्ञान चेतना कहलाती है।। 194।।

भावार्थ :- सामान्य की अपेक्षा से चेतना एक प्रकार की होती है और विशेष की अपेक्षा से क्रम पूर्वक शुद्ध तथा अशुद्धरूप से दो प्रकार की होती है। युगपत् शुद्ध व अशुद्ध रूप से दो प्रकार की नहीं होती है।

चेतना के दो भेद हैं - 1. शुद्ध चेतना और 2. अशुद्ध चेतना। उनमें से आत्मा के शुद्ध स्वरूप को शुद्ध चेतना कहते हैं तथा आत्मा और कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना को अर्थात् आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को अशुद्ध चेतना कहते हैं।

शुद्धोपलब्धिरूप होने से उसे शुद्ध और ज्ञानमय होने से उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।

अशुद्ध चेतना के भेद

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्म फलचेतना।। 195।।[4]

4. सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः। सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च।।45।। - अनगार धर्मामृत

स्थावर-पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पति पर्यंत पाँचों ही प्रकार के सभी एकेन्द्रिय जीव, मुख्यतया कर्मफल का अनुभव करते हैं। जो द्वीन्द्रियादि से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रस जीव हैं, वे सभी कर्म के साथ-साथ कर्मफल का भी अनुभव करते हैं। जिनकी प्राणिता अस्त हो चुकी है, जिनके द्रव्यप्राण और उसके कारण नष्ट हो चुके हैं, ऐसे जीव ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

सुख-दुःखरूप कर्मफल के अनुभव को कर्मफलचेतना, प्रवृत्ति की कारणभूत क्रियाओं की प्रधानता उत्पन्न हुए सुख-दुःखरूप परिणामों के अनुभव को कर्मचेतना, स्वतः आत्मा से अभिन्न अतएव स्वाभाविक सुख के अनुभवन को ज्ञानचेतना कहते हैं। इनमें से कर्मफलचेतना मुख्यतया स्थावरजीवों के मुख्यतया कर्मचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना त्रसजीवों के तथा मुख्यतया ज्ञानचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना तथा कर्मचेतना द्रव्यप्राणरहित जीवों के होती है। व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टि से प्राणरहित जीव क्रम से दो प्रकार के हैं - एक जीवन्मुक्त, दूसरे परममुक्त, जो परममुक्त हैं उनके कर्म और कर्मफल सर्वथा निर्जीण हो चुके हैं और वे अन्यत्र कृतकृत्य हैं; अतएव वे उक्त प्रकार के ज्ञान का ही अनुभव करते हैं। किंतु जो जीवन्मुक्त हैं वे मुख्यतया ज्ञान का और गौणतया उक्त दोनों चेतनाओं का अनुभव करते हैं; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कर्मफलचेतना और कर्मचेतना दोनों को अज्ञानचेतना कहते हैं क्योंकि दोनों में ज्ञान से भिन्नता का प्रत्यय होता है कर्मचेतना में 'ज्ञान से भिन्न इसका मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा, और कर्मफल चेतना में, 'ज्ञान से भिन्न इसको मैं भोग रहा हूँ' ऐसा अनुभव होता है। ये दोनों ही जीवन्मुक्त के इसलिए गौण हो जाते हैं कि उनके बुद्धिपूर्वक कर्मों के कर्तृत्व और उनके फल में भोकृत्व का विनाश हो जाता है।

दो प्रकार है अशुद्ध चेतना पहली कर्म चेतना है।
कर्मजन्य फल के अनुभव से कहें कर्मफल दूजी को।। 963।।

अन्वयार्थ :- (**अशुद्ध चेतना द्वेधा**) अशुद्ध चेतना दो प्रकार की होती है (**तद्यथा**) जैसे (**कर्मचेतना**) एक तो कर्म चेतना और दूसरी (**अस्य फलस्य चेतनत्वात्**) इस कर्मजन्य फल का अनुभव करने के कारण (**कर्मफलचेतना स्यात्**) कर्मफलचेतना कहलाती है।। 195।।

भावार्थ :- कर्म चेतना और कर्मफल चेतना इस तरह अशुद्ध चेतना दो प्रकार की होती है।

शुद्ध चेतना का निरुक्ति पूर्वक अर्थ

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना।। 196।।

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना।। 197।।

ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि के ही होती है

सा ज्ञानचेतनानूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात्।। 198।।

अस्ति चैकादशांगानां ज्ञानं मिथ्यादृशोऽपि यत्।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम्।। 199।।

ज्ञान मात्र है स्वयं आत्मा ज्ञान शब्द से वाच्य अतः।
अनुभव गम्य चेतना द्वारा ज्ञान चेतना शुद्ध अतः।। 964।।
यदा ज्ञान गुण सम्यक् युत हो अन्य अवस्था प्राप्त करे।
आत्मोपलब्धि स्वरूप ज्ञान हो उसे ज्ञान चेतना कहें।। 965।।
निश्चय से वह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि को होती।
हो न सके मिथ्यात्व उदय में अतः न मिथ्यादृष्टि को।। 966।।
मिथ्यादृष्टि को भी होता ग्यारह अंगों तक का ज्ञान।
किन्तु नहीं आत्मोपलब्धि हो, है मिथ्यात्व उदय कारण।। 967।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र**) इस ज्ञान चेतना शब्द में (**ज्ञानशब्देन**) ज्ञान शब्द से (**आत्मा वाच्यः**) शुद्ध आत्मा वाच्य है, कहा जाता है क्योंकि यह (**स्वयं तन्मात्रतः**) स्वयं ज्ञानस्वरूप है और (**सः**

शुद्धः) वह शुद्ध आत्मा (**अनया चेत्यते**) इस चेतना के द्वारा अनुभूत होता हूँ–जाना जाता है; इसलिये (**सा ज्ञान चेतना**) वह ज्ञान चेतना (**शुद्धा**) शुद्ध कहलाती है।। 196।।

(**अर्थात्**) उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि (**यदा**) जिस समय (**ज्ञानं गुणः**) आत्मा का ज्ञानगुण (**सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं**) सम्यक्त्वयुक्त प्राप्त किया है अवस्थान्तर जिसने, अर्थात् मिथ्यात्वोदय के अभाव से युक्त होकर (**आत्मोपलब्धिरूप स्यात्**) आत्मस्वरूप की उपलब्धिरूप होता है (**तदा**) उस समय (**ज्ञानचेतना उच्यते**) उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।। 197।।

(**नूनं**) निश्चय से (**सा ज्ञानचेतना**) वह ज्ञानचेतना (**सम्यग्दृगात्मनः अस्ति**) सम्यग्दृष्टि जीव के होती है क्योंकि (**तदात्वे तद्सम्भवात्**) मिथ्यात्व का उदय होने पर उस आत्मोपलब्धि का होना असम्भव है इसलिए यह ज्ञानचेतना (**मिथ्यादृशाः क अपि न स्यात्**) मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी अवस्था में नहीं होती है।। 198।।

(**यत्**) क्योंकि (**मिथ्यादृशः अपि**) मिथ्यादृष्टि के भी (**एकादशांगानां ज्ञानं अस्ति**) ग्यारह अंगों तक का ज्ञान होता है (**परं च**) किन्तु (**अस्य मिथ्याकर्मोदयात्**) इसके मिथ्यात्व कर्म का उदय होने के कारण (**आत्मोपलब्धिः न अस्ति**) आत्मोपलब्धि नहीं होती है।। 199।।

भावार्थ :- ज्ञान चेतना में ज्ञानमय होने के कारण ज्ञान शब्द से शुद्ध आत्मा का ग्रहण होता है और वह शुद्ध आत्मा जिसके द्वारा अनुभूत हो उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। यही ज्ञान चेतना का निरुक्तयर्थ है।

आत्मस्वरूप की उपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञान को ज्ञान चेतना कहते हैं।

वह ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि जीव के ही होती है। मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी अवस्था में नहीं होती, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में उसका होना संभव नहीं है।

क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव के ग्यारह अंगों तक का ज्ञान हो जाता है, परन्तु मिथ्यात्व कर्म का उदय रहने से उसके स्वात्मा की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती, इसलिये सम्यदृष्टि के ही ज्ञान चेतना होती है – यह कहा गया है।

शंका

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः।
तत् किं ज्ञानावृतैः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः।। 200।।

वास्तव में उपलब्धि शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान का बोधक है।
तो आत्मोपलब्धि का घातक ज्ञानावरण सिवा है अन्य।। 968।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**अर्थतः**) वास्तव में (**उपलब्धिशब्देन**) ज्ञान चेतना के लक्षणभूत आत्मोपलब्धि में उपलब्धि शब्द से (**प्रत्यक्षं ज्ञानं**) 'प्रत्यक्ष ज्ञान' यह अर्थ निकलता है, इसलिए ज्ञानावरण कर्म को आत्मोपलब्धि का घातक मानना चाहिये। मिथ्यात्वोदय को नहीं मानना चाहिये, किन्तु ऊपर के पद्य में जब मिथ्यात्व के उदय को उस आत्मोपलब्धि का बाधक माना है (**तत्किं**) तो क्या (**स्वीयकर्मणः ज्ञानावृतेः अन्यत्र**) ज्ञान-घातक ज्ञानावरण कर्म के सिवाय कोई दूसरे कर्म के द्वारा भी (**तत्क्षतिः**) उस आत्मोपलब्धि का घात होता है।।200।।

भावार्थ - शंकाकार का कहना है कि आत्मोपलब्धि में उपलब्धि शब्द को प्रत्यक्ष-ज्ञान का वाचक होने से ज्ञान चेतना का अर्थ 'प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है, किन्तु जब ग्यारह अंग के पाठी के भी मिथ्यात्व के कारण ज्ञान चेतना नहीं मानी जाती है तो क्या ज्ञानावरण के अतिरिक्त अन्य कर्मोदय से ज्ञान चेतना का घात होता है?

समाधान

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा।। 201॥
अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षतेः।
तथा वीर्यान्तरास्य कर्मणोऽनुदयादपि।। 202।।
मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात्।। 203।।

जैसे उदय स्वावरण युत ही मूल हेतु है वास्तव में।
अन्य कर्म उदयापेक्षा भी कार्यकारिपन नहीं असिद्ध।। 969।।
ज्ञानावरण क्षयोपशम से ज्यों होते हैं मत्यादिक ज्ञान।
वैसे ही वीर्यान्तराय अनुदय से होते हैं वे ज्ञान।। 970।।
यथा शुद्ध आत्मोपलब्धि मत्यादि आवरण अनुदय से।
वैसे ही आत्मोपलब्धि दृग-मोहनीय के अनुदय से।। 971।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) ठीक है (**यथा**) जैसे (**स्वावरणस्य उदय**) अपने-अपने ज्ञान के घात में अपने-अपने आवरण का उदय (**उच्चै**) वास्तव में (**मूलं हेतुः**) मूल कारण है (**तथा**) वैसे ही वह ज्ञानावरण आदि (**कर्मान्तरोदयापेक्षः**) दूसरे कर्मों के उदय की अपेक्षा सहित

(कार्यकृत्) कार्यकारी होता है यह भी **(असिद्धः न)** असिद्ध नहीं है **(यथा)** जैसा कि आगे खुलासा करते हैं।। 201।।

(यथा) जैसे **(यत्)** जो **(मत्यादिज्ञानं)** मत्यादिक ज्ञान **(ज्ञानवृत्युदय क्षतेः)** ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है **(तथा)** वैसे ही **(तत्)** वह मतिज्ञानादि **(वीर्यान्तरायस्य कर्मणः अनुदयात् अपि)** वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भी **(अस्ति)** होता है।। 202।।

(यथा) जैसे **(उच्चैः)** वास्तविक **(आत्मशुद्धोपलब्धिः)** आत्मा की शुद्धोपलब्धि **(मत्याद्यावरणस्य कर्मणः अनुदयात्)** स्व-योग्य मतिज्ञानावरणादि कर्म के अभाव से होती है वैसे ही **(दृङ्मोहस्य उदयाभावात् स्यात्)** दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के अभाव से होती है।। 203।।

भावार्थ :- जैसे ज्ञानावरण कर्म का उदय वीर्यान्तराय कर्म के उदय की अपेक्षा रखकर ज्ञान का घातक होता है वैसे ही आत्मोपलब्धि के घात में भी मिथ्यात्व के उदय के साथ ज्ञानावरण का उदय ही कारण है, किन्तु सिर्फ ज्ञानावरण का उदय ही आत्मोपलब्धि के घात में कारण नहीं है, इसलिये ग्यारह अंग के पाठी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम होते हुए भी मिथ्यात्व का उपशमादि नहीं होने से शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती।

जैसे मतिज्ञानादिक ज्ञान-ज्ञानावरण आदि के क्षयोपशम व क्षय से होते हैं, वैसे ही वे यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय से भी होते हैं अर्थात् मतिज्ञानादिक की प्राप्ति में केवल, ज्ञानावरणादि का क्षयोपशम कारण नहीं है किन्तु उसके साथ-साथ यथायोग्य वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की भी आवश्यकता पड़ती है।

केवल मतिज्ञानावरणादि के अभाव से शुद्धोपलब्धि नहीं होती है, किन्तु दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म के उदय के अभाव से शुद्ध आत्मोपलब्धि होती है।

शुद्धोपलब्धि और अशुद्धोपलब्धि

किंचोपलब्धिशब्दोऽपि स्यादेनकार्थवाचकः।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये।। 204।।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम।
सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन।। 205।।

तद्यथासुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत्।। 206।।

यद्वा क्रुद्धोऽयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्विषम्।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चैतत् सुखादिवत्।। 207।।
बुद्धिमानत्र संवेदकः यः स्वयं स्यात्संवेद्ययो।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः।। 208।।

बात दूसरी यह भी है उपलब्धि शब्द के अर्थ अनेक।
अतः शुद्ध उपलब्धि शब्द कहता अशुद्धता की हानि।। 972।।
मिथ्यादृष्टि जीवों को होती अशुद्ध ही उपलब्धि।
गौण रूप से हो सुदृष्टि को अथवा होती नहीं अहो।। 973।।
सुख दुखादिमय परिणत आत्मा उनसे तन्मय हो जाता।
अतः जगत के जीव सर्वथा 'सुखी दुखी मैं' यह मानें।। 974।।
अथवा निज को शुद्ध मानकर इस शत्रु को हनूँ अवश्य।
अपने प्रिय को नहिं मारूँगा सुखी-दुखीवत् यह भी सिद्ध।। 975।।
स्वयं ज्ञानमय आत्मा वेदक और स्वयं ही आत्मा वेद्य।
इसीलिए ऐसी उपलब्धि स्वसंवेदन से है भिन्न।। 976।।

अन्वयार्थ :- (**किं च**) दूसरा उत्तर यह है कि (**उपलब्धिः शब्दः अपि**) उपलब्धि शब्द भी (**स्यादनेकार्थवाचकः**) अनेकार्थवाचक है इसलिए यहाँ पर प्रकरणवश (**अशुद्धत्वहानये**) अशुद्धता का अभाव प्रगट करने के लिए (**शुद्धा उपलब्धिः इति उक्ता स्यात्**) 'शुद्ध' उपलब्धि ऐसा कहा है।। 204।।

(**तथा अशुद्धोपलब्धिश्च**) उस प्रकार की अशुद्धोपलब्धि भी मुख्यरूप से (**परं**) केवल (**मिथ्ययादृशां**) मिथ्यादृष्टि जीवों के (**अस्ति**) होती है और (**सुदृशां**) सम्यग्दृष्टियों के (**गौणरूपेण कदाचन स्यात्**) गौणरूप से कभी होती है (**वा**) अथवा (**न स्यात्**) नहीं भी होती है।। 205।।

(**तद्यथा**) उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**तदात्वे**) अशुद्धोपलब्धि के समय में (**आत्मा सुखदुःखादिरूपेण तन्मयः अस्ति**) आत्मा सुख और दुख आदिरूप से सुख दुःखमय हो जाता है इसलिए (**जगत्**) संसारी जीव लोग (**सर्वतः**) मुख्य और गौण दोनों ही विवक्षाओं से (**अहं सुखी दुःखी मन्यते**) मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ इस तरह मानते हैं (**यद्वा**) अथवा (**अहं क्रुद्धः**) मैं क्रुद्ध हूँ (**इत्यादि**) इत्यादि मानकर (**एनं द्विषं**) इस शत्रु को (**हठात्**) अवश्य (**हिनस्मि**) मारूँगा और (**स्वं वयस्यं न हिनस्मि**) अपने मित्र को नहीं मारूँगा (**एतत् च**) यह भी (**सुखादिवत् सिद्धं**) मैं सुखी-दुखी की तरह अशुद्धोपलब्धि में सिद्ध होता है (**यतः**)

क्योंकि **(अत्र)** शुद्धोपलब्धि में **(यः बुद्धिमान् संवेद्यः)** जो चेतनावान् जीव ज्ञेय होता है **(सः)** वही **(सवेदकः स्यात्)** स्वयं ज्ञानी माना जाता है अर्थात् निश्चयनय से ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं माना जाता है, इसलिए **(इयं उपलब्धिः)** यह शुद्धोपलब्धि **(स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानं)** अतीन्द्रिय ज्ञानरूप होती है।। 206-207-208।।

भावार्थ :- यद्यपि उपलब्धि को प्रत्यक्ष ज्ञानवाचक मानने पूर्वक होने वाली शंका का उत्तर दिया जा चुका है तथापि शंका निवारणार्थ ग्रन्थकार दूसरा भी उत्तर देते हैं कि उपलब्धि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए यहाँ पर आत्मोपलब्धि में उपलब्धि शब्द अशुद्धता के अभाव का वाचक मानना चाहिए, प्रत्यक्षज्ञान का वाचक नहीं। अतः आत्मा की अशुद्धता के अभाव को आत्मोपलब्धि कहने से ग्यारह अंग के पाठी के ज्ञान की विशालता रहने पर भी, मिथ्यात्वोदयजन्य अशुद्धता का अभाव न होने से, ज्ञान चेतना का सद्भाव नहीं पाया जाता।

तथा उसप्रकार की वह अशुद्धोपलब्धि मुख्यरूप से केवल मिथ्यादृष्टियों के ही होती है सम्यग्दृष्टियों के नहीं। यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टियों के हो भी तो वह गौणरूप से होती है मुख्यरूप से नहीं।

पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि संसारी जीवों की आत्मा अशुद्धोपलब्धि के निमित्त वश सुख-दुःखादि रूप से सुखदुखादिमय हो जाती है, इसलिए उस अशुद्धोपलब्धि के समय वे अपनें में सुख-दुःख का अनुभव करने लगते हैं अथवा मैं क्रोधी हूँ यह मेरा शत्रु है यह मेरा मित्र है। मैं अपने शत्रु का घात करूँगा मित्र का नहीं - इत्यादि रूप से सुखी-दुःखी की तरह अनुभव करने लगते हैं, क्योंकि शुद्धोपलब्धि अभेदरूप होने से उसमें ज्ञान तथा ज्ञेय का भेद प्रतिभासित नहीं होता, इसलिए वह अतींद्रिय है और अशुद्धोपलब्धि में भेद प्रतिभासित होता है। सुख-दुःख की तथा शत्रु-मित्र की कल्पना होती है, इसलिए वह **अशुद्धोपलब्धि मानसिक ज्ञानात्मक होने से इंद्रियजन्य है।** अतः मैं क्रोधी हूँ यह मेरा मित्र है यह मेरा शत्रु है इत्यादि ज्ञान में भी मैं सुखी-दुःखी की तरह अशुद्धोपलब्धिपना असिद्ध नहीं है।

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम्।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात्।। 209।।

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः।। 210।।

व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु।। 211।।

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्मात् बन्धफला स्मृता।। 212।।

यह अशुद्ध उपलब्धि सिद्ध है स्वयं स्वाद-संवेदन से।
निश्चय के संस्कार बिना यह भली-भाँति देखी जाती।। 977।।
सुमति सुश्रुत एवं केवल में नहिं अशुद्ध उपलब्धि व्याप्त।
उनमें नहिं सुख-दुख संवेदन ज्ञान मात्र ही हैं ये ज्ञान।। 978।।
क्योंकि व्याप्य-व्यापकता केवल अपने में ही होती है-
और स्वयं में ही वह सम्भव अन्य वस्तु में कभी नहीं।। 979।।
यह अशुद्ध उपलब्धि कही परिणाम स्वरूप क्रियामय है।
वास्तव में यह औदयिकी है सदा बन्ध करने वाली।। 980।।

अन्वयार्थ :- (**अस्य**) संसारी जीवों के (**स्वादुसंवेदनात्**) मैं सुखी-दु:खी इत्यादि रूप से सुख-दु:ख के स्वाद का अनुभव होने के कारण (**उपलब्धिः असिद्धा न**) अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है, क्योंकि उनके (**स्वयं अन्यादेशस्य संस्कारं अन्तरेण सुदर्शनात्**) स्वयं ही और दूसरी अपेक्षा का संस्कार नहीं होता है, इसलिए केवल वही उपलब्धि देखी जाती है।। 209।।

(**अभिज्ञाने**) स्वानुभूतिरूप मतिश्रुत ज्ञान में (**वा**) अथवा (**सर्व वेदिनः ज्ञाने**) सर्वज्ञ के ज्ञान में (**व्याप्तिः न अस्ति**) अशुद्धोपलब्धि की व्याप्ति नहीं है अर्थात् उनमें अशुद्धोपलब्धि का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि (**तयोः संवेदनाभावात्**) उन दोनों ज्ञानों में सुख- दु:ख के स्वाद का संवेदन नहीं होता, इसलिये वे दोनों (**केवलज्ञानमात्रतः**) केवल, ज्ञानरूप होते हैं; सुखदुखानुभवन करने वाले नहीं होते हैं।। 210।।

(**आत्मनि**) अपने में ही (**व्याणप्यव्यापक भावः स्यात्**) व्याप्यव्यापक भाव होता है (**अतदात्मनि न**) अपने से भिन्न में नहीं होता, क्योंकि वास्तविक रीति से देखा जाय तो (**सर्वत्र वस्तुषु**) सर्व पदार्थों का (**स्वतः**) अपने में ही (**व्याप्यव्यापकता भावः**) व्याप्य- व्यापकपने का होना संभव है, अन्य का अन्य में नहीं।। 211।।

(**पारिणामिकक्रियामयी**) परिणमनशील क्रियारूप उपलब्धि से अर्थात् पर्यायार्थिक दृष्टि से रागद्वेषवश मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ इत्यादि रूप से जो उपलब्धि होती है (**असौ अशुद्धा उपलब्धिः**) वह अशुद्धोपलब्धि है और यह (**अर्थात्**) वास्तव में (**औदयिकी**) कर्मों के उदय से होने वाली है (**तस्मात्**) इसलिए वह (**नित्यबन्धफला स्मृता**) सदैव नित्य बन्ध कराने वाली मानी गई है, संवर तथा निर्जरा कराने वाली नहीं।। 212।।

भावार्थ :- ऊपर के तीन पद्यों से संसारी जीवों के जो अशुद्धोपलब्धि बताई है वह असिद्ध नही है, क्योंकि उनके शुद्ध निश्चयनय के संस्कार के बिना स्वयं ही मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इत्यादि रूप से सुख-दुःख के स्वाद के संवेदन से अशुद्धोपलब्धि पाई जाती है अर्थात् संसारी जीवों के शुद्ध निश्चयनय के संस्कार के बिना जो सुख-दुःखरूप से अपना अनुभव पाया जाता है उसके कारण उनके अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है।

उक्त अशुद्धोपलब्धि की व्याप्ति मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान के साथ ही पाई जाती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान में और सर्वज्ञ के केवलज्ञान के साथ नहीं पाई जाती है, क्योंकि यद्यपि उनके वे ज्ञान ज्ञानात्मक है; परन्तु सुख-दुःख के स्वाद के संवेदनरूप नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव का स्वानुभूतिरूप ज्ञान और केवली का केवलज्ञान ये दोनों ज्ञान, सुख-दुःख के अनुभव से रहित हैं, इसलिए उनमें केवल ज्ञानमात्रता रहने के कारण उनके साथ अशुद्धोपलब्धि की व्याप्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जैसे निश्चयनय से किसी पदार्थ का किसी पदार्थ के साथ आधार-आधेयभाव नहीं है, वैसे ही किसी पदार्थ का किसी पदार्थ के साथ व्याप्यव्यापक भाव भी नहीं है। सब ही पदार्थों का अपने स्वरूप के साथ ही व्याप्यव्यापक भाव होता है अन्य के साथ नहीं, अतः परसंयोग के निमित्त से होने वाली अशुद्धोपलब्धि की व्याप्ति शुद्धोपलब्धिरूप स्वानुभूति के साथ तथा केवलज्ञान के साथ नहीं हो सकती अर्थात् नहीं पाई जाती है।

मिथ्यात्व के उदय से जीव की जो अशुद्ध परिणति हो रही है और जिस अशुद्ध परिणति के कारण यह आत्मा परवस्तु में रागी-द्वेषी होता हुआ कर्मोदय वश अपने को सुखी-दुःखी मानकर सुख-दुःखरूप से अपने स्वरूप को समझ रहा है, वह अशुद्ध परिणति वास्तव में मिथ्यात्व कर्म के उदय वश होने से नित्य बन्धरूप फल को देनेवाली मानी गई है।

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्।
न ज्ञानचेतना किंतु कर्म तत्फलचेतना।। 213।।
इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः।
अस्ति साधारणीवृत्ति न स्यात् सम्यक्त्वकारणम्।। 214।।
न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्।।215।।

यह अशुद्ध उपलब्धि भी है ज्ञानाभास चिदन्वयरूप।
किन्तु न यह है ज्ञान चेतना, कर्म और उसके फलरूप।। 981।।

यह समस्त संसारी जीवों में सामान्यतया होती।
यह साधारण वृत्ति सम्यग्दर्शन का नहिं कारण है।।982।।
और मात्र आत्मोपलब्धि नहिं लक्षण सम्यग्दर्शन का।
यदि अशुद्ध हो तो लक्षण नहि लक्षण शुद्ध-विशेषण युक्त।।983।।

अन्वयार्थ :- (**सा अशुद्धोपलब्धिः**) वह अशुद्धोपलब्धि (**ज्ञानाभासात् चिदन्वयात्**) शुद्ध आत्मा के आभासरूप चिदन्वय से अशुद्ध आत्मा के प्रतिभासमय होने के कारण (**ज्ञानचेतना न**) ज्ञानचेतनारूप नहीं कही जा सकती है (**किन्तु**) किन्तु (**कर्मतत्फल चेतना**) कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतनारूप कही जाती है।। 213।।

(**इयं**) यह कर्म और कर्मफलरूप अशुद्ध चेतना (**सर्वेषां संसारिजीवानां**) संपूर्ण संसारी जीवों के (**अविशेषतः**) सामान्यता से (**साधारणी वृत्तिः अस्ति**) साधारण वृत्ति है अर्थात् सामान्यरूप से सब संसारी जीवों के पाई जाती है इसलिए यह (**सम्यक्त्वकारणं न**) सम्यक्त्व का कारण नहीं है।। 214।।

(**वा**) तथा (**आत्मोपलब्धिः सम्यग्दर्शनलक्षणं न स्यात्**) केवल आत्मा की उपलब्धि भी सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकता है, किन्तु (**शुद्धा चेत् सम्यक्त्व अस्ति**) यदि वह उपलब्धि शुद्ध विशेषण युक्त हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो तो सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता है (**चेत् सा शुद्धा न**) यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह (**सुदृक् न**) सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकता है।। 215।।

भावार्थ :- उस अशुद्धोपलब्धि में शुद्ध ज्ञान का प्रतिभास नहीं होता, किन्तु अशुद्ध ज्ञानरूप से चेतना का प्रतिभास होता है, अर्थात् अशुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, इसलिए उसको ज्ञान चेतना नहीं कह सकते, किन्तु कर्म तथा कर्मफल चेतना ही कहते हैं।

कर्म और कर्मफल – ये दोनों चेतनायें सामान्यरूप से भव्य व अभव्य सब जीवों के पाई जाती हैं, इसलिए ये दोनों चेतनायें सम्यक्त्व का कारण नहीं मानी गई हैं।

उपलब्धि शब्द सामान्यवाचक है और अशुद्धोपलब्धि शुद्धोपलब्धि से विशेष वाचक है अर्थात् यद्यपि शुद्ध तथा अशुद्ध के भेद से उपलब्धि के दो भेद हो जाते हैं, तथापि सामान्यरूप से उपलब्धिपना दोनों में ही सिद्ध हो सकता है, इसलिए शुद्धाशुद्ध विशेषण रहित सामान्य उपलब्धि भी व्यापक होने से अपने सब अवान्तर भेदों में पाये जाने के कारण अर्थात् शुद्धोपलब्धि के समान अशुद्धोपलब्धि में पाये जाने के कारण वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकती है, किन्तु शुद्धोपलब्धि ही सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकती है, अशुद्धोपलब्धि नहीं।

शंका

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित्।। 216।।

क्या यह है सर्वथा अशुद्ध या फिर मलिन कथञ्चित् है।
सदा बन्ध-फलदायक अथवा कभी-कभी बन्धन करती।।984।।

अन्वयार्थ :- (**ननु च**) शंकाकार का कहना है कि (**किं इयं अशुद्धा एव स्यात् किं कथंचन अशुद्धा स्यात्**) क्या यह आत्मोपलब्धि सर्वथा अशुद्ध होती है अथवा कथंचित् अशुद्ध होती है (**अथ**) और (**किं नित्यं बन्धफला किं क्वचित् अबन्धफला**) क्या वह नित्य बन्ध कराने वाली ही है अथवा क्या कभी-कभी बन्ध कराने वाली है?।। 216।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि मिथ्यादृष्टि की वह अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिरूप से होने वाली अशुद्ध आत्मोपलब्धि क्या सर्वथा अशुद्ध ही होती है अथवा क्या कथञ्चित् अशुद्ध होती है तथा नित्य बन्ध ही है फल जिसका ऐसी है अर्थात् उस अशुद्धोपलब्धि से क्या सर्वथा बन्ध ही होता है, अथवा क्या कदाचित् बन्ध होता है।

समाधान

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना।
अस्त्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा।। 217।।

यदि सम्यग्दर्शन हो तो यह शुद्ध अन्यथा रहे अशुद्ध !
शुद्ध नहीं बन्धन करती एवं अशुद्ध बन्धन करती।।985।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) ठीक है (**सम्यक्त्वे शुद्धा अस्ति**) सम्यक्त्व के होने पर वह आत्मोपलब्धि शुद्ध कहलाती है परन्तु (**सा एव तद्विना अशुद्धा अस्ति**) वही आत्मोपलब्धि सम्यक्त्व के बिना अशुद्ध कहलाती है और (**तत्र**) सम्यक्त्व के होने पर वह (**अबन्धफला अस्ति**) अबन्ध फल वाली होती है किन्तु (**अन्यथा सा एव बन्धफला अस्ति**) सम्यक्त्व के अभाव में वही आत्मोपलब्धि बन्ध फल वाली होती है।। 217।।

भावार्थ :- शंकाकार के उक्त प्रश्नों का उत्तर यह है कि सम्यक्त्व और उपलब्धि की शुद्धता का अविनाभाव है, इसलिए सम्यग्दर्शन के होने पर जो आत्मोपलब्धि होती है वह शुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है तथा वह अबन्ध फलवाली होती है, क्योंकि सम्यक्त्व के होने पर अबद्धायुष्क की अपेक्षा से उत्तम मनुष्यों तथा वैमानिक देवों की पर्याय को छोड़कर के अन्य पर्यायों में जीव नहीं जाते हैं और बद्धायुष्क की अपेक्षा से प्रथम नरक व भोगभूमिया तिर्यंच की गति को छोड़कर के

अन्य गतियों में नहीं जाता है। इसलिये इनके सिवाय शेष गति सम्बधी बन्ध का अभाव होने से शुद्धोपलब्धि को अबन्धफला कहा है। यह कथन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा से है तथा कषाय से रहित सम्यग्दृष्टियों के तो बिल्कुल बन्ध नहीं होता है, अतः यह अबन्ध फलवाली मानी गई है तथा मिथ्यात्व के उदय में वही आत्मोपलब्धि अशुद्ध आत्मोपलब्धि कहलाती है तथा बन्धफला मानी गई है, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय रहने पर आस्रव का निरोध नहीं माना है। अतः वह अशुद्ध आत्मोपलब्धि बन्ध का कारण कहलाती है।

शंका

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्ध विशेषभाक्।। 218।।
यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव।। 219।।

शुद्ध रुचि सम्यग्दर्शन एवं अशुद्ध रुचि मिथ्या है।
किन्तु एक ही विषय उभय का तो कैसे हो शुद्ध-अशुद्ध।। 986।।
यदि नवतत्त्वों में सुदृष्टि को केवल आत्मा ही उपलब्ध।
यही शुद्ध उपलब्धि है तो कैसे हों नव-तत्त्व विषय।। 987।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि यद्यपि (**शुद्धरुचिः**) शुद्धरुचि (**सद्दर्शनं**) सम्यग्दर्शन (**च**) और (**अशुद्धा रुचि**) अशुद्ध रुचि (**मृषा स्यात्**) मिथ्यादर्शन कहलाती है परन्तु जब (**तद्विषयः एकः**) उन दोनों का विषय एक ही रहता है तो फिर (**शुद्धाशुद्धविशेषभाक् कथं**) वह आत्मा शुद्ध तथा अशुद्ध दो प्रकार के विरुद्ध विशेषणों का धारक कैसे हो सकता है।। 218।।

(**यद्वा**) अथवा (**चेत्**) यदि (**नवसु तत्त्वेषु**) नव तत्त्वों में (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि के (**वै**) निश्चय से (**आत्मोपलब्धिमात्रं अस्ति**) केवल आत्मा की उपलब्धि ही होती है (**च**) और (**सा शुद्धा**) वही शुद्ध उपलब्धि है तो (**नव कुतः**) सम्यग्दर्शन के विषय नवपदार्थ कैसे हो सकते हैं?।। 219।।

भावार्थ :- यद्यपि शुद्ध श्रद्धा को सम्यग्दर्शन और अशुद्ध श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं, परन्तु जब दोनों ही प्रकार की श्रद्धा के विषय जीवादिक होते हैं तो फिर यथार्थ रुचि, शुद्ध तथा विपरीत रुचि अशुद्ध क्यों कही जाती है?

तथा दूसरी शंका यह है कि यदि सम्यग्दृष्टि के नव तत्त्वों में से केवल शुद्ध आत्मा की ही

उपलब्धि होती है और वही शुद्ध कहलाती है तो सम्यग्दर्शन के विषयभूत नव पदार्थ क्यों कहे जाते हैं। केवल एक शुद्ध आत्म तत्त्व ही सम्यग्दर्शन का विषय मानना चाहिए।

समाधान

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि।
तत्राभिव्यंञ्जकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक्।। 220।।
शुद्धं सामान्यमात्रवत्वादशुद्धं तद्विशेषतः।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम्।। 221।।

ठीक नहीं यह क्योंकि दोनों को वस्तु-स्वरूप का स्वाद।
सदा स्वयं ही भिन्न-भिन्न अनुभव में पाया जाता है।।988।।
सम्यग्ज्ञानी वस्तु को सामान्यरूप अनुभव करते।
सामान्य मात्र को शुद्ध तथा कहते अशुद्ध हैं भेदों से।।989।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) उपयुक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तत्र**) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के (**अभिव्यंजकद्वेधा भावसद्भावतः**) पदार्थ के स्वरूप की अभिव्यक्ति के भेद से (**वस्तुनि**) वस्तु में (**शश्वत्**) सदा (**स्वतः**) स्वयं (**पृथक् स्वादुभेदः अस्ति**) पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभव पाया जाता है।। 220।।

(**वस्तु**) वस्तु (**सद्विदां**) सम्यग्ज्ञानियों को (**सामान्यरूपेण**) सामान्यरूप से (**स्वादुस्वदते**) अनुभव में आती है इसलिए (**तत्**) वह वस्तु (**सामान्यमात्रत्वात् शुद्धं**) केवल सामान्यरूप से शुद्ध कहलाती है और (**विशेषतः अशुद्ध**) विशेष भेदों की अपेक्षा से अशुद्ध कहलाती है।। 221।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु के एक होने पर भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को वस्तु के स्वरूप के प्रतिभास में अन्तर रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान में विपर्यास रहता है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में नहीं, इसलिए दोनों के पदार्थ के स्वरूप में होने वाले आभास में द्वैविध्य पाया जाता है। अतः वस्तु के एक होने पर भी स्वाद में भेद रहता है जैसा कि ग्रन्थकार आगे स्वयं बताते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के, राग-द्वेष की तीव्रता रहने से परवस्तु में इष्टानिष्ट की कल्पना रहती है और वह इन राग-द्वेषों के कारण वस्तु के वस्तुत्व का अनुभव न करके केवल इष्ट-अनिष्टरूप से ही वस्तु का अनुभव करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से उसके निमित्त से होने वाले, अनन्त संसार के कारणभूत राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि इष्टानिष्ट कल्पना से विरहित होकर वस्तु के वस्तुत्व का ही अनुभव करता है।

मिथ्यादृष्टियों का स्वाद

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषऽप्यमीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टर्दृङ्मोहदोषतः।। 222॥
यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि।।223।।
दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यंजनेषु विमिश्रितम्।
व्यंजनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम्।। 224।।
क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यंजनेषु वा।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम्।। 225।।
इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना।
सर्वैभावैस्तदज्ञान जातैस्तैरनतिक्रमात्।। 226।।
सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना।। 227॥

किन्तु विशेषों में भी अनुपम शुद्ध न जाने अज्ञानी।
दृष्टि में दृग्मोह उदय से ज्ञान चेतना उन्हें नहीं।। 990।।
अथवा वे कुदृष्टि वस्तु को भेदरूप अनुभव करते।
उन्हें चेतना निश्चय से होती है कर्म-कर्मफल में।।991।।
यद्यपि व्यञ्जन मिश्रित नमक-डली ही खारी होती है।
किन्तु विमोहित अज्ञानी को व्यञ्जन खारा लगता है।। 992।।
तत्त्वज्ञानियों को भोजन में मिला नमक लगता खारा।
अथवा वही नमक भोजन से भिन्न जानते हैं खारा।। 993।।
अतः सिद्ध अज्ञानजन्य सब भावों का नहिं करता त्याग।
इसीलिए अज्ञानी को अज्ञान चेतना ही होती।। 994।।
अतः सिद्ध है कि जब तक शुद्धोपलब्धि है आत्मा की।
तब तक ही सम्यग्दर्शन अरु ज्ञान चेतना भी होती।। 995।।

अन्वयार्थ :- किन्तु (**परेषां**) मिथ्यादृष्टियों को (**तत्**) वह शुद्ध सामान्यरूप सत् (**न स्वदते**) अनुभव में नहीं आता है (**यत्**) जो कि (**विशेषे अपि अनीदृशं**) अपनी सब विशेष

अवस्थाओं में भी अनुपमरूप से विद्यमान रहता है क्योंकि (**दृष्टेः दृग्मोहदोषतः**) दृष्टि में दर्शन मोह के उदय से दोष आने के कारण (**तेषां**) उन मिथ्यादृष्टियों के (**अलब्ध बुद्धित्वात्**) ज्ञानचेतना नहीं होती है।। 222।।

(**यद्वा**) अथवा (**कुदृष्टिनां**) मिथ्यादृष्टियों को (**विशेषरूपेण**) विशेषरूप से अर्थात् पर्यायरूप से (**तत्स्वदते**) उस सत् का स्वाद आता है इसलिए (**अर्थात्**) वास्तव में (**नूनं**) निश्चय से (**सा चेतना**) उन मिथ्यादृष्टियों की वह चेतना (**कर्मकार्ये**) कर्मफल में (**अथ**) और (**कर्मणि**) कर्म में ही होती है अर्थात् इसी कारण से मिथ्यादृष्टियों के कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना ही होती है।। 223।।

(**दृष्टांतः**) उक्त कथन का साधक दृष्टांत यह है कि यद्यपि (**व्यंजनेषु विमिश्रितं सैन्धषं खिल्यं क्षारं**) व्यंजनों में मिली हुई नमक की डली ही खारी है परन्तु (**विमोहिनां अज्ञानां व्यंजनं तत् स्वदते**) भोजन लोलुपी अज्ञानी जीवों को वह व्यंजन का स्वाद मालूम होता है नमक का नहीं।। 224।।

(**ज्ञानवेदिनां**) तत्त्वज्ञानियों को (**व्यंजनेषु मिश्रितं**) व्यञ्जनों में मिली हुई (**तत् एकं खिल्यं एव**) केवल वह नमक की डली ही (**वा**) अथवा (**न मिश्रितं**) व्यंजनों में नहीं मिली हुई (**तत् एव एकं क्षारं स्वदते**) वही केवल नमक की डली ही खारी मालूम होती है व्यञ्जन नहीं।। 225।।

(**इति सिद्धं**) इसप्रकार सिद्ध होता है कि (**तदज्ञानजातैः तैः सर्वः भावैः**) आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होने वाले उन सब भावों को (**अनतिक्रमात्**) उल्लंघन नहीं कर सकने के कारण (**कुदृष्टीनां एका अज्ञानचेतना एव**) मिथ्यादृष्टियों के केवल अज्ञान चेतना ही होती है।। 226।।

(**एतावता सिद्धं**) और उपयुक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि (**यावत् आत्मनः शुद्धोपलब्धिः**) जब तक आत्मा की शुद्धोपलब्धि होती है (**तावत् एव सम्यक्त्वं अस्ति**) तब तक ही सम्यक्त्व रहता है तथा (**तावती ज्ञानचेतना**) उतनी ही ज्ञान चेतना कहलाती है अर्थात् जितने अंशों में आत्मा की शुद्ध उपलब्धि होती है, उतने ही अंशों में ज्ञानचेतना होती है।। 227।।

भावार्थ :- विशेषमात्र में जो अनुपम सत् का स्वरूप विद्यमान है अर्थात् अपने सम्पूर्ण विशेषों में जो अन्वयरूप से सत् विद्यमान रहता है, वह मिथ्यादृष्टियों के स्वाद में नहीं आता, क्योंकि उनके मिथ्यात्व का उदय रहने से सामान्य शुद्धत्व का स्वाद लेने वाली अनुभव करने वाली ज्ञान चेतना नहीं होती है।

अथवा यों कहना चाहिये कि मिथ्यादृष्टियों के वह सत् इष्टानिष्ट कल्पनावश केवल विशेषरूप

से पर्यायरूप से ही अनुभव में आता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों को अध्यात्म शास्त्र में पर्यायबुद्धि कहा है और उनकी वह चेतना ज्ञानचेतना न कहलाकर कर्म तथा कर्मफल चेतना ही कहलाती है। आगे इसी कथन का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते हैं –

अज्ञानी जीवों को व्यंजनों में मिला हुआ जो नमक है वह खारा प्रतीत न हो करके केवल व्यंजन ही खारे प्रतीत होते हैं।

तत्त्वज्ञानियों को व्यंजनों में मिश्रित अथवा अमिश्रित दोनों ही अवस्थाओं में केवल नमक की डली ही खारी प्रतीत होती है व्यंजन नहीं।

इसलिए सिद्ध होता है कि अज्ञानमय भावों से सदैव लिप्त रहने के कारण मिथ्यादृष्टियों के केवल अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म तथा कर्मफल चेतना ही होती है। ज्ञान चेतना नहीं होती है।

उपर्युक्त कथन से यही फलितार्थ निकलता है कि शुद्धोपलब्धि का नाम सम्यक्त्व है और अपने प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से जितनी शुद्धोपलब्धि होती है उतनी ही ज्ञान चेतना कहलाती है, क्योंकि पूर्ण ज्ञान चेतना केवली के मानी गई है और पूर्ण परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी केवली के माना गया है।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः।। 228।।

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा।
अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित्।। 229।।

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम्।। 230।।

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु।। 231।।

यहाँ मात्र सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानवान हैं कहे गए।
अतः सभी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी सदा कहे जाते।। 996।।

ज्ञानी एवं अज्ञानी की क्रिया एक सी दिखती है।
अज्ञानी की क्रिया बन्ध-कारण है किन्तु न ज्ञानी की।। 997।।

ज्ञानी की कर्मोदयजन्य-क्रिया नहिं बन्धन का कारण।
यह आश्चर्य कि पूर्वबद्ध कर्मों के खिरने का कारण।। ९९८।।
क्योंकि ज्ञानियों के होते सब भाव ज्ञानमय ही जानो।
अतः ज्ञानियों में अज्ञानमयी भावों की जगह नहीं।। ९९९।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) यहाँ पर (**केवल असौ एकः सम्यग्दृगात्मा ज्ञानवान्**) केवल यह सम्यग्दृष्टि जीव ही ज्ञानवान् है (**ततः**) इसलिए (**सर्वे मिथ्यादृशः**) समस्त मिथ्यादृष्टि (**नित्यं अज्ञानिनः मताः**) नित्य अज्ञानी माने गये हैं।। 228।।

(**ज्ञानिनः तथा अज्ञानिनः क्रिया**) ज्ञानी तथा अज्ञानी की क्रिया (**साधारणी वृत्तिः**) सामान्य रूप से एकसी होती है परन्तु (**अज्ञानिनः क्रिया बन्धहेतुः**) अज्ञानी की क्रिया बन्ध का कारण होती है और (**ज्ञानिनः क्वचित् न**) ज्ञानी की क्रिया कभी भी बन्ध का कारण नहीं होती है।। 229।।

(**ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया**) ज्ञानियों की कर्म से उत्पन्न होने वाली क्रिया (**बन्धहेतुः न स्यात्**) बन्ध का कारण नहीं होती है (**आस्तां**) यह तो दूर ही रहे अर्थात इसमें कोई आश्चर्य नहीं है परन्तु (**चित्रं**) आश्चर्य तो यह है कि उनकी (**यत् कर्म**) जो भी क्रिया है वह सब क्रिया (**पूर्वबद्धानां कर्मणां च निर्जरायै**) पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिए ही कारण होती है।। 230।।

(**यस्मात्**) क्योंकि (**ज्ञानिनां ज्ञानमयाः भावाः**) ज्ञानियों के ज्ञानमय भाव (**ज्ञाननिर्मिताः**) ज्ञान निर्मित ही होते हैं इसलिए (**सुदृष्टिषु**) सम्यग्दृष्टियों की आत्माओं में (**अज्ञानमयभावानां**) मिथ्यात्व सहित अहंकार व ममकाररूप भावों को (**अवकाशः न**) स्थान नही मिलता है अर्थात् सम्यग्दृष्टियों के अज्ञानमय भावों का सद्भाव नहीं पाया जाता है।। 231।।

भावार्थ :- शुद्धोपलब्धि के कारण जैनागम में केवल सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी और अशुद्धोपलब्धि के कारण अर्थात् शुद्धोपलब्धि के अभाव में सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टियों को अज्ञानी कहते हैं।

यद्यपि ज्ञानी तथा अज्ञानी की क्रिया एक सी देखी जाती है अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के समान सम्यग्दृष्टियों की भी बाह्य प्रवृत्ति राग-द्वेषादिमय देखी जाती है तथापि अज्ञानी की क्रियाएँ बन्ध का कारण मानी गई हैं और ज्ञानी की क्रियाएँ कहीं पर भी बन्ध का कारण नहीं मानी गई हैं।

सम्यग्दृष्टियों की क्रिया बन्ध का कारण नहीं होती, इतना ही नहीं, किन्तु उनके वैसी क्रिया के रहते हुए भी केवल कर्मों की निर्जरा होती है।

सम्यग्दृष्टियों की सम्पूर्ण क्रियाएँ सदैव ज्ञानमय होती हैं अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के उदय के न रहने से सम्यग्दृष्टियों का परमार्थ से राग-द्वेषपूर्वक आसक्ति का अभाव हो जाता है, इसलिए वे भोगों को रुचिपूर्वक नहीं भोगते, किन्तु चारित्रमोह के उदय से उनको वे भोग भोगने

पड़ते हैं, अत: उनकी संपूर्ण क्रियाएँ ज्ञानमय कही जाती हैं और उनके अज्ञानमय भावों को सद्भाव ही नहीं पाया जाने से उन्हें केवल संवर और निर्जरा ही होती है।

ज्ञानी का स्वरूप

वैराग्यं परमोपेक्षा ज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद् द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च।। 232।।

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित्।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ।। 233।।

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम्।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम्।। 234।।

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसंगं व्योमवत् सदा।। 235।।

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ।। 236।।

पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान्।
प्रसंगादपरं चैच्छेदर्थात् सार्थं कृतार्थवत्।। 237।।

परमोपेक्षामय वैराग्य और स्वानुभवमय परिणाम।
ये दोनों ज्ञानी के लक्षण वे हैं जीवनमुक्त स्वयं।। 1000।।
आत्मज्ञानयुत ज्ञानी निज को मात्र ज्ञान का पात्र लखे।
अतः बद्धस्पृष्ट आदि भावों से निज को भिन्न लखे।। 1001।।
इसीलिए प्रत्यक्ष स्व-संवेदन द्वारा स्पष्ट लखे।
असंयुक्त अविशेष नियत एवं अनन्य अनुभव करते।। 1002।।
और स्वयं को वे अबद्ध अस्पृष्ट शुद्ध अरु सिद्ध समान।
शुद्ध स्फटिक समान तथा निःसंग व्योम सम लखें सदा।। 1003।।
तथा अतीन्द्रिय ज्ञान अनन्त-रु दर्शन बल की मूर्ति स्वरूप।
स्वाभाविक इन्द्रियातीत सुख आदि गुणों से तन्मय हैं।। 1004।।
ज्ञानी ऐसा निज को निरखें एक ज्ञानमय मूर्ति तथापि।
किन्तु प्रसंग वशात् उपेक्षावृत्ति से पर को चाहें।। 1005।।

अन्वयार्थ :- (**परमोपेक्षा वैराग्यं**) जो सम्यग्दृष्टियों के परम उपेक्षारूप वैराग्य और (**स्वयं स्वानुभवः ज्ञानं**) स्वयं आत्मप्रत्यक्ष करनेरूप ज्ञान होता है अतः (**तद् द्वयं**) वे दोनों ही (**ज्ञानिनः लक्ष्म**) ज्ञानी के लक्षण हैं (**च**) और (**स एव जीवन्मुक्तः**) वही ज्ञानी जीवन्मुक्त है।। 232।।

(**आत्मवत् ज्ञानी**) आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञानी (**आत्मानं**) अपने को (**ज्ञानैकपात्रत्वात्**) एक ज्ञान का ही पात्र होने से तथा (**बद्धस्पृष्टादि भावानां अस्वरूपात्**) बद्ध और स्पृष्ट आदि भावों को अपने स्वरूप न होने से (**आत्मानं अनास्पदं पश्यति**) अपने को बद्ध-स्पष्टादि भावों का अपात्र समझता है।। 233।।

(**ततः**) ज्ञानैक पात्र होने से तथा बद्ध-स्पृष्टादिक भावों का अपात्र होने से सम्यग्दृष्टि (**स्वं**) अपने को (**यथाध्यक्षं**) प्रत्यक्ष पूर्वक (**स्फुटं**) स्पष्टरीति से (**स्वादु अविशिष्टं असंयुक्तं नियतं स्वं अनन्यकं आसादयति**) स्वादु, विशेष रहित, संयोग रहित, स्वस्वरूपमय और अन्यरूप से भिन्न पाता है।। 234।।

(**अथ**) और (**अबद्धं**) बन्ध से रहित (**अथ**) तथा (**अस्पृष्टं**) अस्पृष्ट (**शुद्धं**) शुद्ध (**सिद्धपदोपमं**) सिद्ध समान (**शुद्धस्फटिकसकाशं**) शुद्ध स्फटिक के समान (**सदा व्योमवत्**) सदैव आकाश के समान (**निस्संग**) परिग्रह रहित (**इन्द्रियोपेक्षितानन्त-ज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकं**) अतींद्रिय अनन्तज्ञान दर्शन और अनन्तवीर्यमय तथा (**अक्षातीतसुखानन्त-स्वाभाविकगुणान्वितं**) अतींद्रिय सुख आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित (**निजात्मानं पश्यन**) अपनी आत्मा का श्रद्धान करने वाला होता है (**इति**) इसलिए (**अर्थात्**) यद्यपि वास्तव में (**ज्ञानी ज्ञानैक मूर्तिमान्**) सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानमय मूर्तिवाला है तथापि (**प्रसंगात्**) प्रसंगवश अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से (**कृतार्थवत्**) कृतकृत्य के समान परम उपेक्षा भाव से (**अपरं सार्थं च इच्छेत्**) अन्य पदार्थ की भी इच्छा करता है।। 235-237।।

भावार्थ :- परम उपेक्षारूप वैराग्य और स्वानुभूति ये दोनों ही सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं। अतएव परमोपेक्षा तथा स्वानुभव हो जाने के कारण सम्यग्दृष्टि को ही जीवन्मुक्त कहते हैं।

एक ज्ञानमात्र होने से तथा बद्ध-स्पृष्टत्वादि भावों से लिप्त न होने के कारण ज्ञानी जीव यद्यपि अपने को अविशिष्ट, असंयुक्त, अनन्य अबद्ध, अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्ध के समान शुद्धस्फटिक के समान, आकाश के समान निःसंग, अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य आदि अनन्त स्वाभाविक गुणों से युक्त मानता है तथापि वह कृतार्थ* की तरह परम उपेक्षा भाव से प्रसंगवश पर-पदार्थ की इच्छा भी करता है, इसलिए उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

---

* इसका आशय स्पष्ट नहीं होता।

इन्द्रिय सुख और उसका फल

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्।। 238।।
तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः।। 239।।

जो यह इन्द्रिय-सुख है वह तो इन्द्रिय विषयों से उत्पन्न।
वह सुख केवल सुखाभास है किन्तु दुःख वह निस्संदेह।। 1006।।
इसीलिए वह सुखाभास है हेय स्वयं दुख दुखफलरूप।
जो है इस अनिष्ट का कारण कर्म हेय वह भी दुखरूप।। 1007।।

अन्वयार्थ :- (**यत् ऐहिकं सुखं नाम**) जो लौकिक सुख है (**'तत्' सर्वं वैषयिकं स्मृतं**) वह सब इंद्रिय विषयक माना गया है इसलिए (**तत् सुखं केवलं सुखाभासं न**) वह सुख केवल सुखाभास ही नहीं है (**किन्तु**) किन्तु (**असंशयं दुखं**) निसंदेह दुःखरूप भी है।। 238।।

(**यतः**) क्योंकि (**सुखाभासं दुःखफलं**) सुख के समान मालूम होने वाला वह इंद्रियजन्य सुख-दुखरूप फल को देने वाला होने से (**दुखं**) दुखरूप है (**तस्मात्**) इसलिए (**हेयं**) वह सुखाभास छोड़ने योग्य है तथा (**सर्वतः**) सर्वथा (**अनिष्टस्य तस्य**) अनिष्ट उस दुख का (**यत् कर्महेतु तत् हेयं**) जो कर्म कारण है वह भी छोड़ने के योग्य है।। 239।।

भावार्थ :- जो ऐहिक सुख है वह अतीन्द्रिय नहीं है किन्तु विषय-जन्य है, इसलिये उस सुख को सुखाभास ही नहीं कहना चाहिए, किन्तु निःसंशय दुख ही कहना चाहिए, क्योंकि वास्तविक सुख आत्मा का गुण है और वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रिय जन्य नहीं।

इन्द्रिय जन्य सुख, दुख देनेवाला होने से दुःखरूप है। इसलिए सुखाभासरूप वह सुख और उस सुख का कारणभूत सातावेदनीय आदि शुभकर्म भी हेय हैं।

आठ कर्म और उनका फल

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा।
वैपरीत्यात् फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः।। 240।।
चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः।। 241।।
स्वस्वरूपाच्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान्।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति।। 242।।

सर्व प्रकार कर्म वह है सर्वथा पौद्गलिक आठ प्रकार।
उदय प्राप्त उसका फल दुख है क्योंकि वह विपरीत स्वरूप।। 1007।।
चार गति संसार चक्र का कारण कर्मोदय जानो।
निज स्वभाव में कोइ न स्थित किन्तु कर्मपद में हैं लीन।। 1009।।
इस प्रकार अपने स्वरूप से च्युत यह जीव अनेक प्रकार।
दुःख से व्याप्त जगत में भ्रमता निज स्वरूप को करे न प्राप्त।। 1010।।

अन्वयार्थ :- (**सर्वतः**) सर्वप्रकार से (**तत्सर्वंकर्म पौद्गलिकं**) वह सब कर्म पौद्गलिक है और (**तत्**) वह कर्म (**अष्टधा**) आठ प्रकार का है तथा (**वैपरीत्यात् विपच्यतः**) विपरीतपने से उदय में आने वाले (**तस्य**) उस कर्म का (**सर्वं फलं**) शुभ व अशुभरूप सब ही फल (**दुःखं**) दुःखरूप है।। 240।।

(**नित्यं कर्मैकहेतुके चतुर्गति भवावर्ते**) सदैव कर्म के कारण चारगति स्वरूप संसार चक्र में (**कश्चित् जनः पदस्थः न**) कोई भी जीव आत्मपद में स्थित नहीं हैं (**किन्तु**) किन्तु सब ही (**कर्मपदस्थितः**) कर्मपद में ही स्थित हैं।। 241।।

(**इति**) इसप्रकार (**स्वस्वरूपात् च्युतः जीवः**) अपने स्वरूप से च्युत यह जीव (**नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्**) अनेक प्रकार के दुःखों से व्याप्त संसार में परिभ्रमण करता हुआ (**अलब्धस्वरूपवान् स्यात्**) अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर रहा है।। 242।।

भावार्थ :- असाता/दुःख का कारण कर्म पौद्गलिक है और वह आठ प्रकार का है तथा विपरीतरूप से उदय में आने वाले उस कर्म का शुभ व अशुभरूप से जो कुछ भी फल होता है वह सब वास्तव में दुःखरूप ही होता है, सुखरूप नहीं।

कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले चारों गतिरूप संसार के चक्र में घूमने वाले संसारी लोग अपने पद में-स्वपद में स्थित नहीं हैं, किन्तु उसी कर्म के पद में स्थित है अर्थात् स्वाधीन नहीं हैं, किन्तु पराधीन हैं।

इसप्रकार कर्मपद में स्थित होने के कारण जीव अपने स्वरूप से च्युत होकर नाना दुःखों से व्याप्त संसार में परिभ्रमण करता हुआ अपने स्वरूप को नहीं पाता है।

शंका

ननु किंचिच्छुभं कर्म किंचित्कर्माशुभं ततः।
क्वचित्सुखं क्वचित्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम्।। 243॥

कोई कर्म अशुभ है एवं कोइ कर्म शुभरूप कहे।
इनसे भोगे दुख-सुख प्राणी तो क्यों मात्र कहे दुख हेतु।। 1011।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**किंचित्कर्म शुभं**) कुछ कर्म शुभ और (**किंचित् कर्म अशुभं**) कुछ कर्म अशुभ हैं (**ततः**) इसलिए जब जीवों को (**क्वचित् सुखं**) कभी सुख होता है तथा (**क्वचित्दुःखं**) कभी दुःख होता है (**तत्**) तो फिर (**नृणां परं दुःखं**) जीवों को केवल कर्मों के कारण दुःख ही होता है, ऐसा (**किं**) क्यों कहा जाता है ?।। 243।।

भावार्थ : - शंकाकार का कहना है कि कर्मों के शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद हैं, उनमें से कोई कर्म शुभ तथा कोई कर्म अशुभ होते हैं। इसलिये सब जीवों को शुभकर्म के उदय से कभी सुख होता है और अशुभ कर्म के उदय से कभी दुख होता है, तो फिर कर्मों के निमित्त से सम्पूर्ण जीवों को केवल दुःख ही होता है - ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम्।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभं।। 244।।
इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम्।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः।। 245॥

क्योंकि इन्द्रियसुख वास्तव में सुख नहिं, सुख में दुःख नहीं।
धर्म वहीं है जहँ अधर्म नहिं, शुभ है वहाँ जहाँ नहिं पाप।। 1012।।
यह इन्द्रिय सुख पराधीन अरु बाधायुक्त विनश्वर है।
विषम और बन्धन का कारण वास्तव में वह दुखमय है।। 1013।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) इसप्रकार का कहना ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**एतत् सुखं न**) यह ऐहिक सुख वास्तविक सुख नहीं है कारण कि वास्तव में (**तत् सुखं**) वही सुख है (**यत्र असुखं न**) जहाँ पर कि दुख नहीं है (**सः धर्मः**) वही धर्म है (**यत्र अधर्मः न**) जहाँ पर कि अधर्म नहीं है (**और तत् शुभं**) वही शुभ है (**यत्र अशुभं न**) जहाँ पर कि अशुभ नहीं है।। 244।।

(**इदं सुखं**) यह लौकिक सुख (**पराधीनं**) पराधीन (**बाधापुरस्सरं**) दुःखपूर्वक (**व्युच्छिन्नं**) सान्त (**बन्धहेतुः**) बन्ध का कारण (**च**) और (**विषमं**) विषम होता है, इसलिए वह (**अर्थतः**) वास्तव में (**दुःखं अस्ति**) दुःखस्वरूप है।। 245।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सातावेदनीय आदि कर्मों के उदय से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख नहीं है। कारण कि वास्तव में सुख वही है जहाँ पर दुख

का लेश नहीं है; धर्म वही है जहाँ पर अधर्म का लेश नहीं है तथा शुभ वही है जहाँ पर अशुभ का लेश नहीं है।

यह इंद्रियजन्य सांसारिक सुख कर्मोदय के आधीन होने से पराधीन, दुखों से अन्तरित होने के कारण बाधा सहित, अन्तसहित होने से व्युछिन्न और कर्मों के आस्रव का कारण होने से बन्ध का हेतु तथा तरतम भाव के पाये जाने से विषम है, इसलिए वह वास्तव में दुःख ही है। उक्तं च –

(प्रवचनसार गाथा 76)

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहि-लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा।। 76।।

पराधीन हैं विघ्न सहित हैं खण्डित और बन्ध कारण।
इन्द्रिय-सुख है विषमरूप अतएव दुःख ही कहते जिन।।

अन्वयार्थ :- (**सपरं**) कर्माधीन (**बाधासहियं**) बाधासहित (**विच्छिण्णं**) विच्छेद सहित (**बन्धकारणं**) बन्ध का कारण और (**विसमं**) विषमरूप अर्थात् आकुलतामय (**जं सुक्खं**) जो सुख (**इंदिएहि लद्धं**) इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होता है (**तं तहा**) उस प्रकार का वह सुख वास्तव में (**दुःखं एव**) दुखरूप ही है।। 76।।

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात्।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै।। 246।।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद् ध्रुवम्।
वह्नियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः।। 247।।

सातासातोदयात् दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात्।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः।। 248।।

अतः यही भावार्थ, कर्म का सभी उदय नित्य प्रतिक्षण।
चित् को चकनाचूर करे दुर्वार वज्र आघात समान।। 1014।।
जीव सदा कर्मोदय से सम्पूर्ण प्रदेशों में व्याकुल-
रहता है ज्यों अग्नि योग से जल हो जाता है सन्तप्त।। 1015।।
साता और असाता का दुख स्थूल दृष्टि से है दुखरूप।
किन्तु जीव को सभी कर्म का उदय करे नित व्रजाघात।। 1016।।

अन्वयार्थ :- अभिप्राय यह है कि (**अत्र च**) संसार में (**सर्वेषां कर्मणां उदयः**) सब कर्मों

का उदय (**क्षणात्**) प्रतिक्षण (**वै**) वास्तव में (**आत्मानं दुर्वारः वज्राघात इव निष्पिनष्टि**) आत्मा को दुर्वार वज्रघात की तरह चकनाचूर करता है।। 246।।

(**जीवः**) जीव (**कर्मोदयात्**) कर्मोदय से (**ध्रुवं**) सदैव (**सर्वदेशेषु व्याकुलः**) अपने सर्व प्रदेशों में व्याकुल रहता है (**यथा**) जैसे कि (**वह्नियोगात्**) वह्नि के योग से (**तप्तं**) अपने सम्पूर्ण अवयवों में खौलता हुआ (**वारि**) जल (**स्पर्शोपलब्धितः**) स्पर्श करने से संतप्त पाया जाता है।। 247।।

(**स्थूलोपलक्षणात्**) स्थूलता की अपेक्षा से (**सातासातोदयात् दुःखं आस्तां**) साता और असाता वेदनीय के उदय से जो दुःख होता है, वह दुःख तो दूर रहे अर्थात् वह तो दुःख है ही, किन्तु (**चिदात्मनः**) चेतनात्मा के (**सर्वकर्मोदयाघातः**) सब कर्मों के उदय का आक्रमण (**आघातः इव अस्ति**) भयंकर आघात के समान हो रहा है।। 248।।

भावार्थ :- सारांश यह है कि शुभ व अशुभ सब ही कर्मों का उदय दुर्वार है और वह प्रतिक्षण वज्राघात के समान आत्मा को पीसे डालता है।

जैसे जल वन्हि के निमित्त से उष्ण होने के कारण अपने सम्पूर्ण अवयवों में संतप्त देखा जाता है, वैसे ही यह जीव भी कर्मों के निमित्त से अपने सम्पूर्ण अवयवों में संतप्त होकर व्याकुल रहता है।

जीवों को केवल साता असाता जन्य दुख ही नहीं हो रहा है, किन्तु प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मों के उदय से भयंकर वज्राघात के समान आघात हो रहा है-दुख हो रहा है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः।। 249॥
न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः।। 250॥
तस्य मन्दोदयात् क्वचित् जीवाः समनस्काः क्वचित्।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च।। 251।।
केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः।। 252॥

जीव-प्रदेशों में होता आघात प्रगट इसका दृष्टान्त।
जैसे वात-व्याधि से जोड़ों में पीड़ा होती प्रत्यक्ष।। 1017।।

ऐसा कोई कर्म-उदय नहिं जो जीवों को सुखदाई।
क्योंकि आत्मा के स्वरूप से सभी कर्म होते विपरीत।। 1018।।
उनके मन्द उदय से कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते।
असहनीय हो वेग कर्म का तब वे विषयों में रमते।। 1019।।
और बहुत हो तीव्र उदय में हों विकलेन्द्रिय अरु अमनस्क।
तीव्र दुःख से पीड़ित होकर भोग सकें नहिं प्राप्त पदार्थ।। 1020।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जैसे (**ननु**) निश्चय करके (**वातव्याधेः**) वातव्याधि के हो जाने से (**सन्धयः अध्यक्षं पीड्यन्ते**) सन्धि में प्रत्यक्ष पीड़ा होती है इस (**संदृष्टेः उपलब्धितः**) दृष्टांत के मिलने से (**प्रदेशेषु घातः आस्तां**) जीव के प्रदेशों में होने वाला घात तो दूर रहे किन्तु (**तत्र**) उन कर्मों के उदय में ऐसा (**सः कश्चित् कर्मोदयः न हि**) वह कोई भी कर्म का उदय नहीं है (**यः**) जो (**जन्तोः**) जीव को (**सुखावहः स्यात्**) सुख प्राप्त करने वाला हो, क्योंकि (**स्वरूपतः**) स्वभाव से (**सर्वस्य कर्मणः वैलक्षण्यात्**) सब ही कर्म आत्मा के स्वभाव से विलक्षण होते हैं।। 249-250।।

(**क्वचित्**) कभी (**तस्य मन्दोदयात्**) उन कर्मों के मन्दोदय से (**केचित् जीवाः**) कोई-कोई जीव (**समनस्काः**) सैनी पंचेंद्रिय होकर (**च**) और (**तद्वेगं असहमानाः**) उन कर्मों के वेग को सहन करने में असमर्थ होकर (**विषयेषु रमन्ते**) विषयों में रमण करते हैं।। 251।।

(**केचित् मन्दाक्षाः असंज्ञिनः खलु**) कितने ही मन्दाक्ष व असंज्ञी जीव (**तीव्रोदयाः सन्तः**) कर्मो के तीव्र उदय वाले होते हुए (**केवलं दुःखवेगार्ताः**) केवल दुःख के वेग से पीड़ित होकर (**अर्थान् अपि रन्तुं क्षमाः न**) प्राप्त अर्थों के भी भोगने में समर्थ नहीं होते हैं।। 252।।

भावार्थ :- जैसे वातव्याधि के होने से सन्धि में पीड़ा होती है, वैसे ही साता-असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो जीवों के प्रदेशों में दुख होता है, इतना ही नहीं, किन्तु उन संपूर्ण कर्मों के उदयों में से ऐसा कोई भी कर्मोदय नहीं है जो जीव को सुखावह हो; कारण कि आत्मा से सम्बन्धित होकर उसको अपने स्वभाव से च्युत कर देना ही सम्पूर्ण कर्मों का स्वभाव है। इसलिए वह कर्मोदय सुखकारी कैसे हो सकता है?

कभी कोई-कोई जीव, कर्मों के मंद उदय होने से सैनी होकर कर्मोदयजन्य आकुलता के निवारण करने में असमर्थ होते हुए विषयों का सेवन करते हैं।

कितने ही जीव कर्मोदयवश स्थावर, विकलेंद्रिय तथा असैनी होकर केवल दुःख के वेग से पीड़ित होते हुए विषयों के भी भोगने में समर्थ नहीं होते हैं।

सांसारिक सुख भी दु:ख है

यद् दु:खं लौकिकी रूढिर्निर्णीतेस्तत्र का कथा।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दु:खमर्थतः।। 253॥
कादाचित्कं न तद्दु:खं प्रत्युताच्छिन्नधारया।
सन्निकर्षेषु तेषूच्चैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात्।। 254॥
इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः।। 255॥

जिसे लोक में दुख कहते हैं उसकी तो क्या करना बात।
जब लौकिक सुख भी वास्तव में दुखमय है सुख का आभास।।1021।
कभी कभी वह हो - ऐसा नहिं, उसका हो अच्छिन्न प्रवाह।
विषयों के सम्मुख होने पर अतिशय तृष्णा रोग प्रगट।। 1022।।
इन्द्रिय विषय-लुब्ध जीवों को होती दारुण अन्तर्दाह।
क्योंकि उसके बिना विषय में कैसे हो रमने का भाव।। 1023।।

अन्वयार्थ :- जब (**यत् सुखं लौकिकी रूढिः**) जो लोकव्यवहार में सुख कहा जाता है (**अर्थतः**) वास्तव में (**तत् सुखं दु:खं**) यह सुखाभासरूप सुख-दु:ख ही है, तब (**यत् दु:खं लौकिकीरूढिः**) जो लोक में रूढ़िवश भी दु:ख कहलाता है (**तत्र निर्णीतेः**) उसके विषय में निर्णय होने में (**का कथा**) क्या कहना चाहिये ?।। 253।।

(**तत् दु:खं कादाचित्कं न**) वह दु:ख जब कभी नहीं होता है (**प्रत्युत**) किंतु (**अच्छिन्नधारया**) प्रवाहरूप से निरन्तर होता रहता है क्योंकि (**तेषु सन्निकर्षेषु**) उन विषयों के सन्मुख होने पर (**उच्चैः तृष्णातङ्कस्य दर्शनात्**) अतिशय तृष्णारूपी रोग देखा जाता है।।254।।

(**इन्द्रियार्थेषु लुब्धानां**) इंद्रियों के विषयों में तृष्णा रखने वालों के (**सुदारुणः अन्तर्दाहः**) भीषण अन्तरंग दाह पाया जाता है (**यतः**) क्योंकि (**तं अन्तरा**) उस अन्तर्दाह के बिना (**तेषां**) उन जीवों की (**विषयेषु रतिः कुतः**) विषयों में रति कैसे हो सकती है ?।। 255।।

भावार्थ :- लोक में रूढिवश जो सुख कहा जाता है, परमार्थ दृष्टि से उसे दुख कहते हैं तो लोक में जिसे दु:ख कहते हैं परमार्थ से उसके विषय में भला क्या कहा जा सकता है ?

वह दु:ख भी कादाचित्क नहीं है, किन्तु सदैव अविच्छिन्न प्रवाहरूप से वर्तमान रहता है, क्योंकि यदि वह दु:ख न होता तो जीवों के उत्तरोत्तर तृष्णा का सद्भाव नहीं पाया जाता, किंतु तृष्णा का

सद्भाव पाया जाता है। इसलिए सदैव तृष्णा वृत्ति के सद्भाव से प्रत्येक प्राणी में प्रतिसमय अविच्छिन्न प्रवाहरूप से दारुण दुःख का सद्भाव सिद्ध होता है।

यदि विषयों में लालसा रखने वाले जीवों के अन्तर्दारुणदाह नहीं होता तो उन्हें, उसकी तृप्ति के लिए विषयों में लोलुपता नहीं पाई जाना चाहिए थी, किन्तु विषयों में लोलुपता पाई जाती है, इसलिए अन्तरंग में उन जीवों के दारुणदाह सिद्ध होता है।

देवेन्द्रों नरेन्द्रों को भी सुख नहीं है

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात्।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात्।। 256।।
शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी।। 257॥
सर्वं तात्पर्यमत्रैतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकम्।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम्।। 258॥

यथा जोंक को दुष्ट रक्त पीने की रति में तृष्णा बीज।
त्यों विषयों को सुखद मानने से रति होती तृष्णा बीज।। 1024।।
प्रचुर पुण्यशाली इन्द्रों को और नरेन्द्रों को होती।
केवल तृष्णा-बीजभूत रति कैसे सुख प्राप्ति होगी।। 1025।।
यहाँ यही तात्पर्य है कि जग जिसे कहे सुख वह दुख है।
आत्म स्वभाव नहीं है यह दुख अतः सुदृष्टि नहीं चाहें।। 1026।।

अन्वयार्थ :- (**जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् इव**) जैसे जलौकों को तो खराब खून के चूसने से तृष्णा की बीजभूत रति देखी जाती है, वैसे ही संसारी जीवों में भी (**एतेषां सुहितानां ईक्षणात्**) इन विषयों के सुहित मानने से (**तृष्णाबीजं रतिः दृश्यते**) तृष्णा की बीजभूत रति देखी जाती है।। 256।।

(**पुण्यशालिनां**) पुण्य प्रकृति के उदयवाले (**शक्रचक्रधरादीनां**) इंद्र नरेंद्र आदि के (**केवलं तृष्णाबीजं रतिः**) केवल तृष्णा की बीजभूत रति पाई जाती है इसलिए (**तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी**) उनको सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?।। 257।।

(**सर्वं तात्पर्यं एतत्**) सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि (**अत्र**) यहाँ पर जगत (**यत्सुखसंज्ञकं**) जिसको सुख कहता है वह सब (**दुःखं**) दुःख है, और (**दुःखस्य अनात्मधर्मत्वात्**) उस दुःख

में आत्मा का धर्म नहीं होने के कारण (**सुदृष्टिनां अभिलाषः न**) सम्यग्दृष्टियों को उन दुःखस्वरूप सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती है।। 258।।

भावार्थ :- जैसे गोंच के खराब खून के चूसने के कारण तृष्णा की बीजभूत रति का सद्भाव सिद्ध होता है, वैसे ही संसारी जीवों में भी, विषयों में इष्ट कल्पना के पाये जाने से विषयों में तृष्णा की बीजभूत रति का सद्भाव सिद्ध होता है, इससे उनके विषयों में रति के सद्भाव से अन्तरंग में दारुण दाह सिद्ध होता है और परपदार्थों को सुहित मानने से विषयों में रति का सद्भाव सिद्ध होता है।

पुण्यशाली इन्द्रादिकों के भी तृष्णा की बीजभूत रति के पाये जाने से वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता है अर्थात् उनको भी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता है।

उक्तं च (प्रवचनसार गाथा 64)

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुःखं च जाण साहावं।
जदि तं णत्थि सहावं वावारो णत्थि विसयत्थं।। 1।।

अन्वयार्थ :- (**जेसिं विसये सुरदी**) जिनकी विषयों में रति होती है (**तेसिं साहावं दुःखं च जाण**) उनके स्वाभाविक दुःख ही समझना चाहिये क्योंकि (**जदि तं सहावं णत्थि**) यदि उनके वह दुःख स्वाभाविक नहीं होता तो (**विसयत्थं वावारो णत्थि**) उनकी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती।

भावार्थ :- जिन जीवों की विषयों में रति होती है उनके स्वभाव से ही दुःख समझना चाहिये। कारण कि यदि उनके स्वभाव से वह दुःख नहीं होता तो उनके विषय-निमित्तक रति नहीं पाई जाना चाहिये, किंतु पाई जाती है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि जिसको सर्व साधारण सुख समझते हैं वह सुख वास्तव में दुःख है। इसलिए इन्द्रियजन्य सुखों को दुःखमय समझने के कारण सम्यग्दृष्टियों को उन सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि को विषय-सुख की अभिलाषा नहीं होती

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्।
रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्।। 259।।
सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि।। 260।।

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेदृष्टरोगवत्।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः।। 261॥
अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति।
अत्रास्त्यावास्थिकः कश्चित्परिणामः सहेतुकः।। 262।।
सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागाभावस्य दर्शनात्।। 263।।
तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नापि न तृप्यति।। 264॥
यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान्।। 265॥

विषय सुखों में राग नहीं होता है सम्यग्दृष्टि को।
राग-भाव अज्ञानरूप है होता मिथ्यादृष्टि को।। 1027।।
सम्यग्दृष्टि की विशेष चेतना अवस्था है सम्यक्त्व।
इसीलिए सामान्य पुरुषवत् उसे न कर्मों की इच्छा।। 1028।।
ज्ञानी को भोगों में होती अरुचि देह के रोग समान।
यह उसकी सम्यक्त्व अवस्था का ही है स्वाभाविकभाव।। 1029।।
ज्ञानी हेय जानकर करते त्याग, जगत् ऐसा मानें।
किन्तु सुदृष्टि से सम्बन्धित कोइ युक्ति भी कारण है।। 1030।।
हम लोगों में भी रागादिक का आंशिक अभाव दिखता।
अतः किसी में रागादिक का पूर्ण अभाव सिद्ध होता।। 1031।।
यह पदार्थ नहिं मेरा है यह तो है किसी दूसरे का।
अतः तृप्त होकर भी पर में कोई तृप्त नहीं होता।। 1032।।
यथा कोइ नर पराधीन होकर अयोग्य करता है कार्य।
किन्तु नहीं है इच्छा उसकी अतः न वह कर्ता होता।। 1033।।

अन्वयार्थ :- (**सुदृष्टिनां वैषयिकसुखे रागभावः न स्यात्**) सम्यग्दृष्टियों के वैषयिक सुख में ममता नहीं होती है क्योंकि (**रागस्य अज्ञानभावत्वात्**) वास्तव में वह आसक्तिरूप रागभाव अज्ञानरूप है इसलिए (**स्फुटं**) यह स्पष्ट है कि वैषयिक सुखों की अभिलाषा (**मिथ्यादृशः अस्ति**) मिथ्यादृष्टि जीवों को ही होती है सम्यग्दृष्टियों को नहीं।। 259।।

(**तु**) किंतु (**सम्यग्दृष्टेः चितः**) सम्यग्दृष्टि की चेतना की (**अवस्थांतरं**) अवस्था विशेष को (**सम्यक्त्वं स्यात्**) सम्यक्त्व कहते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**सामान्यजनवत्**) सामान्य पुरुषों की तरह (**अस्य**) इस सम्यग्दृष्टी जीव के (**कर्मणि**) कर्ममात्र में सांसारिक क्रियाओं में (**अभिलाषः न**) अभिलाषा नहीं होती है।। 260।।

(**सद् दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि को (**सर्व भोगेषु**) सर्व प्रकार के भोग में (**दृष्टरोगवत्**) प्रत्यक्ष रोग की तरह (**उपेक्षा**) अरुचि होती है, क्योंकि (**तदवस्थायाः**) उस सम्यक्त्वरूप अवस्था का (**अवश्यं तथाभावः**) विषयों में अवश्य अरुचि का होना (**निसर्गजः**) स्वतःसिद्ध स्वभाव है।। 261।।

(**रूढिः अस्तु**) जो यह रूढ़ि है वह ठीक है कि (**यथा**) जैसे (**ज्ञानी हेयं ज्ञात्वा अथ मुञ्चति**) ज्ञानी जीव हेय पदार्थ को हेय जानने के अनन्तर ही उसका त्याग करता है, परन्तु (**अत्र**) इसमें (**आवस्थिकः सहेतुकः कश्चित् परिणामः अस्ति**) सम्यक्त्वरूप अवस्था से सम्बन्ध रखने वाला युक्तियुक्त कोई विशेष परिणाम कारण है।। 262।।

(**अस्मदादीनां अपि देशतः रागाभावस्य दर्शनात्**) हम लोगों के भी एकदेशरूप से रागभावों का अभाव देखे जाने के कारण (**कस्यचित् चितः**) किसी आत्मा के (**सर्वतः**) सर्वथा (**अस्ताभिलाषत्वं सिद्धं**) रागादिभावों का अभाव सिद्ध होता है।। 263।।

(**तद्यथा**) उसका खुलासा इसप्रकार है कि (**इदं मदीयं न अन्यदीयं स्यात्**) यह मेरा नहीं है दूसरे का है (**ततः**) इसलिये (**परप्रकरणे कश्चित् तृप्यन् अपि**) पर प्रकरण में कोई तृप्त होता हुआ भी (**न तृप्यति**) तृप्त नहीं होता है।। 264।।

(**यथा**) जैसे कि (**अस्ताभिलाषवान् कश्चित् परायत्तः**) अपनी इच्छा के बिना कोई पराधीन पुरुष (**अनुचितां क्रियां कुर्वाणः च**) अनुचित क्रिया को करता हुआ भी (**तस्याः क्रियायाः**) वास्तव में उस क्रिया का (**कर्त्ता न स्यात्**) कर्त्ता नहीं माना जाता है।। 265।।

भावार्थ :- वैषयिक सुखों में सम्यग्दृष्टियों को आसक्ति नहीं होती, कारण कि वह विषयों की आसक्ति अज्ञानभावरूप है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि जीवों के ही पाई जाती है सम्यग्दृष्टि जीवों के नहीं।

चेतना की अशुद्ध अवस्था से भिन्न अवस्था को अर्थात् शुद्ध चेतना की परिणति को सम्यक्त्व कहते हैं, इसलिए साधारण पुरुषों के समान सम्यग्दृष्टि के अशुद्धचेतनामय/कर्म व कर्मफलचेतनामय जो विषयों की अभिलाषा है वह नहीं होती है।

जैसे सर्व साधारण को दृष्ट रोगों में अरुचि रहती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टियों को विषयों में अरुचि

रहती है, क्योंकि जिस समय सम्यग्दृष्टियों की चेतना सम्यक्त्व के होने से शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती है, उस समय उनकी विषयों में अरुचि होना स्वाभाविक बात है।

जो यह रूढ़ि है कि सम्यग्दृष्टि हेय को हेय समझकर छोड़ देता है, वह ठीक है, परन्तु हेय पदार्थ के त्यागने में केवल सम्यक्त्व ही कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व के सद्भाव के साथ चारित्रमोहनीय आदि का अभाव भी कारण है, अर्थात् सम्यक्त्व के सद्भाव से विषयों में केवल अरुचि होती है, उन विषयों का त्याग तो सम्यक्त्व के साथ होने वाले चारित्रमोह के अभाव से होता है। जिन सम्यग्दृष्टियों के चारित्रमोह का अभाव नहीं होता, उन सम्यग्दृष्टियों के अरुचिपूर्वक विषय-सेवन भी पाया जाता है, इसलिये उक्त रूढ़ि बहुभाग में है।

सम्यग्दृष्टि को विषयों में सर्वथा अभिलाषा नहीं होती - यह असिद्ध नहीं है, कारण हम लोगों को तरतमरूप से रागादि भावों के पाये जाने से किसी न किसी आत्मा के सर्वथा रागादि भावों का अभाव अनुमान से सिद्ध हो सकता है। इस युक्ति से सम्यग्दृष्टियों के अभिलाषा का अभाव असिद्ध नहीं है।

उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि जब यह समझ लिया जाता है कि यह मेरा नहीं है पराया है, तब अन्य के सम्बन्ध में जो कोई तृप्त होता है वह वास्तव में तृप्त नहीं है, किन्तु अतृप्त ही है, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों को परकीय समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय की पराधीनतावश सम्यग्दृष्टि जीव के उन विषयों में जो तृप्ति पाई जाती है, वह वास्तविक तृप्ति नहीं है।

जैसे कि पराधीन पुरुष, अपनी इच्छा के न रहते हुए पर-प्रयोगवश अनुचित क्रिया को करके भी वास्तव में अनुचित क्रिया का कर्ता नहीं कहा जाता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भी मोहोदयवश भोगों को भोगकर भी वास्तव में भोगों का भोक्ता नहीं कहा जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से सम्यग्दृष्टि जीव के अभिलाषा नहीं होती है - यह सिद्ध होता है।

शंका

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम्।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्तभिलाषवान्।। 266।।

सम्यग्दृष्टि जब इन्द्रिय-विषय का स्वाद भोगता है।
उसको वे अच्छे लगते हैं क्यों न कहें अभिलाषा है।। 1034।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**सद्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**इन्द्रियार्थकदम्बकं**) इंद्रियों के विषयों को (**स्वदते**) भोगता है और (**तत्र तस्मै इष्टं रोचते**)

उन विषयों में वह इष्ट की चाह भी करता है तो फिर उसमें (**अस्ताभिलाषवान् कथं**) विषयों की अभिलाषा का अभाव कैसे कहा जायेगा ?।। 266।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव पंचेंद्रियों के विषयों को भोगता है तथा उनमे इष्ट विषयों की चाह भी करता है, तो फिर उसको विषयों की अभिलाषा से रहित क्यों कहा ? अर्थात् जब सम्यग्दृष्टि जीव विषयों का सेवन करता है तो उसे विषयों की अभिलाषा से रहित नहीं कहना चाहिये।

समाधान

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम्।। 267॥
तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोऽस्त्यतीन्द्रियः।। 268॥
दृग्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात्।। 269॥
नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोऽनिच्छितोऽप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च।। 270॥
व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम्।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे।।271।।
कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत् कर्मपदं किंचित् साभिलाषः कुतो नयात्।।272॥
नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽमयात्मनः।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः।। 273॥
सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः।। 274॥

जब तक वह जघन्य पद में है तब तक करे विषय-सेवन।
कारण उस जघन्यपद का चारित्रावरण कर्म जानो।। 1036।।
चारित्रावरणोदय से वह होता है उनमें आसक्त।
उसके बिना सर्वथा शुद्ध-रु होय अतीन्द्रिय, राग-विहीन।। 1036।।

दर्शन मोहाभाव अतः निश्चय से विषय अनिच्छित हैं।
किन्तु उदय चारित्र मोह का अतः बलात् विषय सेवें।। 1037।।
नहिं असिद्ध है क्रिया मात्र से सम्यग्दृष्टि का वैराग्य।
जैसे नहीं चाहने पर भी जग में मरण और दारिद्र।। 1038।।
जैसे नहीं चाहने पर भी रोगी रोग क्रिया करता।
रोग अवस्था नहीं चाहता पुनः रोग कैसे चाहे।। 1039।।
वैसे ज्ञानी कर्मों से पीड़ित हो कर्म क्रिया करता।
कोइ कर्म-फल नहिं चाहे तो कैसे होगी विषयाशा।। 1040।।
कर्म अनिच्छित है ज्ञानी को किन्तु वेदना का प्रतिकार।
नहिं कषाय रोगी को होती पुनः रोग उद्भव कारण।। 1041।।
भोगों का सेवन करने पर भी वह सेवन नहीं करें।
क्योंकि निरागी को बिन इच्छा कार्य राग नहिं कर सकते।। 1042।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**यावत्**) जबतक (**जघन्यपदं आश्रितः**) सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपद में स्थित रहता है तब तक (**एतादृशः**) कथञ्चित् विषय सेवन करता है और (**जघन्यपद कारणं**) उसके उस जघन्यपद में कारणभूत (**चारित्रावरणं कर्म**) चरित्रावरण कर्म है।। 267।।

(**जीवः**) वह सम्यग्दृष्टि जीव (**चारित्रावरणोदयात्**) चारित्र घातक कर्म के उदय से (**तदर्थेषु रतः**) उन इंद्रियों के विषयों में आसक्त होता है और (**तद्विना**) उस कर्म के उदय का अभाव होने पर (**सर्वतः**) सर्वथा (**शुद्धः**) शुद्ध (**वीतरागः**) वीतराग तथा (**अतीन्द्रियः अस्ति**) अतीन्द्रिय माना जाता है।। 268।।

(**दृग्मोहस्य क्षतेः**) दर्शनमोहनीय कर्म का अभाव होने से (**नूनं**) निश्चय करके (**भोगान् अनिच्छितः तस्य**) भोगों की इच्छा नहीं रखने वाले उस सम्यग्दृष्टि के (**हेतुसद्भावतः**) भोग क्रिया के कारणभूत चारित्रावरण कर्म के उदय से (**बलात् अवश्यं उपभोगक्रिया**) बलपूर्वक अवश्य उपभोग क्रिया होती है।। 269।।

(**क्रियामात्रस्य दर्शनात्**) केवल क्रिया के देखने से (**तद्विरागत्वं असिद्धं न**) सम्यग्दृष्टि की विषयों में वीतरागता असिद्ध नहीं है क्योंकि (**अनिच्छतः अपि जगतः**) दारिद्रय तथा मरणादिक को नहीं चाहने वाले लोगों को भी (**दारिद्रयं**) दारिद्रय (**च**) और (**मरणादि अस्ति**) मरण की प्राप्ति होती है।। 270।।

(रुक् प्रतिक्रियां कुर्वाणः कश्चित् व्यापीडितः जनः) जैसे जब रोग की प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष **(तदात्वे)** रोगी अवस्था में **(रुक् पदं नेच्छेत्)** रोग के पद को नहीं चाहता है, अर्थात् अपनी सरोगावस्था को नहीं चाहता है तो फिर **(रुक् पुनर्भवे का कथा)** दुबारा रोग के उत्पन्न होने की इच्छा के विषय में तो कहना ही क्या है? अर्थात् फिर से रोग की उत्पत्ति को तो वह चाहेगा ही नहीं; वैसे ही जब **(कर्मणा पीड़ितः)** कर्म के द्वारा पीड़ित होकर **(कर्मजा क्रिया कुर्वाणः ज्ञानी)** कर्मजन्य इष्टानिष्ट क्रिया को करने वाला ज्ञानी **(किंचित् कर्मपदं न इच्छेत्)** किसी भी कर्मपद की इच्छा नहीं करता है, तो फिर वह **(साभिलाषः कुतः नयात्)** इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी किस न्याय से कहा जा सकता है?।। 271-272।।

और **(कर्म अनिच्छितः तस्य)** कर्ममात्र को नहीं चाहने वाले उस सम्यग्दृष्टि के **(वेदनायाः प्रतिकारः)** कषायजन्य वेदना का प्रतीकार भी **(असिद्धः न)** असिद्ध नहीं है क्योंकि **(आमयात्मनः तस्य)** कषायरूपी रोग से युक्त उस सम्यग्दृष्टि के **(वेदनायाः प्रतीकारः)** वेदना का प्रतिकार **(रोगादिहेतुकः न स्यात्)** नवीन रोग आदि के उत्पन्न करने में कारण नहीं कहा जा सकता है।। 273।।

(असौ सम्यग्दृष्टिः) यह सम्यग्दृष्टि **(भोगान् सेवमानः अपि)** भोगों का सेवन करता हुआ भी **(असेवकः)** वास्तव में भोगों का सेवन करने वाला नहीं कहलाता **(यतः)** क्योंकि **(नीरागस्य अकामकृतं कर्म)** राग रहित जीव के बिना इच्छा के किये गये कर्म **(रागाय न)** राग के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं।। 274।।

भावार्थ :- शंकाकार की उक्त शंका का उत्तर यह है कि जब तक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पद में स्थित रहता है, तब तक उसके पन्चेन्द्रियों के विषयों में अनासक्ति पूर्वक इच्छा रहती है तथा उसके उस जघन्यपद का कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कर्मों का उदय है। इसलिए जिन सम्यग्दृष्टियों को चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है, वे जघन्य पद में स्थित हैं और उनकी उन विषयों में अभिलाषा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कृत राग-द्वेषपूर्वक होती है; अतएव उस अभिलाषा को अनासक्ति पूर्वक होने से न होने के बराबर ही समझना चाहिए।

केवल चारित्रावरण कर्म के उदय से ही जघन्य पद में स्थित सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के विषयों में अनासक्तिपूर्वक इष्टानिष्ट बुद्धि करता है, किन्तु जब उसके चारित्रमोहनीय का अभाव हो जाता है, तब वही सम्यग्दृष्टि जीव, शुद्ध, वीतराग और अतीन्द्रिय माना जाता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि के दर्शनमोह का अभाव हो जाने से उसकी उपभोग में इच्छा नहीं रहती है, परन्तु इष्टानिष्ट कल्पना के कारणभूत चारित्रमोह का उदय रहने से उसको अनासक्तिपूर्वक भोगों को भोगना पड़ता है।

जैसे लोगों के इच्छा के बिना ही दारिद्र्य और मरणादिक की प्राप्ति होती है, वैसे ही इच्छा के बिना सम्यग्दृष्टि की विषयों में प्रवृत्ति पाई जाती है। इसलिए उसको, विषयों में वीतरागपना/निरभिलाषित्व असिद्ध नहीं है।

जैसे जब रोगी, रोग से पीड़ित होकर उस रोग का इलाज करते समय रोग का अभिलाषी सिद्ध नहीं होता है, तो फिर वह फिर से रोग की उत्पत्ति का अभिलाषी है – यह कैसे कहा जा सकता है; अर्थात् किसी तरह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जब कर्म से पीड़ित होकर केवल कर्मोदयवश अनिच्छापूर्वक इष्टानिष्ट क्रियाओं को करता हुआ ज्ञानी किसी कर्मपद की ही इच्छा नहीं करता है तो फिर वह विषयों में अभिलाषा वाला है, यह कैसे कहा जा सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि के किसी भी कर्म की इच्छा के नहीं रहने पर भी उसके जो कर्मों के उदयजन्य आकुलता होती है, उस आकुलता का जो वह भोगों को भोगने के द्वारा प्रतिकार करता है, वह वेदना का प्रतिकार उसके असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है; परन्तु उन भोगों से उसके बन्ध नहीं होता है। कारण कि जैसे रोग का प्रतिकार रोग की उत्पत्ति में कारण नहीं होता है, वैसे ही केवल कर्मोदयवश उत्पन्न होने वाली आकुलता के निवारणार्थ भोगे हुए भोग नवीन कर्मों के आस्रव में कारण नहीं हो सकते हैं।

सम्यग्दृदृष्टि के भोग इच्छापूर्वक नहीं होते, इसलिए वे रागजनक नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि उसके सदैव परम उपेक्षाभाव का सद्भाव रहने से अनिच्छापूर्वक ही क्रियाएँ होती हैं।

सम्यग्दृष्टि की चेतना

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना।। 275।।
चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना।। 276।।
अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम्।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम्।। 277।।

यद्यपि किसी किसी ज्ञानी को कर्म चेतना होती है।
और कर्मफल भी होती पर वे सब ज्ञानचेतना हैं।। 1043।।
क्योंकि कर्म एवं फलमय चेतना बन्ध का कारण है।
और राग बिन बन्ध नहीं, इसलिए चेतना ज्ञानमयी।। 1044।।

यथा ज्ञान है तथा सौख्य भी इन्द्रिय और अतीन्द्रिय है।
इन्द्रिय सुख अरु ज्ञान हेय हैं, उभय अतीन्द्रिय हैं आदेय।। 1045।।

अन्वयार्थ :- **(कस्यचित् तस्य सद्दृष्टेः अपि)** यद्यपि किसी-किसी सम्यग्दृष्टि जीव के अर्थात् जघन्य पदवर्ती किसी सम्यग्दृष्टि के **(कर्मचेतना)** कर्मचेतना **(अपि)** और **(कर्मफले)** कर्मफल में चेतना **(अस्ति)** होती है तथापि **(अर्थतः)** वास्तव में **(सा ज्ञानचेतना स्यात्)** वह ज्ञानचेतना ही है।। 275।।

(कर्मणि अथवा तत्फले) कर्म में अथवा कर्मफल में रहने वाली **(चेतनायाः)** चेतना का **(फलं)** फल **(बन्धः)** बन्ध होता है परन्तु **(अस्य रागाभावात् बन्धः न)** इस सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव होने से बन्ध नहीं होता है **(तस्मात्)** इसलिये **(सा ज्ञानचेतना)** यह ज्ञान चेतना ही है।। 276।।

(यथा) जैसे **(ज्ञानं)** ज्ञान **(ऐन्द्रियं)** इंद्रियजन्य **(च)** और **(अतींद्रियं)** अतींद्रिय **(अस्ति)** होता है वैसे ही **(सौख्यं अपि)** सुख भी ऐंद्रियक तथा अतींद्रिय होता है उनमें से सम्यग्दृष्टि को **(आद्यं द्वयं)** पहले के दोनों अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञान तथा इंद्रियजन्य सुख **(अनादेयं)** उपादेय नहीं होते हैं **(परं द्वयं समादेयं)** किन्तु शेष दोनों अर्थात् अतींद्रिय ज्ञान व अतींद्रिय सुख उपादेय होते हैं।। 277।।

भावार्थ :- जब सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपद में स्थित रहते हैं, तब उनके कर्म और कर्मफलचेतना भी गौणरूप से पाई जाती है। परन्तु उनको विषयों की अभिलाषा रोग के प्रतीकार के समान ही होती है, इसलिए वास्तव में वह ज्ञानचेतना ही कहलाती है, अर्थात् यद्यपि सम्यग्दृष्टियों के मुख्यरूप से तो ज्ञानचेतना ही होती है और गौणरूप से किसी-किसी के कर्म तथा कर्मफलचेतना भी होती है, परन्तु उक्त अपेक्षा से वह भी वास्तव में ज्ञानचेतना ही है।

कर्म और कर्मफलचेतना के होने से बन्ध होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि के जो कर्म व कर्मफल चेतना की प्रवृत्ति पाई जाती है, वह इच्छापूर्वक नहीं होती। अत: उन दोनों चेतनाओं के रहते हुए भी बन्ध न होने के कारण सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना ही कही जाती है।

ज्ञान और सुख ऐन्द्रियक तथा अतींद्रिय दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के लिये केवल अतींद्रिय ज्ञान और सुख ही उपादेय होते हैं इंद्रियजन्य नहीं; इसलिये उसके ज्ञानचेतना ही कही जाती है। कारण वह इंद्रियजन्य सुख और ज्ञान में रुचि नहीं रखता है।

अब आगे 12 पद्यों द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान के दोषों को बताते हैं -

इन्द्रियज्ञान के दोष, लब्धि और क्षयोपशम

(छन्द 278 से 289)

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत्।। 278।।
सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात्।। 279।।
आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः।
उपयोगी सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम्।। 280।।
प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात्कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात्।। 281।।
परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्ष समुद्भवात्।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात्।। 282।।
विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम्।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः।। 283।।
मूर्च्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात्।। 284।।
अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसस्थितिम्।। 285।।
दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात्।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित्।। 286।।
सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च।। 287।।
तत्रापि सान्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात्।। 288।।
समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः।। 289।।

निश्चय से जो ज्ञान पराश्रित और ज्ञेय-सन्मुख होता।
इसीलिए वह ज्ञान अनर्थक, मोहयुक्त, व्याकुल होता।। 1046।।
व्याकुलता की उपलब्धि है अतः ज्ञान है दुःख स्वरूप।
अनजाने पदार्थ जानूँ - ऐसी इच्छा से है दुःख सिद्ध।। 1047।।
शेष अर्थ की जिज्ञासा की व्याकुलता तो दूर रहो।
किन्तु वर्तती ज्ञान क्रिया भी मात्र दुःख का कारण है।। 1047।।
मोह-युक्तता से प्रमत्त अरु विविध हेतुयुत है निकृष्ट।
क्रमशः होने से व्युच्छिन्न-रु ईहादिक से है दुखरूप।। 1049।।
पर निमित्तता से परोक्ष है इन्द्रियजन्य अतः वह आक्ष्य।
संशयादि दोषों का उद्भव होने से वह ज्ञान सदोष।। 1050।।
बन्ध-हेतु इसलिए विरुद्ध-रु कार्य बन्ध का है कर्मज।
आत्मधर्म वह नहिं, अश्रेय है कलुषित होने से मलयुक्त।। 1051।।
कभी वृद्धिगत कभी हीन हो और कभी हो प्रगट नहीं।
मृगी रोग के वेगरूप वह मूर्छित इन्द्रिय-ज्ञान सही।। 1052।।
घातक कर्म शान्त हो क्षणभर तब जीवित हो इन्द्रिय-ज्ञान।
तभी स्वरस को प्राप्त कर सके इसीलिए कहते अशरण।। 1053।।
छह द्रव्यों में मात्र मूर्त को ग्रहण करे वह इन्द्रिय-ज्ञान।
उसमें भी वह सूक्ष्म न जाने कुछ स्थूलों का हो ज्ञान।। 1054।।
इन्द्रिय-गम्य वस्तु को जाने नहिं अगम्य को ग्रहण करे।
विद्यमान को ही वह जाने भूत भविष्य न जान सके।। 1055।।
सन्निधान को प्राप्त पदार्थों का जब होता सन्निकर्ष।
तो भी अवग्रहादिपूर्वक ही देखा जाता है अस्तित्व।। 1056।।
हों समस्त कारण तब ही वह ऊपर ऊपर शुद्धि से-
होय कदाचित, नहीं अन्यथा, अतः मात्र कहने का ज्ञान।। 1057।।

अन्वयार्थ :- (**नूनं**) निश्चय से (**यत् ज्ञानं**) जो ज्ञान (**परतः**) इंद्रिय आदि के अवलम्बन से होता है और (**यत्**) जो ज्ञान (**प्रत्यर्थं परिणामि**) प्रत्येक अर्थ के प्रति परिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थ के अनुसार परिणामी होता है वह ज्ञान (**व्याकुलं**) व्याकुल तथा (**मोह सम्पृक्तं**) राग द्वेष सहित होता है इसलिये (**अर्थात्**) वास्तव में वह ज्ञान (**दुःखं अनर्थवत्**) दुःखरूप तथा निष्प्रयोजन के समान है।। 278।।

(**व्याकुलत्वोपलब्धितः**) प्रत्यर्थ परिणामी होने के कारण अथवा पर-निमित्त से होने के कारण ज्ञान में व्याकुलता पायी जाती है इसलिये (**अस्य दुःखत्वं**) ऐसे इंद्रियजन्य ज्ञान में दुःखपना (**उच्चैः सिद्धं**) इसतरह से सिद्ध होता है क्योंकि (**ज्ञातशेषार्थसद्भावे**) जाने हुये पदार्थांश के सिवाय शेषांशों के अज्ञात रहने पर (**तद्बुभुत्सादि दर्शनात्**) उनके जानने की इच्छा देखी जाती है।।279।।

(**शेषार्थजिज्ञासोः**) शेष अर्थ के जानने की इच्छा रखने वाले का (**मनः**) मन (**अज्ञानात्**) अज्ञान से अर्थात् उन ज्ञातांशों से अतिरिक्त शेष अंशों के ज्ञान नहीं होने से (**व्याकुलं**) व्याकुल रहता है यह तो (**आस्ताम्**) दूर रहो, किन्तु (**सदर्थेषु उपयोगि अपि ज्ञानं**) यथार्थ पदार्थों के विषय में उपयोगी होने वाला ज्ञान भी (**असुखावहं वा**) दुःखजनक के समान होता है।। 280।।

वह इंद्रियजन्य ज्ञान (**मोहयुक्तत्वात्**) मोह से युक्त होने के कारण (**प्रमत्तं**) प्रमत्त (**हेतुगौरवात्**) अपनी उत्पत्ति में बहुत कारणों की अपेक्षा रखने से (**निकृष्टं**) निकृष्ट (**क्रमवर्तित्वात्**) क्रमपूर्वक पदार्थों को विषय करने के कारण (**व्युच्छिन्नं**) व्युच्छिन्न (**च**) और (**ईहाद्युपक्रमात्**) ईहा आदि पूर्वक ही होने से (**कृच्छं**) दुःखरूप कहलाता है।। 281।।

(**तत्**) वह ऐन्द्रियकज्ञान (**परायत्तात् परोक्षं**) पर-निमित्त से उत्पन्न होने के कारण परोक्ष है (**अक्षसमुद्भवात्**) इन्द्रियों से पैदा होने के कारण (**आक्ष्यं**) आक्ष्य है और (**तत्र**) उसमें (**संशयादीनाम् दोषाणां सम्भवात्**) संशय आदि दोषों के आने की संभावना से वह (**सदोषं**) सदोष है।। 282।।

(**बन्धहेतुत्वात्**) बन्ध का हेतु होने से (**विरुद्धं**) विरुद्ध (**बन्धकार्यात्**) बन्ध का कार्य होने से कर्मजन्य (**अनात्मधर्मत्वात्**) आत्मा का धर्म न होने से (**अश्रेयः**) अश्रेय (**च**) और (**कालुष्यात् स्वतः अशुचि**) कलुषित होने से स्वयं अशुचि है।। 283।।

(**क्षणं वर्धमानतः**) कभी बढ़ जाने से (**वा**) अथवा (**हीयमानत्वात्**) कभी घट जाने से अथवा (**क्षणं यावत् अदर्शनात्**) कभी दिखाई नहीं देने से (**तत्**) यह ऐंद्रियक ज्ञान (**अपस्मारवेगवत्**) अपस्मार/मृगी रोग के वेग के समान (**मूर्च्छितं**) मूर्च्छित है।। 284।।

(**क्षणं शांतस्य**) थोड़ी देर के लिये उपशांत हुआ (**प्रत्यनीकस्य कर्मणः**) जो घातक कर्म है उसके (**जीवदवस्थातः**) जीवित अवस्था में रहने से वह (**अवश्यं स्वरसस्थितिं**) कभी न कभी अवश्य ही अपने रस की स्थिति को (**एष्यतः**) प्राप्त होगा इसलिए वह इंद्रियजन्य ज्ञान (**अत्राणं**) अशरणरूप है।। 285।।

वह इंद्रियज्ञान (**षट्सु द्रव्येषु**) छहों द्रव्यों में (**मूर्तस्य एव उपलम्भकात्**) मूर्त द्रव्य को ही

विषय करता है तथा (**तत्र**) उसमें भी (**सूक्ष्मेषु नैव स्यात्**) सूक्ष्म पुद्गलों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, स्थूलों में ही होती है और (**स्थूलेषु केषुचित् अस्ति**) स्थूलों में भी उसकी सब स्थूलों में प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु किन्हीं स्थूल पुद्गलों में ही होती है तथा (**तत्र अपि**) उन स्थूलों में भी (**ग्राह्येषु सत्सु**) इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य स्थूल पदार्थों में ही उसकी प्रवृत्ति होती है (**अग्राह्येषु कदाचन न स्यात्**) इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य पदार्थों में उसकी प्रवृत्ति कभी भी नहीं होती है और (**तत्रापि**) उन ग्राह्य पदार्थों में भी (**विद्यमानेषु**) वर्तमानकाल संबंधी ग्राह्य पदार्थों में प्रवृत्ति होती है (**अतीतानागतेषु न च**) भूत तथा भविष्यत् काल संबंधी पदार्थों में नहीं होती है और (**तत्रापि**) उन वर्तमानकाल संबंधी ग्राह्य पदार्थों में भी (**सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु**) सन्निधान पूर्वक पदार्थों के साथ इंद्रियों के सन्निकर्ष के होने पर ही उस इंद्रिय की प्रवृत्ति होती है (**च**) तथा (**तत्रापि**) सन्निकर्ष के होने पर भी (**अवग्रहेहादौ**) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के होने पर ही (**ज्ञानस्य**) उस ऐंद्रियक ज्ञान का (**अस्तित्वदर्शनात्**) अस्तित्व देखा जाता है तथा (**समस्तेषु हेतुभूतेषु सत्सु अपि**) इन समस्त कारणों के रहने पर भी (**उपरि उपरि शुद्धितः**) ऊपर-ऊपर में शुद्धि के होने से (**ज्ञानं**) वह इन्द्रियजन्य ज्ञान जीवों को (**कदाचित् जायते**) कदाचित् होता है सदैव नहीं और (**व्यस्तेषु न**) असंपूर्ण कारणों के रहने पर तो वह बिल्कुल ही नहीं होता है, अतः वह इंद्रियज्ञान (**दिङ्मात्रं**) दिङ्मात्र है।। 286-289।।

भावार्थ :- इंद्रियज्ञान परावलम्बी और प्रत्येक ज्ञेयानुसार परिणमनशील होने से व्याकुल तथा मोह के सम्पर्क से सहित होता है। इसलिए वास्तव में वह इंद्रियज्ञान दुःखरूप है और कार्यकारी नहीं है।

परावलम्बी और प्रत्यर्थपरिणामी होने से इंद्रियजन्य ज्ञान में दुःखपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि ज्ञात से शेष रहे हुए ज्ञेय के अंशों को जानने के लिये जिज्ञासा रहती है; इसलिए उस ज्ञान में व्याकुलता का सद्भाव सिद्ध होता है और व्याकुलता के पाये जाने से ज्ञान में दुःखपना सिद्ध होता है तथा दुःखपने के सद्भाव से उसमें अनुपादेयता की सिद्धि होती है।

ज्ञात अंश से अतिरिक्त शेषार्थ की जिज्ञासा के रहने से जिज्ञासु का मन केवल व्याकुल रहता है - इसका तो कहना ही क्या है अर्थात् वह तो निश्चय से व्याकुल है ही/दुःखरूप है ही, परन्तु यथार्थ विषयों में उपयोगी होने वाला इंद्रियज्ञान भी दुःखरूप कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टियों को इद्रियज्ञान और इंद्रिय सुख उपादेय होते हैं और मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान को मिथ्यात्व के उदय के कारण दुःखप्रद कहा गया है, क्योंकि उसमें व्याकुलता पाई जाती है जिसे कि ऊपर बताया जा चुका है। तथा इस पद्य से यह बताया है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्याकुल होता है

इतना ही नहीं, किन्तु यथार्थ पदार्थों के विषयों में उपयुक्त होने के योग्य होकर भी '**सदसतोरविशेषात्**' के सिद्धांतानुसार सच्चे सुख का अनुभव करनेवाला न होने से दु:खावह ही है।

वह इंद्रिय-जन्य ज्ञान मोहयुक्त होने से प्रमत्त, हेतु गौरव से निकृष्ट, क्रमवर्ती होने से व्युच्छिन्न तथा ईहादि पूर्वक होने से दु:खरूप कहलाता है।

वह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष, इन्द्रिय-जन्य होने से आक्ष्य तथा उसके द्वारा ज्ञात विषयों में संशयादिक दोषों की संभावना से सदोष है।

उस इन्द्रिय ज्ञान के निमित्त से बन्ध होता है इसलिये वह विरुद्ध है। पूर्वबद्ध कर्मों के सम्बन्ध को रखकर ही उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए वह कर्मजन्य है। वास्तव में आात्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये अश्रेय है और स्वत: मलमय है इसलिये वह अशुचि है।

जैसे अपस्मार रोग कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है तथा कभी बिल्कुल नहीं रहता है; वैसे ही यह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान कभी कम, कभी अधिक और कभी-कभी अत्यन्त कम हो जाता है, इसलिए यह मूर्च्छित कहलाता है।

वह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अपने प्रतिपक्षी कर्मों के थोड़ी देर के लिये शान्त हो जाने से उत्पन्न होता है, इसलिये जब कर्मों का उदय आ जायगा तब वह इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अवश्य ही विलीयमान हो जायेगा, अत: वह अत्राण है अर्थात् क्षयोपशम प्राप्त कर्मों का उदय होने पर उसके नाश को कोई रोक नहीं सकता है, इसलिये वह अत्राण है।

वह इन्द्रियज्ञान छह द्रव्यों में से केवल मूर्त द्रव्य को ही विषय करता है इतर द्रव्यों को नहीं तथा मूर्त द्रव्यों में भी वह सूक्ष्म पुद्गल को विषय नहीं करता है किन्तु केवल स्थूल पुद्गलों को ही विषय करता है और स्थूल पुद्गल में भी सब स्थूल पुद्गलों को विषय नहीं करता है किन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थूल पुद्गलों को ही विषय करता है तथा उन स्थूल पुद्गलों में भी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य पुद्गलों को ही वह विषय करता है अग्राह्यों को नहीं।

तथा उन ग्राह्य पुद्गलों में भी वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलों को ही विषय करता है, अतीत अनागतकाल संबंधी नहीं और उन वर्तमानकालसंबंधी पुद्गलों में भी जिनका सन्निधानपूर्वक इंद्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है उनको ही विषय करता है अन्य को नहीं तथा उनमें भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के होने पर ही उनको अवग्रहादिक रूप से वह विषय करता है और इन सब कारणों के रहने पर भी वह इंद्रियज्ञान कदाचित् होता है सदैव नहीं। तथा सामग्री के पूर्ण न होने पर तो वह बिल्कुल नहीं होता है, इसलिए वह इंद्रियज्ञान दिङ्मात्र है।

इन्द्रियज्ञान की लब्धि और क्षयोपशम की कारण सामग्री

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः।। 290।।

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात्।। 291।।

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः।। 292।।

इस प्रकार सत्-रूप मति-श्रुत के होते असंख्य आलाप।
अविभागी प्रतिछेदरूप उनमें अनन्त शक्ति का वास।। 1058।।

मति-श्रुत के आवरण कर्म आलाप अपेक्षा से जानो।
उतने ही होते हैं क्योंकि नहिं समानता को लाँघे।। 1059।।

जितने अंशों का क्षयोपशम स्वयं अधिकतम होता है।
उतने अंशों में मति-श्रुत का स्वयं परिणमन होता है।। 1060।।

अन्वयार्थ :- (**तद्यथा**) उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि (**सतः**) यथार्थरूप (**मतिज्ञानस्य**) मतिज्ञान के (**वा**) अथवा (**श्रुतज्ञानस्य**) श्रुतज्ञान के (**असंख्याताः आलापाः सन्ति**) असंख्यात आलाप होते हैं (**च**) और (**तत्र**) उनमें (**अनन्ताः शक्तयः भवन्ति**) अविभागप्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्तियाँ होती हैं और (**उच्चैः**) अधिक से अधिक (**तेषां आवरणानि**) उनके आवरण भी (**आलापात्**) आलाप की अपेक्षा से (**सन्तानस्य अनतिक्रमात्**) सन्तान को उल्लंघन नहीं करके (**प्रत्येकं तावंति सन्ति**) प्रत्येक के उतने ही होते हैं। मति-श्रुतज्ञान के आलापों के बराबर ही मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म के आलाप होते हैं (**तत्र**) उनमें (**कर्मणः**) कर्म के (**यस्य आलापस्य**) जिस आलाप के (**उच्चैः**) अधिक से अधिक (**यावदंशस्य**) जितने अंशों का (**स्वतः अवस्थांतरं**) स्वयं अवस्थांतर होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है (**तावदंशस्य**) उतने ही अंशों का विकास (**क्षायोपशमिकं नाम स्यात्**) क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है।। 290-292।।

भावार्थ :- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के आलाप अथवा शक्ति की अपेक्षा से जितने भेद हो सकते हैं, उतने ही उनके आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म के भी आलाप व शक्ति की अपेक्षा से भेद हो सकते हैं, उनमें जिस ज्ञानावरण कर्म के, जिस व जितनी शक्ति का क्षयोपशम होगा उतने ही ज्ञान के अंशों के विकास को लिये हुए क्षायोपशमिक ज्ञान होगा।

जिस समय जितनी शक्ति की अपेक्षा से जितने अंशों वाला मतिज्ञानावरण का आलाप हो उतने ही अंशों वाला वीर्यान्तराय का भी हो (दोनों का युगपत् क्षयोपशम हो) तो उस समय इन्द्रियज्ञान की लब्धि इस नाम से कही जा सकती है।

इन्द्रियज्ञान की उपयोगरूप कारण–सामग्री

अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः।। 293।।
उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा।
अस्ति पंचेन्द्रियं कर्म कर्म स्यान्मानसं तथा।। 294।।
दैवात्तद्बन्धमायाति कथंचित्कस्यचित्क्वचित्।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत्।। 295।।
अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात्।। 296।।
सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः।। 297।।
तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम्।। 298।।
अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारम्पर्यावलोकनम्।। 299।।
एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भानसम्भवात्।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत्।। 300।।
अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्।। 301।।

जितने अंशों में मति–श्रुत आवरण कर्म का हो आलाप।
उतना हो वीर्यान्तराय का इसको कहते लब्धिज्ञान।। 1061।।
लब्धि ही कारण हो जाती है उपयोग परिणमन का।
यथा कर्म पञ्चेन्द्रिय होता तथा कर्म–मानस होता।। 1062।।

दैवयोग से किसी जीव को यदि कभी ये कर्म बँधें।
यदि उनका संक्रमण न हो तो पहले उनका उदय कहें।। 1063।।
उनकी उदय अवस्था के संग होता उदय दूसरे का।
वह पर्याप्ति नाम कर्म है, उसका उदय अवश्य होता।। 1064।।
उसका होता उदय तभी नोकर्म-वर्गणा अपने आप।
उस निमित्त से तन मन एवं परिणत हो इन्द्रिय-आकार।। 1065।।
दैव-योग से जब तनादि पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं।
बाह्य हेतु होती जड़-इन्द्रिय स्वार्थोपयोग में लब्धि के।। 1066।।
उनके होने पर भी रवि या दीप प्रकाश निमित होते!
संस्कार अन्य देशस्थ तथा परम्परा अवलोकन भी।। 1067।।
इतने हेतु मिलें तब ही हो सकता है यथार्थ प्रतिभास।
यदि एक भी कारण कम हो तो अर्थोपयोग नहिं हो।। 1068।।
यहाँ बात यह भी विशेष है बाह्य हेतु जिन विषयों का।
ग्रहण करे नहिं ज्ञान परन्तु लब्धि-ज्ञान देखा जाता।। 1069।।

अन्वयार्थ :- (**यदा**) जिस समय (**यावदंशः सः**) जितने अंशों वाला मति-श्रुतज्ञानावरण सम्बन्धी आलाप हो (**तदैव**) उसी समय यदि (**वीर्यान्तरायस्य अपि**) वीर्यान्तराय कर्म का भी (**शक्तितः तावदंश आलापः अस्ति**) शक्ति की अपेक्षा से उतने ही अंशों वाला आलाप हो तो (**लब्धिः इत्यभिधीयते**) इंद्रियज्ञान की लब्धि कही जाती है।। 293।।

(**अस्य**) इंद्रिय ज्ञान के (**उपयोगविवक्षायां**) उपयोग की विवक्षा में (**हेतुः अस्ति**) हेतु हैं, वे (**तद्यथा**) इसप्रकार है कि (**यथा**) जैसे (**पञ्चेद्रियं कर्म अस्ति**) पंचेंद्रिय नामक नामकर्म हेतु होता है (**तथा**) वैसे ही (**मानसं कर्म स्यात्**) मन अंगोपांग नामक नामकर्म भी हेतु होता है।। 294।।

(**दैवात्**) दैव से (**तत्**) वह पंचेद्रिय तथा मन अंगोपांग नामक नामकर्म (**कस्यचित्**) किसी जीव के (**कथंचित्**) किसी प्रकार से (**क्वचित्**) कभी (**बन्धं आयाति**) बन्ध को प्राप्त होता है और (**चेत्**) यदि (**संक्रमणादि न स्यात्**) उसका संक्रमण आदि नहीं हो गया हो (**तावत्**) तो जीव के (**तस्य उदयः अस्ति**) उस पंचेंद्रिय तथा मानस अंगोपांग नामक नामकर्म का उदय होता है।। 295।।

(**अथ**) तथा (**तस्योदये**) उस नामकर्म के उदय में (**हेत्वन्तरं यथा**) कारणांतर के समान (**पर्याप्तनामकर्म इति हेतुः अस्ति**) पर्याप्त नामकर्म हेतु होता है क्योंकि (**अवश्यं सहोदयात्**

स्यात्) पर्याप्त नामकर्म के उदय के साथ ही उन दोनों कर्मों का उदय होने से इंद्रियज्ञान का उपयोग हो सकता है।। 296।।

(**तत्र उदये सति**) उस पर्याप्त नामकर्म के उदय होने पर (**स्वतःसिद्ध नोकर्म वर्गणाः**) स्वयंसिद्ध आहारादि नोकर्म वर्गणाएँ (**तन्निमित्ततः**) उस पर्याप्त नामकर्म के उदय के निमित्त से (**मनोदेहेन्द्रियाकारं जायते**) मन, देह और इंद्रियों के आकाररूप हो जाती हैं।। 297।।

(**चेत्**) यदि (**दैवयोगतः**) दैवयोग से (**तेषां**) उन मन, शरीर और इंद्रियों की (**परिसमाप्तिः जायते**) परिसमाप्ति अर्थात् पूर्णता हो जावे तो (**जड़ेन्द्रियं**) जड़ेन्द्रिय (**लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु**) लब्धि के स्वार्थोपयोग में (**बाह्यं हेतु**) बाह्य कारण हो सकती है।। 298।।

(**तथापि**) उक्त कारण सामग्री में भी (**रविदीपयोः प्रकाशः**) सूर्य तथा दीपक का प्रकाश (**अन्यदेशस्थसंस्कारः**) अन्यदेशस्थ संस्कार (**वा**) और (**पारंपर्यावलोकनं**) परम्परावलोकन भी (**हेतुः अस्ति**) कारण है।। 299।।

(**एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु**) इन सब हेतुओं के रहने पर (**सद्धानसंभवात्**) ठीक प्रतिभास होता है अर्थात् उपयोग हो सकता है तथा (**एकेन रूपेण हीनेषु**) उन कारणों में से किसी एक कारण के कम रहने पर (**तत् ज्ञानं अर्थोपयोगि न**) वह ज्ञान अपने विषयों में उपयोग वाला नहीं हो सकता है।। 300।।

(**इति**) इस प्रकार (**तत्र**) वहाँ पर (**अयं विशेषः अस्ति**) यह विशेष है कि (**बाह्येन हेतुना विना**) बाह्य हेतु के बिना (**ज्ञानं अर्थोपयोगि न**) ज्ञान अपने विषय का ग्रहण नहीं कर सकता है किन्तु (**लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्**) वह लब्धिज्ञान देखा जाता है अर्थात् वह ज्ञान लब्धिरूप देखा जाता है।। 301।।

भावार्थ :- यदि कदाचित् मतिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के आलापों में भिन्नता रहे तो उसका क्षयोपशम नहीं हो सकता है, इसलिए ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के आलापों में समानता का होना भी इन्द्रियज्ञान की लब्धि के लिये आवश्यक है।

उस इंद्रियज्ञान के उपयोग में पंचेद्रिय नामकर्म तथा मन अंगोपांग नामकर्म का उदय निमित्त है, क्योंकि यदि पंचेद्रिय नामकर्म और मन अंगोपांग नामकर्म का उदय न हो तो वह इंद्रियजन्य ज्ञान उपयोगवान नहीं हो सकता है, इसलिये पंचेद्रिय नामकर्म तथा मन अंगोपांग नामकर्म उपयोग में हेतु है।

इंद्रियज्ञान के उपयोग में कारणभूत उक्त दोनों कर्मों का बन्ध भी सदैव सब जीवों के नहीं होता, किन्तु कदाचित् किन्हीं जीवों को होता है तथा बन्ध होकर के भी किन्हीं जीवों के उनका संक्रमण

हो जाता है। इसलिये फिर उनका अस्तित्व न रहने से उदय नहीं हो सकता है। अत: उन दोनों का बन्ध होने पर यदि उनका संक्रमण नहीं हो गया हो तो उन दोनों कर्मों का उदय होता है और उनका वह उदय ही इन्द्रियज्ञान में कारण होता है।

पर्याप्त नामकर्म के उदय के बिना मन देह और इंद्रियों की पूर्ति नहीं होती, इसलिए उनके लिये पर्याप्त नामकर्म को कारण बताया है। अपर्याप्त अवस्था होने से इंद्रियज्ञान का उपयोग नही हो सकता, इसलिए उन दोनों नामकर्म के उदय के साथ पर्याप्ति नामकर्म का उदय भी इंद्रियज्ञान के उपयोग में निमित्त है।

उस पर्याप्त नामकर्म के उदय होने पर जो स्वत:सिद्ध नोकर्म वर्गणाएँ हैं, वे उस पर्याप्त नामकर्म के उदय के अवलम्बन से यथायोग्य मन, देह और इंद्रियरूप परिणत हो जाती हैं। यदि पर्याप्त नामकर्म का उदय न हो तो उसके बिना अपर्याप्त अवस्था में नोकर्म वर्गणाओं के रहते हुए भी मन, देह और इंद्रियों का आकार पूर्ण नहीं होता तथा इनके आकार के पूर्ण न होने से वे अपूर्ण मन, देह और इंद्रियाँ उपयोग में भी निमित्त नहीं हो सकती हैं।

यदि दैवयोग से पर्याप्त नामकर्म के उदय से उन शरीर मन और इंद्रियों की पूर्णता हो जाये तो लब्धि के अनुसार उपयोग होने में बाह्य जड़ इंद्रियाँ कारण हो सकती हैं अन्यथा नहीं।

पूर्ण जड़ेंद्रिय भी उपयोग में रवि तथा दीपकादिक के प्रकाश के सद्भाव में ही कारण हो सकती है, इसलिए रवि दीपकादि का प्रकाश, अन्यदेशस्थ संस्कार और परस्परावलोकन भी उसमें कारण है।

उपर्युक्त कारणभूत इस सब सामग्री के सद्भाव में ही उपयोग हो सकता है, क्योंकि किसी एक कारण के कम रहने पर ज्ञान अर्थ को विषय करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह सारांश निकलता है कि बाह्य हेतु के बिना वह ज्ञान उपयोगयुक्त नहीं होता है किन्तु केवल लब्धिरूप रहता है।

लब्धिज्ञान के अभाव में निमित्तकारण

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायापेशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत्।। 302।।

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम्।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात्।। 303।।

सर्वघाति स्पर्धक का जब एक देश हो प्राप्त उदय।
इस क्षयोपशम के अभाव में लब्धि-ज्ञान भी हो न सके।। 1070।।

अतः यही स्पष्ट अर्थ है कहने भर का इन्द्रिय-ज्ञान।
क्योंकि इसके विषयभूत वस्तु का एक देश हो ज्ञान।। 1071।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इंद्रियज्ञान में (**चेत्**) यदि (**देशतः**) एकदेशरूप में (**सर्वतः घातिस्पर्द्धकानां उदयात्**) सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदय होने से (**क्षायोपशमिकावस्था न**) क्षायोपशमिक अवस्था न होवे तो (**ज्ञानं उपलब्धिमत् न**) यह ज्ञान लब्धि युक्त नहीं हो सकता है।।302।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) इसलिए (**प्रकृतार्थं एतत एव**) प्रकृत अर्थ यही है कि (**ऐंद्रियं ज्ञानं**) इंद्रियजन्य ज्ञान (**दिङ्मात्रं**) दिङ्मात्र है अर्थात् नाममात्र के लिए ज्ञान है क्योंकि (**सर्वस्य तदर्थार्थस्य**) इसके विषयभूत सभी पदार्थ का (**देशमात्रस्य दर्शनात्**) दिङ्मात्ररूप से ही ज्ञान होता है।।303।।

भावार्थ :- उपर्युक्त बाह्य कारणों के रहते हुए भी यदि एकदेशरूप से तत्सर्व घातिस्पर्द्धकों के यथायोग्य उदय से अर्थात् देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से और सर्वघाति स्पर्द्धकों के सदवस्थारूप उपशम तथा उदयाभावी क्षय से ज्ञान की क्षायोपशामिक अवस्था नहीं होवे तो ज्ञान की लब्धि नहीं हो सकती है।

भावार्थ :- अतः प्रकृत अर्थ सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण इन्द्रिय ज्ञान दिङ्मात्र है, क्योंकि उसके विषय का ज्ञान दिङ्मात्ररूप से ही होता है अर्थात् नाममात्र से ही होता है, स्पष्ट नहीं होता है।

इन्द्रियज्ञान खण्डरूप है और प्रदेश परिस्पन्दन का कारण है

खण्डितंखण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात्।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात्।। 304।।
आस्तामित्यादि-दोषाणां सन्निपानास्पदं पदम्।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम्।। 305॥
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद् यावदौदयिकी क्रिया।
अपि देशपरिस्पन्दां नोदयोपाधिना विना।। 306॥

एक एक वस्तु का आँशिकज्ञान अतः वह खण्डित है।
नियत विषय को क्रमशः जाने अतः उसे प्रत्येक कहें।। 1072।।
इन दोषों का घर है इन्द्रिय-ज्ञान बात यह दूर रहो।
इनके संग वह ज्ञान प्रदेश-चलन स्वरूप भी होता है।। 1073।।

निष्क्रिय आत्मा की होती है जो भी औदायिकी क्रिया।
अतः प्रदेश परिस्पन्दन भी उदयोपाधि बिना नहि हो।। 1074।।

अन्वयार्थ :- (**तेषां**) उन सब विषयों में से (**एकैकार्थस्य खण्डशः कर्षणात्**) अपने-अपने विषयभूत एक-एक ही अर्थ का खण्डश: विषय करने के कारण वह इंद्रियज्ञान (**खण्डितं**) खण्डरूप है और (**क्रमात्**) क्रम-क्रम से (**व्यस्तमात्रे सति**) केवल व्यस्तरूप पदार्थ में (**नियतार्थस्य कर्षणात्**) नियत विषय को जानता है, इसलिए वह इंद्रियज्ञान (**प्रत्येकं**) प्रत्येकरूप भी है।। 304।।

(**ऐन्द्रियं ज्ञानं**) इंद्रियजन्य ज्ञान (**इत्यादि दोषाणां**) व्याकुलता आदि अनेक दोषों के (**सन्निपातास्पदं पदं**) समावेश का स्थान है यह तो (**आस्तां**) दूर रहो अर्थात् वह ज्ञान उपरि उक्त व्याकुलता आदि दोषों का स्थान है यह तो निश्चित ही है, किन्तु उसके साथ वह ज्ञान (**प्रदेश चलनात्मकं अपि अस्ति**) तब तक प्रदेशचलनात्मक भी होता है।। 305।।

(**यावत्**) जब तक कि (**निष्क्रियस्य आत्मनः**) निष्क्रिय आत्मा की (**काचित्**) कोई भी (**औदयिकी क्रिया अस्ति**) औदयिकी क्रिया होती है तथा वह (**देशपरिस्पन्दः अपि**) प्रदेशों का हलन-चलन भी (**उदयोपाधिना बिना**) कर्मोदयरूप उपाधि के बिना नहीं होता है।। 306।।

भावार्थ :- पदार्थों में एक-एक अर्थ को ही खंडत: जानने के कारण खंडित है और केवल व्यस्तरूप पदार्थ में ही क्रम-क्रम से, उस ज्ञान की प्रवृत्ति होती है इसलिए वह प्रत्येकरूप भी है।

ऐंद्रियक ज्ञान केवल व्याकुलता आदि उक्त दोषों का आस्पद (स्थान) ही नहीं है, किन्तु जब तक निष्क्रिय आत्मा के कोई न कोई औदयिकी क्रिया रहती है तब तक वह इंद्रियज्ञान प्रदेशचलनात्मक भी रहता है, क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद कर्मोदयरूप उपाधि के बिना नहीं होता है।

कर्मोदय की उपाधि दु:खरूप है

नासिद्धमुदयोपाधेर्दुःखत्वं कर्मणः फलात्।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात्।। 307।।

बुद्धि-पूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे।। 308।।

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम्।। 309।।

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः।
सिद्धत्वात् साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः।। 310।।

नहिं असिद्ध है उदयोपाधि में दुःखों की उत्पत्ति।
कर्मों का फल दुख है यह तो परमागम में हुआ प्रसिद्ध।। 1075।।
बुद्धिपूर्वक दुख के तो दृष्टान्त जगत में मिलते हैं।
किन्तु अबुद्धिपूर्वक अनुभव-गोचर के दृष्टान्त नहीं।। 1076।।
कर्मों से प्रगाढ़ बद्ध-आत्मा को महा-दुःख होता।
बुद्धिपूर्वक दुःख तो मन से कभी-कभी ही होता है।। 1077।।
बुद्धिपूर्वक दुख होते अनुमेय अतः हैं सिद्ध स्वयं।
उनकी सिद्धि अनावश्यक है क्योंकि निषिद्ध अनर्थक श्रम।। 1078।।

अन्वयार्थ :- (**कर्मणः फलात्**) कर्म का फल होने से (**उदयोपाधेः दुःखत्वं**) उदयरूप उपाधि में दुःखरूपता (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**कर्मणः यत् फलं**) कर्म का जो फल है वह (**परमागमात्**) परमागम से (**दुःखप्रसिद्धं**) दुःखरूप प्रसिद्ध ही है।। 307।।

(**बुद्धिपूर्वकदुःखेषु**) बुद्धिपूर्वक दुःखों के विषय में (**केचन दृष्टान्ताः सन्ति**) कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं, किन्तु (**ज्ञानमात्रैकगोचरे**) केवल अनुभवगम्य (**अबुद्धिं पूर्वके दुःखे**) अबुद्धि पूर्वक होनेवाले दुःखों के विषय में कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता है।। 308।।

(**वै**) निश्चय नय से (**कर्मभिः गाढं बद्धस्य आत्मनः**) कर्मों के द्वारा दृढ़ता से बंधे हुए आत्मा के (**शश्वत्**) सदैव (**सर्वप्रदेशजं**) सब प्रदेशों से उत्पन्न होने वाला (**महादुःखं अस्ति**) अबुद्धिपूर्वक महा दुःख है किन्तु (**मनःपूर्व**) बुद्धिपूर्वक दुःख (**कदाचित्**) कभी-कभी होता है अर्थात् जब पंचेंद्रिय संज्ञी अवस्था की प्राप्ति होती है तब वह अनुभव में आता है, इसलिए बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।। 309।।

(**स्वस्य अनुमेयत्वात्**) अपने अनुमानगम्य होने से (**आत्मनः**) आत्मा के (**बुद्धिजं दुखं अस्ति**) बुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध ही है इसलिए उसके (**सिद्धत्वात्**) सिद्ध होने के कारण (**साधनेन अलं**) फिर से उसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि (**वृथा श्रमः वर्जनीयः**) व्यर्थ श्रम करना वर्जनीय होता है।। 310।।

भावार्थ :- तथा उन कर्मों की उदयरूप उपाधि में दुःखपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि परमागम में कर्मों के फल को दुःखरूप कहा है।

दुःख दो प्रकार का होता है - 1. बुद्धिपूर्वक और 2. अबुद्धिपूर्वक। उनमें से बुद्धिपूर्वक दुःख के द्योतक तो कितने ही दृष्टान्त मिल सकते हैं कि जिनके द्वारा बुद्धिपूर्वक दुःख का सद्भाव जाना जा सकता है अर्थात् उसका स्वरूप समझा जा सकता है, परन्तु अबुद्धिपूर्वक जो दुःख है वह

अनुभवगोचर होता है, इसलिए उसके स्वरूप अर्थात् सद्भाव के बोधक साक्षात् दृष्टान्त नहीं मिल सकते हैं।

कर्मबन्ध से बंधे हुए आत्मा के अबुद्धिपूर्वक महादुःख सदैव रहता है और बुद्धिपूर्वक दुःख कदाचित् होता है।

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दुःखों में से बुद्धिपूर्वक दुःख तो अनुमानगम्य होने से आत्मा के सिद्ध ही है, इसलिए उसके सिद्ध करने के लिए श्रम करना व्यर्थ है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख की सिद्धि

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम्।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात्।। 311।।
अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित्।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि।। 312।।
अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम्।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम्।। 313।।
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत्।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः।। 314।।
सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम्।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात्।। 315।।
नासौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात्।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः।। 316।।
व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्च्छितस्येव कस्यचित्।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम्।। 317।।
अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम्।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा।। 318।।
ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम्।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः।। 319।।

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधने।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ।। 320 ।।

जो अबुद्धिपूर्वक दुख छिपा हुआ वह साध्य जिनागम से।
तथा हेतु कार्यानुमान को उसका साधक हेतु कहो।। 1079 ।।
कार्य देखने से हो जाता है कारण का भी अनुमान।
बाढ़ नदी में देखे तो ऊपर वर्षा का हो अनुमान।। 1080 ।।
यद्यपि आत्मा का अविनाशी स्वयं सिद्ध सुख-गुण शाश्वत।
किन्तु घातिया कर्मों से है घात अतः नहिं प्रगट दिखे।। 1081 ।।
सुख नहिं देखा जाता है - यह कार्य लिङ्ग ही हेतु है।
वह अपने विपरीत दुःख का कारण है यह सिद्ध करे।। 1082 ।।
स्वाभाविक सुख का अभाव देखा जाता - इस हेतु से।
सब संसारी जीवों का अबुद्धिपूर्वक दुःख हो सिद्ध।। 1083 ।।
यह हेतु भी नहिं असिद्ध है क्योंकि दिखें इसके दृष्टान्त।
अनुपपत्ति अन्यथा व्याप्ति से सुख अदृष्ट होता है सिद्ध।। 1084 ।।
यथा कुचेष्टा-रत या मूर्छित-नर में मदिरापान अदृश्य।
किन्तु उसे कारण कहते हैं - इस प्रकार दोनों की व्याप्ति।। 1085 ।।
इसी तरह संसारी जीवों में अबुद्धिपूर्वक दुख है।
यदि ऐसा नहिं होता तो सुख का अभाव दिखता कैसे।। 1086 ।।
अतः कर्म से बँधे जीव को रहे निरन्तर कर्मोदय।
उससे है अबुद्धि-पूर्वक दुख - ऐसा होता निश्चय।। 1087 ।।
क्योंकि समस्त अबुद्धिपूर्वक दुःख-हेतु औदायिक भाव।
इसीलिए उसकी सिद्धि में नहिं अवाच्यता का सद्भाव।। 1088 ।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जो (**परमागमात्**) परमागम से (**निहितं यावत् अबुद्धिजं दुःखं नाम**) छिपा हुवा सम्पूर्ण अबुद्धिजन्य दुःख है (**तत् साध्यं**) वह सिद्ध करना चाहिये (**वा**) तथा (**कार्यानुमानतः**) कार्यानुमान से (**हेतुः वाच्यः**) उसका साधक हेतु कहना चाहिये ।। 311 ।।

(**वै**) निश्चय से (**कार्यानुमानात्**) कार्य के अनुमान से (**कारणानुमितिः अस्ति**) कारण का अनुमान होता है (**यथा**) जैसे कि (**नदपूरस्यदर्शनात्**) नदी के प्रवाह को देखने से (**उपरि क्वचित् देवः वृष्टः**) ऊपर में कहीं पर मेघ बरसा है - ऐसा अनुमान होता है।। 312 ।।

(**आत्मनः**) यद्यपि आत्मा का (**अनश्वरं सौख्यं गुणः**) अविनाशी सुखगुण (**स्वतःसिद्ध अस्ति**) स्वत:सिद्ध है परन्तु (**घातिकर्माभिघातत्वात्**) घातिया कर्मों के द्वारा घाते जाने के कारण वह (**असत् वा**) असद् रूप के समान (**अदृश्यतां गतम्**) प्रगट नहीं दिखाई देता है।। 313।।

(**अत्र**) अबुद्धिपूर्वक दु:ख की सिद्धि में (**लिङ्ग इव सुखस्य अदर्शनं**) अव्यक्त अर्थ को जताने वाले के समान सुख का अभाव (**कार्य लिङ्गं**) कार्यरूप हेतु है और (**तत्**) वह अबुद्धि-जन्य दु:ख (**कारणं**) कारण है अत: सुखादर्शनरूप हेतु से (**तद्विपक्षस्य सतः दुःखस्य अनुमितिः**) सुख के विपक्षभूत दुख के सद्भाव का (**अनुमितिः**) अनुमान किया जाता है।। 314।।

(**अत्र**) वहाँ पर (**नैसर्गिकस्य सुखस्य अभावदर्शनात्**) स्वाभाविक सुख के अभावरूप (**हेतोः**) हेतु के सद्भाव से (**सर्वसंसारीजीवानां अबुद्धिजं दुःखं अस्ति**) सब संसारी जीवों के अबुद्धिपूर्वक दु:ख का अनुमान होता है।। 315।।

(**नूनं**) निश्चय करके (**सिद्धसंदृष्टिदर्शनात्**) वक्ष्यप्राण प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा अबुद्धि पूर्वक दु:ख के सद्भाव में और सुखादर्शन में (**अन्यथानुपपत्तितः व्याप्तेः**) अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति का (**सद्भावतः**) सद्भाव पाया जाने से (**असौ हेतुः**) यह सुखादर्शनरूप हेतु (**असिद्धः न अस्ति**) असिद्ध नहीं है।। 316।।

(**व्याप्तिः**) उन दोनों में व्याप्ति इसप्रकार है कि (**यथा**) जैसे (**अत्र**) यहाँ पर (**कस्यचित् विचेष्टस्य इव मूर्च्छितस्य**) किसी विचेष्टित के समान मूर्छित पुरुष के (**अदृश्यं अपि**) अदृश्य भी (**मद्यादिपानं**) मद्यादिक का पान (**कारणं अस्ति**) कारण कहा जाता है वैसे ही (**संसारिजीवस्य**) पर-पदार्थ में मूर्च्छित संसारी जीवों के सुख के अदर्शन में भी (**नूनं**) निश्चय से (**अबुद्धिजं दुखं अस्ति**) अबुद्धिपूर्वक दु:ख कारण है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि ऐसा न होता तो उनके (**स्वस्य**) आत्मा के (**सुखस्य**) सुख का (**सर्वतः अदर्शनं कथं**) सर्वथा अदर्शन कैसे होता अर्थात् क्यों होता ?।। 317-318।।

(**ततः**) इसलिये (**नूनं**) निश्चय करके (**कर्मबद्धस्य**) कर्मबद्ध संसारी जीव के (**नैरन्तर्यो-दयादितः**) निरन्तर कर्म के उदय आदि के कारण (**अवश्यं अबुद्धिजं दुःखं अस्ति**) अवश्य ही अबुद्धि पूर्वक दुख है ऐसा (**अनुमीयते**) अनुमान किया जाता है।। 319।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**अबुद्धिमात्रस्य हेतोः औदयिकत्वतः**) संपूर्ण अबुद्धिपूर्वक दु:खों का कारण जीव का औदयिक भाव ही है इसलिये (**यथोक्तस्य दुःखज्ञात-स्यसाधने**) उपर्युक्त संपूर्ण अबुद्धि पूर्वक दु:ख के सिद्ध करने में (**अवाच्यता न**) अवाच्यता नहीं है।। 320।।

भावार्थ :- बुद्धिपूर्वक दु:ख स्वत: अनुमानगम्य होने से सिद्ध ही है, इसलिए ग्रन्थकार उसका

निरूपण न करके सर्व साधारण के अगोचर और परमागम से सिद्ध अबुद्धिपूर्वक होनेवाले महादु:ख की सिद्धि करने के लिए कार्यानुमान से कारण की सिद्धिदर्शक हेतु को बताने की प्रतिज्ञा करते हैं।

जैसे नदी का पूर ऊपर में वृष्टि के हुए बिना नहीं आ सकता, इसलिये नदी में पूर के देखने से ऊपर कहीं पर वृष्टि का अनुमान किया जाता है, वैसे ही सर्वत्र कार्य के दर्शन से कारण का अनुमान किया जाता है।

यद्यपि आत्मा में अविनाशी और स्वत:सिद्ध सुखगुण है, परन्तु सम्पूर्ण घातिया कर्मों के उदय से बाधित होने के कारण उसका दर्शन नहीं हो पाता है।

घातिया कर्मों के द्वारा जो सुख का अदर्शन हो रहा है वह घातिया कर्मों के उदय से होने वाले अबुद्धिजन्य दु:ख का कार्य है। इसलिये सुख के अदर्शनरूप हेतु से उस सुख के विपक्षभूत अबुद्धि-जन्य के दु:ख के सद्भाव का अनुमान किया जाता है।

संपूर्ण संसारी जीवों के जो स्वाभाविक सुख का अभाव पाया जाता है, उससे अनुमान होता है कि उनके घातिया कर्मों के उदय के निमित्त से होने वाले अबुद्धिपूर्वक दु:ख का सद्भाव है। कारण कि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दु:ख का सद्भाव नहीं होता तो उनके स्वाभाविक सुख का दर्शन पाया जाना चाहिये था, किन्तु नहीं पाया जाता है, इसलिए उनके अबुद्धिपूर्वक दु:ख का सद्भाव सिद्ध होता है।

उक्त अभिप्राय के पोषक दृष्टांत के मिल जाने से अबुद्धिपूर्वक दु:ख की सिद्धि के लिये दिया हुआ वह सुखादर्शनरूप हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दु:ख के सद्भाव में सुखादर्शन की व्याप्ति है अर्थात् अबुद्धिपूर्वक दु:ख के रहने पर ही सच्चे सुख का अदर्शन होता है। तथा अबुद्धिपूर्वक दु:ख के अभाव में सुख के अदर्शन का भी अभाव हो जाता है। इसप्रकार की परस्पर में व्याप्ति पाई जाती है।

संसारी जीवों के अबुद्धिपूर्वक दु:ख के सद्भाव और सुख के अदर्शन में जो व्याप्ति है उसे बताते हैं, कि जैसे किसी मदिरापान करने वाले के मदिरा के कारण होनेवाली मूर्च्छित अवस्था को देखने से सहज में यह अनुमान किया जाता है कि इसने मदिरापान किया है। यदि मदिरापान न किया होता तो सर्व साधारण के समान इसकी प्राकृतिक चेष्टा में अन्तर नहीं पाया जाता, किन्तु चेष्टा में अन्तर पाया जाता है, इसलिए अनुमान होता है कि इस मूर्च्छित अवस्था का कारण मदिरापान है। वैसे ही सम्पूर्ण संसारी जीवों के स्वाभाविक सुख के अदर्शन के पाये जाने से अबुद्धिपूर्वक दु:ख के सद्भाव का अनुमान किया जाता है क्योंकि यदि उनके अबुद्धिपूर्वक दु:ख न होकर केवल बुद्धिपूर्वक ही होता तो शारीरिक मानसिक और इंद्रियजन्य दु:ख के अभाव में स्वाभाविक सुख का अदर्शन भी

नहीं पाया जाता, किन्तु पाया जाता है, इसलिए उनके उन सुखादर्शनरूप हेतु से अबुद्धिपूर्वक दु:ख का सद्भाव सिद्ध होता है।

इसलिये कर्म से बंधे हुये संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों के उदय उदीरणादि के कारण अवश्य ही वह अबुद्धिपूर्वक दु:ख पाया जाता है – यह सिद्ध होता है।

औदयिकभाव ही उन अबुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण दु:खों का साधक कारण है, इसलिये अबुद्धिपूर्वक दु:खों में अवाच्यता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि औदयिक भावों के द्वारा उनमें वाच्यता सिद्ध होती है।

शंका

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम्।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्च्छितं कर्मभिर्बलात्।। 321॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दु:खमात्मनः।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम्।। 322॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दु:खं न बुद्धिजं।
तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात् व्योमपुष्पवत्।। 323।।
साध्ये वाऽबुद्धिजे दु:खे साधनं तत्सुखक्षतिः।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धौ व्याप्तेरसम्भवात।। 324।।

यहाँ कोइ शंका करता है सुख है आत्मा का निजभाव।
वह कर्मों से बलपूर्वक मूर्छित है, नहिं संसारी को।। 1089।।
अनिष्ट योग से शारीरिक दुख ही आत्मा को होता है।
अथवा बुद्धि-जन्य दु:ख होता जो जग भर में जाहिर है।। 1090।।
नहिं अबुद्धि-पूर्वक दुख होता जो तन मन इन्द्रिय से भिन्न।
क्योंकि प्रमाण नहीं है उनका जैसे है आकाश कुसुम।। 1091।।
नहिं अबुद्धि-पूर्वक दुख की सिद्धि में साधन सौख्याभाव।
इन दोनों में व्याप्ति नहीं है, इसीलिए यह हेत्वाभास।। 1092।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र कश्चित् आह**) यहाँ पर कोई शंकाकार पूछता है (**तद्यथा**) वह इसप्रकार है, जैसे कि (**यत् सुखं स्वात्मनः तत्त्वं**) जो सुख आत्मा का स्वतत्व है (**तत्सुखं**) यह सुख बद्धजीव के (**कर्मभिः बलात् मूर्छितं**) कर्मों के द्वारा मूर्च्छित रहता है इसलिए वह (**बद्धस्य**

नास्ति) बद्ध संसारी जीव के नहीं होता है किन्तु (**अनिष्टार्थसंयोगात्**) अनिष्ट पदार्थों के संयोग से (**शारीरं**) शारीरिक और (**ऐन्द्रियं नाम**) इन्द्रिय-जन्य नामक केवल (**बुद्धिजं दुःखं**) बुद्धिजन्य दुःख (**आत्मनः अस्ति**) बद्ध आत्मा के होता है (**इति**) यह (**जगति**) संसार में (**स्फुटं प्रसिद्धं**) स्पष्ट रीति से प्रसिद्ध ही है और वह (**बुद्धिजं दुःखं**) बुद्धिजन्य दुःख (**मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथक् न**) मन, देह तथा इंद्रिय आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से भिन्न नहीं है कारण कि (**व्योमपुष्पवत्**) आकाश पुष्प के समान (**तद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वात्**) इन दुःख से भिन्न दुख के ग्राहक प्रमाण का अभाव है अतः (**अबुद्धिजे दुःखे साध्ये**) अबुद्धिजन्य दुख के सिद्ध करने के लिए (**तत्सुखक्षतिः साधनं न**) आत्मा के सुख का अभाव हेतु नहीं हो सकता है किंतु (**व्याप्तेरसभंवात्**) उन दोनों में व्याप्ति के न बनने के कारण (**व्याप्यत्वासिद्धौः**) व्याप्ति की असिद्धि के पाये जाने से (**सः हेत्वाभासः**) वह सुखाभासरूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।।321-324।।

भावार्थ :- जो सुख बद्धजीवों के होता है, वह सुख कर्मों से बलपूर्वक मूर्च्छित रहता है, इसलिये वह स्वात्मा का तत्त्वभूत वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता है - इसमें तो कोई मतभेद ही नहीं है, परन्तु अनिष्ट पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाले शारीरिक और मन-इन्द्रियजन्य बुद्धिजन्य नामक दुःख ही संसारी जीवों के बद्धजीवों के होते हैं, यह जगत में भी प्रसिद्ध है, क्योंकि आकाश कुसुम के समान इन तीनों प्रकार के दुःखों से भिन्न अबुद्धि पूर्वक दुःख के सिद्ध करने के लिये ग्राहक-प्रमाण ही नहीं है, अतः शारीरिक, ऐन्द्रियक और मानसिक दुःख के अतिरिक्त कोई भिन्न (अबुद्धि जन्य) दुःख नहीं है।

शंकाकार के कथन का सारांश यह है कि केवल मन इन्द्रिय और शरीर संबंधी दुःख ही दुःख है, किन्तु जो जैन आगम में कर्म के उदयमात्र को दुःख माना है वह कोई दुःख नहीं है, इसलिये ग्रंथकार ने जो सुख के अदर्शनरूप हेतु से मन इन्द्रिय तथा शरीर सम्बधी बुद्धिजन्य दुःख के अतिरिक्त भी दुःख को सिद्ध किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि सुखादर्शनरूप हेतु और बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्य की व्याप्ति न रहने से सुखादर्शन हेतु समीचीन हेतु नहीं है, किन्तु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है, अतः अनिष्टार्थ संयोग से केवल बुद्धिजन्य दुःख ही सिद्ध होता है। इससे अतिरिक्त कोई दुःख, दुःख सिद्ध नहीं होता है।

साध्य और साधन में व्याप्ति के न मिलने को व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इस हेत्वाभास का दूसरा नाम व्यभिचारी हेत्वाभास भी है, अर्थात् हेतु के व्याभिचारपने अर्थात् दुफसलापने से हेतु व्यभिचारी अथवा व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है जैसे यह 'गौ' है पशुत्व होने से यहाँ पर पशुत्व हेतु की गौ के ही साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु घोड़े आदि के साथ भी है। इसलिये 'पशुत्व हेतु'

हेतु नहीं है, किन्तु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। वैसे ही सुखादर्शनरूप हेतु की बुद्धिजन्य दुःख के साथ तो व्याप्ति है, परन्तु कर्मोदयजन्य दुखमात्र, बुद्धि तथा अबुद्धिजन्यरूप साध्य के साथ व्याप्ति नहीं है, इसलिए साध्य मात्र के साथ व्याप्ति न रखने से यह हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

समाधान

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोऽन्यथा।। 325।।
विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः।। 326।।
निराकुलं सुखं जीवशक्तिद्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद् घातिकर्मणः।। 327।।
असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।
अन्यथाऽत्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम्।। 328।।
नयात् सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेश प्रकम्पवत्।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात्।। 329।।
देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थःस्वाधिकारप्रमत्तवान्।। 330।।

ठीक नहीं यह क्योंकि विपक्षभूत दुख की सिद्धि में व्याप्ति।
क्योंकि अन्यथा कर्म विपक्षी हैं सुख के - यह कैसे सिद्ध।। 1093।।
जो विरुद्ध वे धर्म विपक्षी होते, नहिं अविरोधी धर्म।
शीत-ऊष्ण में है विरोध पर नहिं क्षारत्व द्रवत्व में है।। 1094।।
वास्तव में है सौख्य निराकुल चेतन का गुण अनुजीवी।
आकुलता उससे विरुद्ध है शक्ति घातिया कर्मों की।। 1095।।
नहिं असिद्ध कर्मों की शक्ति क्योंकि उनका फल दिखता।
यदि वह शक्ति नहिं होती तो कहो कर्म बाधक कैसे ?।। 1096।।
अतः न्याय से सिद्ध हुआ कि जब तक कर्मोदय रहता।
तब तक देश-प्रकम्पक दुख हो कर्मबद्ध संसारी को।। 1097।।

इसमें एक देश-दृष्टान्त वायु से ताड़ित वारिधि का।
स्वस्थ निराकुल किन्तु प्रमत्त स्वाधिकार में रहता है।। 1098।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) शंकाकार का कहना ठीक नहीं है (**तत्**) क्योंकि (**तद्विपक्षस्य दुःखस्य**) उस आत्मसुख से विपक्षरूप उन तीनों दुखों से भिन्न दुख के भी-अबुद्धिपूर्वक दुःख के भी (**साधने**) सिद्ध करने में (**व्याप्तिः**) सुख-अदर्शन की व्याप्ति है अर्थात् स्वाभाविक सुखाभाव की बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दुख के साथ व्याप्ति है, केवल बुद्धिजन्य ही दुख के साथ नहीं, कारण कि (**अन्यथा**) यदि ऐसा न होता तो (**कर्मणः**) कर्मों को (**तद्विपक्षत्वं**) सुख का विपक्षपना (**कुतः न्यायात् सिद्धं**) किस न्याय से सिद्ध है।। 325।।

(**विरुद्धधर्मयोः एव वैपक्ष्यं**) परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में ही विपरीतता होती है (**अविरुद्धयोः न**) अविरोधी धर्मों में नहीं क्योंकि (**शीतोष्णधर्मयोः वैरं**) शीत और उष्ण धर्म में वैर-विरोध होता है, किन्तु (**तत्**) वह वैर-विरोध (**क्षारद्रवत्वयोः न**) क्षारत्व व द्रवत्व में नहीं होता।। 326।।

(**वै**) निश्चय से (**निराकुलं सुखं**) निराकुल सुख (**द्रव्योपजीविनी**) अनुजीवी (**जीव-शक्तिः**) जीव का गुण है और जो (**तद्विरुद्धाकुलत्वं**) उस सुख से विरुद्ध आकुलता है (**तद् घाति कर्मणः शक्तिः**) वह उस सुख गुण के घातक घातिया कर्मों की शक्ति है।। 327।।

(**कर्मणः फलदर्शनात्**) जीवों में कर्मों का फल देखे जाने से (**कर्मणः तथा शक्तिः**) कर्मों में वैसी शक्ति (**असिद्धा न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**शक्तेः अन्यथाऽत्मतया**) कर्मों की शक्ति के अन्यथापने से अर्थात् यदि उन कर्मों में सुख गुण के घातने की वैसी शक्ति नहीं होती, दूसरे प्रकार की शक्ति होती तो (**तत् कर्म**) वह कर्म (**बाधकं कथं**) आत्मा का बाधक कैसे हो सकता है।। 328।।

(**ततः**) इसलिए (**कर्मबद्धस्य आत्मनः**) कर्मबद्ध आत्मा के (**यावत्कर्म-रसोदयात्**) जब तक कर्मों का उदय रहता है (**तावत्**) तब तक (**सर्वदेशप्रकम्पवत्**) सब प्रदेशों में प्रकम्प पैदा करने वाला (**दुःखं**) दुःख (**नयात् सिद्ध**) युक्ति से सिद्ध होता है।। 329।।

(**अत्र**) इस विषय में (**वायुना हतः वारिधिः**) वायु के निमित्त से कम्पित समुद्र (**देशतः दृष्टांतः अस्ति**) एकदेशरूप से दृष्टांत है क्योंकि वह समुद्र स्वरूप से (**अव्याकुलः स्वस्थः**) अव्याकुल और स्वस्थ होकर के भी (**स्वाधिकारप्रमत्तवान्**) वायु के निमित्त से स्वाधिकार में प्रमत्त होता हुआ (**व्याकुलः**) व्याकुल देखा जाता है।। 330।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अबुद्धिपूर्वक दुःख की सुखाभाव के साथ व्याप्ति है अव्याप्ति नहीं है। इसलिये बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक दुःख के सिद्ध करने में सुखाभाव हेतु समीचीन हेतु है, व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। कारण कि यदि सुखादर्शन की

दु:खमात्र के साथ व्याप्ति नहीं होती तो दु:खमात्र के कारणभूत कर्मों को आत्मा के सुखगुण का विपक्षी क्यों कहा जाता है।

आत्मीय सुख और दुखमात्र के कारणभूत कर्म में जो परस्पर विपक्षता कही जाती है, उससे सिद्ध होता कि कर्मों के उदय के साथ सुखाभाव की व्याप्ति है, क्योंकि परस्पर विरोधियों में विपक्षता कही जाती है अविरोधियों में नहीं, जैसा कि परस्पर विरोधी शीतत्व तथा उष्णत्व में ही विपक्षता कही जाती है, क्योंकि ये दोनों धर्म एकत्र नहीं रह सकते हैं, किन्तु क्षारत्व और द्रवत्व में विपक्षता नहीं कही जाती, क्योंकि समुद्र में ये दोनों धर्म एकत्र पाये जाते हैं। अत: सिद्ध होता है कि सुखाभावरूप हेतु से शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रियजन्य दु:ख के अतिरिक्त अबुद्धिपूर्वक दु:ख की सिद्धि युक्तियुक्त है अयुक्त नहीं है।

निराकुल/स्वाभाविक सुख जीव का एक अनुजीवी गुण है तथा उस सुख के विपरीत जो आकुलता है, वह उस सुख गुण के घातक घातिया कर्मों की शक्ति है; अर्थात् चारों घातिया कर्मों का उदय आत्मा के स्वाभाविक गुण का घातक है। अत: सुख के विपरीत जो जीव में आकुलतारूपी बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दु:ख पाया जाता है, वह सब घातिया कर्मों के उदय का काम है।

यदि कर्मों के सुख गुण के घातनेरूप फल को देखने पर भी घातिया कर्मों में सुखगुण को घातने वाली शक्ति न मानी जाये, दूसरी ही शक्ति मानी जाये तो कर्म आत्मा का बाधक ही कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, इसलिये कर्मों में सुखगुण के घातने की शक्ति असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है।

इसलिये कर्मबन्धनबद्ध संसारी जीवों के जब तक कर्मों का उदय रहता है, तबतक सब प्रदेशों को कँपाने वाला, बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दु:ख सिद्ध होता है।

उक्त कथन का साधक एकदेशीय दृष्टांत यह है कि जैसे यद्यपि समुद्र स्वभाव से निष्कम्प है, तथापि वायु से प्रेरित होकर स्वाधिकार में प्रमत्त होने के कारण व्याकुल देखा जाता है; वैसे ही आत्मा भी कर्मरूपी वायु से बाधित होकर स्वाधिकार में प्रमत्त होने के कारण व्याकुल देखा जाता है।

शंका

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत्।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रत:।। 331।।

अत्र दोषावतारस्य युक्ति: प्रागेव दर्शिता।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वम् कुतोऽर्थत:।। 332॥

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकांतवादिनाम्।। 333।।

जो अबद्ध या बद्ध सभी को सुख शक्ति है इसीलिए।
सदा वर्तता है सुख सबको - ऐसी शंका नहीं करो।। 1099।।
उक्त कथन के दोषों में जो युक्ति पहले कही गई।
वास्तव में यदि जीव सुखी है तो व्याकुलता क्यों होती।। 1100।।
एक जीव ही भिन्न अपेक्षा वही सुखी है वही दुखी।
अनेकान्तवादी यह मानें- यह कहना भी ठीक नहीं है।। 1101।।

अन्वयार्थ :- (**न च वाच्यं**) यहाँ पर ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि (**बद्धस्य अथ अबद्धस्य अपि**) बद्ध और अबद्ध के भी (**तच्छक्तिमात्रतः हेतोः**) केवल आत्मा का गुण विशेष होने के कारण (**तत्-सुखं**) वह सुख (**शाश्वत्**) निरंतर (**विद्यमानं इव अस्ति**) विद्यमान के समान है।। 331।।

(**अत्र**) उपरि उक्त कथन में (**दोषावतारस्य युक्तिः**) दोषों के आने के विषय में युक्ति (**प्राक् एव दर्शिता**) पहले ही प्रदर्शित की जा चुकी है (**यथा**) जैसे कि यदि (**अर्थतः**) वास्तव में (**स्वस्थस्य जीवस्य**) जीव सदैव स्वस्थ रहता है तो उसके (**व्याकुलत्वं कुतः**) व्याकुलता क्यों उपलब्ध होती है ?।। 332।।

(**इति न च**) यह भी कहना ठीक नहीं है कि (**एकस्य एकपदे**) एक आत्मा के एक ही पद में (**अनेकांतवादिनां सिद्धं**) अनेकांतवादियों के यहाँ अंगीकृत (**एकतः सुखव्यक्तिः**) किसी एक दृष्टि से सुख की व्यक्ति और (**एकतः तत् दुखं अस्ति**) किसी एक दृष्टि से वह दुःख भी रहता है।। 333।।

भावार्थ :- आत्मा की बद्ध और अबद्ध दोनों ही अवस्थाओं में वह निराकुल सुख आत्मा का गुण होने के कारण सदैव विद्यमान रहता है - यह आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि आगे इसी आशंका में दोष को बताते हैं -

यदि जीव में सदैव सुख के रहने से अव्याकुलता रहती तो ऊपर के वायु के निमित्त से व्याकुल समुद्र के दृष्टांत से, कर्मनिमित्त वश स्वाधिकार में प्रमत्त होने के कारण, उसमें किसी प्रकार की व्याकुलता की उपलब्धि नहीं पाई जाना चाहिये थी, किन्तु व्याकुलता पाई जाती है। इसलिये सिद्ध होता कि उसमें सुख गुण सदैव विद्यमान नहीं है किन्तु घातिया कर्मों के उदय से संसारी जीवों के सुख गुण की दुःख के रूप में विभाव परिणति हो रही है।

स्याद्वादियों के यहाँ एक वस्तु के एक ही पद में परस्पर विरोधी दो धर्म का सद्भाव युक्तिसिद्ध माना है, इसलिये एक ही आत्मा के एक ही अवस्था में किसी दृष्टि से सुख की व्यक्ति और किसी दृष्टि से दुख की व्यक्ति अबाधित है - यह भी नहीं कहना चाहिये।

अनेकान्त विवक्षा से सुख-दुःख का स्वरूप

अनेकांतः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि।
गुणपर्याययोर्द्वैतात् गुणमुख्यव्यवस्थया।। 334।।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयो।
तदात्वे तन्न तद् द्वैतं द्वैतं चेद् द्रव्यतः क्वचित्।। 335।।

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतःसिद्धो यथाक्रमः।। 336।।

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम्।। 337।।

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः।
आ एकाक्षादापंचाक्षा अप्यन्ये दुःखिनो मताः।। 338।।

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम्।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ।। 339।।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति।। 340।।

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसज्ञिनां न वा।
यतो नीचपदावुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम्।। 341।।

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम्।। 342।।

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात्।। 343।।

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम्।। 344।।

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम्।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तो चिदात्मनः।। 345।।

एक वस्तु में ही वास्तव में मुख्य-गौण की पद्धति से।
गुण-पर्यायें भिन्न इसलिए अनेकान्त प्रमाण होता।। 1102।।
सुख-दुख की अभिव्यक्ति तो पर्यायरूप ही होती है।
अतः न युगपत् हो जीवों में, यदि हो तो दो जीवों में।। 1103।।
बहु प्रलाप से साध्य कहो क्या, यह प्रमाण से सिद्ध हुआ।
सिद्ध हुआ यह जैनागम से आगम तो है सिद्ध स्वयं।। 1104।।
उदयागत रस-सन्मुख कर्मों का फल दुख कहलाता है।
यह सर्वज्ञ वचन ही जिन-आज्ञा है यही जिनागम है।। 1105।।
एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब कार्माण-काय धारी।
और अन्य भी जीव सभी हैं दुखी यही माना जाता।। 1106।।
उसमें हैं रागादि भाव वाचक अरु वाच्य अनिच्छित दुख।
कर्मोदय आघात हेतु से जीव-प्रदेश विघात स्वरूप।। 1107।।
नहीं अन्यथा गति कोई है क्योंकि दोष उत्पन्न अनेक।
दुखी सिद्ध हो संज्ञी प्राणी किन्तु असंज्ञी दुखी असिद्ध।। 1108।।
संज्ञी बहुत दुखी हैं, नहीं असंज्ञी - यह भी ठीक नहीं।
क्योंकि निम्न दशा से उत्तम उच्च दशा कहलाती है।। 1109।।
सूक्ष्म जीव को भी शरीर अरु स्पर्शादि इन्द्रियाँ है।
अतः दुखी वे देहादिक से - यह कहना भी ठीक नहीं।। 1110।।
यदि ऐसा मानो तो विग्रह गति में होती व्याप्ति नहीं।
क्योंकि वहाँ कार्माण-काययुत जीव देह-इन्द्रिय से शून्य।। 1111।।
कर्म-पिण्ड कार्माण-देह से उन्हें दुखी यदि कहते हो।
इसी हेतु से उन्हें अबुद्धि-पूर्वक दुख है - यह मानो।। 1112।।
इससे सिद्ध, निराकुल लक्षण सुख होता है आत्मा को।
क्योंकि कर्मवत् नोकर्मों से मुक्त सिद्ध प्रभु होते हैं।। 1113।।

अन्वयार्थ :- (**अर्थात्**) वास्तव में (**एकत्र वस्तुनि**) एक वस्तु में (**गुणमुख्यव्यवस्थया**)

गौण और मुख्य की व्यवस्था से (**गुणपर्याययोः द्वैतात्**) गुण तथा पर्यायों में द्वैत होने के कारण (**अनेकांतः प्रमाणं स्यात्**) अनेकांत प्रमाण होता है।। 334।।

(**तु**) परन्तु (**सुखदुःखयो अभिव्यक्तिः**) सुख-दुःख की अभिव्यक्ति (**पर्यायरूपा अस्ति**) पर्यायरूप होती है इसलिये (**तदात्वे**) उस सुख और दुःख की अवस्था में (**तत् द्वैतं न**) वे दोनों युगपत् नहीं रह सकते हैं (**तत् द्वैतं चेत्**) यदि उन दोनों का द्वैत युगपत रहता है तो (**क्वचित् द्रव्यतः**) कहीं भिन्न दो द्रव्यों में रह सकता है पर्यायों में नहीं।। 335।।

(**पच्यमानं**) उदयागत (**रसोन्मुख यावत् कर्मफलं दुखं**) रस देने के उन्मुख सम्पूर्ण कर्मों का फल दुःख कहलाता है (**एतत्**) यह जो (**आज्ञामात्रं सर्वज्ञवचनं**) केवल आज्ञारूप सर्वज्ञ का वचन है (**तत् आगमः**) वही आगम है।। 336।।

(**बहुप्रलपनेन अलं**) बहुत कथन से क्या प्रयोजन है क्योंकि (**प्रमाणतः साध्यं सिद्धं**) प्रमाण से अबुद्धिपूर्वक दुःखरूप साध्य सिद्ध होता है (**च**) और (**जैनागमात् अपि सिद्धं**) जैनागम से भी सिद्ध होता है तथा आगमप्रमाण को प्रमाणीक सिद्ध करने के लिए प्रमाणांतर की आवश्यकता नहीं है, कारण कि (**आगमः स्वतःसिद्धः**) आगम स्वतःसिद्ध है (**यथा**) जैसे कि आगे खुलासा करते हैं।। 337।।

(**अत्र यत् अभिज्ञानं तत् एतत्**) इस विषय में जो अभिज्ञान है/खुलासा है वह इसप्रकार है कि (**आएकाक्षात् आपञ्चाक्षाः**) एकेंद्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सम्पूर्ण (**कार्माणकायकाः**) कार्माण कायवाले (**जीवाः**) जीव और (**अन्ये अपि**) औदारिक मिश्र आदि शरीर धारक जितने भी जीव हैं वे सब (**दुखिनः मताः**) दुखी माने गये हैं।। 338।।

(**तत्र**) उसमें (**भावः**) रागादिक भाव (**अभिव्यंजकः**) वाचक तथा (**घातिकर्मोदयात्**) घातिया कर्मों के उदय के आघात से (**जीवदेशवधात्मकं**) जीवों के प्रदेशों के वधस्वरूप (**अनीहितं**) अनिच्छित (**दुःखं वाच्यं**) दुःख वाच्य कहा जाता है।। 339।।

(**अन्यथा**) अन्यथा-यदि कर्मों के उदयमात्र को दुख नहीं माना जायेगा, किन्तु शारीरिक ऐंद्रियक और मानसिक दुःख को ही केवल दुःख माना जायगा तो (**दोषाणां सन्निपाततः**) नाना प्रकार के दोषों के आने से (**साध्वी गतिः न**) वह कथन युक्तियुक्त नहीं ठहरेगा; क्योंकि वैसा मानने से (**एकं संज्ञिनां एव दुखं**) केवल संज्ञी जीवों को ही दुःख सिद्ध होगा (**असंज्ञिनानां दुखं न इति**) किंतु असंज्ञी जीवों को दुख सिद्ध नहीं होगा।। 340।।

(**चेत्**) यदि कदाचित् यह कहा जाय कि (**संज्ञिनां महत् दुखं**) संज्ञी जीवों को बहुत दुःख होता है (**च**) और (**असंज्ञिनां स्वल्पं**) असंज्ञी जीवों को बहुत थोड़ा दुःख होता है तो यह कहना

भी **(न वा)** ठीक नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(नीचपदात्)** नीचपद से **(तथा उच्चैः पदं)** वैसा अर्थात् संज्ञी जैसा ऊँचा पद **(श्रेयः मतं)** श्रेष्ठ माना जाता है।। 341।।

(इति न च वाच्यं) यह भी नहीं कहना चाहिये कि **(सूक्ष्मेषु जीवेषु)** सूक्ष्म एकेंद्रियादि जीवों में **(शरीरं)** शरीर **(च)** और **(स्पर्शनादीन्द्रियाणि च)** स्पर्शनादिक इंद्रियाँ भी **(सन्ति)** होती हैं इसलिए **(अङ्गिनां)** उन प्राणियों को भी **(तत्फलं दुःखं)** कर्मों के फलरूप दुःख शरीर तथा इंद्रियों के निमित्त से मिलता है।। 342।।

क्योंकि **(तथा सति)** वैसा मानने पर **(कार्मणावस्थावस्थितेषु)** विग्रहगति में कार्माण काय योग युक्त प्राणियों में **(अव्याप्तिः)** अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि **(तस्य देहेन्द्रियादि-नोकर्मशून्यस्य दर्शनात्)** उस अवस्था में वह जीव, देह इंद्रिय आदि नोकर्मवर्गणाओं से रहित देखा जाता है।। 343।।

(तत्र) उस कार्माण काययोग की अवस्था में **(कर्मकदम्बकः कार्माणदेहः अस्ति)** कर्म समूहरूप कार्माण शरीर होता है और **(तद्धेतुः दुःखं)** उस कर्मरूपी शरीर के निमित्त से उनके दुःख होता है **(इति चेत्)** यदि ऐसा कहा जाय तो फिर **(अनीहितं दुःखं सिद्धं अस्तु)** अनिच्छित वह कर्मोदय मात्र अबुद्धिपूर्वक दुख सिद्ध हो जाता है तथा वही मान लेना चाहिये।। 344।।

(अपि) तथा कर्मोदयमात्र को दुख सिद्ध हो जाने से **(यत्)** जो **(अनाकुललक्षणं सुखं नाम)** अनाकुलता लक्षणस्वरूप सुख है **(तदपि सिद्धं)** वह भी सिद्ध हो जाता है कारण कि वह सुख **(चिदात्मनः)** चेतनात्मा के **(नोकर्मविप्रमुक्तौ अपि)** कर्मों के समान नोकर्मों के भी अभाव होने पर **(सिद्धत्वात्)** सिद्ध होता है।। 345।।

भावार्थ :- अनेकान्त इसलिये प्रमाण होता है कि किसी एक की मुख्यरूप से विवक्षा करने पर शेष गौण हो जाने के कारण एक ही पदार्थ में गुण और पर्यायों का मुख्य गौण व्यवस्था से द्वैत रह जाता है।

सुख व दुःख ये दोनों सुख गुण की पर्याय हैं, इसलिये इनमें मुख्य-गौण विवक्षा के न रहने से किसी अपेक्षा से सुख की व्यक्ति तथा किसी अपेक्षा से दुःख की व्यक्ति नहीं कही जा सकती, कारण कि सुख-दुख पर्याय होने से जिस समय सुख होगा उस समय दुःख नहीं होगा और जिस समय दुःख होगा उस समय सुख नहीं होता है, इसलिये एक ही जीव में पर्याय की अपेक्षा से अनेकान्त द्वारा दोनों का युगपत सद्भाव अपेक्षा-भेद से सिद्ध नहीं हो सकता है।

सुखादर्शन हेतुपूर्वक अनुमान से तथा आगमप्रमाण से जीव के जब तक कर्मों का उदय रहता है। तब तक निरंतर उसके अबुद्धिपूर्वक दुःख भी रहता है - यह सिद्ध होता है। इसलिये अब इस

विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं है। उस अबुद्धिपूर्वक दु:ख की सिद्धि के लिये इतना ही कथन पर्याप्त है और आगम स्वत:सिद्ध होता है।

अपने अपने फलदान के उन्मुख उदयावस्था को जो किसी भी कर्म का फल है, वह सब दु:ख है। यह सर्वज्ञ देव की आज्ञा ही आगम प्रमाण है।

वह आगम प्रमाण यह है कि आगम में कार्माण कायवाले एकेन्द्रियादि पांचों ही प्रकार के देहधारी और सैनी ये दु:खी माने गये हैं।

यहाँ पर घातिया कर्मों के उदय से जो जीव के प्रत्येक प्रदेश में आघात हो रहा है वहाँ पर अनिच्छित दु:ख वाच्य और रागादिकभाव उसके वाचक हैं अर्थात् जीव के प्रत्येक प्रदेश में घातिया कर्मों के उदय से होने वाले अन्तर्दाह के निवारणार्थ जो इष्ट संयोग तथा अनिष्ट वियोग के लिये बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भाव होते हैं, उससे ही घातिया कर्मों के उदय से होने वाला जीव के प्रत्येक प्रदेश में व्याकुलतामय बुद्धि तथा अबुद्धिपूर्वक दु:ख कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि केवल शरीर मन और इन्द्रिय सम्बधी बुद्धिपूर्वक होने वाला दु:ख ही दु:ख नहीं है, किन्तु कर्ममात्र का उदय दु:ख है। यदि ऐसा न माना जाय तो वे तीनों दुख केवल संज्ञी जीवों के ही पाए जाते हैं, इसलिये केवल संज्ञियों के ही दु:ख सिद्ध होगा असंज्ञियों के नहीं, क्योंकि असैनियों के मन के अभाव में उन दु:खों का अनुभव नहीं होता है, इसलिये असैनियों के बिलकुल ही दु:ख सिद्ध नहीं होगा।

यदि कदाचित् यह कहा जाये कि केवल संज्ञी जीवों के ही दु:ख मानने में क्या हानि है, क्योंकि संज्ञी जीवों की अपेक्षा से असंज्ञी जीवों के बहुत कम दु:ख होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि असैनी से सैनी का पद ऊँचा माना है इसलिये सैनी से असैनी के कम दु:ख सिद्ध नहीं हो सकता है, किन्तु उल्टा असैनी को ही अधिक दु:ख सिद्ध होता है।

उक्त दोष के निवारण करने के लिये यदि एकेन्द्रियादि जीवों के भी, शरीर और इन्द्रियों के होने से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की तरह, शरीर व इन्द्रियों के निमित्त से दु:ख कहा जायेगा तो वह भी ठीक नहीं है।

यदि एकेन्द्रियादि जीवों के भी केवल शरीर और इन्द्रियों के निमित्त से दु:ख माना जायगा तो इस कथन में अव्याप्ति नाम का दोष आता है, क्योंकि कार्माणकाययोग की अवस्था में शरीर और इन्द्रियों का निर्माण करनेवाली आहारादि नोकर्म वर्गणायें नहीं रहती हैं; इसलिये वहाँ पर औदारिक शरीर तथा इन्द्रियों के न रहने से उन जावों में दु:ख सिद्ध नहीं होगा, अत: अव्याप्ति दोष के आने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

विग्रहगति में कर्माण शरीर के निमित्त से दुःख मानने पर कर्मों के उदयमात्र को ही दुःखपना सिद्ध होता है और कर्मों के उदय मात्र को दुःखपना सिद्ध होने से उसके अभाव में अनाकुलतामय जो वास्तविक आत्मीय सुख है, उसकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि आगम में उस स्वाभाविक सुख की व्यक्ति (प्रगटपणा) कर्मों के समान नोकर्मों के भी छूटने पर मानी है, इसलिये जब तक किसी भी कर्म का उदय रहता है, तब तक दुःख तथा जब कर्म व नोकर्म मात्र का अभाव हो जाता है, तब आत्मा को सच्चा सुख प्राप्त होता है।

शंका

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम्।। 346।।

समाधान

न यद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम्।। 347।।
अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वतद्वयोः।। 348।।
ज्ञानानन्दी चितोधर्मौ नित्यौ द्रव्यौपजीविनौ।
देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्वयोरिति।। 349।।
सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात्।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किंचिद्देहेन्द्रियं विना।। 350।।
मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम्।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत्।। 351।।
संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा।। 352।।
स्पर्शीदीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत्।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः।। 353।।
अर्था स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत्।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयान्ति ते।। 354।।

अथ चेत् चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित्।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा।। 355॥
ततः सिद्धं शरीरस्य पंचाक्षाणां तदर्थसात्।
अस्त्यकिंचित्करत्वं तत् चितो ज्ञानं सुखं प्रति।। 356॥

यदि परमात्मा में नहिं होता देह-इन्द्रियों का सद्भाव।
तो उनको सुख और ज्ञान का हो सकता कैसे सद्भाव।। 1114।।
यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि देह-इन्द्रिय से मुक्त -
सिद्ध प्रभु के ज्ञान और सुख सिद्धि हेतु उपलब्ध प्रमाण।। 1115।।
किसी जीव को शुद्ध-सर्वथा ज्ञान और सुख होने योग्य।
किन्तु खेद है हमको उनका एकदेश ही होता स्वाद।। 1116।।
ज्ञान और सुख नित्य जीव के अनुजीवी गुण इसीलिए।
देह-इन्द्रियों के अभाव में उन्हें ज्ञान-सुख का सद्भाव।। 1117।।
क्योंकि सिद्ध को देहेन्द्रिय बिन पाये जाते ज्ञानानन्द।
उनमें गुण लक्षण होता है इसीलिए गुणपना प्रसिद्ध।। 1118।।
मतिज्ञानादिक की उत्पत्ति में है उपादान आत्मा।
देह-इन्द्रियाँ अरु पदार्थ हैं बाह्य हेतु, अहेतुवत् जान।। 1119।।
संसारी या सिद्ध जीव सब हैं ज्ञानादिक लक्षण वाले।
अतः आत्मा ही होता है स्वयं ज्ञान एवं सुखरूप।। 1120।।
स्पर्शादि विषय पाकर ये जीव ज्ञान-सुखमय होते।
तब उनमें वे जड़ स्पर्शादिक पदार्थ क्या कर सकते।। 1121।।
यदि स्पर्शादिक पदार्थ भी स्वयं ज्ञान उत्पन्न करें।
तो वे ज्ञान-शून्य घट पट में क्यों न ज्ञान उत्पन्न करें।। 1122।।
यदि चेतन में ये पदार्थ ही स्वयं ज्ञान उत्पन्न करें।
तो आत्मा चैतन्यरूप है, विषय न कुछ उत्पन्न करें।। 1123।।
अतः सिद्ध है कि आत्मा को ज्ञान और सुख होने में।
देह इन्द्रियाँ और विषय किञ्चित् भी कुछ नहिं कर सकते।। 1124।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि यदि (**परमात्मनि देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः**)

परमात्मा में देह और इंद्रियों का अभाव प्रसिद्ध है तो फिर परमात्मा के **(तदभावे)** शरीर तथा इंद्रियों के अभाव में **(सुखं ज्ञानं)** सुख और ज्ञान **(कथं सिद्धं उन्नीयते)** कैसे कहे जा सकते हैं।। 346।।

(तत् न) उक्त कथन ठीक नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(अत्यक्षस्य अशरीरस्य)** इंद्रियों से तथा शरीर से विमुक्त **(सिद्धस्य)** सिद्ध परमात्मा के **(हेतोः)** हेतुपूर्वक **(ज्ञानसौख्ययोः साधने)** ज्ञान और सुख की सिद्धि के लिए **(प्रमाणं साधनं स्यात्)** प्रमाणीक साधन मौजूद हैं जैसे कि आगे ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं।। 347।।

(यथा) जैसे **(कस्यचित्)** किसी जीव के **(सर्वतः)** सर्वथा **(शुद्धं सुखं ज्ञानं)** शुद्ध सुख और ज्ञान **(अस्ति)** होने चाहिये क्योंकि **(वत)** खेद है कि **(अस्मददीनां अपि)** हम लोगों के भी **(द्वयोः)** उन शुद्ध सुख तथा ज्ञान का **(देशतः)** एकदेशरूप से **(स्वादुमात्रं)** अनुभवमात्र ही पाया जाता है।। 348।।

(चितः) आत्मा के **(ज्ञानानन्दौ)** ज्ञान और सुख **(नित्यौ द्रव्योपजीविनौ धर्मौ)** नित्य तथा द्रव्य के अनुजीवी गुण हैं **(इति)** इसलिये **(देहेन्द्रियाद्यभावे अपि)** परमात्मा के देह और इंद्रिय आदि का अभाव होने पर भी **(तत् द्वयोः अभावः न)** उसके उन दोनों का अभाव नहीं कहा जा सकता है।। 349।।

(यतः) क्योंकि **(तत्र अवस्थायां अपि)** उस सिद्ध अवस्था में भी **(किंचित् देहेन्द्रियं विना)** किसी भी देह और इन्द्रियों के निमित्त के बिना ज्ञान व सुख पाये जाते है **(ततः)** इसलिए **(आनन्दज्ञानयोः)** आनन्द तथा ज्ञान में **(गुणलक्षणात्)** गुण का लक्षण घटित होने से उनमें **(धर्मत्वं सिद्धं)** गुणपना सिद्ध होता है।। 350।।

(मतिज्ञानादिवेलायां) मतिज्ञानादि के उत्पन्न होने के समय **(आत्मा उपादान-कारणं)** आत्मा उपादानकारण है और **(देहेन्द्रियाः)** देह इंद्रिय **(च)** तथा **(तदर्थाः)** उन इंद्रियों के विषयभूत पदार्थ **(बाह्य हेतुः)** केवल बाह्य हेतु हैं अतः वे **(अहेतुवत्)** अहेतु के बराबर हैं।। 351।।

(जीवः) जीव **(संसारे वा विमुक्तौ वा)** संसार तथा मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में **(ज्ञानादिलक्षणः)** ज्ञानादिक स्वरूपवाला ही होता है अतः **(एषः आत्मा एव)** यह आत्मा ही **(स्वयं)** स्वयं **(ज्ञानं वा सौख्यं वा)** ज्ञान अथवा सुखमय **(भवति)** होता है।। 352।।

मतिज्ञानादिक के समय **(जीवश्च)** जीव भी **(स्पर्शादीन् प्राप्य)** स्पर्शादि विषयों को विषय करके **(स्वयं तत् ज्ञानं च सुखं)** स्वयं उस ज्ञान और सुखमय हो जाता है अतः **(तत्र)** आत्मा

के उस ज्ञान तथा सुख में (**ते जडाः स्पर्शादयः अर्थाः**) वे अचेतन स्पर्शादिक अर्थ बिचारे (**किं करिष्यन्ति**) क्या कर सकते हैं ?।। 353।।

(**चेत्**) यदि (**स्पर्शादयः अर्थाः**) स्पर्शादिक विषय (**स्वैरं**) स्वतंत्र, बिना आत्मा के (**ज्ञानं**) ज्ञान (**उत्पादयन्ति**) उत्पन्न करते होते तो (**ते**) वे स्पर्शादिक (**ज्ञानशून्ये घटादौ च**) ज्ञानशून्य घटादिक में भी (**तत्**) वह ज्ञान (**किं न उत्पादयन्ति**) क्यों उत्पन्न नहीं करते हैं।। 354।।

(**अथ चेत्**) और यदि यह कहा जाय कि (**चेतने द्रव्ये**) चेतन द्रव्य में (**क्वचित्**) कहीं पर ये स्पर्शादिक (**ज्ञानस्य उत्पादकाः**) ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो (**तस्य**) उस आत्मा के (**स्वयं चेतनत्वात्**) स्वयं चेतन होने के कारण (**तत्र**) उस चेतन आत्मा में वे स्पर्शादिक (**किं वा उत्पादयन्ति**) क्या उत्पन्न करते हैं अर्थात् कुछ नहीं।। 355।।

(**ततः सिद्धं**) इसलिये सिद्ध होता है कि (**चितः**) आत्मा के (**तज्ज्ञानं सुखं प्रति**) उस इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख के प्रति (**शरीरस्य**) शरीर को (**पंचाक्षाणां**) पाँचों ही इन्द्रियों को तथा (**तदर्थ सात्**) उन इन्द्रियों के विषयों को (**अकिन्चित्करत्वं अस्ति**) अकिन्चित्कारित्व है।। 356।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि यदि परमात्मा के शरीर और इन्द्रियों का अभाव है, तो परमात्मा के शरीर तथा इन्द्रियों के बिना ज्ञान और सुख कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आगे के पद्य से ग्रन्थकार ने इंद्रिय और शरीर से रहित परमात्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान को और सुख को प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है।

हम लोगों में किसी-किसी को अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है उनको शुद्ध सुख और ज्ञान का केवल स्वाद पाया जाता है, इसलिये अनुमान किया जाता है कि किसी न किसी के उनकी पूर्णता होनी चाहिये, क्योंकि जिसमें तरतम भाव पाया जाता है उसकी कही न कहीं पर पूर्णता अवश्य होती है यहाँ पर खेदवाचक वत् शब्द का यह प्रयोजन है कि कर्मों के उदय की परवशता वश शुद्ध सुख और ज्ञान का स्वादमात्र भी सबको नहीं हो सकता है, किन्तु केवल सम्यग्दृष्टियों को होता है।

ज्ञान और सुख आत्मा के अनुजीवी गुण हैं, अतः परमात्मा के देह तथा इन्द्रियों का अभाव होने पर भी उन दोनों का अभाव नहीं कहा जा सकता है।

सिद्ध अवस्था में भी किसी शरीर तथा इन्द्रिय के सद्भाव के बिना ही ज्ञान और सुख में गुण का लक्षण घट जाता है। इसलिये उन दोनों में गुणपना असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है।

तथा इन्द्रियज्ञान के होते समय इन्द्रियाँ केवल बाह्य हेतु मानी जाती हैं, उपादान कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण तो आत्मा ही होता है; इसलिये वास्तव में इन्द्रिय-ज्ञान में इन्द्रियाँ अहेतु के ही समान हैं क्योंकि मृत अवस्था में इंद्रियों के रहते हुये भी इंद्रिय-ज्ञान नहीं होता है।

जीव संसार अथवा मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में अपने ज्ञान आदि लक्षणों से युक्त रहता है। अपने लक्षणों से कभी भी च्युत नहीं होता है, इसलिये आत्मा ही स्वयं ज्ञान और सुखरूप है – ऐसा समझना चाहिये।

इन्द्रिय ज्ञान के होते समय वास्तव में आत्मा ही स्पर्शादि विषयों को प्राप्त करके स्वयं ज्ञान और सुखमय हो जाता है, इसलिये उस विषय में ज्ञानोत्पत्ति में बिचारे अचेतन स्पर्शादि क्या कर सकते हैं? अर्थात् स्पर्शादि विषय इन्द्रियज्ञान में केवल अवलम्बन मात्र हैं, इसलिये वे ज्ञान के उत्पादक कारण नहीं हो सकते हैं।

यदि स्पर्शादिक विषय ज्ञान के उत्पादक हैं तो वे अचेतन घटादिक में ज्ञान को उत्पन्न क्यों नहीं करते हैं?

यदि कहा जाय कि स्पर्शादिक, चेतन द्रव्य में ज्ञान के उत्पादक होते हैं अचेतन में नहीं; इसलिये घटादिक में ज्ञान उत्पन्न नहीं करते हैं, तो चेतन आत्मा तो स्वयं ज्ञानात्मक है इसलिए उसमें उन्होंने ज्ञान का उत्पादन क्या किया है अर्थात् कुछ नहीं।

उक्त कथन से सिद्ध होता है कि आत्मा के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के और सुख के प्रति शरीर, इन्द्रिय तथा उनके विषय अनुत्पादक होने से अकिंचित्कारी हैं।

शंका

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम्।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदाकिञ्चित्करं कथम्।। 357।।

समाधान

नैवं यतोऽन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात्।
कार्याभिव्यञ्जकः कोऽपि साधनं न विनान्वयम्।। 358।।

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः।। 359।।

तथा देहेंद्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः।। 360।।

नाप्युपादानशून्येऽपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम्।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः।। 361।।

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात्।। 362।।
किंच साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः।। 363।।
कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत्।। 364।।
अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः।। 365।।

किन्तु देह अरु इन्द्रिय-विषयों के होने पर ही होते-
ज्ञान और सुख मनुजों को तो कहो अकिञ्चित्कर कैसे।। 1125।।
अन्वय के होने पर ही वह हेतु व्यञ्जक हो सकता।
क्योंकि बिना अन्वय के कोई कार्य नहीं व्यञ्जक होता।। 1126।।
यथा हवन सामग्री में जो गन्ध अग्नि से व्यञ्जित हो।
किन्तु बिना सामग्री के वह गन्ध अग्नि से नहिं होती।। 1127।।
वैसे तन-इन्द्रिय पदार्थ भी कहे ज्ञान-सुख के व्यञ्जक।
किन्तु स्वयं वे ज्ञान और सुखरूप कभी नहिं हो सकते।। 1128।।
उपादान के बिना मात्र अभिव्यञ्जक से सुख-ज्ञान नहीं।
यदि ऐसा नहिं मानेंगे तो उपादान बिन कार्य बने।। 1129।।
इसीलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव सिद्ध या संसारी।
नहीं गुणों का अतिक्रम करते अतः ज्ञान-सुख गुण उनके।। 1130।।
तथा ज्ञान सुख सावरणी होते संसार अवस्था में।
और मुक्त जीवों को हो सुख-ज्ञान सदा आवरण विहीन।। 1131।।
कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्म गुणों का नाश न हो।
लेकिन कीचड़ का अभाव होने पर जलवत् निर्मल हो।। 1132।।
कर्म कलंक नष्ट होने पर होते नष्ट चिदात्म विकार।
क्योंकि क्षणिक पर्यायरूप एवं विकार हैं कर्मज भाव।। 1133।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**नृणां**) मनुष्यों को (**देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु**)

देह इन्द्रिय और अर्थों के रहने पर ही (**ज्ञानं सुखं**) ज्ञान तथा सुख होते हैं और (**असत्सु**) उन देहादिक के नहीं रहने पर (**सुखं ज्ञानं न**) सुख तथा ज्ञान नहीं होते हैं, इसलिये (**तत्**) वे देहादिक (**अकिञ्चित्करं कथं**) ज्ञान व सुख के प्रति अकिञ्चित्कर कैसे हो सकते हैं।। 357।।

(**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**व्यञ्जके अन्वयापेक्षे सति हेतु दर्शनात्**) व्यञ्जक, अन्वय/द्रव्य की अपेक्षा रखने पर ही साधक/हेतु हो सकता है, क्योंकि (**कोऽपि कार्याभिव्यञ्जकः**) कोई भी कार्य का अभिव्यञ्जक/द्योतक (**अन्वयं विना साधनं न**) अन्वय/द्रव्य की अपेक्षा के बिना साधक/हेतु व्यञ्जक नहीं हो सकता है।। 358।।

(**दृष्टान्तः**) उक्त कथन का साधक दृष्टान्त यह है कि जैसे यद्यपि (**पावकः**) अग्नि (**अगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः भवेत्**) अगुरु द्रव्य के गन्ध की व्यञ्जक होती है परन्तु (**अगुरु द्रव्यं विना**) अगुरु द्रव्य के बिना (**सगन्धः**) वह गन्ध (**तत्पावकस्य न स्यात्**) वास्तव में उस अग्नि का नहीं हो सकता है (**तथा**) वैसे ही यद्यपि (**देहेन्द्रियं च अर्थाः**) देह इन्द्रिय और पदार्थ (**क्वचित्**) कहीं पर (**ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य**) ज्ञान तथा सुख के (**अभिव्यञ्जकाः सन्ति**) अभिव्यञ्जक होते हैं परन्तु वे (**स्वयं**) स्वयं (**चित्सुखात्मकाः न**) ज्ञान और सुख स्वरूप नहीं हो जाते हैं।। 359-360।।

(**अपि**) तथा (**उपादानशून्ये**) उपादान के बिना (**अभिव्यञ्जकात् अपि**) केवल अभिव्यञ्जक से ही (**सुखं या ज्ञानं न स्यात्**) सुख और ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि (**तत्र सति**) वैसा मानने पर अर्थात् उपादान के बिना केवल अभिव्यञ्जक से सुख या ज्ञान की उत्पत्ति को मानने से (**सर्वत्र हेतु शून्यानुङ्गतः**) सर्वत्र उपादान कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आवेगा।। 361।।

(**ततः**) इसलिये (**संसारे वा विप्रमुक्तौ गुणानां अनतिक्रमात्**) संसार तथा मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में गुणों को उल्लङ्घन न करने से (**ज्ञानं पुनः सौख्यं वा गुणः जीवस्य सिद्धं**) ज्ञान और सुख ये दोनों ही गुण जीव के सिद्ध होते हैं।। 362।।

(**किं च**) तथा (**आत्मनः**) आत्मा की (**संसारपर्यये**) संसार अवस्था में (**साधारणं ज्ञानं सुखं**) साधारण ज्ञान और सुख होता है तथा (**मुक्तौ**) मुक्त अवस्था में (**निरावरणं तत् ज्ञानं वा सुखं**) शुद्ध वह ज्ञान और सुख होता है।। 363।।

(**कर्मणां विप्रमुक्तौ तु**) कर्मों का क्षय हो जाने पर (**नूनं आत्मगुणक्षतिः न**) निश्चय से आत्मा के गुणों का नाश नहीं होता है (**प्रत्युत**) किन्तु उल्टे (**पङ्कापाये**) कीचड़ का अभाव हो जाने से (**जलादिवत्**) जलादिक की तरह आत्मा में (**अतीव नैर्मल्यं**) अत्यन्त निर्मलता प्रगट हो जाती है।। 364।।

(**कर्ममलापाये**) कमर्मल का नाश हो जाने पर (**आत्मनः**) आत्मा के (**विकारक्षतिः अस्ति**) विकारों का नाश हो जाता है क्योंकि (**सः विकारः**) वह विकार (**कादाचित्कः**) अनित्य (**पर्ययः**) पर्यायरूप और (**कर्मजः भावः**) कर्मजन्य भाव है।। 365।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि ज्ञान और सुख, देह इंद्रिय तथा उनके अर्थों के रहने पर ही होते हैं अन्यथा नहीं, इसलिए देहादिक, ज्ञान तथा सुख के प्रति अकिंचित्कारी क्यों कहे जाते हैं?

आत्मा के ज्ञान और सुख अभिव्यञ्ज्य तथा शरीरादिक अभिव्यञ्जक हैं। कोई भी अभिव्यञ्जक अपने अभिव्यञ्ज्य का अर्थात् व्यञ्जक अपने-अपने द्रव्य के अन्वय की अपेक्षा रखकर के ही अभिव्यञ्जक हो सकता है अन्यथा नहीं, इसलिए आत्मा के अनुजीवी गुण होने से ज्ञान और सुख में जो आत्मा का अन्वय पाया जाता है, उस अन्वय का उल्लंघन नहीं करके ही शरीरादिक आत्मा में ज्ञान सुख के द्योतक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अग्नि अगुरु द्रव्य के गंध की व्यञ्जक होने से स्वयं गंधरूप नहीं हो जाती, वैसे ही देह और इंद्रियादिक, सुख और ज्ञान के अभिव्यञ्जक होने से स्वयं ज्ञान तथा सुखस्वरूप नहीं हो जाते हैं।

यदि ज्ञान और सुख के उपादानकारणभूत आत्मा से ज्ञान व सुख की सिद्धि न मानकर केवल ज्ञान-सुख के अभिव्यञ्जक शरीर तथा इंद्रियादिक से ही ज्ञान व सुख की सिद्धि मानी जाएगी तो उपादन कारण के बिना ही सर्वत्र केवल अभिव्यञ्जक से ही कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आवेगा।

इसलिए ज्ञान तथा सुख ये दोनों संसार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में गुण के लक्षणानुसार जीव के गुण सिद्ध होते हैं।

तथा इतना विशेष है कि संसार अवस्था में आत्मा के साधारण ज्ञान और सुख होता है तथा मुक्त अवस्था में शुद्ध ज्ञान व सुख होता है।

कर्मों का क्षय होने पर आत्मा के गुणों का नाश नहीं होता है, किन्तु जिसप्रकार पंक के अभाव में जल में अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है उसी प्रकार कर्मपंक के अभाव में आत्मा में अत्यन्त निर्मलता प्रगट होती है।

कर्मजन्य विकार कादाचित्क और पर्यायरूप है, इसलिए मुक्त अवस्था में कर्मरूपी मल का नाश हो जाने पर आत्मा के विकार का अवश्य ही नाश हो जाता है, क्योंकि वे विकार गुण व द्रव्य नहीं हैं, किन्तु कादाचित्क पर्यायरूप हैं। अतः मुक्त अवस्था में उनका अभाव मानना युक्तियुक्त है।

गुणों की नित्यता की सिद्धि

नष्टे चाशुद्धपर्याये माभूद् भ्रान्तिर्गुणव्यये।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात् परमात्मनि।। 366॥

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः।
पीत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोऽस्ति चेत्।। 367।।
एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात्।। 368।।
न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुखानुषंगतः।। 369।।
निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः।
देहेंद्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः।। 370।।

यदि अशुद्ध पर्याय नष्ट हो तो न करो गुण-व्यय की भ्रान्ति।
गुण शाश्वत हैं अतः ज्ञान-आनन्द पूर्ण परमात्मा में।। 1134।।
यथा अग्नि-संयोग प्राप्त कर मल-पाषाण नष्ट होते।
किन्तु स्वर्ण के पीत आदि गुण कभी विनष्ट नहीं होते।। 1135।।
कोइ कहे इक्कीस गुणों का क्षय लक्षण है मोक्ष कहो।
किन्तु असत् यह क्योंकि गुणों का हो विनाश तो जीव विनष्ट।। 1136।।
आत्मा के निज गुण विकाश नहि दुख के कारण हो सकते।
क्योंकि मूल विनाश सौख्य का दुख अनन्त का कारण हो।। 1137।।
इसीलिए सुख-ज्ञानरूप परमात्मा को निश्चित होते।
देह और इन्द्रियों रहित सुख-ज्ञान अतीन्द्रिय हैं उनके।। 1138।।

अन्वयार्थ :- (**च**) तथा (**अशुद्धपर्याये नष्टे**) अशुद्ध पर्याय के नष्ट होने पर (**गुणव्यये**) ज्ञानादिक गुणों के नाश होने के विषय में (**भ्रान्तिः माभूत्**) भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि (**अस्य नित्यत्वात्**) गुण नित्य होते हैं इसलिये (**परमात्मनि**) परमात्मा में (**उच्चैः**) भले प्रकार (**ज्ञानानन्दत्वं**) ज्ञान और आनन्दपना पाया जाता है।। 366।।

(**यथा**) जैसे (**चेत् कार्तस्वरः**) यदि सुवर्ण हो तो (**पावकयोगतः**) अग्नि के संयोग से (**दृषदादिमलापाये**) पत्थर आदि मल के नाश होने पर (**पीतत्वादिगुणाभावः न स्यात्**) उसके पीतत्व आदि गुणों का अभाव/नाश नहीं हो सकता है।। 367।।

(**एकविंशतिदुःखानां निर्मोक्षलक्षणः मोक्षः**) इक्कीस प्रकार के दुःखों का निर्मोक्ष/ सर्वथा अभाव ही मोक्ष है (**इति एके**) ऐसा कोई मानते हैं, किन्तु (**तत् असत्**) उनका यह मानना ठीक

नहीं है, क्योंकि **(जीवगुणानां शून्यसाधनात्)** जीव के गुणों का नाश मानने से जीव के भी अभाव का प्रसङ्ग आवेगा।। 368।।

(आत्मनः) आत्मा के **(निजगुणव्यक्तिः)** निजगुणों का विकास **(दुःखसाधन न स्यात्)** दुख का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि **(सुखस्य)** सुख का **(मूलतः नाशान्)** मूल से नाश हो जाने से **(अतिदुखानुषंगतः)** आत्मा के अत्यन्त दुःख का प्रसङ्ग आवेगा।। 369।।

इसलिये **(ज्ञानरूपस्य)** ज्ञानरूप **(पुनः)** और **(सुखरूपस्य वा)** सुखस्वरूप भी **(परात्मनः)** मुक्त जीव के **(देहेन्द्रियैः विना अपि)** देह इन्द्रियादिक के बिना भी **(निश्चितं)** निश्चयरूप से **(ज्ञानानन्दौ स्तः)** ज्ञान और सुख होते हैं।। 370।।

भावार्थ :- अशुद्ध पर्यायों के नाश होने से उन ज्ञान और सुख के नाश की आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि ज्ञान तथा सुख गुण होने से नित्य हैं, अशुद्ध पर्यायों के समान अनित्य नहीं है। इसलिए उनका कभी भी नाश नहीं हो सकता, अतः परमात्मा के शरीरादिक बिना भी भले प्रकार ज्ञान और आनन्दपना सिद्ध होता है।

जैसे सुवर्ण को अग्नि के द्वारा तपाये जाने पर भी मल के नाश होने से उसके पीतत्व, गुरुत्व आदि गुणों का नाश नहीं होता, वैसे ही आत्मा को ध्यानाग्नि के द्वारा तपाये जाने पर अशुद्ध पर्याय के नाश होने से उसके ज्ञानादिक गुणों का अभाव नहीं होता।

नैयायिकों के यहाँ सुख के समान दुःख भी एक गुण माना है तथा उसके इक्कीस प्रकार हैं। उन इक्कीसों ही प्रकार के दु खों से छूटने का नाम मोक्ष है अर्थात् मोक्ष में दुःख नाम के गुण के सम्पूर्ण प्रकारों का अभाव हो जाता है – ऐसा नैयायिक मानते हैं, परन्तु दुख को गुण मानकर मुक्त अवस्था में उसका अभाव मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि गुणों के नाश होने पर गुणी (द्रव्य) के भी नाश का प्रसंग आता है, इसलिए एकविंशतिदुःखक्षय मोक्ष का लक्षण ठीक नहीं है।

मुक्त अवस्था में आत्मा के सुख गुण का पूर्ण विकास होता है, यदि उस विकास को शरीरादिक के अभाव के कारण सुखाभाव कहोगे तो उस सुखाभाव से आत्मा के अत्यन्त दुःख का प्रसंग आवेगा, इसलिए मुक्त अवस्था में शरीरादिक का अभाव होने पर भी निजगुण के विकास को सुख का अभाव कहना ठीक नहीं है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन का अभाव होना ही निजगुण का विकास है, इसलिए शरीरादिक के अभाव में सुखाभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

इसलिये ज्ञानरूप तथा सुखरूप परमात्मा के देह इन्द्रिय और मन के बिना भी ज्ञान व आनन्द निश्चित रूप से सिद्ध हैं।

द्वितीय अधिकार

सम्यग्दर्शन अधिकार

(छन्द 371 से 948)

सम्यग्दृष्टि की परिणति एवं उत्पत्ति

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत्।। 371।।

शंका

ननूल्लेखः किमेतावानस्ति किंवा परोऽप्यतः।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः पुमान्।। 372।।

समाधान

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यै (श्च) संलक्ष्यते सुदृक्।। 373।।
उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः।। 374।।
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः।। 375।।
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः।। 376।।

इस प्रकार तत्त्वज्ञ आत्मदर्शी वह सम्यग्दृष्टी जीव।
इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अरु सुख में राग-द्वेष परित्याग करे।। 1139।।
सम्यग्दृष्टी के बारे में बस इतना ही या कुछ और।
लक्षण है उसके जिससे उसको पहचाना जा सकता।। 1140।।
और दूसरे भी लक्षण होते हैं सम्यग्दृष्टी के।
सम्यग्दर्शन के अविनाभावी लक्षण से पहचानें।। 1141।।
जैसे ज्ञानी को इन्द्रिय सुख और ज्ञान आदेय नहीं।
वैसे ही दृष्टोपलब्धि से सभी कर्म आदेय नहीं।। 1142।।

वास्तव में सम्यक्त्व सूक्ष्म होने से केवलज्ञान सुगम्य।
तथा अवधि एवं मनपर्यय दोनों ज्ञानों से भी गम्य।। 1143।।
मति-श्रुत ज्ञानों द्वारा सम्यग्दर्शन बिलकुल गम्य नहीं।
देशावधि ज्ञान के द्वारा भी होता उपलब्ध नहीं।। 1144।।

अन्वयार्थ :- (**इति एवं**) इसप्रकार (**ज्ञाततत्त्वः**) तत्त्वों को जानने वाला (**निजात्मदृक्**) स्वात्मदर्शी (**असौसम्यग्दृष्टिः**) यह सम्यग्दृष्टि जीव (**वैषयिके सुखे**) इन्द्रियजन्य सुख और (**ज्ञाने**) ज्ञान में (**राग-द्वेषौ**) राग तथा द्वेष का (**परित्यजेत्**) परित्याग करें।। 371।।

(**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**किं एतावान् उल्लेखः किंवा अतः परः अपि अस्ति**) क्या सम्यग्दृष्टि के विषय में इतना ही उल्लेख है अथवा इससे भी अधिक कुछ है अर्थात् सम्यग्दृष्टि का क्या इतना ही स्वरूप है अथवा और भी कुछ है कि (**येन लक्षणेन**) जिस स्वरूप के द्वारा (**अञ्चितः पुमान्**) युक्त जीव (**सदृष्टिः लक्ष्यते**) सम्यग्दृष्टि कहलाता है।। 372।।

(**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीव के (**अपराणि लक्ष्माणि अपि सन्ति**) दूसरे लक्षण भी हैं कि (**सम्यक्त्वेन अविनाभूतैः यैः च**) सम्यक्त्व के अविनाभावी जिन लक्षणों के द्वारा (**सुदृक**) सम्यग्दृष्टि जीव (**संलक्ष्यते**) लक्षित होता है।। 373।।

(**यथा**) जैसे (**दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि को (**उक्तं आक्ष्यं सुखं ज्ञान**) उक्त इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान (**अनादेयं**) आदेय नहीं होते हैं (**तद्वत्**) वैसे ही (**दृष्टोपलब्धितः**) आत्मप्रत्यक्ष[5] होने के कारण (**सर्व कर्मं च**) सम्पूर्ण कर्म भी (**आदेयं न**) आदेय नहीं होते हैं।। 374।।

(**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**वस्तुतः**) वास्तव में (**सूक्ष्मं**) सूक्ष्म है और (**केवलज्ञानगोचरं**) केवलज्ञान के गोचर है (**वा**) तथा (**अवधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोः द्वयो**) अवधि और मनःपर्यय इन दोनों के (**गोचरं**) गोचर है।। 375।।

(**तत्र**) उन पाँचों ज्ञानों में से (**मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोः**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों ज्ञानों के तो वह सम्यक्त्व (**मनाक् गोचरं न**) बिलकुल गोचर नहीं है तथा (**अनुपलब्धितः**) देशावधि के द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती है, इसलिए वह (**देशावधेः अपि विषयः न**) देशावधि का भी विषय नहीं है।। 376।।

भावार्थ :- इसप्रकार आत्मीक ज्ञान और सुख के रहस्य को जानने वाला आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख तथा ज्ञान में राग-द्वेष नहीं करता है।

---

5. सम्यग्दृष्टि को सम्पूर्ण कर्मों में उपादेयबुद्धि नहीं होती - यह बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

शंकाकार का कहना है कि सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख में राग-द्वेष नहीं करता है, इतना ही क्या सम्यग्दृष्टि का लक्षण है अथवा और भी कोई लक्षण है कि जिनके द्वारा लक्षित जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इंद्रियजन्य विषयों में रागद्वेष नहीं करने के साथ-साथ सम्यग्दृष्टि जीव के और भी लक्षण हैं तथा वे सब सम्यग्दर्शन के अविनाभावी हैं अत: उनके द्वारा भी सम्यग्दृष्टि जाना जाता है।

जैसे सम्यग्दृष्टि जीव को इंद्रियजन्य सुख, ज्ञान व भोगोपगोग आदि क्रियायें अनादेय हैं वैसे ही उसको कर्ममात्र भी अनादेय है, चाहे वह महाप्रशस्त तीर्थंकरनामकर्म भी क्यों न हो।

सम्यग्दर्शन आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, इसलिए वह वास्तव में सूक्ष्म है तथा केवलज्ञान और सुअवधि व मनःपर्ययज्ञान के गोचर है।

पाँचों ज्ञानों में से मति और श्रुतज्ञान अत्यन्त परोक्ष हैं। वे इन्द्रियगोचर पदार्थों को ही विषय करने वाले हैं, इसलिए उनके द्वारा सम्यक्त्व बिल्कुल नहीं जाना जा सकता है। यद्यपि देशावधि का विषय अतींद्रिय है, परन्तु सम्यक्त्व को विषय करने के योग्य नहीं होता, इसलिए वह सम्यक्त्व उसके द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है, किन्तु फलबलात् सिद्ध होता है कि परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के द्वारा ही वह सम्यक्त्व जाना जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के उपाय, भेद और स्वरूप

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद् दृङ्मोहोदयान्मिथ्या स्वादुरूपमनादितः।। 377।।
दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते।। 378।।
प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात्।। 379।।

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प अरु गुण विशेष है आत्मा का।
वह अनादि से दृग्मोहोदय से मिथ्यारस से मिला हुआ।। 1145।।
दैवयोग कालादिलब्धि अरु प्रत्यासन्न भवार्णव से।
अरु भव्यत्व विपाक हेतु से जीव प्राप्त सम्यक्त्व करे।। 1146।।
दर्श-मोह का उपशम होता बिना प्रयत्न सहज में ही।
गुणश्रेणी निर्जरा अनतिक्रम से अन्तमुहूर्त में ही।। 1147।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**सम्यक्त्वं निर्विकल्पकं**) सम्यक्त्व निर्विकल्पक है और वह (**आत्मनः कश्चित् गुण अस्ति**) आत्मा का एक विशेष गुण है परन्तु (**तत्**) वह (**अनादितः**) अनादिकाल से (**दृगमोहोदयात्**) दर्शन मोहनीय के उदय से (**मिथ्यास्वादुरूपं**) मिथ्यात्व युक्त हो रहा है।। 377।।

(**दैवात्**) दैवयोग से (**कालादिसंलब्धौ**) कालादिक लब्धियों की प्राप्ति होने पर (**भवार्णवे प्रत्यासन्ने**) संसारसागर के निकट होने पर (**वा**) अथवा (**भव्यभावविपाकात्**) भव्यता के विपाक होने से (**जीवः**) जीव (**सम्यक्त्वं अश्नुते**) सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।। 378।।

उक्त कारण सामग्री के मिलते ही (**प्रयत्नं अन्तरेण अपि**) प्रयत्न के बिना भी (**गुणश्रेण्यनतिक्रमात्**) गुणश्रेणी निर्जरा के अनुसार (**अन्तर्मुहूर्तमात्रं च**) केवल अन्तर्मुहूर्त काल में ही (**दृङ्मोहोपशमः भवेत्**) दर्शनमोहनीय का उपशम हो जाता है।। 379।।

भावार्थ :- सम्यक्त्व आत्मा का एक निर्विकल्प गुण है और वह अनादिकाल से मिथ्यात्व के उदय से विपरीतरूप से परिणत हो रहा है।

दैववश संसार के आसन्न होने पर, कालादिक लब्धियों की प्राप्ति होने पर अथवा भव्यत्व नामागुण के विपाक से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। भव्यत्व आत्मा का एक गुण है। संसार अवस्था में ज्ञानादिक गुण के साथ उसका अभेद होने से एकार्थ सम्बन्ध के कारण अर्थात् आत्मा की अशुद्धता से उसमें भी अशुद्ध परिणमन होता है, किन्तु जब संसार सागर निकट रह जाता है अथवा कालादि लब्धियों की प्राप्ति हो जाती है तब जीव के उस भव्यत्व गुण के परिणमन में एक प्रकार की विशेषता आती है कि जिसके कारण जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इतर शास्त्रों में पंच लब्धियों को ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बताया है। परन्तु यहाँ पर ग्रंथकार ने भव्यत्व के विपाक को भी कारण बताया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी '**औपशमिकादि भव्यत्वानां च**' इस सूत्र से यही द्योतित होता है कि भव्य-भाव यद्यपि पारिणामिक है परन्तु उसके अशुद्धपरिणमन का मुक्त अवस्था में अभाव हो जाता है। इसलिए भव्य भाव का विपाक भी एक कारण है।

उक्त काललब्धि आदि निमित्तों के मिलते ही बिना किसी प्रयत्न के गुणश्रेणी निर्जरापूर्वक अर्थात् करणलब्धि के प्राप्त हो जाने से अन्तमुहूर्त में ही दर्शनमोहनीय का उपशम हो जाता है।

सारांश यह है कि सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व होता है इसके द्योतन करने के लिए 'दृंगमोहोपशम' पद दिया तथा अध:करणादि करणलब्धिपूर्वक ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है इसके द्योतन के लिए 'गुणश्रेण्यनतिक्रमात्' पद दिया है और करणलब्धि के काल को सूचित करने के लिए 'अन्तर्मुहुर्तमात्रं' पद दिया है। ऊपर के पद्य के 'कालादिलब्धौ' इस पदवर्ती आदि शब्द से क्षयोपशम,

विशुद्धि और देशना लब्धि का ग्रहण होता है। 'प्रत्यासन्नेभवार्णवे' इस पद से प्रायोग्य लब्धि का बोध होता है तथा भव्यभावविपाकत् इस पद से सम्पूर्ण लब्धियों में आत्मा के भव्यभाव का विपाक कारण है और पाँचों ही लब्धियाँ कर्मों की अपेक्षा से कारण हैं – ऐसा द्योतित होता है।

इसप्रकार प्रसिद्ध पाँच लब्धियों के मिलने पर भव्य-भाव विपाक से दर्शनमोह के उपशम होने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके [कैः]।। 380 ।।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः।। 381 ।।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्ति [प्रसाद] मासेदुः सर्वतो विमलाशयाः।। 382 ।।

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत्।। 383 ।।

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्छितः।। 384 ।।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्र्यं वा तथा भ्रमः।
प्रशान्तत्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः।। 385 ।।

दर्श मोह के उपशम से जो चेतन की पर्याय विशेष।
उसको उपशम समकित कहते किन्तु नहीं चैतन्य विकल्प।। 1148 ।।
यह समकित सामान्य अपेक्षा और विशेषापेक्षा से।
निर्विकल्प सत्ता स्वरूप है आत्म-प्रदेशों में वर्ते।। 1149 ।।
यथा सूर्य किरणों से होता अन्धकार का पूर्ण विनाश।
सर्व दिशाएँ निर्मल होकर प्रसन्नता को होती प्राप्त।। 1150 ।।
दर्श-मोह के उपशम से सम्यग्दृष्टि का यही कथन।
क्योंकि बन्धत्रय क्षयकारी शुद्धता-प्रदेशों में उत्पन्न।। 1151 ।।

अथवा मदिरा और धतूरे का ज्यों नशा उतर जाता।
तब वह नर प्रसन्न हो जाता - यह भी है दृष्टान्त सबल।। 1152।।
तथा दर्श-मोहोदय से हो मूर्छा उससे भ्रम अज्ञान।
किन्तु मोह का उपशम हो तब जीव निरामय और प्रसन्न।। 1153।।

अन्वयार्थ :- (**दृङ्मोहोपशमात्**) दर्शनमोहनीय के उपशम से (**पुंसः**) जीव की (**अवस्थान्तराकारं**) अवस्थाविशेष (**उपशमसम्यक्त्वं अस्ति**) उपशम सम्यक्त्व कहलाता है, किन्तु (**चिद्विकल्पके**) चिदाकाररूप में (**आकारं न**) आकार सम्यक्त्व नहीं कहलाता है (**यथा**) जैसा कि आगे खुलासा किया जाता है।। 380।।

(**सामान्यात् वा विशेषात् वा**) सामान्य और विशेष दोनों ही अपेक्षा से (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**निर्विकल्पकं**) निर्विकल्पक (**सत्तारूपं**) सत्तारूप है और (**परं**) केवल (**चितः प्रदेशेषु परिणामि**) आत्मा के प्रदेशों में परिणमन करने वाला है।। 381।।

(**तत्र उल्लेखः**) उसके विषय में यह उल्लेख है कि (**तमोऽरेः रश्मिभिः**) सूर्य किरणों के द्वारा (**तमोनाशे इव**) अन्धकार के नाश होने पर जैसे (**दिशः**) दिशाएँ (**सर्वतः**) चारों ओर से (**विमलाशयाः**) निर्मल होकर (**प्रसत्ति आसेदुः**) प्रसन्नता को प्राप्त होती हैं वैसे ही (**दृङ्मोहोपशमे**) दर्शनमोहनीय के उपशम होने पर (**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि का भी (**सः एव उल्लेखः**) यही उल्लेख है (**यत्**) क्योंकि दर्शनमोह का उपशम होने पर (**सर्वदेशेषु**) आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में (**त्रिधा बन्धापहारि शुद्धत्वं**) तीनों प्रकार के बन्ध को नाश करने वाली शुद्धता उत्पन्न होती है।। 382-383।।

(**वा**) अथवा सम्यग्दृष्टि के स्वरूप को जताने के लिए (**अस्तंगतस्य मद्यधतूरपाकस्य**) उतरे हुए शराब या धतूरे के नशे का दृष्टांत (**वै उल्लेखः**) ठीक दृष्टांत है, क्योंकि (**यथा**) जैसे (**मूर्च्छितः जन्तुः**) मद्यादि के द्वारा मूर्च्छित प्राणी (**अमूर्च्छितः सन्**) अमूर्च्छित होकर (**उल्लाघः स्यात्**) प्रसन्न देखा जाता है।। 384।।

(**तथा**) वैसे ही यद्यपि संसारी जीव के (**दृङ्मोहस्य उदयात्**) दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले (**मूर्च्छावैचित्र्यं**) मूर्छाजनित अज्ञान (**वा**) और (**भ्रमः**) भ्रम ये दोनों पाये जाते हैं (**तु**) परन्तु (**अस्य प्रशांते**) इस दर्शनमोहनीय के उपशान्त हो जाने पर (**मूर्च्छायाः नाशात्**) उस मूर्च्छा के नाश हो जाने से (**जीवः निरामयः**) जीव मिथ्यात्वादि रोग से मुक्त होकर प्रसन्न हो जाता है।। 385।।

भावार्थ :- दर्शनमोह के उपशम से होनेवाली आत्मा की अवस्था विशेष को ही उपशम

सम्यक्त्व कहते हैं किन्तु चेतना के आकार में होने वाली किसी प्रकार की विशेषता को सम्यक्त्व नहीं कहते हैं अर्थात् चेतना गुण की अवस्था सम्यक्त्व नहीं है किन्तु सम्यक्त्व एक निर्विकल्पक गुण है, उसकी औपशमिक आदि अवस्था को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व आत्मा का निराकार गुण होने से सामान्य तथा विशेष दोनों ही रूप से निर्विकल्प सत् रूप है और गुण होने के कारण अपनी आत्मा के प्रदेशों में सदैव परिणमनशील है।

जैसे सूर्य के उदय होने पर सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न हो जाती हैं, वैसे ही दर्शनमोह के उपशम से होने वाले सम्यक्त्व के उदय होने पर आत्मा में भी प्रसन्नता (निर्मलता) उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर द्रव्य, भाव और नोकर्म बन्ध को नाश करने वाली शुद्धता प्रगट हो जाती है।

जैसे, जिस समय मद्य व धतूरे का असर नष्ट हो जाता है, उस समय जीव में प्रसन्नता होती है, वैसे ही दर्शनमोह के उदय से उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा के कारण संसारी जीवों के अज्ञान तथा भ्रम पाया जाता है उस अज्ञान व भ्रम के दूर हो जाने पर जीव में परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। इसलिए मद्यादिक के नशे के उतार का दृष्टान्त, दर्शनमोह के उपशम से होनेवाले उपशम सम्यक्त्व के लिए ठीक है।

सम्यक्त्व के बाह्य लक्षण और उसकी निर्विकल्पता

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्यया:।। 386॥
अपि चात्मानुभूतिश्च (स्तु) ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेत् बाह्यलक्षणम्।। 387॥
यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः।
वाड्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ।। 388॥

श्रद्धानादिक गुण सम्यग्दृष्टी के होते लक्षण बाह्य।
मात्र वही सम्यक्त्व नहीं श्रद्धा तो ज्ञानात्मक पर्याय।। 1154।।
स्वानुभूति है ज्ञान-अवस्था इसीलिए वह ज्ञान स्वरूप।
अतः नहीं वह सम्यग्दर्शन उसे बाह्य लक्षण जानो।। 1155।।
स्वास्थ्य जानना मुश्किल है पर बाह्य लक्षणों से हो ज्ञात।
मन-वच-तन के कार्यों में उत्साहादि गुण के द्वारा।। 1156।।

अन्वयार्थ :- (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीव के (**श्रद्धानादिगुणाः**) श्रद्धान आदि गुण-लक्षण (**बाह्यं लक्ष्म**) बाह्य लक्षण हैं (**इति**) इसलिए (**तत् एव सम्यक्त्वं न**) केवल उन

श्रद्धानादिक को ही सम्यक्त्व नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वे श्रद्धानादिक वास्तव में (**ज्ञानस्य पर्यया: सन्ति**) ज्ञान के पर्याय हैं।। 386।।

(**अपि**) तथा (**आत्मानुभूतिः च**) आत्मानुभूतिरूप ज्ञानचेतना भी (**ज्ञानं**) ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं हैं, क्योंकि वह (**ज्ञानस्य पर्ययात्**) ज्ञान की पर्याय है इसलिए (**अर्थात् ज्ञानं**) वास्तव में वह स्वानुभूतिरूपी ज्ञान, ज्ञान ही कहलाता है (**सम्यक्त्वं न**) सम्यक्त्व नहीं अर्थात् स्वानुभूतिरूप ज्ञान भी सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता है और (**चेत्**) यदि सम्यक्त्व का लक्षण भी कहा जाय तो (**बाह्यलक्षणं अस्ति**) बाह्य लक्षण कहलाता है अंतरंग नहीं।। 387।।

(**यथा हि**) जैसे (**दुर्लक्ष्यः उल्लाघः**) दुर्लक्ष्य स्वास्थ्य-लाभ-जन्य हर्ष (**वाङ्मनः कायचेष्टानां**) वचन, मन, और शरीर की क्रियाओं के (**उत्साहादिगुणात्मकैः**) उत्साहादिक गुणरूप (**स्थूल-लक्षणैः**) स्थूल लक्षणों के द्वारा (**लक्ष्यते**) लक्षित किया जाता है, वैसे ही वास्तव में सूक्ष्म दुर्लक्ष्य तथा निर्विकल्प सम्यक्त्व भी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य चिन्हों के द्वारा लक्षित किया जाता है।। 388।।

भावार्थ :- शास्त्रान्तरों में जो सम्यग्दृष्टि के तत्त्वार्थ-श्रद्धान आदि लक्षण कहे हैं, वे सब सम्यग्दर्शन के बाह्य लक्षण हैं, अन्तरंग लक्षण नहीं हैं, इसलिए तत्त्वार्थ-श्रद्धानादिक को ही सम्यक्त्व नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तत्त्वार्थ-श्रद्धानादिक वास्तव में सम्यक्त्वगुण के अविनाभावी ज्ञान की पर्याय हैं, साक्षात् सम्यक्त्व नहीं।

स्वानुभूति भी सम्यक्त्व का अन्तरंग लक्षण नहीं हो सकता है, केवल बाह्य लक्षण हो सकता है क्योंकि स्वानुभूति भी ज्ञान की पर्याय है। इसलिए वास्तव में ज्ञान, ज्ञान ही कहलाता है सम्यक्त्व नहीं।

जैसे रोगादिक के अभाव से होने वाली नीरोगता मन-वचन-काय की क्रियाओं के उत्साह आदिरूप स्थूल लक्षणों के द्वारा जानी जाती है, वैसे ही दुर्लक्ष्य निर्विकल्प सम्यक्त्व भी अपने अविनाभावी श्रद्धानादि बाह्य गुणों के द्वारा जाना जाता है।

शंका

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात्।। 389।।

साक्षात् आत्मानुभूति ही वास्तव में सम्यक्त्व स्वरूप।
क्योंकि कभी भी और कहीं भी हो नहिं मिथ्यादृष्टी को।। 1157।।

(**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**साक्षात् आत्मानुभवः**) साक्षात् आत्मा का अनुभव

(वस्तुतः) वास्तव में **(स्वयं सम्यक्त्वं)** स्वयं सम्यक्त्व स्वरूप है, क्योंकि वह साक्षात् स्वानुभव **(सर्वतः)** किसी भी क्षेत्र या **(सर्वकाले)** किसी भी काल में **(अस्य मिथ्यादृष्टे असंभवात्)** इस मिथ्यादृष्टि को प्राप्त नहीं हो सकता है।। 389।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि स्वानुभूति मिथ्यादृष्टि के कदाचित् भी नहीं होती है केवल सम्यग्दृष्टि के ही होती है, इसलिए स्वानुभूति को ही सम्यक्त्व मानना चाहिए।

समाधान

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ।। 390।।
आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम्।। 391।।
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा।। 392।।

ठीक नहीं यह क्योंकि सत् सामान्य-विशेष न तुम जानो।
अनाकार साकार लक्षणों को भी तुम नहिं पहचानो।। 1158।।
स्व-पर विषय को अर्थ कहें अरु अर्थ-विकल्प कहें आकार।
उपयोग अवस्था है विकल्प अरु यही ज्ञान का लक्षण है।। 1158।।
जो आकार नहीं है वह ही निर्विकल्प आकार-विहीन।
ज्ञान बिना जो गुण अनन्त सबका लक्षण आकार विहीन।। 1160।।

(एवं न) शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(सत्सामान्य विशेषयोः)** सामान्य और विशेष के लक्षणभूत **(अनाकारसाकारलिङ्ग्योः अपि)** अनाकार तथा साकार के विषय में भी **(अनभिज्ञः असि)** तुम अनभिज्ञ हो इसलिए उस अनाकार और साकार का स्वरूप **(तत् यथा उच्यते)** कहा जाता है।। 390।।

(अर्थविकल्पः आकारः स्यात्) साकार शब्द में आकार शब्द का अर्थ, अर्थ-विकल्प होता है और **(अर्थः स्वपरगोचरः)** अर्थ-विकल्प शब्द में अर्थ शब्द का अर्थ स्व तथा पर विषय होता है **(वा)** और **(विकल्पः सोपयोगः)** विकल्प शब्द का अर्थ ज्ञान की उपयोग सहित अवस्था होता है **(हि)** क्योंकि **(ज्ञानस्य एतत् लक्षणं)** ज्ञान का यह आकार लक्षण है।। 391।।

और **(न आकारः अनाकारः स्यात्)** जो आकार न हो सो अनाकार है इसलिये **(वस्तुतः)**

वास्तव में (**ज्ञानं अन्तरा**) ज्ञान के बिना (**शेषानन्तगुणानां**) शेष अनन्त गुणों में (**निर्विकल्पता**) निर्विकल्पता होती है अतः (**तत् लक्षणं**) ज्ञान के बिना शेष सब गुणों का लक्षण अनाकार होता है।। 392।।

भावार्थ :- **शंकाकार का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह सत्सामान्य और सत् विशेष के अनाकार तथा साकार भेद से भी अनभिज्ञ है। अतः वह स्वानुभूति और सम्यक्त्व के अन्तर को नहीं समझ सका। इसलिये सम्यक्त्वादि गुण तथा स्वानुभूति में अन्तर बताने के लिये ग्रन्थकार आगे आकार व निराकार शब्द का निरुक्त्यर्थ बताते हैं।**

साकार शब्द में आकार शब्द का अर्थ, अर्थ-विकल्प और अर्थ-विकल्प शब्द में अर्थ शब्द का अर्थ स्व-पर पदार्थ तथा विकल्प शब्द का अर्थ उपयोग सहित अवस्था होती है। इसलिए इसप्रकार निरुक्ति करने से आकार शब्द का अर्थ ज्ञान होता है।

ऊपर आकार शब्द का अर्थ, ज्ञान किया जा चुका है और जो गुण आकारात्मक नही है- अर्थविकल्पात्मक नहीं है वे गुण अनाकार कहलाते हैं अर्थात् ज्ञान, अर्थविकल्पात्मक होने से साकार शब्द से कहा जाता है और इतर शेष गुण अर्थविकल्पात्मक नहीं होने से अनाकार शब्द से कहे जाते हैं। इसलिए ज्ञानगुण के विना शेष सब गुणों का लक्षण केवल अनाकार और निर्विकल्पपना ही कहा है।

शंका

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तत्किं किञ्चिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत्।। 393॥

सत्-सामान्य सभी हैं वास्तव में यदि सत्-विशेष की भाँति।
तो सत् क्यों साकार कदाचित् अरु किञ्चित आकार-विहीन।। 1161।।

(**ननु**) शंकाकार का कहना है कि यदि (**विशेषवत्**) विशेष के समान (**सर्वं सत्सामान्यं**) सब सत् रूप सामान्य भी (**वास्तवं अस्ति**) वास्तविक है (**तत्**) तो फिर (**किञ्चित् तत् साकारं**) किञ्चित् सत् साकार और (**किञ्चित् अनाकारं एव**) किञ्चित् सत् अनाकार ही होता है ऐसा (**किं**) क्यों कहा जाता है ? अर्थात् एक ही सत् के ज्ञानरूप अंश को साकार तथा शेष गुणरूप अंशों को निराकार क्यों कहते हो ?।। 393।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि यदि विशेष के ही समान सामान्य भी वास्तविक है तो फिर आत्मा के ज्ञानरूप विशेषगुण को साकार और शेष गुणों को सामान्यरूप होने से अनाकार क्यों कहते हो ?

समाधान

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक्।। 394 ॥
ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः।। 395॥
ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते।। 396॥

ठीक कहा है वास्तव में सामान्य-विशेषात्मक है ज्ञान।
सामान्य-अपेक्षा अनाकार एवं विशेषतया साकार।। 1162।।
ज्ञान बिना गुण शेष सभी सत्-लक्षण से लक्षित होते।
इसीलिए सामान्य-विशेषतया दोनों आकार रहित होते।। 1163।।
निर्विकल्प वस्तु को वाणी से कहना अशक्य होता।
अतः ज्ञान द्वारा सामान्य निरूपण होता है सबका।। 1164।।

(**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तव में जैसे (**ज्ञानं सामान्यवत्**) ज्ञान सामान्य-धर्म से युक्त होता है, वैसे ही वह (**विशेषवत् च अस्ति**) विशेष-धर्म से भी युक्त होता है परन्तु उनमें से (**यत्**) जो (**सामान्यं**) सामान्य-धर्मयुक्त होता है वह (**अनाकारं**) अनाकार और (**यत्**) जो (**विशेषभाक्**) विशेष-धर्म से युक्त होता है वह (**साकारं**) साकार कहलाता है।। 394।।

(**ज्ञानात् विना**) ज्ञान के बिना (**सर्वे गुणाः**) शेष सब गुण (**सल्लक्षणङ्किताः प्रोक्ताः**) केवल सत्रूप लक्षण से ही लक्षित होते हैं इसलिए (**सामान्यात् वा विशेषात् वा**) सामान्य अथवा विशेष दोनों ही अपेक्षा से (**सत्यं आकारमात्रकाः न**) वास्तव में वे अनाकार रूप ही होते हैं अर्थात् अर्थ-विकल्पात्मक नहीं होते हैं।। 395।।

(**ततः**) इसलिये (**निर्विकल्पस्य वस्तुनः**) निर्विकल्पवस्तु के कथन को (**वक्तुं अशक्य-त्वात्**) अनिर्वचनीय होने के कारण (**ज्ञानद्वारा तदुल्लेखं समालेख्य**) ज्ञान के द्वारा उन सामान्यात्मक गुणों का उल्लेख करके (**निरुप्यते**) उनका निरूपण किया जाता है।। 396।।

भावार्थ :- यहाँ ज्ञान शब्द चेतनावाचक है। और चेतना के दो भेद (आकार) माने हैं - 1. ज्ञानाकार 2. ज्ञेयाकार (ज्ञेयाकार शब्द का अर्थ, ज्ञान के बिना आत्मा के अनन्त गुणों का सामान्याकार होता है) उनमें से चेतना की ज्ञानाकार परिणति को ज्ञान कहते है। और शेष गुणों की परिणति को ज्ञेयाकार शब्द से कहते हैं।

केवल ज्ञान गुण को ही अर्थ–विकल्पात्मक होने से साकार कहते हैं और ज्ञान के बिना शेष सब गुणों को अर्थ–विकल्पात्मक नहीं होने से अनाकार कहते हैं, इसलिए वास्तव में ज्ञान के बिना शेष सब गुण सामान्यरूप से अथवा विशेषरूप से केवल अनाकाररूप हैं।

ज्ञान के बिना शेष सब गुण अनाकाररूप होने से निर्विकल्पक हैं और निर्विकल्पक वस्तु कही नहीं जा सकती है, इसलिए उन सामान्यात्मक गुणों के अविनाभावी ज्ञान की पर्यायों में उन गुणों का आरोप करके ज्ञान के द्वारा उनका उल्लेख किया जाता है।

ज्ञान का स्वरूप और विशेषता

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः।। 397।।
स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः।
परार्थस्वार्थसबन्धी गुणाःशेषे सुखादयः।। 398।।
तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम्।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत्।। 399।।
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्।। 400।।
प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम्।। 401।।
तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयात् व्यतिरेकतः।। 402।।

युगपत स्व एवं अपूर्व अर्थों को ज्ञान ग्रहण करता।
किन्तु ज्ञान नहिं अपूर्वार्थ है, ज्ञान ज्ञान पर, पर रहता।। 1165।।
ज्ञानात्मक आत्मा का जो है एक ज्ञान गुण स्वार्थ वही।
उससे सम्बन्धित गुण शेष सुखादिक हैं पर–अर्थ सभी।। 1166।।
वास्तव में सुख–दुख आदि सब स्वयं जीव के ही गुण हैं।
ज्ञान जानता है उनको अतएव न उनसे तन्मय है।। 1167।।
वास्तव में सम्यक्त्व सूक्ष्म है और वचन से भी नहिं गम्य।
अतः किसी को नहिं विधिपूर्वक कहने सुनने का अधिकार।। 1168।।

आत्मा की साधन आदि विधि में प्रसिद्ध गुण एक हि ज्ञान।
और वही है स्वानुभूति का कारण अतः परमपद ज्ञान।। 1169।।
सम्यग्दर्शन का लक्षण आत्मानुभूति है ज्ञान विशेष।
वह समकित से अविनाभावी क्योंकि अन्वय अरु व्यतिरेक।। 1170।।

अन्वयार्थ :- (**ज्ञानं**) ज्ञान (**एकशः**) युगपत् (**स्वापूर्वार्थद्वयोः एव**) स्व और अपूर्व दोनों ही अर्थों का (**ग्राहकं**) ग्राहक है अत: (**अत्र**) इस स्व-पर ग्राहक ज्ञान के लक्षण में (**ज्ञानं**) ज्ञान (**अपूर्वार्थः न**) अपूर्व अर्थ (**ज्ञेयरूप**) नहीं हो जाता है किन्तु (**ज्ञानं**) ज्ञान (**ज्ञानं**) ज्ञानरूप और (**पर परः**) पर, पररूप ही रहता है।। 397।।

(**वै**) निश्चय से (**ज्ञानमात्रस्य चितः**) ज्ञानात्मक आत्मा का (**एकं ज्ञान गुणः**) एक ज्ञान गुण (**स्वार्थः**) स्वार्थ है और (**शेषे सुखादयः**) शेष सुखादिक गुण (**स्वार्थसंबंधिगुणाः परार्थाः**) उस ज्ञानरूप स्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाले गुण परार्थ हैं।। 398।।

(**तद्यथा**) उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**सुखदुःखादि भावः**) सुखदुखादिक भाव (**स्वयं जीव गुणः**) स्वयं जीव के गुण हैं और (**ज्ञानं नूनं तद्वेदकं**) ज्ञान निश्चय से उनका विषय करने वाला है इसलिये (**अर्थात्**) वास्तव में (**ज्ञान सुखादिमत् न**) ज्ञान सुख आदि मय नहीं है।। 399।।

(**वस्तुतः**) वास्तव में (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**सूक्ष्मं**) सूक्ष्म है और (**वाचां अगोचरं**) वचनों के अत्यन्त अगोचर (**अस्ति**) है (**तस्मात्**) इसलिए (**पुमान्**) कोई भी जीव (**विधिक्रमात्**) उसके विधिपूर्वक (**वक्तुं च श्रोतुं च**) कहने तथा सुनने का (**अधिकारी न**) अधिकारी नहीं है।। 400।।

(**चितः साधनादिविधौ**) आत्मा की साधन आदि विधि में (**एकं ज्ञानं एव प्रसिद्धं**) केवल ज्ञान ही एक प्रसिद्ध गुण है (**च**) तथा ज्ञान ही (**स्वानुभूत्येक हेतुः**) स्वानुभव में एक कारण है (**तस्मात्**) इसलिए (**तत्**) वह ज्ञान (**परमं पदं**) परम पद है।। 401।।

(**तत्र अपि**) और उन सम्यग्दर्शन के लक्षण में भी (**या आत्मानुभूतिः**) जो आत्मानुभूति है (**सा आत्मनः विशिष्टं ज्ञानं**) वह आत्मा का विशेष ज्ञान है तथा वह स्वानुभूतिरूप विशेषज्ञान (**सम्यक्त्वेन**) सम्यक्त्व के साथ (**अन्वयात् व्यतिरेकतः**) अन्वय व्यतिरेक से (**अविनाभूतं**) अविनाभावी है।। 402।।

भावार्थ :- उक्त कथन की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान स्व और अपूर्व दोनों ही अर्थों का ग्राहक है, ऐसा मानने से स्व तथा अपूर्व अर्थ में अनेकता ही सिद्ध होती है। इसलिए

ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं हो जाता और अपूर्वार्थ, ज्ञान नहीं; किन्तु ज्ञान, ज्ञान तथा अपूर्वार्थ, अपूर्वार्थ ही रहता है।

ज्ञान को स्व और ज्ञान के विषयभूत सुखादिक को परार्थ होने से ज्ञान स्व तथा पदार्थों का युगपत् ग्राहक कहा जाता है।

उक्त कथन का खुलासा यह है कि वास्तव में ज्ञान जीव के सुख-दुःखादिक भावों का ही वेदक है। ज्ञान, पर-पदार्थ का वेदक केवल उपचार से कहा जाता, अतः ज्ञान सुख-दुःखादिरूप नहीं, किन्तु ज्ञान, ज्ञान है, और अपूर्वार्थरूप सुखदुःखादिभाव, सुखदुःखादिरूप ही है, ज्ञानरूप नहीं।

सारांश यह है कि इस कथन से ज्ञान और सुखादिक एक द्रव्य के गुण होकर के भी साधक होने से ज्ञान साकार तथा ज्ञेय होने से शेष गुण निराकार सिद्ध होते हैं क्योंकि ज्ञान, ज्ञायक है और शेष गुण ज्ञेय हैं।

सम्यक्त्व आत्मा का एक गुण है और वह सूक्ष्म तथा वचनों के अगोचर है, **इसलिये कोई भी पुरुष उसके स्वरूप के कथन करने में व सुनने में अधिकारी नहीं है,** क्योंकि वचनगोचर पदार्थ ही कहा और सुना जाता है, वचन के अगोचर पदार्थ के विषय में वक्तापना तथा श्रोतापना नहीं घट सकता है।

इतर गुणों को अनिर्वचनीय होने से एक ज्ञान नामा गुण ही आत्मा की सिद्धि आदि में तथा स्वानुभूति में हेतु होता है, अतः ज्ञान ही परमपद है।

उन सम्यग्दर्शन के लक्षण में जो स्वानुभूतिरूप ज्ञान है, वह सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा में नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति में सम्बन्ध

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका।। 403।।
किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा।। 404।।
तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत्।। 405।।
यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः।। 406।।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः।। 407॥
यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्यात् छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत्।। 408॥
नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।। 409॥

अतः व्याप्ति दोनों में होने से वह वचन-गम्य होता।
स्वानुभूति यदि शुद्ध-नयात्मक हो तो समकित कह सकते।। 1171।।
अनुभव अरु सम्यग्दर्शन दोनों में विषम व्याप्ति है।
नहीं व्याप्ति है उपयोगात्मक स्वानुभूति लब्धि में है।। 1172।।
स्वानुभूति के होने पर अथवा उस समय आत्मा में।
समकित है अवश्य क्योंकि अनुभूति नहीं सम्यक्त्व बिना।। 1173।।
अथवा समकित के संग में उपयोगरूप का नियम नहीं।
वास्तव में समकित संग में है लब्धिरूप वह अनुभूति।। 1174।।
समकित की उत्पत्ति समय तत्सम्बन्धी ज्ञानावरणी का।
प्राप्त क्षयोपशम जिसे उसे हो, अतः लब्धि का नियम कहा।। 1175।।
क्योंकि छद्मस्थों का उपयोगात्मक ज्ञान क्षणिक होता।
नित्य ज्ञान है केवलि प्रभु का, लब्धि नित्य छद्मस्थों का।। 1176।।
निर्विशेष सामान्य अपेक्षा से है सम्यग्दर्शन नित्य।
उपयोगात्मक अनुभूति संग उसकी विषम-व्याप्ति है सिद्ध।। 1177।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) इसलिए (**तयोः**) सम्यक्त्व और स्वानुभूति में (**व्याप्तेः सद्भावतः**) व्याप्ति होने के कारण (**वक्तुं योग्यता अस्ति**) वचन के अगोचर भी सम्यक्त्व वचनगोचर हो जाता है अतः (**सा स्वानुभूतिः शुद्धनयात्मिका चेत्**) यदि शुद्धनयात्मिका हो तो (**सम्यक्त्वं स्यात्**) वह स्वानुभूति सम्यक्त्व कहला सकती है।। 403।।

(**किं च**) इतना विशेष है कि (**सम्यक्त्वानुभवद्वयोः**) सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनों में (**विषमव्याप्तिः अस्ति**) विषम-व्याप्ति है, क्योंकि (उपयोगे) उपयोग में अर्थात् उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ (**समव्याप्ति न अस्ति**) सम्यक्त्व की समव्याति नहीं है (**तु**) किन्तु (**लब्धिविधौ सा**) लब्धि में अर्थात् लब्धिरूप स्वानुभूति के साथ ही सम्यक्त्व की समव्याप्ति है।। 404।।

(तद्यथा) उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि **(स्वानुभूतौ)** स्वानुभव के होने पर **(वा)** अथवा **(तत्काले वा)** स्वानुभूति के काल में भी **(तदात्मनि)** उस आत्मा में **(सम्यक्त्वं)** सम्यक्त्व **(अवश्यं हि अस्ति)** अवश्य ही ज्ञात होता है **(यस्मात्)** क्योंकि **(तद्विना)** उस सम्यग्दर्शनरूप कारण के बिना **(सा अपि न)** वह स्वानुभूतिरूप कार्य भी नहीं होता है।। 405।।

(यदि वा) अथवा इस प्रकार से भी विषम-व्याप्ति कही जाती है कि **(सम्यक्त्वे)** सम्यग्दर्शन के होने पर **(सः)** यह आत्मा **(उपयोगवान् स्यात् वा न)** स्वानुभूति के उपयोग सहित ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि **(वस्तुतः)** वास्तव में **(तत्र लब्धिरूपः शुद्धस्य अनुभवः अस्ति)** सम्यक्त्व के होने पर लब्धिरूप स्वानुभूति रहती है।। 406।।

(तत्र अपि हेतुः अस्ति) सम्यक्त्व के होने पर नियम पूर्वक लब्धिरूप स्वानुभूति के रहने में कारण यह है कि **(सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले)** सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय **(अवश्यतः)** अवश्य ही **(स्वतः)** स्वयं **(तज्ज्ञानावरणस्य उच्चैः अवस्थान्तरं अस्ति)** स्वानुभूत्यावरण कर्म का भी यथायोग्य क्षयोपशम होता है।। 407।।

(यस्मात्) क्योंकि **(छद्मस्थस्य)** छद्मस्थ सम्यग्दृष्टिजीवों का **(उपयोगवत् ज्ञानं)** उपयोगात्मक ज्ञान **(अनित्यं स्यात्)** अनित्य होता है **(च)** और **(अछद्मस्थे ज्ञानं नित्यं)** केवली का ज्ञान नित्य होता है और **(छद्मस्थस्य)** छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि का भी सम्यक्त्व के सद्भाव तक **(लब्धिमत्)** लब्धिरूप ज्ञान नित्य रहता है।। 408।।

तथा **(सम्यक्त्वं)** सम्यक्त्व **(निर्विशेषतः सामान्यमात्रत्वात्)** अपने अवान्तर विशेषों की अपेक्षा न करके केवल सामान्यरूप होने के कारण **(नित्यं)** नित्य है **(तत्)** इसलिये **(सम्यक्त्वानुभवद्वयोः)** सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूति में **(विषम-व्याप्तिः सिद्धा)** विषमव्याप्ति सिद्ध होती है।। 409।।

भावार्थ :- इसलिये सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान को व्याप्ति होने के कारण सम्यग्दर्शन के निर्विकल्प होने पर भी वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन के ही साथ होने वाली स्वानुभूति के द्वारा कहा जाता है। इसलिये **यदि वह शुद्धनयात्मिका हो तो स्वानुभूति को सम्यक्त्व कह सकते हैं।**

दुतरफा व्याप्ति को सम-व्याप्ति कहते हैं और वह सहचर पदार्थों में होती है। जैसे जहाँ-जहाँ रूप रहता है वहाँ-वहाँ रस रहता है तथा जहाँ-जहाँ रस रहता है वहाँ-वहाँ रूप रहता है। तथा इकतरफा व्याप्ति को विषम-व्याप्ति कहते हैं और वह जिन पदार्थों में कार्य-कारण भाव होता है उनमें होती है, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है अन्यथा नहीं। अतः अग्नि और धूम की विषम-व्याप्ति है। विषम-व्याप्ति के होने पर यह तो निश्चित हो जाता है कि कार्य की उत्पत्ति कारण के ही सद्भाव में होती है, परन्तु कारण के सद्भाव में कार्य का सद्भाव अवश्यंभावी नहीं कहा जाता है। इसी तरह

सम्यक्त्व तथा स्वानुभूति में भी विषम-व्याप्ति है क्योंकि सम्यक्त्व कारण है और सम्यग्ज्ञानरूप स्वानुभूति कार्य है, इसलिए उपयोगरूप स्वानुभूति के होने पर सम्यक्त्व का बोध होता है, परन्तु सम्यक्त्व के होने पर उपयोगरूप स्वानुभुति होती ही है - यह नहीं कहा जाता है, क्योंकि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि के स्वानुभूति से भिन्न उपयोग भी पाया जा सकता है, **किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ स्वानुभूत्यावरण का भी क्षयोपशम होता है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की सम-व्याप्ति है।** आगे इसी अर्थ का दो पद्यों द्वारा खुलासा करते हैं -

स्वानुभूति कार्य है और सम्यक्त्व कारण है। अतः उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की विषम-व्याप्ति सिद्ध होती है।

यद्यपि सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूति ही होती है, अन्य विषय में सम्यग्दृष्टि का उपयोग होता ही नहीं है - ऐसा नियम नहीं है, परन्तु सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूतिरूप उपयोग के कारणभूत स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य लब्धिरूप स्वानुभूति अवश्य रहती है - ऐसा नियम है, क्योंकि दर्शनमोह का उपशम आदि और स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम युगपत् होता है। इसलिये उस स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि (विशुद्धि) सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर अवश्य होती है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूति और सम्यक्त्व की सम-व्याप्ति है। स्वानुभूति की सम्यक्त्व के साथ विषम-व्याप्ति है। आगे फिर भी इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वानुभूत्यावरणकर्म का भी क्षयोपशम होता है, इसलिये सम्यक्त्व के साथ स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य लब्धि की सम-व्याप्ति कही जाती है।

स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की विषम-व्याप्ति में कारण यह है कि छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है तथा केवली का उपयोगात्मक ज्ञान नित्य होता है। इसलिये उपयोगात्मक स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की विषम-व्याप्ति है और जब तक छद्मस्थों के सम्यक्त्व रहता है, तब तक स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम भी अवश्य रहता है - इस अपेक्षा से छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों की लब्धिरूप स्वानुभूति भी नित्य कहलाती है। अतः लब्धिरूप स्वानुभूति के साथ सम्यक्त्व की सम-व्याप्ति है।

अपने अवान्तर विशेषों की गौण तथा सामान्यमात्र की मुख्य विवक्षा से सम्यक्त्व नित्य है, अतः छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों के उपयोगात्मक ज्ञान को अनित्य तथा सामान्यपने से सम्यक्त्व को नित्य होने से, सम्यक्त्व और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषम-व्याप्ति सिद्ध होती है सम-व्याप्ति नहीं।

सम्यक्त्व के पर्यायवाची नाम और उनका लक्षण

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते।। 410।।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः।
चरणं च यथाम्नायम् अर्थात्तत्वार्थगोचरम्।। 411।।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया।। 412।।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र [र्थ] पर्ययात्।
चरणं वाक्कायेचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु।। 413।।

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सदृष्टेर्लक्षणं न वा।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा।। 414।।

स्वानुभूर्तिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः।। 415।।

तस्मात्च्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः।। 416।।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः।। 417।।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिः श्रद्धादयो यतः।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो ततः।। 418।।

सम्यक्-श्रद्धानादि विकल्परूप जो समकित के गुण हैं।
अब उनका लक्षण एवं उद्देश परीक्षा से वर्णन।। 1178।।

नाम मात्र उद्देश कहा ज्यों श्रद्धा रुचि-प्रतीति चरण।
आम्नाय अनुसार तत्त्व अरु अर्थ विषय समकित लक्षण।। 1179।।

तत्त्वार्थों में लगी बुद्धि है श्रद्धा, तन्मयता रुचि है।
यह जैसा है वैसी स्वीकृति यह प्रतीति, आचरण चरण।। 1180।।

श्रद्धा-रुचि-प्रतीति तीन में सब हैं ज्ञानात्मक पर्याय।
मन-वच-तन से शुभ प्रवृत्ति करने को ही आचरण कहा।। 1181।।
ये चारों भी एक साथ या अलग-अलग नहिं लक्षण हैं।
ये सपक्ष में या विपक्ष में होते हैं या नहिं होते।। 1182।।
श्रद्धानादिक गुण यदि होते स्वानुभूतियुत तो लक्षण।
स्वानुभूति बिन ये श्रद्धानादिक लक्षण केवल आभास।। 1183।।
अतः स्वानुभवयुत समकित है तो श्रद्धानादिक सच्चे।
यदि सम्यक्त्व नहीं है तो आभासरूप मिथ्यात्व समान।। 1184।।
सम्यक् अरु मिथ्या विशेष बिन केवल श्रद्धानादि सभी।
हो सपक्ष एवं विपक्ष में भी हों अतः दोष व्यभिचार।। 1185।।
क्योंकि सम्यग्दृष्टि के श्रद्धानादिक सच्चे श्रद्धान।
मिथ्यादृष्टी के मिथ्या हैं अतः नहीं सच्चे श्रद्धान।। 1186।।

अन्वयार्थ :- (**अधुना**) अब जो (**सम्यक्त्व श्रद्धानादिविकल्पकाः अपि**) सम्यक्त्व-श्रद्वानादिक विकल्प वाले भी (**गुणाः सन्ति**) सम्यग्दर्शन के गुण/लक्षण है (**तेषां**) उनका (**उद्देशः**) उद्देश (**लक्षणं**) लक्षण और (**तत्परीक्षा**) उनकी परीक्षा (**उच्यते**) कही जाती है।। 410।।

(**तत्र**) उन तीनों में (**नाम उद्देशः**) नाम मात्र कथन को उद्देश कहते हैं (**यथा**) जैसे कि जो (**श्रद्धारुचिप्रतीतयः**) श्रद्धा, रुचि, प्रतीति (**च**) और (**चरणं**) स्वरूपाचरण (**यथाम्नायं**) आम्नाय के अनुसार (**अर्थात्**) वास्तव में (**तत्त्वार्थ-गोचरं**) तत्त्वार्थ विषयक होते हैं, उन्हें सम्यक्त्व कहते हैं।। 411।।

(**तत्त्वार्थाभिमुखी**) तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख (**बुद्धिः**) बुद्धि (**श्रद्धा**) श्रद्धा कहलाती है (**तथा सात्म्यं**) तत्त्वार्थों के विषय में तन्मयपना (**रुचिः**) रुचि कहलाती है (**तु**) और (**तथा इति स्वीकारः**) तत्त्वार्थ का स्वरूप जिसप्रकार है वह उसी प्रकार है - ऐसा स्वीकार करना (**प्रतीतिः स्यात्**) प्रतीति कहलाती है तथा (**चरणं क्रिया**) उनके अनुसार आचरण करना, चरण कहलाता है।। 412।।

(**अत्र**) इन चारों में से (**अर्थात्**) वास्तव में (**आद्यत्रिकं**) आदि के श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीन (**ज्ञानस्य एव पर्ययात्**) ज्ञान की ही पर्याय होने से (**ज्ञानं**) ज्ञानरूप हैं तथा (**वाक्कायचेतोभिः**) वचन, काय, और मन से (**शुभकर्मसु व्यापारः**) शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना (**चरणं**) चरण कहलाता है।। 413।।

(एते व्यस्ताः) ये श्रद्धा आदि चारों पृथक्-पृथक्रूप से **(वा)** अथवा **(समस्ताः च)** समस्तरूप से भी **(सम्यग्दृष्टेः)** सम्यग्दर्शन के **(लक्षणं न वा)** वास्तव में लक्षणस्वरूप नहीं हो सकते हैं **(यत्)** क्योंकि ये श्रद्धादिक **(सपक्षे वा विपक्षे)** सपक्ष अथवा विपक्ष दोनों ही अवस्था में **(सन्ति वा)** होते भी हैं **(वा)** और **(न या सन्ति)** नहीं भी होते हैं ।। 414 ।।

(चेत्) यदि **(श्रद्धादयः)** श्रद्धा आदि **(स्वानुभूतिसनाथाः)** स्वानुभव सहित हों तो वे **(गुणा सन्ति)** सम्यग्दृष्टि के गुण/लक्षण कहलाते हैं और **(अर्थात्)** वास्तव में **(स्वानुभूतिं विना)** स्वानुभव के बिना **(श्रद्धादयः गुणा न 'किंतु' आभासाः)** उक्त श्रद्धादिक सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं कहलाते हैं, किन्तु लक्षणाभास कहलाते हैं ।। 415 ।।

(तस्मात् स्वानुभूतिमत् सम्यक्त्वं स्यात्) इसलिए यदि वह स्वानुभूति सहित सम्यग्दर्शन है तो **(सर्वे श्रद्धादयः स्युः)** सम्पूर्ण श्रद्धादिक, श्रद्धादिक कहे जाते हैं और यदि **(तत् सम्यक्त्वं न)** वह स्वानुभूति सहित सम्यग्दर्शन नहीं है तो **(स्वतः)** स्वयं ही वे श्रद्धादिक **(मिथ्या श्रद्धादिवत्)** मिथ्या श्रद्धादिक के समान **(तदाभासाः)** श्रद्धा के समान मालूम होने वाले श्रद्धाभासादिक कहे जाते हैं ।। 416 ।।

(सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना) सम्यक् और मिथ्या विशेषणों के बिना **(श्रद्धादिमात्रकाः)** केवल श्रद्धा आदि की **(सपक्षवत्)** सपक्ष के समान **(विपक्षे अपि)** विपक्ष में भी **(वृत्तित्वात्)** वृत्ति रहने के कारण **(व्यभिचारिणः)** वे व्यभिचार दोष से युक्त हैं ।। 417 ।।

(यतः) क्योंकि **(सम्यग्दृष्टिः श्रद्धादयः)** सम्यग्दृष्टि जीव के श्रद्धादिक **(अर्थात्)** वास्तव में **(श्रद्धादयः)** श्रद्धा आदिक है और **(मिथ्याश्रद्धादयः)** मिथ्यादृष्टि जीव के श्रद्धा आदिक **(मिथ्या)** मिथ्या हैं **(ततः)** इसलिए **(अर्थात् श्रद्धादयः न)** मिथ्यादृष्टि के श्रद्धादिक वास्तविक श्रद्धा आदिक नहीं हैं ।। 418 ।।

भावार्थ :- अब जो सम्यक्-श्रद्धानादिक भी सम्यग्दृष्टि के लक्षण कहे जाते हैं उनका उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा पूर्वक निरूपण किया जाता है।

आगमानुसार तत्त्वार्थविषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण को सम्यग्दर्शन कहना सम्यग्दर्शन का उद्देश है। यहाँ पर 'तत्त्वार्थगोचर' यह विशेषण शेष तीनों में भी अन्त्य दीपक के न्यायानुसार सम्बद्ध हो जाता है। आगे प्रत्येक का स्पष्टीकरण करते हैं -

तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा, तन्मय बुद्धि को रुचि तथा वे जीवादिक पदार्थ वैसे ही हैं अन्यथा नहीं हैं - इसप्रकार की बुद्धि को प्रतीति और तदनुकूल आचरण को चरण कहते हैं।

उक्त श्रद्धादिक चारों में श्रद्धा रुचि और प्रतीति ये तीनों तो ज्ञान की पर्याय होने से ज्ञानरूप होते हैं तथा मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तिरूप चरण चारित्ररूप होता है।

श्रद्धादिक चारों ही ज्ञान व चारित्र के भेद होने से सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनों के ही पाये जा सकते हैं, किन्तु केवल सम्यग्दृष्टि के ही पाये जा सकते हैं - ऐसा नियम नहीं है इसलिये ये चारों ही व्यस्तरूप से अथवा समस्तरूप से सम्यग्दर्शन के अंतरंग लक्षण नहीं हो सकते हैं।

यदि उक्त श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति सहित हों तो सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं अन्यथा नहीं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि यदि सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिक रहें तो सम्यक्त्व के लक्षण/ गुण कहे जाते हैं और यदि सम्यक्त्व के बिना श्रद्धादिक रहें तो श्रद्धाभासादिक कहे जाते हैं, इसलिए सम्यक्त्व के बिना श्रद्धादिक उसके लक्षण नहीं कहे जाते हैं।

सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धादिक को सम्यग्दर्शन के लक्षण तथा सम्यक्त्व के बिना श्रद्धादिक को मिथ्या कहने में कारण यह है कि बिना सम्यक् और मिथ्या विशेषण के जो सामान्य श्रद्धादिक हैं वे सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि में भी पाये जाते हैं इसलिए किसी नियामक के अभाव में उनको सम्यक्त्व का लक्षण कहना व्याभिचार दोष से युक्त है।

सम्यग्दृष्टि जीव के ही श्रद्धादिक, यथार्थ श्रद्धादिक गुण कहलाते हैं, मिथ्यादृष्टि जीव के यथार्थ नहीं कहलाते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव के जो श्रद्धादिक होते हैं वे मिथ्या श्रद्धादिक ही हैं, यथार्थ नहीं।

शंका

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः।। 419।।

समाधान

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत्।। 420।।
विना स्वात्माभूनुतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः।। 421।।
लब्धिः स्यादवशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा (ख्याता) तच्छेषानुपलब्धिवत्।। 422।।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत्।। 423 ॥

श्रद्धा मात्र एक लक्षण से तत्त्व-रुचि कहलाती है।
तो कैसे सम्यक् - मिथ्या ये अर्थदृष्टि से भेद कहे?।। 1187।।
ठीक नहीं यह क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव में समव्याप्ति।
अगृहीत अर्थों की श्रद्धा खर-विषाणवत् होती है।। 1188।।
स्वानुभूति बिन मात्र शास्त्र सुनने से जो श्रद्धा होती।
तत्त्वों के अनुकूल तथापि अनुपलब्धि से नहिं श्रद्धा।। 1189।।
उपलब्धि है सत् अरु असत् विवेक बिना उन्मत्त समान।
किन्तु अनुपलब्धि वत् है वह अगृहीत शेषार्थ समान।। 1190।।
इसीलिए यौगिक रूढ़ि से श्रद्धा लक्षण समकित का।
स्वानुभूतिवत् यह लक्षण भी वास्तव में अविरुद्ध कहा।। 1191।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**श्रद्धामात्रैक लक्षणात्**) केवल श्रद्धा लक्षण घट जाने से (**तत्त्वरुचिः**) तत्त्वों में रुचि (**श्रद्धा**) श्रद्धा कहलाती है (**तत्**) तो फिर (**सा**) यह श्रद्धा (**अर्थतः**) अर्थदृष्टि से (**सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां**) सम्यक् और मिथ्या इन दो विशेषणों के द्वारा (**द्विधाकृतः**) सम्यक् श्रद्धा तथा मिथ्या श्रद्धा - इस प्रकार दो तरह की कैसे कही जा सकती है ?।। 419।।

(**एवं न**) शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः**) श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में (**समव्याप्तिः**) सम-व्याप्ति है क्योंकि (**नूनं**) निश्चय से (**अनुपलब्धे अर्थे**) सम्यग्ज्ञान के द्वारा अगृहीत पदार्थ में (**श्रद्धा**) सम्यक् श्रद्वा (**खरविषाणवत् न**) खरविषाण के समान हो ही नहीं सकती है।। 420।।

(**तु**) और (**या**) जो (**स्वात्मानुभूतिं विना**) स्वात्मानुभूति के बिना (**श्रुतमात्रतः श्रद्धा**) केवल शास्त्रों के श्रवण से श्रद्धा होती है वह (**तत्त्वार्थानुगता अपि**) तत्त्वार्थ के अनुकूल होने पर भी (**अर्थात् अनुपलब्धितः**) वास्तव में शुद्ध आत्मा की अनुपलब्धि से वास्तव में उपलब्धि न होने के कारण (**श्रद्धा न**) शुद्ध श्रद्धा नहीं कही जाती है।। 421।।

(**इह सदसतोः अविशेषात् वा**) यद्यपि मिथ्यादृष्टि के भी इन नव तत्त्वों में सत् और असत् के स्वरूप में किसी भी प्रकार की विशेषता का ज्ञान न होने से (**उन्मत्तवत्**) उन्मत्त पुरुष की तरह (**लब्धि स्यात्**) तत्त्वों की उपलब्धि हो जाती है, तथापि (**सा**) यह श्रद्धा (**अर्थात्**) वास्तव में

(तच्छेषानुपलब्धितः) उस सम्यग्ज्ञान के विषय से रहित शेष पदार्थों की अनुपलब्धि के समान **(उपलब्धिः न)** उपलब्धि नहीं कहलाती है।। 422।।

(ततः) स्वात्मानुभूति के बिना श्रद्धा समीचीन श्रद्धा नहीं होती है, इसलिये **(यत्)** जो **(सम्यक्त्व लक्षणं)** सम्यग्दर्शन की लक्षणभूत **(श्रद्धा)** श्रद्धा **(यौगिकी रूढ़ि अस्ति)** यौगिक रूढ़ि निरूक्ति से सिद्ध अर्थवाली है **(तदपि)** वह भी **(अर्थात्)** वास्तव में **(स्वात्मानुभूतिवत्)** स्वात्मानुभूति के समान **(सूक्तं अविरुद्धं स्यात्)** अविरुद्ध है।। 423।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जब सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनों के ही तत्त्वरुचिरूप श्रद्धा एकसी होती है तो फिर सम्यक् और मिथ्या विशेषणों से उस श्रद्धा के दो भेद क्यों किये जाते हैं अर्थात् श्रद्धा को सम्यक् तथा मिथ्या नहीं कहना चाहिये।

शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक् श्रद्धा और स्वानुभूति में सम-व्याप्ति है अर्थात् स्वानुभूति तथा समीचीन श्रद्धा दोनों ही एकसाथ होते हैं क्योंकि जिन पदार्थों को स्वानुभूति युक्त सम्यग्ज्ञानी का ज्ञान, विषय नहीं करता है उन पदार्थों में समीचीन श्रद्धा भी नहीं होती है।

यद्यपि भद्रता के कारण केवल व्यवहाररूप से किन्हीं-किन्हीं को जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्व का अभाव होने के कारण अर्थात् स्वात्मानुभूति के नहीं होने के कारण उनकी वह श्रद्धा, वास्तविक श्रद्धा नहीं कहलाती है।

मिथ्यादृष्टि के सत् व असत् में विशेषतापूर्वक ज्ञान न होने से जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह वास्तविक नहीं कहा जा सकता, किन्तु जैसे उसके ज्ञात विषयों से भिन्न अज्ञात विषयों में उपलब्धि नहीं होती है वैसे ही बिना विशेषपूर्वक जाने हुए पदार्थों में भी होने वाली उसकी उपलब्धि अनुपलब्धि के ही समान है, कार्यकारी नहीं है। उदाहरणार्थ - जैसे उन्मत्त पुरुष, माता और पत्नी में बिना किसी विशेषता के कभी माता को माता तथा पत्नी को पत्नी कह देने पर भी अनुन्मत्त नहीं कहलाता है, वैसे ही सत्-असत् की वास्तविक विशेषता को न जानकर तत्त्वार्थों में की हुई श्रद्धा भी यथार्थ श्रद्धा नहीं कहलाती है।

स्वानुभूति सहित श्रद्धा ही वास्तविक श्रद्धा कहलाती है, इसलिए योगरूढ़ समीचीन श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहना स्वानुभूति के समान ही अविरुद्ध कथन है।

जैसे स्वानुभूति सहित होने से श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं, वैसे ही स्वानुभूति सहित रुचि, प्रतीति और चरण को भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं। इतना यहाँ और समझना चाहिए, क्योंकि ग्रन्थकार ने केवल श्रद्धा का यह विवेचन किया है।

अब प्रशमादिक सम्यग्दर्शन के लक्षण कैसे होते हैं, इस बात का विचार करते हैं।

सम्यग्दर्शन के प्रशमादिक लक्षण

प्रशम गुण सम्बन्धी व्याख्या

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सत् दृष्टेः प्रशमादयः।
बहेर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः।। 424।।
तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्चगुणः क्रमात्।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा।। 425।।
प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावकोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः।। 426।।
सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातु चित्।
तद्वधादि विकाराय न बुद्धि प्रशमो मतः।। 427।।
हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंशतः।। 428।।
आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः।। 429।।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः।
अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात्।। 430।।

और अन्य गुण प्रशमादिक हैं सम्यग्दृष्टी के लक्षण।
बाह्य-दृष्टि से उनको भी कहते हैं समकित का लक्षण।। 1192।।
उनमें से पहला लक्षण है प्रशम नाम फिर हैं क्रम से।
संवेग-रु अनुकम्पा का आस्तिक्य का अब वर्णन।। 1193।।
असंख्यातवें भाग प्रमाण लोक के जो क्रोधादिक भाव।
उनमें, पञ्चेन्द्रिय विषयों में शिथिल चित्त को कहें प्रशम।। 1194।।
अथवा जो अपराध करें नर उनके भावों में तत्काल।
उनका वध करने आदिक की बुद्धि न होना कहें प्रशम।। 1195।।
अनन्तानुबन्धी कषाय का अनुदय है उसमें कारण।
शेष कषायों का भी आंशिक मन्द उदय भी है कारण।। 1196।।

यद्यपि उसको दैवयोग से आरम्भादि अनिच्छा से।
किन्तु शुद्धि अन्तर में होने से न प्रशम में क्षति होती।। 1197।।
सम्यग्दर्शन से अविनाभावी है प्रशम नाम गुण श्रेष्ठ।
किन्तु प्रशम के अहंकारयुत अन्य जनों को प्रशमाभास।। 1198।।

अन्वयार्थ :- (**सद् दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि जीव के (**प्रशमादयः च**) प्रशमादिक भी (**ये अन्ये गुणाः प्रसिद्धाः**) जो अन्य गुण प्रसिद्ध हैं (**ते**) वे भी (**बहिर्दृष्ट्या**) बाह्यदृष्टि से (**यथास्वं**) यथायोग्य (**सम्यक्त्व लक्षणाः**) सम्यक्त्व के लक्षण (**सन्ति**) होते हैं।। 424।।

(**तत्र**) उन प्रशमादिकों में से (**आद्यः**) पहला (**प्रशमः नाम गुणः**) प्रशम गुण है (**च**) और इसके बाद (**क्रमात्**) क्रम-क्रम से (**संवेगः**) संवेग (**अनुकम्पा**) अनुकम्पा (**तथा**) तथा (**आस्तिक्यं**) आस्तिक्य गुण है, अब (**तल्लक्षणं वक्ष्ये**) उनका लक्षण कहता हूँ (**यथा**) जैसे कि।। 425।।

(**विषयेषु**) पंचेद्रियों के विषयों में (**च**) और (**लोकासंख्यातमात्रेषु उच्चैः भाव क्रोधादिकेषु**) असंख्यात लोक प्रमाण तीव्र भावक्रोधादिकों में (**स्वरूपात् शिथिलं मनः**) स्वरूप से शिथिल मन का होना ही (**प्रशमः**) प्रशम कहलाता है।। 426।।

(**यद्वा**) अथवा (**सद्यः कृतापराधेषु जीवेषु**) उसी समय अपराध करने वाले जीवों पर (**जातुचित्**) कभी भी (**तद्वधादिविकाराय**) उनके वध आदिरूप विकार के लिए (**बुद्धिः नः**) बुद्धि का नहीं होना (**प्रशमः**) प्रशम कहलाता है।। 427।।

(**तत्र**) उस प्रशमभाव की उत्पत्ति में (**नूनं**) निश्चय से (**अनन्तानुबन्धिनां**) अनंतानुबंधी कषायों का (**उदयाभावः**) उदयाभाव (**अपि**) और (**शेषकषायाणां**) शेष अप्रत्याख्यानादि कषायों का (**अंशतः**) अंशरूप से (**मन्दोदयः**) मन्द उदय (**हेतुः स्यात्**) कारण है।। 428।।

(**तस्य**) यद्यपि प्रशमभावयुक्त सम्यग्दृष्टि के (**दैवात् अकामतः**) दैवयोग से अनिच्छा पूर्वक (**आरम्भादिक्रिया वा स्यात्**) आरम्भ आदि क्रिया भी होती है तथापि (**अन्तः शुद्धेः**) अनन्तानुबंधी के अभाव आदि से अभ्यन्तर शुद्धि की (**प्रसिद्धत्वात्**) प्रसिद्धि होने के कारण वह क्रिया (**प्रशमक्षतेः हेतुः न**) उनके उस प्रशम गुण में बाधा पहुँचाने के लिए कारण नहीं हो सकती है।। 429।।

(**सम्यक्त्वेन अविनाभूतः**) सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव रखने वाला (**प्रशमः**) प्रशम भाव (**परमः गुणः**) सम्यग्दृष्टि का परम गुण है कारण (**प्रशममन्ये अपि अन्यत्र**) अपने में प्रशम का झूठा अहंकार रखने वाले भी मिथ्यादृष्टि के (**तदत्ययात्**) सम्यक्त्व का सद्भाव न रहने से (**आभास स्यात्**) प्रशमाभास होता है, सच्चा प्रशमभाव नहीं होता है।। 430।।

भावार्थ :- जो शास्त्रान्तरों में श्रद्धादिक के समान प्रशमादिक भी सम्यग्दर्शन के लक्षण बताये हैं वे भी बाह्यदृष्टि से यथायोग्य रीति से सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य – ये चार सम्यग्दृष्टि के गुण/लक्षण हैं। अब आगे उन चारों ही के लक्षण को क्रमपूर्वक कहता हूँ।

पाँचों इंन्द्रियों के विषयों में तथा असंख्यातलोक प्रमाण तीव्र भाव क्रोधादिकों में स्वभाव से ही मन का शिथिल होना प्रशम कहलाता है।

अथवा अपराधियों के प्रति भी मन्दकषायपने के कारण अपकार करने के लिए बुद्धि की अप्रवृत्ति को प्रशम कहते हैं।

अनन्तानुबन्धी कषायों का उदयाभाव तथा अप्रत्याख्यानाचरणादि शेष कषायों का मन्दोदय ही प्रशमभाव का जनक होता है।

सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के उदयवश जो आरम्भादि क्रिया होती है, वह उसके अन्तरंग में शुद्धि के विद्यमान रहने के कारण प्रशम में बाधक नहीं हो सकती है।

प्रशमगुण सम्यग्दर्श का अविनाभावी है इसलिए सम्यग्दृष्टि के यथार्थ प्रशमगुण होता है, किन्तु प्रशमगुण का झूठा अभिमान रखने वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन के न होने से उसका अविनाभावी प्रशम नाम गुण भी नहीं होता है।

संवेग सम्बन्धी व्याख्या

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु।। 431।।

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत्।। 432।।

इतरत्र पुनः रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः।
नातद्गुणोऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया।। 433।।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते।
किंतु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि।। 434।।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः।। 435।।

धर्म धर्मफल में आत्मा का परमोत्साह कहा संवेग।
परमेष्ठी में प्रीतिभाव अरु साधर्मी में हो अनुराग।। 1199।।
केवल सम्यग्दर्शन अथवा शुद्धात्मा का अनुभव धर्म।
तथा अतीन्द्रिय अक्षय क्षायिक सुख अनन्त है उनका फल।। 1200।।
गुणानुराग साधर्मी के प्रति किन्तु न फल की इच्छा है।
मात्र धर्म-अनुरागरूप वह, नहीं अतद्गुण में अनुराग।। 1201।।
यहाँ नहीं अनुराग शब्द का अभिलाषा यह अर्थ करो।
पर अधर्म अरु उसके फल से रहित शेष जो वह जानो।। 1202।।
अथवा इस अनुराग शब्द का जब विधिरूप अर्थ वक्तव्य।
तब जानो उपलब्धि प्राप्ति है अर्थ क्योंकि ये सब एकार्थ।। 1203।।

अन्वयार्थ :- (**धर्मे**) धर्म में और (**धर्मफले**) धर्म के फल में (**चितः परमोत्साहः**) आत्मा के परम उत्साह को (**सवेगः**) संवेग कहते हैं (**वा**) अथवा (**सधर्मेषु अनुरागः**) धार्मिक पुरुषों में अनुराग (**वा**) अथवा (**परमेष्ठिषु प्रीतिः**) पंच परमेष्ठी में प्रीति रखने को भी संवेग कहते हैं।। 431।।

(**सम्यक्त्वमात्रात्मा धर्मः**) केवल सम्यग्दर्शन है स्वरूप जिसका, वह धर्म कहलाता है (**अथवा**) अथवा (**शुद्धस्य अनुभवः**) शुद्ध आत्मा का अनुभव धर्म कहलाता है (**च**) तथा (**अत्यक्षं**) अतींद्रिय (**अक्षयं**) अविनाशी और (**क्षायिकं**) घातिया कर्मों के क्षय से होने वाला (**यत् सुखं**) जो अनन्त सुख है वह (**तत्फल**) उस धर्म का फल है।। 432।।

(**तद्गुणेषु अनुरागतः**) उनके गुणों में अनुराग से (**अपि**) और (**तत्फलस्य अलिप्सया**) अनुरागकृत फल की इच्छा न करने से (**इतरत्र पुनः रागः**) गुणों से गुणी कथंचित् भिन्न होता है इसलिए गुणों से कथंचित् भिन्न पंच परमेष्ठियों में तथा धार्मिकों में जो अनुराग होता है (**अनुरागः अपि**) वह अनुराग भी (**अतद्गुणः न**) अतद्गुणराग नहीं है किन्तु गुणानुराग ही है।। 433।।

(**अपि**) तथा (**अलं**) यहाँ पर (**अनुरागशब्देन**) अनुराग शब्द के द्वारा (**अभिलाषा न निरुच्यते**) अभिलाषारूप अर्थ नहीं कहा गया है (**किन्तु**) किन्तु (**अधर्मात् शेषं वा तत्फलात् निवृत्तिः**) यावत् अधर्म के बिना जो कुछ रहता है उसे अनुराग कहते हैं अथवा अधर्म के फलभूत कुक्रियाओं से होनेवाली निवृत्ति को अनुराग कहते हैं।। 434।।

(**अथ**) अथवा (**यदा**) जिससमय (**अनुरागशब्दस्य**) अनुराग शब्द का (**अर्थतः**) अर्थ की अपेक्षा से (**विधिवाच्यः**) विविधरूप अर्थ वक्तव्य होता है (**तदा**) उस समय अनुराग शब्द

का अर्थ **(प्राप्ति वा उपलब्धिः स्यात्)** प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योंकि **(शब्दः एकार्थवाचकाः)** अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थ वाचक हैं।। 435।।

भावार्थ :- धर्म और धर्म के फल में परमोत्साह का होना संवेग कहलाता है अथवा साधर्मी जनों में और पंचपरमेष्ठी में अनुराग रखना भी संवेग कहलाता है।

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान धर्म है और अतींद्रिय अविनाशी तथा घातिया कर्मों के क्षय से होने वाला अनन्त सुख उस धर्म का फल है।

सम्यग्दृष्टियों का धर्मियों में अनुराग किसी प्रकार के स्वार्थपूर्वक नहीं होता है, इसलिए धर्मात्माओं के प्रति जो अनुराग है वह भी धर्मानुराग है अधर्मानुराग नहीं है। अतः धर्म के आधार पर पंचपरमेष्ठी व धर्म के धारक साधर्मियों के प्रति प्रीति तथा अनुराग का नाम संवेग कहलाता है।

यहाँ पर अनुराग शब्द का अर्थ किसी प्रकार की कांक्षा नहीं है, किन्तु अधर्म के बिना जो कुछ रहता है अर्थात् धर्ममात्र तथा अधर्म के फल से निवृत्ति अर्थात् अधर्म मात्र के फल से विमुख रहना अनुराग शब्द का अर्थ समझना चाहिये, इसलिये सम्यग्दृष्टि के धर्म तथा धर्मियों के प्रति अनुराग से किसी प्रकार की कांक्षा की सिद्धि नहीं होती है।

अनुराग, प्राप्ति तथा उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं। इसलिये अनुराग शब्द का विधिरूप अर्थ प्राप्ति तथा उपलब्धि होता है।

अभिलाषा मात्र का निषेध

न चाऽशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत्।। 436।।
अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यादज्ञानं दृग् विपर्ययात्।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो-लब्धुं कामो न लब्धिमान्।। 437।।
मिथ्या सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम्।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः।। 438।।
क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः।। 439।।
यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्सतः।। 440।।

जरामृत्युदरिद्रादि न हि (नापि) कामयते जगत।
तत्संयोगो बलादस्ति सततस्त्राशुभोदयात्।। 441॥

ज्ञानी को नहिं मात्र भोग अभिलाषा - ऐसा मत मानो।
भोग समान शुद्ध उपलब्धि की न उसे इच्छा जानो।। 1204।।
वास्तव में सब अभिलाषा मिथ्यादृग से अज्ञानमयी।
जिने अप्राप्त तत्त्व वह चाहे, सम्यग्दृष्टी क्यों चाहे।। 1205।।
सब अभिलाषायें केवल मिथ्यात्व उदय से होती हैं।
अतः कोइ भी अभिलाषा नहिं स्वार्थ सिद्धि कर सकती है।। 1206।।
बिन कारण नहिं कार्य सिद्धि हो यद्यपि अभिलाषा होती।
कारण मिलने पर सिद्धि हो, यद्यपि अभिलाषा नहिं हो।। 1207।।
यश सम्पत्ति पुत्र मित्र आदिक को चाहे जग सारा।
किन्तु पुण्य के उदय बिना, इच्छा करने से भी न मिले।। 1208।।
जरा मृत्यु दारिद्र आदि को कोइ नहीं जग में चाहे।
यद्यपि नहिं अभिलाषा फिर भी अशुभोदय से हो संयोग।। 1209।।

अन्वयार्थ :- (**अभिलाषः**) सम्यग्दृष्टि की अभिलाषा (**भोगेषु**) भोगों में ही (**अलं निषिद्धः-स्यात्**) केवल निषिद्ध है - यह (**न च आशंक्यं**) आशंका नहीं करना चाहिये (**हि**) क्योंकि सम्यग्दृष्टि के (**भोगाभिलाषवत्**) भोगों में अभिलाषा की तरह (**शुद्धोपलब्धिमात्र अपि**) शुद्धोपलब्धि में भी (**यः**) जो अभिलाषा होती है वह भी निषिद्ध है।। 436।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**सर्वः अभिलाषः**) अभिलाषामात्र (**दृग्विपर्ययात्**) मिथ्यादर्शन के उदय होने के कारण (**अज्ञानं स्यात्**) अज्ञानरूप होती है क्योंकि (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**अलब्धतत्त्वार्थः**) जिसे तत्त्वार्थ की उपलब्धि अर्थात् शुद्ध आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं हुई (**लब्धुं कामः**) वह शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति की अभिलाषा करता है, किन्तु (**लब्धिमान् न**) जिसने शुद्धोपलब्धि की प्राप्ति कर ली है, वह शुद्धतत्त्व की प्राप्ति के लिये अभिलाषा नहीं करता है।। 437।।

(**सर्वः अभिलाषः**) सब अभिलाषाएँ (**परं**) केवल (**मिथ्याकर्मोदयात्**) मिथ्यादर्शन के उदय से होने के कारण (**मिथ्या स्यात्**) मिथ्या होती हैं (**यतः**) और (**प्रत्यक्षतः**) प्रत्यक्ष रीति से (**अर्थक्रिया**) कोई भी अभिलाषा (**स्वार्थस्य सिद्धयै अलं न**) अपने स्वार्थ के सिद्धि के लिये समर्थ नहीं होती है (**यतः**) क्योंकि।। 438।।

(**क्वचित्**) किसी जीव के (**तस्य सद्भावे अपि**) उस अभिलाषा के होने पर भी (**अहेतुता**

इष्टसिद्धिः न) कारण सामग्री के न मिलने से इष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है **(च)** और किन्हीं जीवों के **(अभिलाषस्य असद्भावे अपि)** अभिलाषा के बिना भी **(हेतुतः)** कारण सामग्री के मिलने पर **(स्वेष्टसिद्धि)** अपनी इष्ट सिद्धि हो जाती है।। 439।।

(सर्व जगत्) सम्पूर्ण संसार **(यशः श्री सुतमित्रादि)** यश, सम्पत्ति, पुत्र और मित्रादिक की **(कामयते)** इच्छा करता है, परन्तु **(सतः पुण्योदयात् विना)** पुण्य के सद्भाव के बिना **(अस्य अभिलाषे अपि)** इस जीव के उनके विषय में अभिलाषा के रहने पर भी **(लाभ न)** इष्ट की सिद्धि नहीं होती है।। 440।।

(जगत्) सम्पूर्ण संसार **(जरामृत्युदरिद्रादि)** बुढ़ापा, मृत्यु और दारिद्र्यादिक को **(न हि कामयते)** नहीं चाहता है परन्तु **(तत्र)** संसार में जीवों को **(अशुभोदयात् सतः)** अशुभोदय के सद्भाव से **(बलात्)** अभिलाषा के न रहने पर भी **(तत्संयोगः अस्ति)** उन जरा आदि का संयोग होता है।। 441।।

भावार्थ :- यह आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि के केवल भोगों के विषय में ही अभिलाषा नहीं होती, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के भोगों के समान शुद्धापेलब्धि के विषय में भी अभिलाषा नहीं होती है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के अभिलाषा मात्र का अभाव होता है, इसलिये ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि के केवल विषय भोगों में ही अभिलाषा का अभाव होता है।

चाहे विषयों की अभिलाषा हो अथवा चाहे शुद्ध तत्त्वों की उपलब्धि की अभिलाषा हो, दोनों ही अभिलाषाएँ दर्शन-मोह के उदय से होती हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि को शुद्ध तत्त्वों की उपलब्धि की अभिलाषा होती है - यह भी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि तत्त्वार्थोपलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, अतः विषयों के समान शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि के विषय में भी सम्यग्दृष्टि को अभिलाषा नहीं होती है - यह सिद्ध होता है। कोई भी अभिलाषा स्वार्थसिद्धि के लिये समर्थ ही हो - ऐसा नियम नहीं है। अतः अभिलाषा मात्र केवल मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

अभिलाषा का इष्ट सिद्धि के साथ कार्य का सद्भाव सम्भव नहीं है, क्योंकि कारण सामग्री के सद्भाव में बिना अभिलाषा के ही इष्ट सिद्धि का सद्भाव और कारण सामग्री के अभाव में अभिलाषा के रहने पर भी इष्ट सिद्धि का अभाव देखा जाता है, इसलिये इष्ट सिद्धि के लिये केवल अभिलाषा कारण नहीं है, किन्तु योग्य कारण सामग्री ही इष्ट सिद्धि के लिये समर्थ कारण है।

यद्यपि कीर्ति सम्पत्ति और पुत्रादिक की प्राप्ति की इच्छा सबको ही रहती है परन्तु पुण्योदय के बिना केवल इच्छामात्र से किसी को भी उनकी प्राप्ति नहीं होती है।

यद्यपि जरा मृत्यु आदि को कोई भी नहीं चाहता है, परन्तु अशुभोदय से इच्छा के न रहते हुए भी जरा आदि का समागम होता है।

संवेग और निर्वेद का स्वरूप

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च (स्तु) निषेधनात्।
स्याद्विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः।। 442।।
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा।
स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान्।। 443।।
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः।। 444।।
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान्।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान्।। 445।।

विधिरूप संवेग कहा एवं निषेधमय है निर्वेद।
इसीलिए वास्तव में उनमें मात्र विवक्षावश है द्वैत।। 1210।।
निर्वेदभाव का लक्षण कहते सभी कामनाओं का त्याग।
धर्म और फल में भी संवेगी नहिं होता आशावान।। 1211।।
वास्तव में मिथ्यादृष्टी की क्रिया मात्र में धर्म नहीं।
क्योंकि सदा रागादि उसे हैं अतः धर्म नहि, सदा अधर्म।। 1212।।
मिथ्यादृष्टी रागी होता है सदैव, नहिं कभी अराग।
सम्यग्दृष्टी अस्त राग है कभी न होता उसको राग।। 1213।।

अन्वयार्थ :- (**संवेगः विधिरूपः स्यात्**) संवेग विधिरूप होता है (**च**) और (**निर्वेदः निषेधनात्**) निषेध को विषय करने से निर्वेद निषेधात्मक होता है इसलिए (**तयोः**) उन संवेग तथा निर्वेद में (**विवक्षा वशात् द्वैतं**) विवक्षा वश से द्वैत होता है (**अर्थात् अर्थान्तरं न**) वास्तव में अर्थान्तररूप से द्वैत नहीं होता है।। 442।।

(**सर्वाभिलाषस्य त्यागः**) सब अभिलाषों का त्याग (**निर्वेदः**) निर्वेद कहलाता है (**अथवा**) और (**लक्षणात्**) धर्म तथा धर्म के फल में अनुराग को संवेग कहते हैं, इस संवेग के लक्षण से (**सः संवेगः धर्मः तथा**) वह संवेगरूप धर्म भी सर्वप्रकार की अभिलाषाओं के त्यागरूप होता है, क्योंकि (**धर्मवान् साभिलाषः न**) उक्त संवेगवाला सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होता है।। 443।।

(इह मिथ्यादृष्टेः) यहाँ पर मिथ्यादृष्टि के **(नित्यं रागादिसद्भावात्)** सदैव रागादि भावों का सद्भाव रहने से **(क्रियामात्रं अपि)** केवल क्रियारूप धर्म का पाया जाना भी **(अर्थतः)** वास्तव में (धर्मः न) धर्म नहीं हो सकता है **(प्रत्युत)** किंतु **(सः)** वह क्रियारूप धर्म **(अधर्मः एव)** अधर्म ही है।। 444 ।।

(कुदृष्टिः) मिथ्यादृष्टि जीव **(नित्यं)** सदैव **(रागी स्यात्)** रागी होता है। **(क्वचित्)** कभी भी **(अरागवान्)** राग रहित **(न स्यात्)** नहीं होता है तथा **(सद्दृष्टिः)** सम्यग्दृष्टि जीव **(नित्यं अस्तरागः वा अस्ति)** सदैव वीतराग होता है **(रागवान् न स्यात्)** रागवान् नहीं होता।। 445 ।।

भावार्थ :- संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। इसलिये अपेक्षा भेद से दोनो का ही एक अर्थ होने से दोनों में केवल विवक्षा वश से द्वैत है, वास्तविक द्वैत नहीं है।

सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं हो सकता, इसलिए जैसे सम्पूर्ण अभिलाषाओं का त्यागरूप धर्म निर्वेद कहलाता है, वैसे ही धर्म तथा धार्मिक पुरुषों में गुणानुराग करनेरूप संवेग धर्म भी सर्व प्रकार की अभिलाषाओं के त्यागरूप होता है, अतः दोनों में केवल विवक्षावश द्वैत है, वास्तव में द्वैत नहीं है।

मिथ्यादृष्टि के जो सम्यग्दर्शन के बिना बाह्यरूप से संवेग तथा निर्वेद देखे जाते हैं, वे अन्तरंग में अनन्तानुबन्धीजन्य रागादिक भावों का सद्भाव रहने से धर्मरूप नहीं है, किन्तु अधर्मरूप ही है।

मिथ्यादृष्टि जीव सदैव रागवान ही है, अरागी नहीं और सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व के अभाव से सदैव वीतराग के समान राग रहित है, राग सहित नहीं है।

अनुकम्पा का स्वरूप

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात्।। 446 ।।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः।। 447 ।।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम्।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक्।। 448 ।।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सशल्यवान्।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं नचापरम्।। 449 ।।

समता सर्वभूतेषु याऽनुकम्पा परत्र सा।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात्।। 450।।
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि।। 451।।

अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या अनुग्रह सब प्राणी पर।
मैत्री अरु माध्यस्थ भाव निःशल्यवृत्ति भी अनुकम्पा।। 1214।।
अनुकम्पा में दर्शमोह का अनुदय ही हेतु होता।
क्योंकि कोइ भी बैरभाव नहिं मिथ्याज्ञान बिना करता।। 1215।।
पर-निमित्त से अपने अरु अपने द्वारा पर जीवों का।
किञ्चित् भी सुख-दुख या जन्म-मरण हो यह अज्ञान कहा।। 1216।।
जिसको यह अज्ञान वर्तता वह सशल्य मिथ्यादृष्टी।
इससे वह वध-कामी होकर भी न किसी को मार सके।। 1217।।
जो सब जीवों के प्रति मैत्री भाव और अनुकम्पा है।
वास्तव में वह शल्य रहित होने से निज अनुकम्पा है।। 1218।।
वास्तव में रागादि विकारी भावों से होता है बन्ध।
उनके बिना न बन्धन होता अतः अनुकम्पा कर्त्तव्य।। 1219।।

अन्वयार्थ :- (**अनुकम्पा कृपा ज्ञेया**) अनुकम्पा शब्द का अर्थ कृपा समझना चाहिये (**अथ**) अथवा (**वैरवर्जनात्**) वैर के त्यागपूर्वक (**सर्वसत्त्वेषु अनुग्रहः**) सर्व प्राणियों पर अनुग्रह (**मैत्रीभावः**) मैत्रीभाव (**माध्यस्थं**) माध्यस्थभाव और (**नैःशल्यं**) शल्यरहित वृत्ति (**अनुकम्पा स्यात्**) अनुकम्पा कहलाती है।। 446।।

(**तत्र**) उस अनुकम्पा के होने में (**केवलं**) केवल (**दृङ्मोहानुदयः**) दर्शनमोहनीय का अनुदय (**हेतुः वाच्यः अस्ति**) हेतु कहना चाहिये (**यतः**) क्योंकि (**मिथ्याज्ञानं बिना**) दर्शनमोह के उदयजन्य मिथ्याज्ञान के बिना (**क्वचित्**) किसी जीव में (**वैरभावः न स्यात्**) बैरभाव नहीं हो सकता।। 447।।

(**यत्**) जो (**परतः स्वस्य**) पर के निमित्त से अपने (**वा**) अथवा (**स्वस्मात् परजन्मिनां**) अपने निमित्त से दूसरे प्राणियों के (**मनाक्सुखदुःखादि**) कुछ भी सुख-दुःखादिक तथा (**मृत्युः वा जीवितं**) मरण और जीवन की (**इच्छेत्**) चाहना है (**तत्**) वही (**मिथ्या**) मिथ्याज्ञान है।। 448।।

(यस्य) जिसके **(एतत् अज्ञानं)** यह अज्ञान **(अस्ति)** होता है **(सः शल्यवान् मिथ्यादृष्टिः)** वह सशल्य मिथ्यादृष्टि है **(च)** तथा वह **(अज्ञानात्)** इस अज्ञान से **(अपरं हन्तुकामः अपि)** दूसरे को मारने की इच्छा रखने वाला होकर भी **(हन्तुं क्षमः न)** मारने के लिये वास्तव में समर्थ नहीं होता है।। 449।।

(यः) जो **(सर्वभूतेषु)** सब प्राणियों में **(समता)** समता-माध्यस्थभाव और **(परत्र)** दूसरे प्राणियों के प्रति **(अनुकम्पा)** दयाभाव है **(सा)** वह सब **(अर्थतः)** वास्तव में **(शल्यवत्)** शल्य के समान **(शल्यवर्जनात्)** शल्य के त्याग से होने के कारण **(स्वानुकम्पा स्यात्)** स्वानुकम्पा ही है।। 450।।

(हि) निश्चय से **(रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे एव)** रागादिक अशुद्ध भावों का सद्भाव होने पर ही **(बन्धः)** कर्मबन्ध होता है और **(तदसद्भावे)** उन अशुद्ध रागादिक का अभाव होने पर **(बन्ध न)** कर्मबन्ध नहीं होता है **(तत्)** इसलिये **(आत्मनि कृपा)** स्वानुकम्पा **(विधेया)** करनी चाहिये।। 451।।

भावार्थ :- कृपा को, बैरवृत्ति के त्यागपूर्वक प्राणीमात्र पर अनुग्रह को, मैत्रीभाव को, माध्यस्थ भाव को और तीनों प्रकार की शल्य से रहित वृत्ति को अनुकम्पा कहते हैं।

मिथ्यादृष्टियों को मिथ्यादर्शन के उदय से वास्तविक अनुकम्पा नहीं हो सकती है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के उदय से मिथ्यादृष्टियों को जो मिथ्या ज्ञान होता है, उससे उनके सदैव बैरभाव पाया जाता है। जब तक मिथ्यादर्शन के अभाव पूर्वक उस बैरभाव का अभाव नहीं होता, तब तक उन मिथ्यादृष्टियों के प्राणीमात्र के प्रति अनुग्रहादिरूप वास्तविक अनुकम्पा नहीं होती है।

मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यात्व के उदय से जो ऐसी इच्छा होती है कि मेरे निमित्त से स्त्री पुत्रादिक को और उनके निमित्त से मेरे को सदैव सुख व जीवन प्राप्त होते रहें; तथा मेरे निमित्त से शत्रुओं को सदैव मृत्यु व दु:खादिक प्राप्त होते रहें, वह सब मिथ्याज्ञान है।

जिसके उपर्युक्त अज्ञानभाव रहता है वह मिथ्यात्व शल्यवाला मिथ्यादृष्टि है; तथा वह इस अज्ञान से यद्यपि अन्य जीवों को मारने की इच्छा करता है, तथापि यह वास्तव में किसी को मार नहीं सकता, क्योंकि तीव्र अशुभोदय के बिना केवल पर-निमित्त से मत्यु नहीं होती।

जो सब जीवों के प्रति समताभाव-माध्यस्थभाव तथा अन्य जीवों के प्रति दयाभाव है, वह वास्तव में मिथ्यात्वादि शल्य के अभाव से होता है इसलिये स्वानुकम्पा ही है।

रागादिक के सद्भाव से नियमपूर्वक बन्ध होता है; तथा उनके असद्भाव से बन्ध नहीं होता है, इसलिये अपनी आत्मा में रागादिक भावों को उत्पन्न न करके स्वानुकम्पा करनी चाहिये।

आस्तिक्य का स्वरूप

आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चतिः।
धर्म हेतौ च धर्मस्य फले चाऽस्त्यादि धर्मचित्।। 452।।
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोऽप्यमूर्तिमान्।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः।। 453।।
अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत्।। 454।।
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै।
आस्त्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम्।। 455।।
अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च [स्तु] तत्फलम्।
अथ (अपि) शुद्धनयादेशाच्छुद्ध सर्वोऽपि सर्वदा।। 456।।
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी।। 457।।
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम्।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः।। 458।।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतं स्वानुभूत्यैकलक्षणम्।
अस्तिक्यं नाम सम्यक् तत् (त्वं) मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा।।459।।

स्वयं सिद्ध नव तत्त्वों एवं धर्म, धर्म-हेतु फल में।
निश्चय रखना ही आस्तिक्य बुद्धिवाला आस्तिक्य कहे।। 1220।।
स्वयं सिद्ध एवं अमूर्तिक आत्मा को ही जीव कहें।
चेतन है वह जीव और सब अचित् पदार्थ अजीव कहें।। 1221।।
निश्चय से आत्मा कार्माण वर्गणामय कर्मों से बद्ध!
है अनादि से उनका कर्ता-भोक्ता उनके क्षय से मुक्त।। 1222।।
संसारी के बन्ध मोक्ष के कारण आस्त्रव आदि पदार्थ।
आस्त्रव और बन्ध के फल जो पुण्य-पाप को कहा पदार्थ।। 1223।।
इस प्रकार पर्यायार्थिक नय से है बन्ध-मोक्ष तत्फल।
किन्तु शुद्धनय से हैं सभी जीव सर्वदा शुद्ध स्वभाव।। 1224।।

इनमें जो है स्वसंवेद्य अरु चिन्मय जीव पदार्थ है नाम।
वह ही मैं हूँ अन्य पौद्गलिक रागादिक विकार हैं त्याज्य।। 1225।।
जो अनादि जीवादि वस्तुएँ सबका निश्चय अरु व्यवहार-
नयों से जैसी हैं वैसी आस्तिक्य बुद्धि ही है आस्तिक्य।। 1226।।
समकित से अविनाभावी यह स्वानुभूति लक्षण आस्तिक्य।
वह सम्यक् आस्तिक्य अन्यथा है विरुद्ध मिथ्या आस्तिक्य।। 1227।।

अन्वयार्थ :- (**स्वतः सिद्धं तत्त्वसद्भावे**) स्वतःसिद्ध नव तत्त्वों के सद्भाव में (**च**) तथा (**धर्मे**) धर्म में (**धर्मस्य हेतौ**) धर्म के हेतु में (**च**) और (**फले**) धर्म के फल में जो (**विनिश्चितिः**) निश्चय रखना है वह (**अस्त्यादिधर्मवित्**) जीवादि पदार्थों में अस्तित्व बुद्धि रखने वाला (**आस्तिक्यं**) आस्तिक्य कहलाता है।। 452।।

(**यः स्वतःसिद्धः**) जो स्वतःसिद्ध है (**अपि**) और (**अमूर्तिमानस्यात्**) अमूर्तीक है वह (**चेतनः आत्मा**) चेतन आत्मा (**जीवसंज्ञः अस्ति**) जीव नामा पदार्थ है (**तु**) तथा (**यावान् अपि अचेनः**) संपूर्ण अचेतन द्रव्य (**अजीवः अस्ति**) अजीव नामा पदार्थ हैं।। 453।।

(**हि**) निश्चय से (**आत्मा**) आत्मा (**कार्मणात्मकैः कर्मभिः**) कार्माणवर्गणारूप कर्मों के द्वारा (**अनादितः बद्धः अस्ति**) अनादिकाल से बद्ध है (**च**) और इसलिए (**तेषां**) उनका (**कर्ता भोक्ता**) कर्ता व भोक्ता भी है तथा (**तत्क्षयात्**) उन कर्मों के क्षय से (**मोक्षभाक् भवेत्**) मुक्त हो जाता है।। 454।।

(**तस्य संसारिणः अनिशं**) उन संसारी जीव के (**वै**) निश्चय से (**तद्धेतुः**) बन्ध के हेतुभूत व मोक्ष के हेतुभूत (**आस्रवाद्याः तथा सन्ति**) आस्रव संवर और निर्जरा पदार्थ भी जीवादिक के समान पदार्थ हैं (**च**) तथा (**तत्फलं**) उन आस्रव और बन्ध के फलभूत (**पुण्यं च पापं अस्ति**) पुण्य व पाप भी पदार्थ हैं।। 455।।

(**एवं**) इसप्रकार (**पर्ययादेशात्**) पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से (**बन्धो मोक्षश्च तत्फलं अस्ति**) बन्ध मोक्ष तथा बन्ध के फल पुण्य-पाप आदि हैं (**अथ**) और (**शुद्धनयादेशात्**) शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से (**सर्वः अपि**) सब ही जीव (**सर्वदा शुद्धः**) सदैव शुद्ध है।। 456।।

(**तत्र**) उन नव तत्त्वों में (**यः अयं**) जो यह (**स्वसंवेद्यः**) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय (**चिदात्मकः**) चैतन्यात्मक और (**जीवसंज्ञः**) जीव संज्ञावाला है (**सः अहं**) वह मैं उपादेय हूँ (**तु**) तथा (**अमी अन्ये पौद्गलिकाः रागादयः हेयाः**) ये मुझसे भिन्न पौद्गलिक रागादिकभाव त्याज्य हैं।। 457।।

(**यतः**) जिस कारण से (**निश्चयव्यवहाराभ्यां**) निश्चय और व्यवहारनय के द्वारा (**इत्यादि यत्यथा**) इत्यादि जो जैसे (**अनादि**) अनादि से (**जीवादि अखिलं वस्तुजातं**) जीवादिक संपूर्ण पदार्थ हैं (**ततः**) तिस कारण से उनमें निश्चय-व्यवहार पूर्वक (**तद्यथामति**) वे वैसे ही हैं - ऐसी बुद्धि का होना (**आस्तिक्यं**) आस्तिक्य है।। 458।।

(**सम्यक्त्वेन अविनाभूतं**) सम्यक्त्व से अविनाभूत (**स्वानुभूत्यैकलक्षणं**) स्वानुभूति ही है एक लक्षण जिसका ऐसा जो आस्तिक्य है (**तत् सम्यक् आस्तिक्यं नाम**) वह सम्यक् आस्तिक्य कहलाता है और (**ततः अन्यथा**) उससे विपरीत जो आस्तिक्य है वह (**मिथ्या आस्तिक्यं**) मिथ्या आस्तिक्य कहलाता है।। 459।।

भावार्थ :- तत्त्वों के सद्भाव में, धर्म में, धर्म के कारण में व धर्म के फल में विश्वास रखना ही जीवादि पदार्थों में अस्तित्व बुद्धि रखनेवाला आस्तिक्य गुण कहलाता है।

स्वतःसिद्ध, अमूर्तिक, चेतन आत्मा जीव है और शेष सम्पूर्ण अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

जीव अनादि काल से पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ है, तथा इसी अपेक्षा से बंध का कर्त्ता व भोक्ता भी है, इसलिये बन्धनामा पदार्थ है और उन बद्ध कर्मों के क्षय से मोक्ष को प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष नामा पदार्थ भी है।

पहले पद्य में जीव अजीव, बन्ध और मोक्ष के अस्तित्व को बता चुके हैं और इस पद्य में 'च' शब्द से बन्ध के हेतुभूत आस्रव तथा मोक्ष के हेतुभूत संवर और निर्जरा नाम के पदार्थों का अस्तित्व बताया है तथा आस्रव और बन्ध के फलभूत पुण्य व पाप का भी अस्तित्व है - इसप्रकार नव पदार्थों के विषय में अस्तित्व बुद्धि को आस्तिक्य कहते हैं।

इसप्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से बन्ध, मोक्ष व बन्ध के फल पुण्य और पाप नाम के पदार्थ हैं तथा यहाँ पर 'च' शब्द से आस्रवादिक का ग्रहण किया है और शुद्धनय की अपेक्षा से सदैव सब ही जीव शुद्ध हैं, इसलिये पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से जीव नवपदार्थमय है तथा शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीव सदैव शुद्ध है।

पर्यायार्थिकनय से ही बन्धमोक्षादि पदार्थ हैं। द्रव्यार्थिकनय से सब ही शुद्ध जीव द्रव्य हैं इस कथन में हेतु यह है कि नव तत्त्वों में से केवल जीव ही उपादेय है और शेष बन्धादिरूप रागादि पदार्थ हेय हैं।

उक्त प्रकार से निश्चय-व्यवहारनय के गोचरभूत अनादि से जो और जैसे जीवादिक सम्पूर्ण पदार्थ हैं उनको वैसे ही निश्चय-व्यवहारनय पूर्वक जानना आस्तिक्य कहलाता है।

आस्तिक्य दो प्रकार का है एक समीचीन आस्तिक्य और दूसरा मिथ्या आस्तिक्य। उनमें

से जो स्वानुभूतिरूप लक्षण सहित सम्यक्त्व का अविनाभावी आस्तिक्य है वह समीचीन आस्तिक्य है तथा जो इससे विपरीत आस्तिक्य है वह मिथ्या आस्तिक्य है।

आस्तिक्य के स्वसंवेदन प्रत्यक्षत्व के बारे में शंका

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम्।। 460।।

यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत्।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः।। 461।।

समाधान

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः।। 462।।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं (त्रे) परत्वतः।। 463।।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः।। 464।।

न तथास्ति प्रतीतिर्वा (चास्ति) नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम्।। 465।।

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात्।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान्।। 466।।

उक्तं च

संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छलं अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते।। 4।।

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम्।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम्।। 467।।

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम्।
तत्तथाऽस्त्यादिलक्षस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत्।। 468।।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः।
स चोऽपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम्।। 469॥

वास्तव में कैवल्य ज्ञान ही एक मात्र प्रत्यक्ष कहा।
उससे भिन्न मति-श्रुत आदि चतुष्टय ज्ञान नहीं प्रत्यक्ष।। 1228।।
अथवा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान वास्तव में देश प्रत्यक्ष कहो।
अतः आत्मसुखवत् कैसे आस्तिक्य स्वसंवेद्य कहते।। 1229।।
बात ठीक है किन्तु मति-श्रुत पर-सन्मुख हो तभी परोक्ष।
दर्शमोह के उपशमादि से स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष।। 1230।।
एक मात्र आत्मानुभूतिमय गुण आस्तिक्य श्रेष्ठतम है।
पर-द्रव्यों को जाने या नहिं जाने वे तो पर ही हैं।। 1231।।
जीवादिक पर-वस्तु सभी यद्यपि परोक्ष होने पर भी।
जैसी गाढ़ प्रतीति वर्तती सम्यग्दृष्टि जीवों को।। 1223।।
मिथ्यादृष्टि जीवों को वैसी प्रतीति नहिं हो सकती।
क्योंकि उन्हें दृग-मोहोदय से भ्रान्ति हमेशा ही रहती।। 1233।।
इसीलिए यह सिद्ध, स्वानुभव युक्ति एवं आगम से।
सम्यग्दर्शन से अविनाभावी आस्तिक्य सदा गुण हैं।। 1234।।

कहा भी है -

संवेग और निर्वेद तथा निन्दा गर्हा उपशम भक्ति।
वत्सल एवं अनुकम्पा ये आठों गुण समकित के हैं।।

इस गाथा में भी प्रशमादिक चारों गुण ही कहे गए।
इससे अधिक कहे नहि क्योंकि वे लक्षण के उपलक्षण।। 1235।।
जो लक्षण का भी लक्षण हो वह उपलक्षण होता है।
प्रथम लक्ष्य के लक्षण का भी जो लक्षण उपलक्षण है।। 1236।।
जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण संवेगरूप गुण है।
वही यहाँ अर्हद्भक्ति वात्सल्य आादि से उपलक्षित।। 1237।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**वे**) निश्चय से (**एकं केवलज्ञानं**) एक केवलज्ञान ही (**अर्थतः**) वास्तव में (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष है इसलिए (**तच्छेषज्ञानचतुष्टयं**) उससे अतिरिक्त शेष मतिज्ञानादि चारों ज्ञान वास्तव में (**कदाचित् प्रत्यक्षं न**) कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं अर्थात् यथार्थ में सदैव परोक्ष ही रहते हैं।। 460।।

(यदि वा) अथवा **(आक्ष्यं)** इंद्रियजन्य ज्ञान **(देशतः अध्यक्ष्यं)** देशप्रत्यक्ष होते हैं इसलिए **(अर्थतः)** वास्तव में **(तत् आस्तिक्यं स्वात्मसुखादिवत्)** वह आस्तिक्य, आत्मा के सुखादिक के समान **(स्वसंवेदनप्रत्यक्षं कुतः)** स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?।। 461 ।।

(सत्यं) ठीक है, परन्तु **(आद्यं द्वयं ज्ञानं)** आदि के मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान **(परसंविदि परोक्ष)** परपदार्थ के जानते समय परोक्ष हैं **(तु)** और **(दृङ्मोहोपशमादितः)** दर्शनमोहनीय के उपशम क्षय तथा क्षयोपशम होने के कारण **(स्वानुभूतौ)** स्वानुभवकाल में **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष है।। 462 ।।

(स्वात्मानुभूतिमात्रं) केवल स्वानुभूतिरूप **(आस्तिक्यं)** आस्तिक्य **(परमः गुणः स्यात्)** परम गुण है **(परद्रव्ये)** परद्रव्य में **(परत्वतः ज्ञानमात्रं)** पररूपपने से ज्ञानमात्र जो स्वात्मानुभूति है **(भवेत् वा मा भूत)** वह हो व न हो।। 463 ।।

(तत्र जीवादौ परवस्तुनि) उन जीवादिक पर वस्तुओं में **(परोक्षत्वे अपि)** परोक्षपने के रहने पर भी **(अस्य सम्यग्दृगात्मनः)** इस सम्यग्दृष्टि के **(यथा गाढं प्रतीतिः अस्ति)** जैसी दृढ़ श्रद्धा होती है **(तथा)** वैसी **(प्रतीतिः)** प्रतीति **(अस्य मिथ्यादृशः)** इस मिथ्यादृष्टि के **(स्फुटं वा न च अस्ति)** अवश्य ही नहीं होती है, क्योंकि **(तत्र अनिशं दृङ्मोहोदयात्)** मिथ्यादृष्टि के निरन्तर दर्शनमोह के उदय से **(भ्रांतेः सद्भावतः)** भ्रम रहता है।। 464-465 ।।

(ततः) इसलिये **(युक्तिस्वानुभवागमात्)** युक्ति स्वानुभव और आगम से **(इदं सम्यक् सिद्धं)** यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि **(सम्यक्त्वेन अविनाभूतं)** सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला **(आस्तिक्यं)** आस्तिक्य **(महान् गुणः अस्ति)** महान गुण है।। 466 ।।

(सम्मत्ते) सम्यक्त्व में **(संवेओ)** संवेग **(णिव्वेओ)** निर्वेद **(णिंदण गरुहा)** निंदा, गर्हा **(च)** और **(उवसमो)** उपशम **(भत्ती)** भक्ति **(वच्छल्लं)** वात्सल्य तथा **(अनुकम्पा)** अनुकम्पा ये **(अट्ठगुणा)** आठ गुण **(होंति)** होते हैं।

(उक्त गाथार्थ सूत्रे अपि) उक्त गाथा अर्थ सूत्र में भी **(प्रशमादिचतुष्टयं)** प्रशम आदि चारों गुणों का ही वर्णन है **(अतिरिक्तं न)** उनसे भिन्न का नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(अत्र)** इनमें **(लक्षणस्य उपलक्षणं अस्ति)** लक्षणों का उपलक्षण है।। 467 ।।

(यत् लक्षणस्य अपि) जो लक्षण का भी **(लक्षणं)** लक्षण होता है **(तत् उपलक्षणं अस्ति)** वह उपलक्षण कहलाता है क्योंकि **(उत्तरस्य लक्षणं च)** लक्षण का लक्षण ही **(आदिलक्षस्य तत् अस्ति)** प्रथम लक्ष्य की अपेक्षा से उपलक्षण कहलाता है **(तद्यथा)** वह इसप्रकार है कि... ।। 468 ।।

(**यथा**) जैसे (**सम्यक्त्वभावस्य**) सम्यक्त्व भाव का (**संवेगः गुणः**) संवेग गुण (**लक्षणं**) लक्षण है (**च**) और (**सः**) वह संवेग गुण (**अर्हतां भक्त्या वात्सल्येन**) अर्हत भगवान की भक्ति अथवा वात्सल्य से (**उपलक्ष्यते**) उपलक्षित होता है।। 469।।

भावार्थ :- शंकाकार की शंका है कि परमागम में केवलज्ञान को ही अकेला वास्तविक प्रत्यक्ष माना है और अन्य ज्ञान परोक्ष माने हैं, तथा लोक में व्यवहार से इंद्रियजन्य मतिज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है, तो आस्तिक्य गुण आत्मा के सुख-दुःखादिक के समान स्वसंवेदनगोचर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अर्थात् न तो वह केवलज्ञानरूप ही है और न वह इंद्रियज्ञानरूप ही है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है।

शंकाकार का कहना ठीक है परन्तु उक्त मति-श्रुत को परपदार्थ के जानते समय परोक्ष माना है और स्वसंवेदन के समय प्रत्यक्ष माना है, इसलिए आस्तिक्य गुण आत्मीय सुखादिक के समान स्वसंवेदनरूप मति-श्रुतज्ञान के गोचर होने से स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप कहा जाता है।

केवल स्वात्मा की अनुभूतिरूप आस्तिक्य ही परम गुण है, किन्तु परद्रव्य में वह आस्तिक्य केवल स्वानुभूतिरूप हो ही - ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

तथा जीवादिक परपदार्थों में भी सम्यग्दृष्टि के जैसी आस्तिक्यपूर्वक गाढ़ प्रतीति होती है, वैसी गाढ़ प्रतीति मिथ्यादृष्टि के नहीं होती, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय रहने से उसके सदैव भ्रम बना रहता है।

सम्यक्त्व के होने पर संवेग, निर्वेद, आत्मनिन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण होते हैं।

लक्षण का लक्षण करने से उन प्रशमादिक चार गुणों का ही, इन आठों में कथन है। अतः सम्यक्त्व के प्रशमादि चार गुण हैं, इस कथन में आगम से बाधा नहीं आती है।

लक्षण के लक्षण को उपलक्षण कहते है क्योंकि लक्षण का लक्षण ही मूल लक्ष्य का उपलक्षण कहलाता है।

जैसे सम्यक्त्व लक्ष्य है और संवेग उसका लक्षण है तथा अर्हंत भगवान की भक्ति अथवा वात्सल्य ये दोनों संवेगरूप लक्षण के लक्षण हैं इसलिए संवेग सम्यक्त्व का लक्षण है और अर्हंत भक्ति व वात्सल्य - ये दोनों उपलक्षण हैं।

इसलिए युक्ति, स्वानुभव तथा आगम से यह भले प्रकार सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला आस्तिक्य महान् गुण है।

सम्यक्त्व के उपलक्षणों का स्वरूप

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्।
वात्सल्यं तद् गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः।। 470।।
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम्।। 471।।
दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम्।। 472।।
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि।
पश्चात्तापकरो बन्धो नापेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः।। 473।।
गर्हणं तत्परित्यागः पंचगुर्वात्मसाक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये।। 474।।
अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम्।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः॥ 475।।
शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातव्यं परमागमात्।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम।। 476।।

उनमें दर्शमोह उपशम से मन-वच-तन उद्धता विहीन।
वही भक्ति, तद्गुण प्राप्ति में तत्पर मन, वात्सल्य कहें।। 1238।।
भक्ति और वात्सल्य नहीं हो सकते हैं संवेग बिना।
वह लक्षण सम्यग्दर्शन का ये दोनों उपलक्षण हैं।। 1239।।
दर्शन मोहोदय अभाव में होता प्रशम भाव उत्पन्न।
निन्दा गर्हा दोनों उसके बाह्यरूप हैं अभिव्यञ्जक।। 1240।।
दुर्निवार रागादि दुष्ट कर्मों का भावी दुखमय बन्ध।
है अनिष्ट पर नहीं छूटता - यह विचार ही निन्दा है।। 1241।।
पञ्च गुरु की साक्षी में उनका परित्याग कहा गर्हा।
तज प्रमाद अपनी शक्ति अनुसार कर्मक्षय हेतु करे।। 1242।।
वास्तव में इन दोनों को समकित का कहते उपलक्षण।
क्योंकि मन्द कषायरूप हैं अतः प्रशम गुण के लक्षण।। 1243।।

शेष कथन परमागम द्वारा आम्नाय से है ज्ञातव्य।
मुझ जैसा कैसे समर्थ जो श्रुत-सिन्धु की चाह लहे।। 1244।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उन दोनों में (**शमात्**) दर्शनमोहनीय का उपशम होने से (**वाग्वपुश्चेतसां**) वचन, काय और मन सम्बन्धी (**अनौद्धत्यं**) उद्धतपने के अभाव को (**भक्तिः**) भक्ति कहते हैं तथा (**तद्गुणोत्कर्षहेतवे**) उनके गुणों के उत्कर्ष के लिए (**सोद्यतं मनः**) तत्पर मन को (**वात्सल्यं**) वात्सल्य कहते हैं।। 470।।

(**भक्तिः वा वात्सल्यं नाम**) भक्ति अथवा वात्सल्य (**संवेगमन्तरा न स्यात्**) संवेग के बिना नहीं होते हैं, अतः (**सः संवेगः**) वह संवेग (**दृशः लक्ष्म**) सम्यग्दर्शन का लक्षण है और (**एतौ द्वौ**) भक्ति तथा वात्सल्य ये दोनों (**उपलक्षणं**) उस सम्यग्दर्शन के उपलक्षण हैं।। 471।।

(**दृङ्मोहस्य उदयाभावात्**) दर्शनमोहनीय के उदय के अभाव से (**प्रशमः गुणः प्रसिद्धः**) प्रशम गुण उत्पन्न होता है यह प्रसिद्ध है और (**तत्र**) उस प्रशम के (**बाह्यात् अभिव्यञ्जकं**) बाह्यरूप से अभिव्यञ्जक (**निन्दनं अपि च गहणं**) निंदा तथा गर्हा में दोनों होते हैं।। 472।।

(**तत्र**) उन दोनों में से (**निन्दनं**) निन्दन यह कहलाता है कि (**दुर्वाररागादौ दुष्ट कर्मणि**) दुर्वार रागादिरूप दुष्ट कर्मों का (**पश्चात्तापकरः बन्धः**) पश्चात्तापकारक बन्ध (**नापेक्ष्यः अपि**) अनिष्ट होकर के भी (**उपेक्षितः न**) उपेक्षित नहीं होता है-छूटता नहीं है।। 473।।

(**नूनं**) निश्चय से (**निष्प्रमादतया**) प्रमाद रहित होकर के (**शक्तितः**) अपनी शक्ति के अनुसार (**कर्महानये**) उन कर्मों के क्षय के लिये जो (**पंचगुर्वात्मसाक्षिकः**) पंचपरमेष्ठी के सामने आत्मसाक्षीपूर्वक (**तत्परित्यागः**) उन रागादि भावों का त्याग है वह (**गर्हणं**) गर्हा कहलाती है।। 474।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**कषायाणां अनुद्रेकाविशेषतः**) कषायों की मन्दतारूप ही होने से (**प्रशमस्य एतत् द्वयं**) प्रशम नामा गुण के लक्षणभूत ये दोनों (**सम्यक्त्वस्य उपलक्षणं सूक्तं**) सम्यक्त्व के उपलक्षण सिद्ध होते हैं।। 475।।

(**शेषं उक्तं**) शेष कथन (**यथाम्नायात्**) आम्नायानुसार (**परमागमात्**) परमागम से (**ज्ञातव्यं**) जानना चाहिए, क्योंकि (आगमाब्धे) आगमरूपी समुद्र के (**परं पारं**) पार को (**गन्तुं**) प्राप्त करने के लिये (**मादृक**) मेरे समान पुरुष (**कथं क्षमः**) कैसे समर्थ हो सकता है?।। 476।।

भावार्थ :- मिथ्यात्व के अभाव से मन, वचन और काय के द्वारा अर्हंत भगवान की विनय को भक्ति कहते हैं; तथा अपने में उनके गुणोत्कर्ष की प्राप्ति के लिए उद्यत मन को वात्सल्य कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि के, संवेग के बिना भक्ति और वात्सल्य नहीं होते हैं, इसलिये सम्यग्दृष्टि का संवेग लक्षण है तथा भक्ति व वात्सल्य – ये दोनों उपलक्षण हैं।

मिथ्यात्व के अभाव से प्रशम नाम का गुण होता है और बाह्यरूप से आत्मनिंदा तथा आत्म-गर्हा उस प्रशम गुण के द्योतक हैं। यद्यपि मेरे लिये इन दुष्ट कर्मों का बन्ध पश्चात्ताप कारक/अनिष्ट है, तथापि छूटता नहीं है – इस प्रकार के विचार को निंदन कहते हैं :-

और उन कर्मों के क्षय के लिये जो पंचपरमेष्ठी के सामने आत्मसाक्षीपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार अप्रमादी होकर उन रागादि भावों का त्याग किया जाता है, उसको गर्हा कहते हैं।

निंदा और गर्हा में भी कषायों की मन्दता पाई जाती है, इसलिए सम्यक्त्व के प्रशम नामा गुण के लक्षणभूत जो निंदा तथा गर्हा है, वे दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं।

जिसप्रकार प्रशम और संवेग के लक्षणभूत निंदा गर्हा तथा भक्ति और वात्सल्य सम्यक्त्व के उपलक्षण होते हैं, उसी प्रकार शेष कथन भी आम्नाय के अनुसार परमागम से जानना चाहिये। मेरे समान पुरुष कैसे उनके वर्णन में समर्थ हो सकता है।

शंका

ननु सद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः।। 477 ।।

समाधान

सम्यग्दर्शनमष्टांगमस्ति सिद्धं जगत्त्रये।
लक्षणं च गुणश्चांगं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः।। 478 ।।

लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शन का एक मात्र यह ही लक्षण।
और कोइ भी दूजा हो तो अब उसका भी करो कथन।। 1245 ।।
आठ अंगवाला सम्यग्दर्शन प्रसिद्ध लोकत्रय में।
लक्षण गुण अरु अंग ये सभी एक अर्थ के वाचक है।। 1246 ।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**लक्ष्यस्य सद्दर्शनस्य**) लक्ष्यभूत सम्यग्दर्शन का (**अशेषतः**) सम्पूर्ण रीति से (**एतत लक्षणं स्यात्**) केवल यही लक्षण है (**अथ किं**) अथवा क्या (**अपरं किंचित् लक्षणं अस्ति**) दूसरा कोई लक्षण है, यदि है तो (**अद्य**) अब (**नः**) मुझे (**तत् वद**) वह बताओ।। 477 ।।

(**सम्यग्दर्शनं अष्टांगं**) आठ अंग वाला सम्यग्दर्शन (**जगत्त्रये सिद्धं अस्ति**) तीनों लोक में

प्रसिद्ध है **(च)** तथा **(लक्षणं गुणः च अंग च एते)** लक्षण, गुण और अंग ये सब **(एकार्थवाचकाः शब्दा)** एकार्थवाचक शब्द हैं।। 478।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि सम्यग्दर्शन का केवल पूर्वोक्त ही लक्षण है अथवा क्या कोई दूसरा भी लक्षण है, यदि दूसरा लक्षण है तो वह बताना चाहिये।

तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के आठ अंग प्रसिद्ध हैं और यहाँ पर अंग शब्द का अर्थ लक्षण है, क्योंकि अंग, गुण तथा लक्षण ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ अंग भी लक्षण हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप

निःशंकितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम्।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता।। 479।।
उपबृंहणनामा च (थ) सुस्थितीकरणं तथा।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना।। 480।।

यथा प्रथम निःशंकित इसके बाद कहा निःकाँक्षित अंग।
निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि हैं तीजे चौथे अंग।। 1247।।
उपवृंहण है अंग पांचवाँ छठवाँ है सुस्थिति-करण।
आम्नाय अनुसार कहा वात्सल्य तथा प्रभावना अंग।। 1248।।

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जैसे कि **(निःशङ्कितंनाम)** निशंकित **(अतः परं)** इसके बाद **(निकांक्षितं)** निःकांक्षित **(अपि च)** और **(विचिकित्सावर्जं)** निर्विचिकित्सा **(तथा)** तथा **(दृष्टे अमूढ़ता)** अमूढ़दृष्टि **(च)** और **(उपवृंहणनामा)** उपबृंहण **(तथा)** और **(सुस्थितीकरणं)** स्थितीकरण **(च)** तथा **(वात्सल्यं)** वात्सल्य **(अपि)** और **(यथाम्नायात्)** आम्नायानुसार **(प्रभावना गुणः अस्ति)** प्रभावना इसप्रकार ये सम्यक्त्व के आठ गुण/अंग होते हैं।। 479-480।।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि के निशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना - ये आठ गुण अंग हैं।

निशंकित अंग का स्वरूप

(छन्द 481 से 546 तक)

शंका भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी।
तस्य निष्क्रांतितो जातो भावो निःशंकितोऽर्थतः।। 481।।

अर्थवशादत्र सूत्रे (सूत्तार्थे) शंका न स्यान्मनीषिणाम्।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ।। 482 ।।

शंका, भी, साध्वस, भीति अरु भय ये सब एकार्थ कहे।
इनके प्रभाव से जो होता है भाव वही निःशंकित है।। 1249 ।।
सूक्ष्म अन्तरित दूर अर्थ आस्तिक्य गम्य हैं ज्ञानी के।
अतः नहीं उनके प्रतिपादक आगम में शंका होती।। 1250 ।।

अन्वयार्थ :- (**शंका भीः साध्वसं भीतिः भयं अमी एकाभिधा**) शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एकार्थ वाचक है और (**तस्यनिष्क्रान्तितः**) उस भय के अभाव से (**जातः भावः**) उत्पन्न होने वाला भाव (**अर्थतः**) अर्थ की अपेक्षा से (**निःशङ्कितः**) निशंकित अंग कहलाता है।। 481 ।।

(**सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः**) सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ (**तदास्तिक्यगोचराः स्युः**) सम्यग्दृष्टि के आस्तिक्य के गोचर हैं अत: (**अत्र सूत्रे**) उनके अस्तित्व प्रतिपादक आगम में (**मनीषिणां**) सम्यग्दृष्टियों के (**अर्थवशात्**) किसी प्रयोजनवश कभी भी (**शंका न स्यात्**) शंका नहीं होती है।। 482 ।।

भावार्थ :- शंका, भी, साध्वस, भीति और भय इनका एक ही अर्थ है तथा इनसे रहित भाव निःशंकित अंग कहलाता है।

परमाणु आदि सूक्ष्म, मेरु आदि अन्तरित और राम-रावणादि दूरवर्ती पदार्थों को सम्यग्दृष्टि केवल आस्तिक्यपूर्वक जान लेता है इसलिये सम्यग्दृष्टि को इनके विषय में भी शंका नहीं होती है।

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को अज्ञानी नहीं जान सकता

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिंगस्याक्षैरदर्शनात्।। 483 ।।
अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः।। 484 ।।
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम्।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात् सतः।। 485 ।।

कालाणु परमाणु अरु धर्मास्तिकाय को सूक्ष्म कहें।
क्योंकि इन्द्रिय-गम्य नहीं अरु अविनाभावी लिंग नहीं।। 1251 ।।

द्वीप शिखर अरु नदीनाथ को कहते हैं अन्तरित पदार्थ।
रावण राम तथा चक्री जो भूत भावि जानो दूरार्थ।। 1252।।
मिथ्यादृष्टि को न कभी होता इनका निःशंकित ज्ञान।
क्योंकि उन्हें संशय का कारण दर्शन-मोह उदय रहता।। 1253।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उन सूक्ष्मादि पदार्थों में (**धर्मादयः सूक्ष्माः**) धर्मादिक द्रव्य सूक्ष्म होते हैं और (**काल अणवः अणवः सूक्ष्माः**) कालाणु तथा शुद्ध पुद्गल परमाणु भी सूक्ष्म होते हैं क्योंकि (**एतेषां**) इनके (**लिंगस्य**) साधक साधन का (**अक्षैः अदर्शनात्**) इंद्रियों के द्वारा दर्शन नहीं होता है इसलिये इनमें (**सूक्ष्मत्वं अस्ति**) सूक्ष्मपना है।। 483।।

(**यथा**) जैसे कि (**द्वीपसरिन्नाधनगाधिपाः**) द्वीप, समुद्र, और पर्वत आदि (**अन्तरिताः**) अन्तरित पदार्थ हैं और (**भाविनः अतीताः**) भूत तथा भविष्यत काल में होने वाले (**राम रावणचक्रिणः**) राम, रावण और चक्रवर्ती (**दूरार्थाः**) दूरार्थ हैं।। 484।।

(**मिथ्यादृशः**) मिथ्यादृष्टियों के (**एतेषां ज्ञानं**) इन सूक्ष्म आदि पदार्थों का ज्ञान (**क्वाप्य**) कभी भी (**असंशयं न स्यात्**) निःसंशयरूप से नहीं होता, क्योंकि (**वै**) निश्चय से उनके (**संशयस्यादि हेतोः**) संशयादिक का हेतुभूत (**दृङ्मोहस्योदयात् सतः**) दर्शनमोहनीय का उदय रहता है।। 485।।

भावार्थ :- किसी भी इन्द्रिय के द्वारा गोचर न हो सकने से धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध पुद्गल परमाणु ये सब सूक्ष्म कहलाते हैं।

धातकी खंडादि द्वीप, लवणादि समुद्र तथा सुमेरु आदि पर्वत अत्यन्त दूरक्षेत्रवर्ती पदार्थ अन्तरित कहलाते हैं और भूतभविष्यत् कालवर्ती राम-रावण चक्रवर्ती आदि काल की अपेक्षा से अत्यन्त दूर होने से दूरार्थ कहलाते हैं।

सम्यग्दृष्टियों को इन सूक्ष्मादि पदार्थों का आस्तिक्य भाव पूर्वक ज्ञान होता है, परन्तु मिथ्यादृष्टियों के संशयादिक का कारणभूत मिथ्यात्व का उदय सदैव रहता है, इसलिए उनको इनके विषय में सदैव संशय बना रहता है।

सम्यक्त्व की अचिन्त्य महिमा

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेगोचराः कुतः।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्ष (क्षि) कस्याप्यसंभवात्।। 486॥
अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत्।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम्।। 487॥

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योग (गि) शक्तिवत्।। 488।।

इन्द्रिय अरु सूक्ष्मादि द्रव्य का सन्निकर्ष नहिं हो सकता।
अतः सुदृष्टि जानते कैसे - करो नहीं ऐसी शंका।। 1254।।
इन परोक्ष द्रव्यों को भी आस्तिक्य पूर्वक वे जानें।
सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन की अद्‌भुत महिमा है।। 1255।।
यह महिमा न असम्भव है क्योंकि स्वभाव में तर्क नहीं।
योगीजन को योगशक्तिवत् यह महिमा वच-गम्य नहीं।। 1256।।

अन्वयार्थ :- (**तैः सह साक्षकस्य सन्निकर्षस्य अपि असंभवात्**) उन सूक्ष्म आदि पदार्थों के साथ इंद्रिय सहित सन्निकर्ष के भी असंभव होने से (**ते परोक्षाः**) वे परोक्ष सूक्ष्मादि पदार्थ (**सद्दृष्टेः गोचराः कुतः**) सम्यग्दृष्टि के ज्ञान के विषयभूत कैसे होते हैं ऐसी (**न च आशंक्यं**) आशंका नहीं करना चाहिये।। 486।।

(**तत्रापि**) सूक्ष्म आदि पदार्थों के परोक्ष होने पर भी (**महतां महत् सम्यक्त्व माहात्म्यं अस्ति**) सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का ऐसा कुछ माहात्म्य है कि (**यत्**) जिससे उनके (**अस्य जगतः**) इस जगत का (**आस्तिक्यपुरस्सरं ज्ञानं अस्ति**) आस्तिक्य पूर्वक ज्ञान पाया जाता है।। 487।।

(**इदं असंभवं न**) सम्यक्त्व के इसप्रकार के महात्म्य का होना असंभव नहीं है (**यस्मात्**) क्योंकि (**स्वभावः अतर्कगोचरः**) स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता है इसलिये (**योगिनां योगशक्तिवत्**) योगियों की योगशक्ति के समान (**सर्वः अतिशयः**) सम्यग्दृष्टियों का वह सब माहात्म्य (**अतिवाक्**) वचन के द्वारा कहा नहीं जा सकता है।। 488।।

भावार्थ :- ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि सूक्ष्मादि पदार्थों के साथ इंद्रिय सन्निकर्ष नहीं होता है अतः वे परोक्ष हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टियों को भी उन परोक्ष सूक्ष्मादिक के विषय में ज्ञान कैसे होगा?

सूक्ष्मादि पदार्थों के अत्यन्त परोक्ष होने पर भी सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व के माहात्म्य से उन सबका भी ज्ञान होता है।

जैसे योगियों की योगशक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य रहता है वैसे ही सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व का भी अचिन्त्य माहात्म्य है और वह संभव है, असंभव नहीं है।

स्व संवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान किसे होता है ?

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम्।। 489॥

यत्रानुभूयमाने [नो] पि सर्वैराबालमात्मनि।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम्।। 490॥

क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों का निजात्म ज्ञाता जो ज्ञान।
स्व-संवेदनमय प्रत्यक्ष अरु शुद्ध कहा है सिद्ध-समान।। 1257।।

बाल वृद्ध सब जीवों को यह आत्मा अनुभव करने योग्य।
किन्तु उदय मिथ्यात्व कर्म का अतः नहीं अनुभव करते।। 1258।।

अन्वयार्थ :- क्योंकि (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीव का (**आत्मपरिच्छेदि**) अपनी आत्मा को जानने वाला (**स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं**) स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप ज्ञान (**शुद्धं**) शुद्ध (**च**) और (**सिद्धास्पदोपमं**) सिद्धों के समान (**अस्ति**) होता है।। 489।।

यद्यपि (**आबालम्**) बालक से लेकर बड़े तक (**सर्वै**) सबके द्वारा (**यत्र आत्मनि अनुभूयमाने अपि**) जो आत्मा अनुभव करने के योग्य है*-*, तथापि उसके विषय में (**वै**) निश्चय से (**मिथ्याकर्म विपाकात्**) केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से (**शरीरिणां अनुभूतिः न**) मनुष्यों को स्वानुभव नहीं होता है।। 490।।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टियों का, अपनी आत्मा को जानने वाला स्वसंवेदन ज्ञान सिद्धों के समान शुद्ध होता है, इसलिए उनके ज्ञान का उक्त माहात्म्य असंभव नहीं है।

यद्यपि आत्मा सबके द्वारा अनुभव करने के योग्य है, परन्तु मिथ्यात्व कर्म का जब तक उदय रहता है, तब तक उसका किसी को भी अनुभव नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोनतिक्रमात्।। 491॥

अत्र तात्पर्यमेवैतत् तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रमः।
शंकायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी।। 492॥

- अनुभूयमाने अपि का अर्थ 'अनुभव में आने पर भी' - ऐसा होता है। यही रहस्य आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा 17-18 में खोला है।

स्वाद भेद है सम्यग्दृष्टि अरु कुदृष्टि का वस्तु में।
किन्तु वस्तु में भेद नहीं है क्योंकि न अतिक्रम सीमा का।। 1259।।
तत्त्व एक होने पर भी जो भ्रम यह शंका का अपराध।
शंका होती मिथ्यात्वी को - यही कथन का है तात्पर्य।। 1260।।

अन्वयार्थ :- (**सम्यग्दृष्टेः च कुदृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के (**वस्तुनि**) पदार्थ के विषय करने में केवल (**स्वादुभेदः अस्ति**) स्वादभेद होता है किंतु (**तत्र**) उनके विषयभूत पदार्थों में (**वास्तवः भेदः न**) वास्तविक भेद नहीं होता है क्योंकि (**वस्तुसीम्नः अनतिक्रमात्**) कोई भी पदार्थ अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है।। 491।।

(**अत्र एतत् एव तात्पर्यं**) यहाँ पर यही अभिप्राय है कि (**तत्वेकत्वे अपि यः भ्रमः**) दोनों के विषयभूत तत्त्वों में एकत्व के होने पर भी जो भ्रम होता है (**सः शंकायाः अपराधः अस्ति**) वह शंका का अपराध है (**तु**) और (**सा**) वह शंका (**मिथ्योपजीविनी**) मिथ्यात्व के उदय के साथ होने वाली होती है।। 492।।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को वस्तु के केवल स्वाद में भेद होता है, किन्तु वस्तु अपने वस्तुत्व का कभी उल्लंघन नहीं करती, इसलिये उनके विषयभूत पदार्थों में कुछ भेद नहीं होता अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ भिन्न हों और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ भिन्न हों - ऐसा नहीं है, क्योंकि पदार्थ तो जैसे हैं वैसे ही हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के राग के अभाव से अहंकार भाव-ममकार भाव नहीं होते हैं, मिथ्यादृष्टि के होते हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तु के अनुभव में भेद हो जाता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि दोनों को विषयभूत पदार्थों में पदार्थ की दृष्टि से यद्यपि किसी प्रकार का भेद नहीं है, तथापि दोनों को उनका अनुभव भिन्न होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि रागद्वेष विहीन होने के कारण पर में निजत्व की कल्पना नहीं करता, किन्तु मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के उदय से ग्रस्त होकर उन्हें इष्टानिष्ट मानकर तत्कृत रागद्वेष करता है, इतना ही भेद है और इस भेद का कारण मिथ्यात्व के उदय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाली शंका है।

शंका

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी।। 493॥

समाधान

अत्रोत्तंर कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युताः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैनाक्।। 494॥

यदि शंकाकृत दोष सभी मिथ्यादृष्टि को होते हैं।
मिथ्यादृग से अविनाभावी वह शंका किस न्याय कहो।। 1261।।
यह उत्तर है मिथ्यादृष्टि सात भयों से है भयभीत।
सम्यग्दृष्टि को सातों भय नहिं कदापि स्पर्श करें।। 1262।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि यदि (**नृणां यः मिथ्यानुभवः**) मनुष्यों का जो पदार्थों में मिथ्या अनुभव होता है वह (**शंकाकृतः दोषः**) शंकाकृत दोष है तो (**सा शंका अपि**) वह शंका भी (**मिथ्योपजीविनी कुतः न्यायात् अस्ति**) मिथ्यात्व कर्म का उदय होने से ही होती है यह किस न्याय से सिद्ध होता है ?।। 493।।

(**अत्र उत्तरं**) यहाँ पर उत्तर यह है कि (**यः कुदृष्टिः**) जो मिथ्यादृष्टि होता है (**सः सप्तभिः भयैः युतः**) वह सात प्रकार के भयों से सहित होता है और (**यः सुदृष्टिः**) जो सम्यग्दृष्टि होता है (**सः सप्तभिः भयैः मनाक अपि स्पृष्टः न**) वह सात भयों से किसी भी प्रकार युक्त नहीं होता है।। 494।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि यदि मिथ्या अनुभव होना शंकाकृत अपराध है तो यह बताइये कि वह शंका भी मिथ्यात्व कर्म के ही उदय से होती है यह किस न्याय से सिद्ध होता है ?

शंकाकार की उक्त शंका का उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि सदैव सात प्रकार के भयों से युक्त रहता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि कभी भी सात भयों से युक्त नहीं होता, इसलिये वह शंका मिथ्यात्व की उपजीविनी कही जाती है।

भय का कारण

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम्।। 495।।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः।। 496।।

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात्।। 497।।

पर-पदार्थ में स्वानुभूति के बिना भीति कैसे होगी।
भीति तो पर्याय-मूढ़ को आत्मज्ञ को नहिं होती।। 1263।।
इसीलिए भय से मिथ्यात्व सिद्ध होता जिन-आगम से।
निश्चित ही भय कारण होता स्वानुभूति क्षय करने में।। 1264।।

पराधीन च्युत स्वानुभूति से अतः भयाकुलित है सिद्ध।
क्योंकि स्वस्थ को स्वाधिकार होने से नहिं सम्भव है भीति।।1265।।

अन्वयार्थ :- (**वै**) निश्चय करके (**परत्र**) पर-पदार्थों में (**आत्मानुभूतेः विना**) आत्मीय-बुद्धि के बिना (**भीतिः कुतस्तनी**) भय कैसे हो सकता है अत: (**पर्यायमूढानां भीतिः**) पर्यायों में मोह करने वाले मिथ्यादृष्टियों को ही भय होता है (**आत्मतत्वैकचेतसां न**) केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टियों को भय नहीं होता है।। 495।।

(**जिनागमात्**) जिनागम से/आगम-प्रमाण से तथा (**ततः**) पर-पदार्थ में ममता के बिना भय नहीं होता है इसलिए (**भीत्या**) भयरूप साधन से (**मिथ्याभावः**) मिथ्यात्व भाव (**अनुमेयः अस्ति**) अनुमित होता है और (**सा च भीतिः**) वह भय ही (**स्वानुभवक्षतेः**) आत्मानुभव के क्षय के लिये (**अवश्यं हेतुः स्यात्**) अवश्य कारण होता है।। 496।।

(**परायत्तः स्वानुभवच्युतः भीतः इह सिद्धं अस्ति**) पराधीन जीव आत्मानुभव से पतित होता हुआ भयवान सिद्ध ही है, क्योंकि (**स्वस्थस्य स्वाधिकारत्वात्**) स्वस्थ आत्मस्थ जीव को स्वाधिकारी-स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सहित होने के कारण (**नूनं भीतेः असंभवात्**) निश्चय से भय नहीं हो सकता है।। 497।।

भावार्थ :- पर-पदार्थों में निजत्व की कल्पना किये बिना तत्सम्बन्धी इष्टानिष्ट कल्पना नहीं होती और इष्टानिष्ट कल्पना का अभाव होने से उन पदार्थों के संयोग-वियोगजन्य भय नहीं होता, इसलिये सम्यग्दृष्टियों के पर-पदार्थों में निजत्व न होने से भय नहीं होता, केवल मिथ्यादृष्टियों को ही परपदार्थ में निजत्व की कल्पना से होने वाली इष्ट-अनिष्ट-कल्पना होती है और उस इष्ट-अनिष्ट-कल्पनापूर्वक इष्ट-वियोग अनिष्ट-संयोग-जन्य भय होता है।

आगमप्रमाण से तथा पर-पदार्थों में ममता के बिना भय उत्पन्न नहीं होता है और मिथ्यात्व के बिना पर-पदार्थों में ममता नहीं होती, इसलिए भय के पाये जाने से मिथ्यात्वभाव का अनुमान किया जाता है तथा उस मिथ्याभाव से स्वानुभूति का नाश होता है; इसी अपेक्षा से भय को स्वानुभूति के क्षय का कारण बताया है।

पराधीन व्यक्ति स्वानुभव से च्युत होकर ही भयवान होता है यह असिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति अपने में स्वतः अधिकारी होता है, इसलिये उसके भय की संभावना ही नहीं है।

शंका

ननु सन्ति चतस्त्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्।
अर्वाक् च तत् परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात्।। 498॥

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान्।। 499॥

किसी किसी ज्ञानी को भी चारों संज्ञायें होती हैं।
जब जिसकी व्युच्छित्ति नहीं हो तब अरु उसके पहले हैं।। 1265।।
इसीलिए सम्यग्दृष्टी सर्वथा रहे कैसे निर्भीक।
अनिष्टार्थ संयोग निवारण हेतु प्रयत्न प्रत्यक्ष दिखे।। 1266।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**कस्यचित् तस्य अस्य च**) किसी-किसी सम्यग्दृष्टि के भी (**चतस्त्राः अपि संज्ञाः सन्ति**) आहार आदि चारों ही संज्ञायें होती हैं क्योंकि (**तत्परिच्छेदस्थानात् अर्वाक् अस्तित्वसंभवात्**) जिस गुणस्थान तक जिस-जिस संज्ञा की व्युच्छिति नहीं होती है उस गुणस्थान तक व उससे पहले के गुणस्थानों में वे-वे संज्ञायें पाई जाती हैं।।498।।

(**तत्**) इसलिए (**दृष्टिवान्**) सम्यग्दृष्टि (**सर्वतः अपि**) सर्वथा (**निर्भीकः नाम कथं**) निर्भीक कैसे हो सकता है (**अपि**) और वह (**अध्यक्ष**) प्रत्यक्ष में भी (**अनिष्टार्थसंयोगात्**) अनिष्ट पदार्थ के संयोग के होने से (**प्रयत्नवान् अस्ति**) उसके निवारण करने के लिए प्रयत्नवान भी देखा जाता है।। 499।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि आहारादिक संज्ञायें चौथे गुणस्थान से लेकर जहाँ तक उनकी व्युच्छित्ति नहीं होती है वहाँ तक पाई जाती है, इसलिये सम्यग्दृष्टियों के भी 5वें गुणस्थान तक सब संज्ञायें व छट्टे गुणस्थान में आहारसंज्ञा कार्यरूप से पाई जाती है; तथा संज्ञा के कारणभूत वेद आदि कर्मों के सद्भाव की अपेक्षा से जहाँ तक वेद, भय, लोभ और असाता कर्म का सद्भाव पाया जाता है; वहाँ तक उपचार से यथायोग्य संज्ञायें पाई जाती हैं। इस नियमानुसार भय-संज्ञा की व्युच्छित्ति आठवें गुणस्थान में होती है, क्योंकि भय कर्म का अस्तित्व आठवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

जब सम्यग्दृष्टि के संज्ञायें पाई जाती हैं तथा प्रत्यक्ष में वह अनिष्टार्थ संयोग के निवारणार्थ प्रयत्नवान देखा जाता है तो फिर सम्यग्दृष्टि सर्वथा भयों से निर्मुक्त रहता है ऐसा क्यों कहा जाता है?

ज्ञानी की निःशंकता का स्वरूप

सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति।। 500॥
सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते।। 501॥

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात्।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसम्भवात्।। 502।।

ठीक कहा पर उसको भय होने पर भी वह निर्भय है।
जैसे आँख पदार्थ देखने पर भी नहीं देखती है।। 1267।।
संसारी जीवों को जो कर्मांश उदय में रहते हैं।
उनके फल से जुड़कर वे मोही-रागी-द्वेषी होते।। 1268।।
इसीलिए इस न्यायदृष्टि से ज्ञानी निःशंकित होते।
मूर्च्छा के अभाव से उनको किञ्चित् नहिं भय-हेतु कभी।। 1269।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) ठीक है किंतु (**तत्स्वामित्वाद्यभावतः**) सम्यग्दृष्टि के परपदार्थों में स्वामित्व नहीं होता है, अतः वह (**भीकः अपि**) भयवान होकर के भी (**निर्भीकः**) निर्भीक है (**यथा**) जैसे कि (**चक्षुः अपि द्रव्यं पश्यत् अपि**) चक्षु इन्द्रिय रूपीद्रव्य को देखने पर भी (**न पश्यति**) इष्टानिष्ट कल्पनापूर्वक निजत्व का अभाव होने से इष्टानिष्ट नहीं कहलाता है।। 500।।

(**संसारिजीवानां**) संसारी जीवों के (**कर्मांशाः**) जो-जो कर्मांश (**उदयागताः सन्ति**) उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं (**तत्र च**) उसमें ही वे संसारी जीव (**मुह्यन् रज्यन् द्विषन्**) मोह राग और द्वेष करते हुए (**तत्फलेन उपयुज्यते**) उन कर्मों के फलों से उपयुक्त होते हैं।। 501।।

(**एतेनहेतुना**) इस कारण से (**न्यायदर्शनात्**) उक्त न्यायानुसार (**ज्ञानी**) ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि जीव (**निश्शंकः**) निश्शंक होता है, क्योंकि (**अत्र**) इस सम्यग्दृष्टि जीव में (**देशतः अपि**) एकदेश से भी (**शंकाहेतोः**) शंका/भय का कारणभूत (**मूर्च्छायाः असंभवात्**) मिथ्यात्वोदय जन्य आसक्ति का होना संभव नहीं है।। 502।।

भावार्थ :- ठीक है कि सम्यग्दृष्टि के संज्ञाएँ पाई जाती हैं और अनिष्ट पदार्थ के संयोग के निवारण करने के लिये वह प्रयत्न भी करता है, परन्तु ऐसा होने पर भी उसके परपदार्थों में स्वामित्व की कल्पना न होने से अर्थात् अहंकार ममकार भाव के नहीं होने से भयवान हो कर भी वह वास्तव में निर्भय ही है। जैसे कि उपयोग विहीन चक्षु, रूपी-द्रव्य को देखता हुआ भी दृष्टा नही कहलाता है।

कर्मों के उदय होने पर संसारी जीव उन कर्मों के उदयानुसार मोही रागी और द्वेषी होकर उन कर्मों के फल से तन्मय हो जाते हैं अर्थात् अपने को मोही रागी तथा द्वेषी मानकर इष्टानिष्ट पदार्थों से सुखी-दुःखी होते हैं व तन्निमित्तक भय से युक्त रहते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों के उदय से परवश होकर भी वास्तव में उनके फल से उपयुक्त नहीं होता है, इसलिये वह बाह्य में भय सहित

होकर भी वास्तव में निर्भय ही है, इसलिये ज्ञानी निःशंक कहा जाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का अभाव होने से शंका की एकदेश से भी संभावना नहीं होती है; किन्तु शंका की उत्पत्ति मिथ्यात्वजन्य परपदार्थों में ममतापूर्वक होती है। मिथ्यादृष्टि अपने को रागादि भावों का स्वामी समझता है, किन्तु सम्यग्दृष्टियों के उक्त प्रकार की ममता व रागद्वेषादिक विकारों का स्वामीपना नहीं होता, इसलिये वह निर्भय ही है।

सम्यग्दृष्टि कर्मफल में उपयुक्त क्यों नहीं होता

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते।। 503।।
तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम्।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी।। 504।।
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युभीतिराकस्मिकं ततः।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः।। 505।।

अब उनको शुद्धात्मानुभूति कैसी - यह करें विचार।
जिससे कर्म करें फिर भी वे कर्मों से उपयुक्त न हो।। 1271।।
वर्तमान अरु भावी भय का और वेदना का भी भय।
चौथा भय है अनरक्षा का पञ्चम कहें अगुप्ति भय।। 1272।।
छठवाँ मृत्यु भय होता है सप्तम भय है आकस्मिक।
इस प्रकार क्रम से ये सातों भय के नाम कहे जाते।। 1273।।

अन्वयार्थ :- अब (**तस्य**) उस सम्यग्दृष्टि का (**स्वात्मसंचेतनं**) शुद्ध आत्मानुभव (**कीदृक अस्ति**) कैसा होता है (**इति चिन्त्यते**) यह विचार किया जाता है (**येन**) जिस शुद्धात्मानुभव के साथ वह (**कर्म कुर्वाणः अपि**) कर्म करता हुआ भी (**कर्मणा न उपयुज्यते**) कर्म से उपयुक्त नहीं होता है।। 503।।

(**तत्र**) उन सातों भयों में से (**वै**) निश्चय से (**इहलोके भीतिः**) इहलोकभय (**अमुत्र भीतिः**) परलोकभय (**वेदनाभयं**) वेदनाभय (**चतुर्थी भीतिरत्राणं**) चौथा अत्राणभय (**तु**) और (**पंचमी भीतिः अगुप्तिः स्यात्**) पाँचवाँ अगुप्तिभय होता है (**तथा**) तथा (**मृत्युः भीतिः स्यात्**) छठा मृत्युभय होता है (**च**) और (**ततः**) इसके बाद सातवाँ (**आकस्मिक**) आकस्मिक भय होता है (**इति**) इसप्रकार (**क्रमात् उद्देशिताः**) क्रम से उद्देशित (**एताः सप्त भीतयः स्मृताः**) ये सात भय माने गये हैं।। 504-505।।

भावार्थ :- अब आगे सम्यग्दृष्टि के स्वात्मा का अनुभव कैसा होता है इसका खुलासा करते हैं, जिससे कि सम्यग्दृष्टि कर्मों को करके भी उनके उपयोग से युक्त नहीं होता है अर्थात् कर्मों को करके भी उसकी ज्ञानचेतना में बाधा नहीं पहुँचती है।

1. इहलोकभय 2. परलोकभय 3. वेदनाभय 4. अत्राणभय 5. अगुप्तिभय 6. मरणभय 7. आकस्मिक भय ये सात भय हैं। अब आगे उनका यथाक्रम वर्णन किया जाता है।

इहलोक भय का स्वरूप

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्ट संगमः।। 506।।
स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः।। 507।।
अर्थादज्ञानिनो भीतिभीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित्।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान्।। 508।।

इस भव में मम इष्ट वस्तुओं का न कभी भी होय वियोग।
और अनिष्ट न हो जाए कुछ ऐसा भय होना इह लोक।। 1274।।
यह सम्पत्ति रहेगी या नहिं या दरिद्र न हो जाऊँ।
इत्यादिक मानस चिन्तायें सदा जलाती अज्ञों को।। 1275।।
वास्तव में अज्ञानी को ही ऐसा भय, नहिं ज्ञानी को।
क्योंकि अनेक हेतुओं से इनमें महान अन्तर होता।। 1276।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उनमें से (**मे इष्टार्थस्य व्ययः माभूत**) मेरे इष्ट पदार्थ का वियोग न हो जाय (**च**) और (**अनिष्टसंगमः माभृत्**) अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो जाय इसप्रकार (**अत्र जन्मनि**) इस जन्म में (**क्रन्दितं**) क्रन्दन करने को (**इह लोकतः भीतिः**) इहलोक भय कहते हैं तथा (**इदं धनं स्थास्यति वा नो**) न जाने यह धन स्थिर रहेगा कि नहीं (**दैवात् दरिद्रता माभूत्**) दैवयोग से कहीं दरिद्रता प्राप्त न हो जावे (**इत्याद्याधिः चिता**) इत्यादिक मानसिक व्यथारूपी चिन्ता (**अदृगात्मनः दग्धुं ज्वलिता इव**) मिथ्यादृष्टि को जलाने के लिये मानो सदैव जलती ही रहती है।। 506-507।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**अज्ञानिनः भीति**) इस प्रकार का भय अज्ञानी जीवों को ही होता है (**ज्ञानिनः कचित् भीतिः न**) ज्ञानी को इसप्रकार का भय कभी नहीं होता है (**यतः**) क्योंकि

(शेषात् हेतुतः च) शेष हेतुपूर्वक भी **(अनयोः)** इन ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में **(महान् विशेषः अस्ति)** महान् अन्तर है।। 508।।

भावार्थ :- कहीं मेरे इष्ट पदार्थों का वियोग और अनिष्ट पदार्थो का संयोग न हो जाय, न जाने यह धन ठहरेगा कि नहीं, कहीं धन नष्ट न हो जाय, दरिद्रता न आ जाय - इस प्रकार की जो मानसिक व्याधि सदैव चिंता के समान मिथ्यादृष्टियों के जलाने के लिये जलती रहती है, इसको इहलोकभय कहते हैं।

भय मिथ्यादृष्टि को होता है सम्यग्दृष्टि को नहीं। अतः भय के न होने और होने के कारण ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियों में विशेषता है तथा और भी जिन कारणों से इन दोनों में अन्तर होता है उन्हें बताते हैं।

अज्ञानी भयाक्रान्त क्यों है ?

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत्।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत्।। 509॥
विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित्।। 510॥
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्ध्या (नित्यं बुध्वा) शरीरादौ भ्रांतो भीतिमुपैति सः ।। 511॥

द्रव्य-भाव-नोकर्मों को ही अज्ञानी सब कुछ मानें।
मोह भाव से वह इनको अद्वैत भाव जैसा माने।। 1277।।
मिथ्यादृष्टि भिन्न जगत से होकर भी जग को निजरूप-
माने और लोकमय होकर कभी न त्यागे भय इहलोक।। 1278।।
कहने का तात्पर्य यही वह कर्मोदयवश नश्वर को।
नित्य मानकर भ्रान्तरूप होने से प्राप्त करे भय को।। 1279।।

अन्वयार्थ :- (अज्ञानी) अज्ञानी **(यत् कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च)** जो कर्म नोकर्म और भावकर्ममय है **(तदेव एतत् सर्वं एव)** वही यह सब है ऐसा **(मोहात्)** मोह से इन सबको **(अद्वैतवादवत्)** अद्वैतवाद के समान **(मनुते)** मानता है।। 509।।

(आत्म हा) मिथ्यादृष्टि **(विश्वात् भिन्नः अपि)** संसार से भिन्न होकर भी **(स्वं आत्मानं विश्वं कुर्वन्)** अपनी आत्मा को विश्वरूप करता हुआ **(विश्वमयः भूत्वा)** विश्वमय होकर **(लोके)** लोक में **(जातुचित्)** कभी **(भयं न उन्मज्जति)** भय नहीं त्यागता है।। 510।।

(तात्पर्यं) तात्पर्य यह है कि **(सः)** वह मिथ्यादृष्टि **(कर्मणः पाकसंभवात्)** मिथ्यात्व कर्म के उदय से **(सर्वतः अनित्ये शरीरादौ)** सर्वथा अनित्य शरीर आदि में **(नित्यबुद्ध्या)** नित्यता की बुद्धि से **(भ्रान्तः)** भ्रान्त होकर **(भीतिं उपैति)** भय को प्राप्त होता है।। 511।।

भावार्थ :- जैसे अद्वैतवादी सबको अद्वैतरूप से मानते हैं वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव भी कर्म नोकर्म और भावकर्म सबको ही आत्मा से अभिन्न मानता है अर्थात् आत्मा को ही कर्म नोकर्मात्मक मानता है।

आत्मघ्न मिथ्यादृष्टि लोक में विश्व से भिन्न होकर भी अपने को विश्वमय कल्पित करके कभी भी भय से रहित नहीं होता है।

शरीरादिक, कर्मों के उदय से निष्पन्न होते हैं, इसलिये शरीरादिक अनित्य हैं; परन्तु मिथ्यादृष्टि उन्हें नित्य मानकर सदैव मृत्यु आदि के भय से ग्रस्त रहता है।

सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान

सम्यग्दृष्टिः सदेकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम्।। 512।।
शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः।। 513।।
लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः।
नापरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे।। 514।।
स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबंधनात्।। 515।।

सम्यग्दृष्टी अपने में ही सत् एकत्व प्राप्त करता।
सकल कर्म से भिन्न शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभव करता।। 1280।।
पुत्र पौत्र एवं शारीरिक सुख-दुख आदिक को ज्ञानी।
कर्मों का फल अरु अनित्य होने से निज को भिन्न लखे।। 1281।।
निश्चय से यह नित्य और चैतन्य लोक ही मेरा लोक।
अन्य लोक है नहीं अलौकिक अतः मुझे भय हो कैसे।। 1282।।
स्वात्म चेतना से ही ज्ञानी ज्ञान मात्र में है तल्लीन।
अतः मुक्त इह लोक भीति से कर्म कलंक होय प्रक्षीण।। 1283।।

अन्वयार्थ :- और (**सम्यग्दृष्टि**) सम्यग्दृष्टि जीव (**यावत्कर्मातिरिक्तत्वात्**) सम्पूर्ण कर्मों से भिन्न होने के कारण (**स्वं**) अपने में (**सदेकत्वं**) सत्स्वरूप एकता को (**समासादयन् इव**) प्राप्त करता हुआ ही मानो (**शुद्ध चिन्मयं**) शुद्ध चिन्मयरूप से (**अभ्येति**) अनुभव करता है।। 512 ।।

(**यः**) जो सम्यग्दृष्टि है वह (**कर्मकार्यत्वात्**) कर्मों के फलस्वरूप होने से (**शरीरं**) शरीर (**सुखदुःखादि**) सुख-दुःख आदि (**तथा**) और (**पुत्रपौत्रादिकं**) पुत्र-पौत्र आदि को (**अनित्यं**) अनित्य तथा (**अस्वरूपं**) आत्मस्वरूप से भिन्न (**अवैति**) समझता है।। 513 ।।

(**अयं हि चिल्लोकः**) यह चेतनामयी लोक ही (**मे लोकः**) मेरा लोक है और (**सः**) वही लोक (**अर्थतः**) वास्तव में (**नूनं नित्यं अस्ति**) निश्चय से नित्य है तथा (**अपरः लोकः अलौकिकः न**) आत्मा से भिन्न लोक अलौकिक नहीं है, किन्तु लौकिक है (**ततः**) इसलिये (**मे भीतिः कुतः अस्ति**) मुझे इहलोक संबंधी भय कैसे उत्पन्न हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।। 514 ।।

(**एवं**) इसप्रकार (**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**स्वात्मसंचेतनात्**) शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से (**ज्ञानैकतानतः**) ज्ञान में तल्लीन होने के कारण (**इहलोकभयात् मुक्तः**) इहलोकभय से मुक्त होकर (**तत्कर्मबंधनात्**) इहलोकभय से होने वाले कर्मबन्धन से (**मुक्तः**) मुक्त हो जाता है।।515 ।।

भावार्थ :- और सम्यग्दृष्टि जीव, अपना स्वरूप कर्म से भिन्न है अर्थात् वह कर्मोपाधिजन्य अवस्थाओं से भिन्न होने के कारण अपने में सत्स्वरूप को पाकर अपने को शुद्ध चेतनमयरूप से अनुभव करता है।

जो सम्यग्दृष्टि है वह कर्म के फलरूप होने से शरीर, सुख-दुःख तथा पुत्र-पौत्रादिक को अनित्य और अपने स्वरूप से भिन्न समझता है।

मेरा लोक चेतनामय है और निश्चय से नित्य है तथा यह लौकिक लोक मेरा नहीं है, इसलिए ऐसे बाह्य लोक से मुझे भय कैसे हो सकता है ?

इसप्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मा का अनुभव करने से ज्ञानमय होकर इहलोकभय से मुक्त होता हुआ तज्जन्य बन्ध से मुक्त रहता है।

परलोक भय का स्वरूप

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा।। 516 ।।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम्।। 517।।
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात्।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेनास्ति तत्तत्र व्यत्ययात्।। 518॥
बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम्।। 519।।
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः।। 520।।

पर-भव में भावी पर्याय-अंशधारी आत्मा पर-लोक।
उसमें जो कम्पन जैसा भय उसे कहें भीति पर-लोक।। 1284।।
जन्म स्वर्ग में हो जाए दुर्गति में ना हो तो अच्छा।
इत्यादिक आकुलित चित्त को कहें पारलौकिक भीति।। 1285।।
मिथ्यादृष्टि के कारण वह अज्ञानी को ही होता।
क्योंकि नहीं मिथ्यात्व अतः सम्यग्दष्टि को नहिं होता।। 1286।।
बहिर्दृष्टि अरु अनात्मज्ञ मिथ्यात्व भूमिका में रहता।
अतः स्वयं को कर्म और तत्फल स्वरूप में अनुभवता।। 1287।।
इसीलिए वह भ्रान्तिमान होकर सदैव भयभीत रहे।
क्योंकि कुधीजन मृगतृष्णा में करें कल्पना सरवर की।। 1288।।

अन्वयार्थ :- (**परत्र**) परभव में (**भाविजन्मांतरांशभाक्**) भावि पर्यायरूप अंश को धारण करने वाला (**आत्मा**) आत्मा (**परलोकः**) परलोक है और (**ततः यः कम्प इव त्रासः**) उस परलोक से जो कंपने के समान भय होता है (**सा परलोकतः भीतिः अस्ति**) उसको परलोकभय कहते हैं।। 516।।

(**स्वर्लोके जन्म चेत् भद्रं**) यदि स्वर्ग में जन्म हो तो अच्छा है (**मे जन्म दुर्गतौ माभृत्**) मेरा जन्म दुर्गति में न हो (**इत्याद्याकुलितं चेतः**) इत्यादि प्रकार से हृदय का आकुलित होना (**पारलौकिकं साध्वसं**) पारलौकिक भय कहलाता है।। 517।।

(**मिथ्याभावैककारणात्**) केवल मिथ्यादर्शन के कारण (**तत् मिथ्यादृशः एव अस्ति**) वह पारलौकिक भय मिथ्यादृष्टि को ही होता है (**तद्विपक्षस्य सदृष्टः**) मिथ्यादृष्टि के विपक्षभूत

सम्यग्दृष्टि के (**तत् नास्ति**) वह परलोकभय नहीं होता, क्योंकि (**तत्र व्यत्ययात्**) उस सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व भाव का अभाव हो जाता है।। 518।।

(**अनात्मज्ञः बहिर्दृष्टि अज्ञः**) अपने आत्मा को नहीं जानने वाला मिथ्यादृष्टि अज्ञानी (**मिथ्या-मात्रैकभूमिकः**) केवल मिथ्यात्वभूमि में रहने वाला होता है, इसीलये यह (**स्वं**) अपने को सदैव (**कर्म कर्मफलात्मकं**) कर्म और कर्मफलरूप से ही (**समासादयति**) प्राप्त करता है।। 519।।

(**ततः**) इसलिये वह मिथ्यादृष्टि उस परलोकभय से (**नित्यं**) सदा (**भ्रांतिमान् इव**) भ्रांतिमान की तरह (**भयाक्रांत वर्तते**) भयभीत रहता है सो ठीक ही है, क्योंकि (**कुधीःजनः**) अज्ञानी जीव (**मृगतृष्णायां**) मृगतृष्णा में (**अम्भोभारं मनुते**) जल का अस्तित्व मानता है।। 520।।

भावार्थ :- आगे के भव में आत्मा की स्थिति को परलोकभय कहते हैं और न जाने परभव में कैसी स्थिति प्राप्त होगी, इसप्रकार के भय को परलोकभय कहते हैं।

मुझे स्वर्ग लोक में उत्तम जन्म प्राप्त हो। दुर्गति में कभी भी निकृष्ट जन्म प्राप्त न हो, इसप्रकार की मन की आकुलता को परलोकभय कहते हैं।

मिथ्यात्व के उदय से केवल मिथ्यादृष्टियों को ही परलोकभय होता है, किन्तु सम्यग्दृष्टियों के मिथ्यात्व के उदय का अभाव रहता है, इसलिये उनको परलोकभय नहीं होता है।

आत्मज्ञानशून्य बहिर्दृष्टि केवल मिथ्याभावों का ही मूल होता है, इसलिये वह अज्ञानी अपने को सदैव कर्मचेतना और कर्मफल चेतनामय समझता रहता है।

मिथ्यादृष्टि जीव नित्य परलोकभय से भयाक्रान्त रहता है, सो ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णा में ही जल की कल्पना किया करता है।

निर्भय कौन है ?

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात्।। 521।।
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः।
यथा रज्जो तमोहेतोः सर्पाध्यासाद् द्रवत्यधीः।। 522।।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्योवेत्त्यनन्यसात्।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह।। 523।।

अन्तरात्मा निर्भय पद के आश्रित हो निर्भीक रहे।
उसे नहीं भय का कारण इहलोक भीति सम पर-भव का।। 1289।।

अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में अनुभव ही मिथ्या भ्रान्ति।
अन्धकार में अज्ञानी रस्सी को सर्प समझ डरता।। 1290।।
स्व-संवेद्य प्रत्यक्ष ज्योति का हो स्वाधीन करें वेदन।
अनहोनी न कभी होती इसलिए उन्हें हो कैसे भय।। 1291।।

अन्वयार्थ :- (**तु**) किन्तु (**इह**) यहाँ पर (**अन्तरात्मा**) सम्यग्ज्ञानी जीव (**निर्भीकः सन्**) निर्भीक होता हुआ (**निर्भयं पदं आश्रितः**) निर्भयपद के आश्रित होता है क्योंकि (**अत्र अपि**) सम्यग्दृष्टि के इहलोक के समान परलोक में भी (**भीतिहेतोः भ्रान्तेः**) भय की कारणभूत भीति (**अवश्यं असंभवात्**) अवश्य ही संभव नहीं है।। 521।।

(**यत् अन्यत्र**) जो दूसरे पदार्थों में (**अन्य वस्तुनः दर्शनं वा**) अन्य पदार्थ का दर्शन करना है, वही (**मिथ्याभ्रान्तिः**) मिथ्या भ्रान्ति है (**यथा**) जैसे कि (**अधीः**) अज्ञानी मनुष्य (**तमो हेतोः**) अन्धकार के कारण (**रज्जौ**) रस्सी में (**सर्पाध्यासात्**) सर्प की कल्पना करने से (**द्रवति**) डरता है।। 522।।

(**यः**) जो (**अनन्यसात्**) पर निमित्त के बिना होने वाले (**स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योति**) स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप ज्योति/ज्ञान का (**वेत्ति**) अनुभव करता है (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**इह**) इस लोक में (**अन्यथा अभवनात् न्यायात्**) अन्यथा हो नहीं सकता; इस सिद्धांत के कारण वह (**कुतः**) कैसे (**विभेति**) डर सकता है?।। 523।।

भावार्थ :- परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदैव परलोक के विषय में निर्भीक होकर निर्भय पद में ही स्थित रहता है, क्योंकि परलोक के विषय में भय का कारण जो भ्रांति है, वह सम्यग्दृष्टि के नहीं होती है।

जैसे – अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण रज्जु में सर्प का भ्रम करने से डरता है, ठीक वैसे ही मिथ्यादृष्टियों के सदैव मिथ्यात्व के उदय से अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में अवलोकन करने से सदैव मिथ्या भ्रांति होती है।

जो अपने को स्वयं सदैव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञानज्योतिमय ही मानता है, वह सम्यग्दृष्टि भवान्तर सम्बन्धी अन्यथा भवनरूप भाव से कैसे डर सकता है?

वेदना भय का स्वरूप

वेदनाऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम्।। 524।।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिंतनं वा मुहुर्मुहुः ।। 525 ।।

तन में मल प्रकोप से होती बाधा को वेदना कहे।
पहले से ही डरे मोह से अरु परिदेवन ही भय है।। 1292 ।।

मैं निरोग हो जाऊँ मुझको कभी न कोई पीड़ा हो।
इस प्रकार मूर्छा से चिन्तन बार-बार वेदन-भीति।। 1293 ।।

अन्वयार्थ :- (**तनौ**) शरीर में (**मलानां कोपतः**) दूषित वात पित्त आदि के प्रकोप होने से (**आगन्तुका बाधा**) आने वाली बाधा (**वेदना**) वेदना कहलाती है और (**मोहात्**) मोह के कारण (**प्राक् एव कम्पः**) विपत्ति के आने के पहले ही उससे भय करना (**वा**) अथवा (**परिदेवनं**) जिससे अपने ऊपर दूसरे को करुणा उत्पन्न हो इसप्रकार से रोना पीटना (**भीतिः स्यात्**) वेदनाभय कहलाता है।। 524 ।।

(**अहं उल्लाघः भविष्यामि**) मैं नीरोग हो जाऊँ (**मे क्वचित् वेदना माभूत्**) मुझे कभी भी वेदना नहीं होवे, इस प्रकार की (**मूर्च्छा एव**) मूर्च्छा ही ममत्व बुद्धि है (**वा**) अथवा (**मुहुः मुहुः**) बार-बार (**चिन्तनं**) चिन्तवन करना (**वेदनाभीतिः**) वेदनाभय कहलाता है।। 525 ।।

भावार्थ :- शरीर में दोषों के कारण आने वाली बाधा वेदना कहलाती है और उस वेदना के भय से जो शरीर में कंपने के समान मन का कंपना है अथवा दीनतापूर्वक दुखी होना है, जिससे कि दूसरों को अपने ऊपर करुणा उत्पन्न हो उसको वेदना भय कहते हैं।

मैं नीरोग हो जाऊँ, मुझे आगे कभी भी वेदना उत्पन न हो – इस प्रकार की ममता अथवा पुनः पुनः जो रोग से डरने वाली मन की गति है, उसे वेदना भय कहते हैं।

वेदना से भयभीत कौन है ?

अस्ति नूनं कुदृष्टे सा दृष्टिदोषैकहेतुतः।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित्।। 526 ।।

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम्।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम्।। 527 ।।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम्।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात्।। 528 ।।

स्पर्शनादींद्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु।
नादरो यस्य सोऽस्त्यर्थान्निर्भीको वेदना भयात्।। 529।।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैनासिद्धोऽनादरो मनाक्।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः।। 530।।

दृष्टि-दोष से उसे नहीं है निज निरोग आत्मा का ज्ञान।
अतः वेदना अज्ञानी को किन्तु न होती ज्ञानी को।। 1294।।
पुद्गल से मैं भिन्न चिदात्मा मुझे न व्याधि हो सकती।
तन में होती सभी व्याधियाँ चेतन में नहिं, हो क्यों भीति।। 1295।।
यथा धधकती अग्नि जलाती है कुटीर - स्पष्ट दिखे।
तदाकार आकाश जले नहिं यह प्रत्यक्ष देखा जाता।। 1296।।
वर्तमान अरुभावी स्पर्शादिक इन्द्रिय-विषयों में।
जिसे नहीं आदर वास्तव में वह निर्भीक वेदना से।। 1297।।
उन व्याधि स्थानों में ज्ञानी की अरुचि असिद्ध नहीं।
क्योंकि विषय प्रति राग और रोगों में कोइ विशेष नहीं।। 1298।।

अन्वयार्थ :- (**सा**) वह वेदना (**नूनं**) निश्चय से (**दृष्टिदोषहेतुतः**) केवल मिथ्यादर्शन के कारण (**कुदृष्टेः**) मिथ्यादृष्टि के (**नीरोगस्य आत्मनः अज्ञानात्**) नीरोग आत्मा का ज्ञान नहीं होने से (**अस्ति**) होती है; किन्तु (**सा**) वह भीति (**ज्ञानिनः क्वचित् न स्यात्**) सम्यग्ज्ञानी को कभी भी नहीं होती है।। 526।।

(**पुद्गलात्**) पुद्गल से (**भिन्नचिद्धाम्नः मे**) सर्वथा भिन्न चेतनस्वरूप मुझको (**व्याधिः न**) व्याधि नहीं हो सकती है, इसलिये (**भयं कुतः**) भय कैसे हो सकता है, क्योंकि (**सर्वा व्याधिः शरीरस्य**) सम्पूर्ण व्याधियाँ शरीर में होती हैं (**अमूर्तस्य न**) अमूर्त आत्मा में नहीं (**इति चिन्तनात्**) इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।। 527।।

(**यथा**) जैसे (**प्रज्वलितः वन्हिः**) प्रदीप्त अग्नि (**कुटीरं दहति**) झोपड़ी को जलाती है किन्तु (**तदाकारं आकाशं न दहति**) झोपड़ी में आये हुये आकाश को नहीं जलाती है (**इति स्फुटं दर्शनात्**) यह स्पष्ट देखा जाता है।। 528।।

क्योंकि (**प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु**) वर्तमान और भविष्यकाल में होने वाले (**स्पर्शनादींद्रियार्थेषु**) स्पर्शनादिक इंद्रियों के विषयों में (**यस्य आदरः न**) जिसका आदर नहीं है अर्थात् वह वास्तव में (**वेदनाभयात्**) वेदनाभय से (**निर्भीकः अस्ति**) निर्भीक रहता है।। 529।।

(मनाक्) सम्यग्दृष्टि को कभी भी **(तेषु व्याधिस्थानेषु)** उन व्याधि के स्थानभूत इन्द्रिय-विषय में **(उच्चैः अनादरः)** अत्यन्त अनादरभाव **(असिद्धः न)** असिद्ध नहीं है क्योंकि **(तेषां स्वतः बाधाहेतोः आमयविशेषस्य तः)** सामान्यरूप से वे इन्द्रिय-विषय स्वयं बाधा के कारण स्वरूप रोगरूप होते हैं अर्थात् सामान्यपने से बाधा के हेतुभूत रोग में और भोगों में कोई विशेष नहीं है।।530।।

भावार्थ :- वह वेदनाभय मिथ्यादृष्टि को ही मिथ्यात्व के उदय से (अपनी आत्मा तो सदैव नीरोग है, इस प्रकार का ज्ञान न होने से) होता है, किन्तु ज्ञानियों के मिथ्यात्व का अभाव होने से कभी भी वह वेदनाभय नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि के सदैव ऐसे विचार रहते हैं कि सम्पूर्ण व्याधियाँ शरीर में ही होती हैं आत्मा में नहीं, क्योंकि चेतनामय मैं तो शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ इसलिये मुझे किसी से भी भय नहीं हो सकता है।

जैसे - अग्नि केवल झोपड़ी को ही जलाती है, किन्तु तद्गत आकाश को नहीं जला सकती, वैसे ही व्याधि केवल शरीर को ही कष्ट दे सकती है, अमूर्तिक आत्मा को नहीं।

शरीर में ममता के ही कारण व्याधि से भय होता है, परन्तु जब सम्यग्दृष्टि के वर्तमान और अनागत इंद्रियों के विषयों में आदर ही नहीं होता तो फिर उसके तज्जन्य भय कैसे हो सकता है?

बाधा के हेतुभूत रोग तथा इंद्रियों के विषय में कुछ भी अन्तर नहीं है, इसलिये व्याधि के स्थानभूत विषयों में सम्यग्दृष्टि के सदैव अनादर ही रहता है, यह असिद्ध नहीं है।

अत्राणभय का स्वरूप

अत्राणं क्षणिकैकांते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशिनाशस्य त्रातुमक्षमताऽत्मनः।। 531।।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात्।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा।। 532।।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात्।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात्।। 533।।

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं (णे) नष्टे चिदात्मनि।
पश्यन्नष्टमिमात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः।। 534।।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः।। 535।।

यथा क्षणिक एकान्त पक्ष में चित्तक्षणादि विनश्वर हैं।
नाश पूर्व ही आत्मा की रक्षा में अक्षमता अत्राण।। 1299।।
अंश-नाश के पहले ही अंशी-विनाश का भय होता।
वास्तव में मिथ्यात्व हेतु से मिथ्यादृष्टी को होता।। 1300।।
नष्ट हुई पर्यायों के भी अन्वय से सत् शरणागार।
किन्तु अज्ञ नहिं माने तो हो अनरक्षा भय का आगार।। 1301।।
किन्तु सुदृष्टि, चिदाँशों के प्रतिक्षण विनष्ट होने पर भी।
निज को शाश्वत अनुभव करता अनरक्षा भय से निर्भीक।। 1302।।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव से द्रव्य सुरक्षित रहे सदा।
अतः न किञ्चित् अनरक्षा है तो ज्ञानी को भय कैसा।। 1303।।

अन्वयार्थ :- जैसे कि (**क्षणिकैकांते पक्षे**) बौद्धों के क्षणिक एकान्त पक्ष में (**चित्तक्षणादि-वत्**) चित्तक्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसे ही (**नाशात् प्राक्**) पर्याय के नाश से पहले (**आत्मनः अंशिनाशस्य**) अंशीरूप आत्मा के नाश की (**त्रातुं अक्षमता**) रक्षा के लिए अक्षमता (**अत्राणं**) अत्राणभय कहलाता है।। 531।।

(**अंशनाशात् प्राक्**) अंश के (पर्याय के) नाश से पहले (**अन्वयात् अंशिनाश भ्रमः**) अन्वय से अंशवान के (द्रव्य के) नाश का भ्रम (**भीतिः स्यात्**) अत्राण भय है और (**सा**) वह भीति (**नूनं**) निश्चय से (**मिथ्यामात्रैकहेतुत्वात्**) केवल मिथ्या हेतुक होने से (**मिथ्यादृशः अस्ति**) मिथ्यादृष्टि के ही होती है।। 532।।

(**अस्तंगतस्य अपि पर्ययस्य**) नष्ट हुई पर्याय के भी (**अन्वयात्**) अन्वय से (**सत्**) सत् (**शरणं**) शरणभूत है किंतु (**सः अज्ञः**) वह अज्ञानी (**तं अनिच्छन् इव**) उस शरणभूत सत् को स्वीकार नहीं करता हुआ ही (**अत्राणसाध्वसात्**) अत्राण भय से (**त्रस्तः अस्ति**) त्रस्त होता है।। 533।।

(**तु**) किंतु (**सद्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**स्वैः चिदंशैः**) अपने चेतनात्मक अंशों से (**क्षणं चिदात्मनि नष्टे**) प्रतिसमय चिदात्मा के नाश होने पर भी (**आत्मानं न नष्टं**) अपने को द्रव्य दृष्टि से अनष्ट (**पश्यन्**) अनुभव करता हुआ (**अत्राणभीतितः निर्भयः अस्ति**) अत्राण भय से निर्भय होता है।। 534।।

(**हि**) जिस कारण से वास्तव में किसी द्रव्य का (**द्रव्यतः अपि च क्षेत्रतः कालात् अपि च भावतः**) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से (**अत्र**) इस लोक में (**अंशतः अपि अत्राणं**

न) अंशरूप से भी कभी अत्राण नहीं होता है (**तत्**) इसलिये वह भय (**महात्मनः कुतः**) सम्यग्दृष्टि के कैसे हो सकता है?।। 535।।

भावार्थ :- जैसे बौद्ध आत्म द्रव्य को न मानकर केवल चित्त क्षण की सन्तान को प्रतिसमय नश्वर मानते हैं; वैसे ही अंश नाश से पहिले ही अंशी का नाश मानना अत्राण भय कहलाता है।

सारांश यह है कि मनुष्यादि पर्याय के नाश से पहले ही आत्मा के नाश के भय को अत्राण भय कहते हैं।

उक्त अत्राण भय मिथ्यात्व के उदय से होने वाली भ्रमता के कारण होता है। इसलिये वह भय मिथ्यादृष्टि को ही होता है, सम्यग्दृष्टि को नहीं।

पर्यायों के नाश होने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होने से द्रव्य स्वयं शरण है अर्थात् यद्यपि द्रव्यपने के कारण किसी द्रव्य का नाश नहीं हो सकता, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय के नाश से पहले ही ममता के कारण अपने नाश के भय से आतुर रहता है, किन्तु उक्त भयवश अपने द्रव्यत्व को शरण नहीं मानता है।

सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायरूप अपने अंशों के द्वारा नष्ट होने पर भी द्रव्यत्व का कभी नाश नहीं होता है - ऐसा समझता है। इसलिये वह कभी भी अपनी आत्मा के नाश को नहीं मानता है। अतः वह उक्त अत्राण भय से सदैव निर्भय रहता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य का रक्षण ही रहता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि के अत्राण भय कैसे हो सकता है?

अगुप्ति भय का स्वरूप

दृङ्मोहस्योदयाद् बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित्।। 536।।
असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात्।। 537।।
सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन्।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात्।। 538।।

दर्शन-मोह उदय से जिसकी मति एकान्तवादिनी है।
वास्तव में उनको अगुप्ति भय अनेकान्तवादी निर्भय।। 1304।।
असत्-जन्म अरु सत्-विनाश को जो मुमुक्षु प्राणी माने।
मुक्ति चाहने पर भी उसको कहाँ अगुप्ति भय से मुक्ति।। 1305।।

किन्तु सुदृष्टि निश्चय से वस्तु स्वरूप को गुप्त लखें।
उसे असम्भव भयकारण हैं अतः अगुप्ति भय न करें।। 1306।।

अन्वयार्थ :- (**दृङ्मोहस्यः उदयात्**) दर्शनमोहनीय के उदय के कारण (**यस्य बुद्धिः**) जिसकी बुद्धि (**एकांतवादिनी**) एकान्त मिथ्यात्व आदि की वादिनी होती है (**तस्य एव**) उसको ही (**नूनं**) निश्चय से (**अगुप्तिभीतिः स्यात्**) अगुप्तिभय होता है (**च**) किंतु (**अन्यस्य जातुचित् न**) अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह अगुप्तिभय कदापि नहीं होता है।। 536।।

(**असत् जन्म**) असत् पदार्थ के जन्म को और (**सतः नाशं**) सत् पदार्थ के नाश को (**मन्यमान्यस्य**) मानने वाले तथा (**मुक्ति इच्छतः देहिनः**) मुक्ति को चाहने वाले शरीर धारियों को (**ततः अगुप्तिसाध्वसात्**) उस अगुप्तिभय से (**अवकाशः कः**) अवकाश कहाँ मिल सकता है।। 537।।

(**तु**) किन्तु (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि (**वै**) निश्चय करके (**वस्तुनःस्वरूपं**) वस्तु के स्वरूप को (**गुप्तं विदन्**) सदैव गुप्त मानता हुआ (**भीतिहेतोः असंभवात्**) भय के कारण के असंभव होने से (**अगुप्तितः भीतेः निर्भयः**) अगुप्तिभय से निर्भीक होता है।। 538।।

भावार्थ :- मिथ्यात्व के उदय से क्षणिकैकांतादि वाद को अंगीकार करने वाले मिथ्यादृष्टियों को ही अगुप्तिभय होता है। अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टियों को कभी भी अगुप्ति भय नहीं होता।

यद्यपि असत् की उत्पत्ति नहीं होती है और सत् का कभी नाश नहीं होता है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप स्वयं गुप्त है अरक्षित नहीं है। तथापि असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश मानने वाले मिथ्यादृष्टि मुमुक्षुओं को सदैव अगुतिभय रहता है, सम्यग्दृष्टियों को नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव 'असत का उत्पाद और सत् का विनाश कभी नहीं होता है' ऐसा अनुभव करता है, इसलिये अगुप्तिभय के कारणभूत असत् के उत्पाद तथा सत् के विनाश का असंभव हो जाने से उसके इस अगुप्ति भय की संभावना ही नहीं रहती है।

मृत्यु भय का स्वरूप

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणः कायवागिन्द्रियं मनः।
निःश्वासोच्छ्वाससमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात।। 539॥
तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वेः तनुव्यये।। 540॥
नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम्।
अन्तस्तऽत्येकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः।। 541॥

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः।। 542।।

प्राण-नाश को मृत्यु कहें एवं प्राणों के हैं दश भेद।
मन वच तन इन्द्रिय अरु श्वासोच्छ्वास आयु ये प्राण कहे।। 1307।।
मैं जीवित ही रहूँ सदा मेरा नहिं मरण कभी भी हो।
इस प्रकार तन के विनाश की चिन्ता मृत्यु भीति कही।। 1308।।
नित्य तत्त्व को नहिं चाहे जो उन कुदृष्टियों को भय हो।
अन्तः तत्त्व सुदृष्टिवन्त को मरने का भय कैसे हो।। 1309।।
मात्र चेतना प्राण जीव का वह चेतन का उपजीवी।
अतः जीव नहिं मरता - यह जाने उसको न मरण भीति।। 1310।।

अन्वयार्थ :- (**प्राणात्ययः**) प्राणों के नाश होने को (**मृत्युः**) मृत्यु कहते हैं और (**वाक्य विस्तरात्**) प्राण शब्द का विस्तारपूर्वक अर्थ करने से (**कायवागिंद्रियं**) काय, वचन इंद्रिय (**मनः**) मन (**निःश्वासोच्छ्वासं**) श्वासोच्छ्वास (**च**) और (**आयुः**) आयु (**एते दश प्राणाः**) ये दश प्राण होते हैं।। 539।।

(**मे जीवितं भूयात्**) मैं जीवित रहूँ (**क्वचित् मरणं माभूत्**) कभी मेरा मरण न हो (**वा**) अथवा (**दैवात् कदा न लेभे**) दैवयोग से मृत्यु कभी न मिले (**इति**) इसप्रकार की (**स्वे तनुव्यये**) अपने शरीर के नाश के विषय में जो (**आधिः**) मानसिक चिन्ता होती है वह (**तद्भीतिः**) मृत्युभय कहलाता है।। 540।।

(**नित्यं तत्त्वं अनिच्छतां**) नित्य तत्त्व का विचार न करने वाले (**कुदृष्टिनां**) मिथ्यादृष्टियों को ही (**नूनं तद्भीः**) निश्चय से मृत्युभय होता है किन्तु (**अन्तस्तत्वैकवृत्तीनां ज्ञानिनां**) अन्तरंग में/अन्तस्तत्त्व में वृत्ति रखनेवाले ज्ञानियों को (**तद्भीतिः कुतः**) उक्त मरणभय कैसे हो सकता है ?।। 541।।

(**चेतना जीवस्य प्राणाः**) केवल चेतना ही जीव का प्राण है और (**सा**) वह चेतना ही (**नूनं**) निश्चय से (**आत्मोपजीविनी**) आत्मा का उपजीवी गुण है (**अतः**) इसलिये (**अर्थात् मृत्युः न**) वास्तव में जीव का कभी भी मरण नहीं होता है (**इति पश्यतः तद्भी कुतः स्यात्**) ऐसा विचार करने वाले को वह मृत्युभय कैसे हो सकता है ?।। 542।।

भावार्थ :- प्राणवियोग को मृत्यु कहते हैं, पाँच इंद्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं।

मैं सदैव जीवित रहूँ, कभी भी न मरूँ अथवा कभी भी मुझे मृत्यु प्राप्त न हो - इस प्रकार शरीर के नाश/मृत्यु के विषय में मानसिक व्यथा का होना मृत्युभय कहलाता है।

जो मिथ्यात्व के उदय से जीव तत्त्व को नित्य नहीं मानते हैं उनके ही मृत्युभय होता है, किन्तु अन्तस्तत्व में वृत्ति रखने वालों के वह भय नहीं होता है।

वास्तव में एक चेतना ही जीव का प्राण है इतर नहीं और वह चेतनता आत्मा का अनुजीवी गुण होने से आत्मा से कभी छूट नहीं सकता है, इसलिये प्राणों का नाश/मृत्यु आत्मा को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती है इस प्रकार सदैव विचार करनेवाले तत्त्वज्ञानी को मृत्युभय नहीं होता।

आकस्मिक भय का स्वरूप

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम्।। 543 ।।
भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितेचतसा।। 544 ।।
अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः।
कुतो मोक्षोऽस्य (स्ति) तद्भीतेनिर्भीकैकपदच्युतेः।। 545 ।।
निर्भीकैकपदो जीवः स्यादन्तोऽप्यनादिसात् (मान्)।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः।। 546 ।।

अकस्मात उत्पन्न हुआ जो दुख महान आकस्मिक भय।
जैसे बिजली आदि पतन से मरण प्राणियों का होता।। 1311 ।।
सदा स्वस्थ मैं रहूँ कभी भी मुझको कोई रोग न हो।
इस प्रकार व्याकुल चित से मन की चिन्ता आकस्मिक भय।। 1312 ।।
वास्तव में मिथ्यादृष्टि को आकस्मिक भय होता है।
भय से वह निर्भय पद से च्युत अतः मुक्त हो वह कैसे।। 1313 ।।
जीव अनादि अनन्त सदा निर्भय पद में स्थित रहता।
उसे न कुछ भी आकास्मिक है तो ज्ञानी को भय कैसा।। 1314 ।।

अन्वयार्थ :- (**अकस्मात् जातं**) अकस्मात् उत्पन्न होने वाला (**उच्चैः**) महान दुःख (**आकस्मिक-भयं स्मृतम् इति**) आकस्मिक भय माना गया है (**तद्यथा**) जैसे कि (**विद्युदादीनां पातात्**) बिजली आदि के गिरने से (**असुधारिणां पातः**) प्राणियों का मरण हो जाता है।। 543 ।।

(यथा) जैसे **(मे सौस्थ्यं भूयात्)** मैं सदैव नीरोग रहूँ **(कदापि दौस्थ्यंमाभूत्)** कभी भी रोगी नहीं होऊँ **(इत्येवं)** इस प्रकार से **(पर्याकुलितचेतसा)** व्याकुल चित्त पूर्वक होने वाली **(मानसी चिंता)** मानसिक चिंता **(भीतिः)** आकस्मिक भीति कहलाती है।। 544।।

(जीवः) जीव सदैव **(निर्भीकैकपदः)** अनुपम निर्भीक पद में स्थित है **(अनंतः)** अनंत **(अपि)** और **(अनादिसात् स्यात्)** अनादि है इसलिये **(तत्र)** उस अनादि अनन्त निर्भीक पद में स्थित जीव को **(आकस्मिकं न च अस्ति)** आकस्मिक भय नहीं होता है अतः **(तं इच्छतः)** उस निर्भीक पद के चाहने वाले सम्यग्दृष्टि को **(तद्भी कुतः)** वह आकस्मिक भय कैसे हो सकता है?।। 545।।

(अर्थात्) वास्तव में **(मिथ्यात्वशालिनः)** मिथ्यादृष्टि को **(आकस्मिकभ्रांतिः अस्ति)** आकस्मिक भय होता है और **(तद्भीतेः निर्भीकैकपदच्युतेः)** उस आकस्मिक भय से वह अपने निर्भीक अनुपम पद से च्युत हो जाता है इसलिए **(अस्य मोक्षः कुतः)** इस मिथ्यादृष्टि को मोक्ष कैसे हो सकता है?।। 546।।

भावार्थ :- विद्युत्पातादि आकस्मिक घटनाओं से होने वाले भय को आकस्मिक भय कहते हैं।

मुझे कभी भी आकस्मिक दुर्घटनाजन्य कष्ट न हो। सदैव ही स्वास्थ्य युक्त अवस्था बनी रहे - इस प्रकार मन में आकुलता का रहना आकस्मिकभय है।

मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टियों को ही आकस्मिक भय होता है और वे उस भय से आत्मतत्त्व से च्युत हो जाते हैं, इसलिये उन मिथ्यादृष्टियों को मोक्ष भी नहीं हो सकता है।

जीव अनादि अनन्त और सदैव निर्भय पद में विराजमान है। अतः उसके आकस्मिक भय की संभावना ही नहीं है। इसकारण से निर्भय पद की इच्छा करने वाले सम्यग्दृष्टि को वह आकस्मिक भय नहीं होता है।

निःकांक्षित अंग का स्वरूप

(छन्द 547 से 576 तक)

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टि प्रशंसनम्।। 547॥
हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरञ्जनात्।। 548॥
तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरति विना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना।। 549॥

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्श समीहते।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ।। 550 ।।
यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात्।। 551 ।।
आस्तामिष्टार्थ संयोगोऽमुत्र भोगाभिलाषतः।
स्वार्थसार्थकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम्।। 552 ।।
निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत्।। 553 ।।

पर-भव हेतु व्रतादि क्रिया में भोगेच्छा आकांक्षा है।
अन्य दृष्टि की करे प्रशंसा कर्म कर्मफल में तन्मय।। 1315 ।।
अप्रिय इन्द्रिय-विषयों के प्रति जो होता है अति उद्वेग-
इष्ट विषय में राग पूर्वक, लिङ्ग भोग-अभिलाषा का।। 1316 ।।
नहीं किसी से राग हो सके यदि विपक्ष से द्वेष न हो।
वैसे ही नहिं द्वेष किसी से यदि विपक्ष में राग न हो।। 1317 ।।
यथा जिसे है द्वेष शीत से वही उष्णता को चाहे।
जिसे ऊष्ण की अभिलाषा वह शीतस्पर्श नहीं चाहे।। 1318 ।।
जिसको अभिलाषा होती है वह निश्चित मिथ्यादृष्टि।
जिसे चाह नहिं वह सुदृष्टि - युक्ति आगम अनुभव से सिद्ध।। 1319 ।।
पर-भव में भोगाभिलाष से इष्ट प्राप्ति तो दूर रहो।
किन्तु नहीं इस भव सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि भी हो सकती।। 1320 ।।
वायु तरंगित नदीनाथ सम अरु उन्मत्त पुरुष जैसी।
केवल मिथ्यात्वोदय से यह भोगाकाँक्षा व्यर्थ उठे।। 1321 ।।

अन्वयार्थ :- (**अमुष्यकृते**) परभव के लिये (**क्रियासु**) व्रतादिक क्रियाओं में (**भोगाभिलाषः**) भोग की अभिलाषा (**कर्मणि तत्फले सात्म्यं**) कर्म और कर्मफल में तन्मयता (**वा**) अथवा (**अन्यदृष्टिप्रशंसनं**) अन्य लिंगधारियों की प्रशंसा (**कांक्षा स्वात्**) कांक्षा कहलाती है।। 547 ।।

(**हृषीकारुचितेषु**) इंद्रियों के लिये अप्रिय (**विषयेषु**) विषयों में (**यः उच्चैः उद्वेगः**) जो

अत्यन्त उद्वेग होता है (**सः**) वह (**स्वेष्टार्थरज्जनात्**) स्वेष्ट पदार्थ में अनुराग पूर्वक ही होता है, अतः वह (**भोगाभिलाषस्य लिंग स्यात्**) भोगाभिलाष का साधक लिंग है।। 548।।

(**तद्यथा**) पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है जैसे (**पक्षे रतिः अपि**) पक्ष में अनुराग भी (**विपक्षे अरति बिना न**) विपक्ष में अरति के बिना नहीं होता है, वैसे ही (**स्वपक्षे**) स्वपक्ष में (**अरतिः अपि**) अरति भी (**तद्विपक्षे रतिं विना न वा**) उसके विपक्ष में रति के बिना नहीं होती है।।549।।

(**यथा**) जैसे (**कश्चित् शीतद्वेषी**) कोई शीतस्पर्श से द्वेष करने वाला ही (**उष्ण स्पर्श समीहते**) उष्ण स्पर्श की इच्छा करता है, क्योंकि (**उष्णस्पर्शाभिलाषुकः**) उष्ण स्पर्श को चाहने वाला (**अनुष्णस्पर्शं न इच्छेत्**) शीतस्पर्श को नहीं चाहता है।। 550।।

(**यस्य कांक्षितः भावः अस्ति**) जिसके आकांक्षा का भाव होता है (**सः नूनं मिथ्यादृक अस्ति**) वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि होता है और (**यस्य सः नास्ति**) जिसके वह कांक्षित भाव नहीं होता है वह (**युक्तिस्यानुभवागमात्**) युक्ति अनुभव तथा आगम से (**सद्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि होता है।। 551।।

(**भोगाभिलाषतः**) भोगों की आभिलाषा से (**अमुत्र इष्टार्थ संयोगः आस्तां**) परभव में इष्ट पदार्थों का संयोग होना तो दूर रहो किन्तु (**ऐहिका सा स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिः अपि नाम न स्यात्**) इह लोक सम्बन्धी स्वार्थों की सिद्धि भी नहीं होती है।। 552।।

(**उन्मत्तवत्**) उन्मत्त पुरुष की तरह (**अपि च**) और (**वार्धे वातोत्तरंगवत्**) वायु से तरंगित समुद्र की तरंगों के समान (**एषः**) यह भोगाभिलाषा (**जन्तोः**) जीव के (**मिथ्याकर्मैकपाकतः**) केवल मिथ्यात्व के उदय से (**निःसारं प्रस्फुरति**) व्यर्थ ही उदित होती रहती है।। 553।।

भावार्थ :- परभव में भोगाभिलाषा से व्रतादिक का पालना, कर्म और कर्मफल चेतनामय प्रवृत्ति रखना अथवा कर्म, कर्मफलचेतना और भोगाभिलाषा पूर्वक व्रतसेवन करने वाले मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना कांक्षा कहलाती है।

अनरुचते इंद्रिय विषयों में जो एक प्रकार का उद्वेग होता है, वह स्वेष्ट पदार्थ की आसक्तिपूर्वक ही होता है, इसलिए अनिष्ट विषयों में होने वाले उद्वेग से इष्ट विषयों में आसक्ति का अनुमान किया जाता है। अतः अनिष्ट विषयों में उद्वेग, इष्ट विषयों में आसक्ति का साधक है।

जैसे इष्ट पदार्थ में रति, अनिष्ट पदार्थ में अरति के बिना नहीं होती है, वैसे ही इष्ट पदार्थ में अरति भी अनिष्ट पदार्थ में रति के बिना नहीं होती है।

सारांश यह है कि रागद्वेष परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए पक्ष में राग, विपक्ष में द्वेषपूर्वक होता है और विपक्ष में राग, पक्ष में द्वेषपूर्वक ही होता है – ऐसा समझना चाहिये।

जैसे कोई शीत–द्वेषी है वही उष्ण स्पर्शानुरागी सिद्ध होता है, क्योंकि उष्ण स्पर्शानुरागी उष्ण से भिन्न शीत स्पर्श को कैसे चाह सकता है?

जिसके पर–पदार्थ में कांक्षा होती है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है और जिसके वह कांक्षा नहीं होती है वह युक्ति स्वानुभव तथा आगम प्रमाण से सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

भोगाभिलाषा से परभव में इष्टार्थ की प्राप्ति हो सकेगी कि नहीं, यह कथा तो दूर रहो परन्तु भोगाभिलाषा से इहलोक सम्बन्धी भी स्वार्थों की सिद्धि नहीं देखी जाती, अर्थात् अभिलाषा के साथ इहलोक सम्बन्धी इष्ट सिद्धि का भी कार्य–कारणभाव सिद्ध नहीं होता है।

जैसे उन्मत्त पुरुष को चाहे जिस पदार्थ के विषय में लहरें उठा करती हैं अथवा जैसे समुद्र में वायु के निमित्त से तरंग उठा करती हैं; वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से जीव को पर–विषय में निष्प्रयोजनभूत अभिलाषायें उत्पन्न हुआ करती हैं।

शंका

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
भोगाकांक्षा विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत्।। 554।।

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम्।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चा शुभावहम्।। 555।।

न चाशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित्।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत्।। 556।।

यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात्।। 557।।

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात्।। 558।।

न च वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः।
अपि बंधफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन्।। 559।।

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम्।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः।। 560।।

तो भोगाकाँक्षा बिन ज्ञानी क्यों व्रतादि आचरण करे।
क्योंकि बिना प्रयोजन कोई मन्दबुद्धि भी नहिं वर्ते।। 1322।।
नहिं असिद्ध है एक मात्र हो बन्ध, क्रिया के फल में है।
अशुभ क्रिया का अशुभरूप फल हो शुभरूप क्रिया शुभ का।। 1323।।
सम्यग्दर्शन के अतिशय से वीतराग वत् रागी को।
क्रिया नहीं बन्धन फल देती - ऐसी शंका नहीं करो।। 1324।।
क्योंकि सिद्ध है यह प्रमाण से क्रिया सुनिश्चित बन्ध फला।
गुणस्थान बारहवें के पहले तक बन्ध-हेतु रहता।। 1325।।
हो सराग या वीतराग पर मोहोदय के होने से।
औदायिकी क्रिया अवश्य ही बन्धफला है कही गई।। 1326।।
कोइ सुदृष्टि बन्ध फलों को भी न बन्ध-कारण माने।
प्रज्ञा का अपराध हुआ यह - ऐसी शंका करो नहीं।। 1327।।
क्योंकि सम्यग्दृष्टि विशेषण प्रज्ञा से अविनाभावी।
यदि प्रज्ञा नहि हो तो सम्यग्दर्शन कैसे दिव्य कहें।। 1328।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**मन्दः अपि**) अज्ञानी पुरुष भी (**कार्यं अनुद्दिश्य**) किसी कार्य के उद्देश्य के बिना (**न प्रवर्तते**) प्रवृत्ति नहीं करता है (**तत्**) तो फिर (**ज्ञानी**) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि (**भोगाकांक्षां बिना**) भोगों की आकांक्षा के बिना (**व्रतं कथं आचरेत्**) व्रतों का क्यों आचरण करेगा और।। 554।।

(**क्रियायाः**) क्रिया का (**बन्धमात्रत्वं अद्वयं फलं असिद्धं न**) केवल बन्धरूप एक फल असिद्ध नहीं है तथा (**शुभायाशुभमात्रं**) शुभक्रिया का केवल शुभरूप (**च**) और (**अशुभायाः अशुभावहं स्यात्**) अशुभक्रिया का केवल अशुभरूप फल होता है यह असिद्ध नहीं है तथा।। 555।।

(**न च आशंक्य**) ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये कि (**दर्शनातिशयात् हेतोः**) सम्यग्दर्शन के माहात्म्यरूप हेतु से (**विरागवत्**) वीतराग की तरह (**क्वचित् सरागे अपि**) रागसहित किसी सम्यग्दृष्टि के भी (**एषा क्रिया**) यह व्रताचरणादिरूप क्रिया (**अबन्धफला अपि स्यात्**) बन्धरूप फल को देने वाली भी नहीं होती है।। 556।।

(**यतः**) क्योंकि (**वै**) निश्चय से यह (**प्रमाणात् सिद्धं**) आगम प्रमाण से सिद्ध है कि (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक्**) बारहवें गुणस्थान से पहले (**अवश्यं तद्धेतुसंभावात्**) बन्ध के हेतुरूप मोहादिक के अवश्य होने के कारण (**नूनं**) निश्चय से (**क्रिया बन्धफला**) व्रताचरणादि क्रिया बन्धरूप फल को देने वाली होती है।। 557।।

(नूनं) निश्चयपूर्वक **(मोहस्यान्यतमोदयात्)** मोहनीय कर्म के भेदों में से किसी एक के उदय से **(सरागे वा वीतरागे)** सराग अथवा वीतराग दोनों के ही **(औदयिकी क्रिया)** जो औदयिकी क्रिया होती है वह **(अवश्यं बन्धफला अस्ति)** अवश्य ही बन्धरूप फल को देने वाली होती है और।। 558।।

(न च वाच्यं स्यात्) यह भी नहीं कहना चाहिये कि **(कश्चित् सद्दृष्टिः)** कोई सम्यग्दृष्टि **(प्रज्ञापराधतः)** ज्ञान की मन्दता से **(तां बन्धफलां अपि)** उस बन्धरूप फल को देने वाली भी क्रिया को **(अबन्धफलां विदन्)** अबन्धफलवाली समझ करके **(कुर्यात्)** करता है।। 559।।

(यतः) क्योंकि **(प्रज्ञां बिना भूतं)** प्रज्ञा के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाला **(सम्यग्विशेषणम् अस्ति)** सम्यक् विशेषण है यदि सम्यग्दृष्टि के **(तस्याः च अभावतः)** उस प्रज्ञा का भी अभाव माना जायगा तो **(नूनं दृशः दिव्यता कुतस्त्या)** निश्चय से सम्यग्दर्शन में दिव्यता ही कैसे रहेगी?।। 560।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जब बिना प्रयोजन के मन्द व्यक्ति की भी प्रवृत्ति नहीं होती है, तो फिर सम्यग्दृष्टि जीव भोगों की अभिलाषा के बिना व्रतादिक क्रियाओं को कैसे करता है और क्रियामात्र का फल केवल बन्ध ही होता है यह असिद्ध नहीं है; तथा क्रिया दो प्रकार की होती है - एक शुभ क्रिया व दूसरी अशुभ क्रिया। उनमें से व्रतादिक शुभ क्रिया का फल शुभ ही होता है और हिंसादिक अशुभ क्रिया का फल अशुभ ही होता है। यदि कदाचित् कोई यह कहे कि वीतराग के समान सराग सम्यग्दृष्टि की क्रियाएँ भी सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से बन्धजनक नहीं होती हैं तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बारहवें गुणस्थान से पहले रागादिक का सद्भाव रहने से यथायोग्य बन्ध आगम में अवश्य माना है, क्योंकि जब तक मोहनीय कर्म के अवान्तर भेदों में से किसी का भी उदय रहता है, तब तक जीव के औदयिक भाव रहता है और उसके निमित्त से यथायोग्य बन्ध भी होता रहता है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के बन्ध तो होता है, परन्तु वह अपने ज्ञान की मंदता से कभी-कभी अपनी बन्धजनक क्रियाओं को भी अबन्ध-जनक मान लेता है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के ही साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि के बन्धादिक के विषय में ज्ञान की भूल नहीं होती है। वह इतर विषयों में मन्दज्ञानी होकर के भी बन्ध-मोक्ष के विषय में तो यथार्थ ज्ञाता ही है।

समाधान

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक्।। 561॥

पहले ही यह सिद्ध किया है क्रिया अनिच्छित ज्ञानी की।
अतः शुभाशुभ में विशेषता कहने को क्या शेष रहा।। 1329।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) शंकाकार का उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, (**यतः**) क्योंकि (**प्राक् सुसिद्धं अस्ति**) पहले ही यह सिद्ध किया जा चुका है कि (**अनिच्छतः च क्रिया**) बिना इच्छा के ही सम्यग्दृष्टि के सब क्रियाएँ होती हैं, इसलिये उस सम्यग्दृष्टि के (**शुभायाः च अशुभायाः च**) शुभ और अशुभ क्रिया में (**विशेष भाक्**) विशेषता को बताने वाला (**कः अवशेषः**) क्या शेष रह जाता है? अर्थात् कुछ नहीं।। 561।।

भावार्थ :- शंकाकार की शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पहले स्पष्ट रीति से सिद्ध कर आये हैं कि सम्यग्दृष्टि की सब ही क्रियायें बिना इच्छा के होती है अर्थात् चाहे वे शुभ हों या अशुभ, परन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इच्छापूर्वक शुभ और अशुभ दोनों ही क्रियायें बन्ध का कारण हो सकती हैं, किन्तु बिना इच्छापूर्वक होने वाली क्रियायें बन्ध का कारण नहीं हो सकती, इसलिये सम्यग्दृष्टि के व्रतादिक क्रियाओं के इच्छापूर्वक न होने से बन्ध नहीं होता है – ऐसा समझना चाहिये।

शंका

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया।
विशिष्टेऽर्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम्।। 562॥
सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम्।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात्।। 563॥

अनिष्टार्थ संयोगरूप तो क्रिया अनिच्छित हो सकती।
पर विशिष्ट इष्टार्थप्राप्ति की क्रिया अनिच्छित कैसे हो।। 1330।।
बिन इच्छा नहिं हो सकते शुभरूप व्रतादिक कार्य सभी।
किन्तु प्रयोजन वश स्वतन्त्र कर्तृत्व सिद्ध होता उनका।। 1331।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**या**) जो (**अनिष्टार्थसंयोगरूपा**) अनिष्ट प्रयोजन के संयोगरूप क्रिया होती है (**सा क्रिया अनिच्छतः**) वह क्रिया बिना इच्छा वाले के भी हो सकती है, परन्तु (**विशिष्टेऽर्थ संयोगरूपा सा**) विशिष्ट इष्ट प्रयोजन के संयोगरूप वह व्रताचरणादि क्रिया (**अनिच्छतः कथं**) बिना इच्छा वाले के कैसे हो सकती है?।। 562।।

(**अर्थात्**) अर्थात् (**व्रतरूपा सत्क्रिया**) व्रतरूप शुभक्रिया (**अनिच्छतः स्फुटं न स्यात्**) नहीं चाहने वाले के कभी भी नहीं हो सकती, किन्तु (**अर्थसात्**) प्रयोजनवश (**तस्याः स्वतंत्र**

कर्तृत्वं सिद्धं) उन व्रतादिरूप शुभ क्रियाओं को स्वतंत्र सिद्ध होने से उनका कर्ता सम्यग्दृष्टि सिद्ध होता है।। 563।।

भावार्थ :- शंकाकार की शंका है कि दारिद्रय मरणादि अनिष्ट क्रियायें तो अनिच्छापूर्वक हो सकती हैं, परन्तु स्वर्गादिक अभ्युदय को देने वाली क्रियायें इच्छापूर्वक ही होती हैं, इसलिये वे अनिच्छापूर्वक कैसे हो सकती हैं ?

व्रतादिरूप क्रियायें बिना इच्छापूर्वक नहीं होतीं, किन्तु प्रयोजन दिख जाने से सम्यग्दृष्टि ही उन क्रियाओं का कर्ता सिद्ध होता है – ऐसा समझना चाहिये।

समाधान

नैवं यतोऽस्त्यानिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम्।। 564।।
यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकनात्।। 565।।
दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थ (भूतार्थ) दर्शिनी।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिःकर्मफलात्मके ।। 566।।

कर्मोदय से प्राप्त सभी सामग्री इष्ट न ज्ञानी को।
इसीलिए वे कर्म और तत्फल की इच्छा नहीं करें।। 1332।।
कोई इष्ट अनिष्ट कोइ - ऐसी कल्पना पदार्थों में।
श्वेत शंख पीला दिखने जैसा दृष्टि में दोष कहे।। 1333।।
दर्शन-मोह नष्ट होने से सूक्ष्म अर्थ-दृष्टि साक्षात्-
हो जाती है ज्ञानी की इसलिए कर्म-फल इष्ट नहीं।। 1334।।

अन्वयार्थ :- **(एवं न)** शंकाकार का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(कर्मोदयात्मकः सर्वः)** कर्मोदय से प्राप्त होने वाला जो कुछ भी है वह सब सम्यग्दृष्टि के लिये **(अनिष्टार्थः अस्ति)** अनिष्ट अर्थ है **(तस्मात्)** इसलिये सिद्ध होता है कि **(ज्ञानी)** ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी **(यावत्कर्म च तत्फलं)** सम्पूर्ण कर्म और कर्मफल की **(न आकांक्षते)** आकांक्षा नहीं करता है।। 564।।

(पुनः) और **(यत्)** जो **(अर्थसात्)** अर्थों में **(कश्चित् इष्टार्थः कश्चित् अनिष्टार्थः)** कोई इष्ट पदार्थ है तथा कोई अनिष्ट पदार्थ है – ऐसी कल्पना होती है **(तत्सर्वं)** वह सब

(**पीतशंखाव-लोकनात्**) शंख को पीत आदि रूपवान देखने की तरह (**दृष्टिदोषत्वात्**) दृष्टि का दोष है।। 565।।

परन्तु (**तस्य**) सम्यग्दृष्टि के (**दृङ्मोहस्य अत्यये**) दर्शन मोहनीय का नाश होने पर (**साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी दृष्टिः**) सूक्ष्म पदार्थों को भी साक्षात् देखने वाली दृष्टि हो जाती है और (**अनिष्टे कर्म फलात्मके**) अप्रयोजनभूत कर्म तथा कर्मफलरूप चेतना में (**अनिष्टार्थ बुद्धिः अस्ति**) अनिष्टार्थ बुद्धि हो जाती है।। 566।।

भावार्थ :- जो भी कर्मोदय से प्राप्त हो सकता है, उस सबको सम्यग्दृष्टि इष्ट नहीं मानता, चाहे वह इंद्रादिक पद भी क्यों न हो, इसलिये सिद्ध होता है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कर्म व कर्मफलचेतनात्मक शुभ क्रियाओं की कभी भी इच्छा नहीं करता है।

मिथ्यादृष्टियों को पदार्थों में जो ऐसी कल्पना होती है कि अमुक पदार्थ इष्ट है और अमुक पदार्थ अनिष्ट है, वह सब मिथ्यादर्शन का प्रभाव है, क्योंकि पदार्थों का तो जैसा स्वरूप है वैसा ही है, परन्तु जैसे काँच कामलादिक दृष्टि दोष से लोग शुक्ल शंख को पीतत्वादिरूप से देखते हैं, वैसे ही जीव मिथ्यात्व के उदय से पदार्थ को इष्टानिष्टरूप से देखता है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने पर ऐसी विशदता प्रगट हो जाती है कि जिसके प्रभाव से वह प्रयोजनभूत अतींद्रिय विषयों का भी बोध प्राप्त कर लेता है और अप्रयोजनभूत यावत् कर्म तथा कर्मफल चेतनामय भावों में अनिष्ट बुद्धि रखता है। इसलिये सिद्ध होता है कि स्वर्गादिक अभ्युदय, कर्मों के फलरूप होने से सम्यग्दृष्टि को व्रतादि धारण करने के द्वारा अनिष्ट ही प्रतिभासित होते हैं। अतः उनकी प्राप्ति के लिए भी उसके कभी भी इच्छा नहीं होती है।

कर्म और कर्मफल अनिष्ट क्यों हैं ?

न चाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात्।। 567।।
अनिष्टफलवत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत्।। 568।।

नहिं असिद्ध है अनिष्टत्व कर्मों एवं उनके फल में।
क्योंकि सर्वथा दुख का कारण युक्ति स्वानुभव आगम से।। 1335।।
यथा दुष्ट कार्योत्पादक हेतु भी दुष्ट कहा जाता।
वैसे ही अनिष्ट फलप्रद है अतः अनिष्ट व्रतादि क्रिया।। 1336।।

अन्वयार्थ :- (**युक्ति स्वानुभवागमात्**) युक्ति स्वानुभव और आगम से कर्म तथा कर्मफलचेतना (**सर्वतः दुःखहेतुत्वात्**) सर्वथा दुःख का कारण है अतः सम्यग्दृष्टि के लिए (**कर्मणः च तत्फलस्य**) कर्म और कर्मफल में (**अनिष्टत्वं**) अनिष्टता (**असिद्धं न च**) असिद्ध नहीं है।। 567।।

(**दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोः**) जैसे दुष्ट कार्यों के उत्पादक हेतु को (**दुष्टोपदेशवत्**) दुष्ट कहते हैं, वैसे ही (**अनिष्ट फलवत्वात्**) अनिष्ट फलप्रद होने के कारण(**व्रतक्रिया अनिष्टार्था स्यात्**) सम्यग्दृष्टि के लिये व्रतक्रिया भी इष्टार्थ नहीं किन्तु अनिष्टार्थ ही है।। 568।।

भावार्थ :- मिथ्यात्व के उदय पूर्वक ही होने के कारण कर्म और कर्मफलेचतना युक्ति से, आगम से तथा स्वानुभव से दुःखों का ही कारण है, अतएव सम्यग्दृष्टि के लिये वे दोनों चेतनायें अनिष्ट होती हैं, यह असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध है।

साता वेदनीयादि कर्म तथा इष्ट संयोगादि उसके फल इन दोनों में सम्यग्दृष्टि के रुचि का अभाव रहता है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि उन्हें बन्ध-जनक होने से अनुपादेय मानता है।

क्रियायें शुभ और अशुभरूप से दो तरह की होती हैं। अशुभक्रियारूप हिंसादिक से दुरास्रव/पापास्रव होता है, तथा शुभक्रियारूप व्रतादि परिणति से शुभास्रव/पुण्यास्रव होता है। ये दोनों ही आस्रव शुभ और अशुभ बन्ध के कारण हैं अर्थात् शुभ व अशुभ दोनों ही परिणतियाँ बन्धरूप कार्य को उत्पन्न करने वाली हैं और बन्ध जीवात्मा की दूषित अवस्था है। अतः उस दूषित अवस्था का कारण भी दूषित ही होना चाहिए, इस न्याय से शुद्ध परिणति की अपेक्षा व्रतक्रिया को भी बन्ध-जनक ही बताया है, इसलिए बन्धरूप दुष्ट कार्य को उत्पन्न करने वाली व्रत क्रिया भी सम्यग्दृष्टि के लिये इष्टार्थ नहीं होती है।

सारांश यह है कि तत्त्वज्ञान होने के बाद परिणामों में ऐसी विशुद्धता होती है कि सम्यग्दृष्टि अचिंत्य अनन्त आनन्दमय उपयोग के बिना सम्पूर्ण क्रियाओं को हेय समझता है, परन्तु वह पूर्व संस्कारों की तीव्रतावश उनका सहसा उच्छेद कर नहीं सकता है, किन्तु अशुभ क्रियाओं के त्यागपूर्वक शुद्धपरिणति के कारणभूत शुभ प्रवृत्तिरूप व्रत धारणादिक में परवश तत्पर होता है और अनन्तर परम उपादेयभूत शुद्ध परिणति को क्रम-क्रम से प्राप्त कर लेता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि के क्रियामात्र उपादेय नहीं होती है, किन्तु बन्धरूप दुष्टकार्य को उत्पन्न करने के कारण क्रियामात्र अनुपादेय ही प्रतीत होती है।

व्रतादि क्रियायें भी पराधीन हैं

अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात्।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्यायाऽसंभवो यतः।। 569।।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽत्मनः।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत् त्योदयिकी स्मृता।। 570।।
पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः।। 571।।
सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियां।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम्।। 572।।

क्रिया कर्मफल होने से है नहिं स्वतन्त्रता उसकी सिद्ध।
क्योंकि कर्म के उदय बिना हो सकती नहीं कदापि क्रिया।। 1337।।
जितने भी है क्षीण-मोहि एवं अक्षीण-मोहिजन हैं।
उन सबकी जो क्रिया सभी को औदायिकी कहा जाता।। 1338।।
नहीं जीव का कर्मोदय में कारण मनचाहा पुरुषार्थ।
क्योंकि मात्र पौरुषापेक्ष नहिं, दैवापेक्षा भी पुरुषार्थ।। 1339।।
औदायिकी क्रिया करता भी ज्ञानी है निःकाँक्षित सिद्ध।
क्योंकि विरागी की इच्छा-बिन क्रिया, राग नहिं कर सकती।। 1340।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) तथा सम्यग्दृष्टि में (**कर्मणः फलात्**) कर्म का फल होने से (**क्रियायाः**) क्रिया की (**स्वतंत्रत्वं असिद्धं**) स्वतंत्रता असिद्ध है (**यतः**) क्योंकि (**कर्मोदयात् हेतोः ऋते**) कर्मोदयरूप हेतु के बिना (**तस्याः च असंभवः**) उस क्रिया का होना असंभव है।। 569।।

(**उदितं कर्मप्रति**) उदय में आने वाले कर्म के प्रति (**पुंसः**) जीव का (**यथाकामं**) इच्छानुकूल (**पौरुषः**) पुरुषार्थ (**न**) कारण नहीं है (**हि**) क्योंकि (**पौरुषः**) पुरुषार्थ (**परं**) केवल (**पौरुषापेक्षः न**) पौरुष की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु (**दैवापेक्षः**) दैव की अपेक्षा रखता है।। 570।।

(**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि (**उदितां क्रियां**) औदयिक क्रिया को (**कुर्वाणः अपि**) करता हुआ भी (**निःकांक्षितः सिद्धः**) निःकांक्षित सिद्ध होता है क्योंकि (**विरागिणां निष्कामतः कृतं कर्म रागाय न**) वीतरागों की, बिना इच्छापूर्वक होने वाली क्रियायें राग उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती हैं।। 571।।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि व्रताचरणादि क्रियाओं का वास्तव में कर्ता नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि क्रियामात्र कर्मों के उदय से होती है। इसलिये किन्हीं कर्मों के क्षयोपशम के साथ-साथ

देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से होनेवाली व्रतादि क्रियाओं का वह स्वतंत्र कर्ता नहीं होता है। यदि वह बिना कर्मोदय के व्रतधारणादि करता तो उन क्रियाओं का कर्ता कहला सकता था, परन्तु कोई भी सम्यग्दृष्टि बिना कर्मोदय के शुभ क्रियाओं में भी प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिये वह वास्तव में किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं कहला सकता है।

पुरुष का इच्छानुकूल पुरुषार्थ ही कर्मों के उदय में कारण नहीं होता, अर्थात् पुरुष का पुरुषार्थ भी स्वतंत्र नहीं है, किन्तु दैव की अपेक्षापूर्वक होने से परतंत्र है। इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुरुषार्थ इच्छानुसार नहीं होता है, किन्तु दैव सापेक्ष ही होता है। अतः उसके जो भी कर्मों के उदय से क्रियायें होती हैं, वे उसकी इच्छानुसार न होने से वह सम्यग्दृष्टि उनका इच्छापूर्वक कर्ता नहीं कहा जा सकता तथा अनिच्छापूर्वक होने वाले कर्मों का उदय आस्रव व बन्ध में कारण नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञानी कर्मों के उदय से होने वाली क्रियाओं के करते हुए भी निःकांक्षित अंगधारी सिद्ध होता है।

इसलिये पुरुष के पुरुषार्थ को भी दैवसापेक्ष सिद्ध होने से सम्यग्दृष्टियों के क्रियाओं के देखे जाने पर भी निःकांक्षितपना असिद्ध नहीं होता, किन्तु सिद्ध ही होता है। कारण कि राग रहित व्यक्ति के राग के बिना ही क्रियायें होती हैं।

ये आशंकायें उचित नहीं

नाशक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित्।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि।। 573।।
यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः।। 574।।
तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकःशक्तेः सद्भावतोऽनिशम्।। 575।।
उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत् परीक्षा क्षमता मता।। 576।।

सम्यग्दर्शन के अतिशय बिन अन्य किसी भी कारण से।
साधारण जन भी निरीह हो सकता - करो न यह शंका।। 1341।।
क्योंकि न्याय से सम्यग्दर्शन बिना न हो निःकाँक्षितता।
जो न अतीन्द्रिय सुख चाहे वह इन्द्रिय सुख में नहीं विरक्त।। 1342।।

दर्शन-मोह कर्म की वैसी शक्ति सदा उसको रहती।
अतः मोह से, नहीं अतीन्द्रिय सुख चाहे मिथ्यादृष्टि।। 1343।।
जो निःकाक्षित भाव कहा है वह लक्षण सद्दर्शन का।
क्योंकि पूर्व में हुआ परीक्षित अतः नहीं है क्षति कोई।। 1347।।

अन्वयार्थ :- (**न च आशंक्यं**) यहाँ पर ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये (**दर्शनातिशयात् अन्यत्र**) सम्यग्दर्शन के माहात्म्य के बिना (**कुतश्चिदपि हेतोः**) अन्य किसी कारण से भी (**क्वचित्**) कहीं (**सामान्यः जनः अपि**) साधारण पुरुष भी (**निःकांक्षः अस्ति**) निःकांक्षित वृत्ति वाला हो सकता है।। 573।।

(**यतः**) क्योंकि (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**सद्दर्शनं बिना**) सम्यग्दर्शन के बिना (**निःकांक्षिता**) निःकांक्षितपना (**नास्ति**) नहीं हो सकता है कारण कि (**तत् अत्यक्षं**) उस अतीन्द्रिय सुख को (**अनिच्छतः**) नहीं चाहने वाले मिथ्यादृष्टि के (**अक्षजे सौख्ये**) इन्द्रियजन्य सुख में (**अनिच्छा न**) अनिच्छा वृत्ति नहीं हो सकती है।। 574।।

(**दृङ्मोहस्य**) दर्शनमोहनीय कर्म की (**तथा पाकशक्तेः**) उस प्रकार की विपरीत श्रद्धान कराने वाली उदय शक्ति के (**अनिशं सद्भावतः**) सदैव पाए जाने से (**सः मिथ्यादृष्टिः**) वह मिथ्यादृष्टि जीव (**मोहात्**) मोह के कारण (**तदत्यक्ष सुखं**) उस अतीन्द्रिय सुख की (**न इच्छति**) इच्छा कभी भी नहीं करता है, किन्तु सदैव वैषयिक सुख को ही चाहता है।। 575।।

(**यः निःकांक्षितः भावः उक्तः**) जो निकांक्षित भाव कहा गया है (**सः**) वह (**वै**) निश्चय करके (**सद्दर्शनस्य गुणः अस्तु**) सम्यग्दर्शन का लक्षण माना जावे इसमें (**नः का क्षतिः**) हमारी कुछ भी क्षति नहीं है (**चेत्**) यदि उस निःकांक्षित भाव में (**प्राक् परीक्षा क्षमता मता**) पहले ही परीक्षा क्षमता मानी जा चुकी हो अर्थात् यदि वह निःकांक्षित भाव परीक्षित हो चुका हो तो ही सम्यक्त्व का लक्षण हो सकता है अन्यथा नहीं।। 576।।

भावार्थ :- ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि कोई जीव सम्यग्दर्शन के प्राप्त किये बिना भी अन्य किसी कारण से निःकांक्षित वृत्तिवाला हो सकता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन के बिना निःकांक्षितपने के अभाव में भी कारण यह है कि सम्यग्दर्शन और निःकांक्षित वृत्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है, इसलिये मिथ्यादृष्टि के सम्यग्दर्शन के अभाव में निःकांक्षित वृत्ति का भी अभाव रहता है। कारण कि जो व्यक्ति अतींद्रिय सौख्य में तत्पर रहता है उसके ही विषयसुखों में विरक्ति हो सकती है, अन्य के नहीं और अतींद्रिय सुख में अभिलाषा सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है, सम्यग्दर्शन के अभाव में नहीं होती, इसलिये सम्यग्दर्शन के बिना अन्य किसी कारण से निःकांक्षित वृत्ति नहीं हो सकती है।

मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोह के उदयवश सदैव पर-पदार्थ में मोह रहता है और उस प्रकार के मोह के रहने से वह सदैव विषयों में ही आतुर रहता है। कभी अतींद्रिय सुख को नहीं चाहता है। इसलिये उसके कभी भी निःकांक्षित वृत्ति नहीं होती है प्रत्युत सदैव कांक्षावृत्ति ही रहती है।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव में होने वाली ही निःकांक्षित वृत्ति सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता है किंतु साधारण निःकांक्षितपना सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं हो सकता है। अतः वास्तविक जो निःकांक्षित भाव है उसको सम्यग्दर्शन का लक्षण मानने में कोई बाधा नहीं है।

निर्विचिकित्सा गुण[6] का स्वरूप

(छन्द 577 से 586 तक)

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि।। 577।।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धयां स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता।। 578।।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा।। 579।।

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः।। 580।।

निर्विचिकित्सा गुण का लक्षण कहते हैं अब इसके बाद।
जो युक्ति से सम्यग्दर्शन का उत्तम गुण कहा गया।। 1345।।
स्वयं प्रशंसा अपनी करके निज गुण का उत्कर्ष करे।
पर के गुण का अपकर्षण करना चाहे - विचिकित्सा है।। 1346।।
जो विचिकित्सा रहित हुआ वह निर्विचिकित्सक होता है।
सम्यग्दर्शन का उत्तम गुण अब इसका लक्षण कहते।। 1347।।
तीव्र असाता कर्म उदय से जो नर दुखी घृणास्पद है।
उससे घृणा नहीं करने को निर्विचिकित्सा कहते हैं।। 1348।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) अब आगे (**सः**) वह (**निर्विचिकित्साख्यः गुणः**) निर्विचिकित्सा

6. यहाँ उपगूहन गुण को भी निर्विचिकत्सा के रूप में कहा गया है।

नामक गुण (**संलक्ष्यते**) लक्षित किया जाता है कि (**यः**) जो (**युक्तिवशात् अपि**) आगम और युक्ति से भी (**सद्दर्शन गुणस्य**) सम्यग्दर्शन का (**उच्च गुणः**) उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है।। 577।।

(**आत्मनि**) अपने में (**स्वात्म प्रशंसनात्**) अपनी प्रशंसा से (**आत्मगुणोत्कर्ष बुद्ध्या**) अपने गुणों के उत्कर्ष को दिखाने की बुद्धि के साथ-साथ जो (**परत्र अपकर्षेषु अपि बुद्धिः**) दूसरे के गुणों के अपकर्ष में भी बुद्धि होती है उसको (**विचिकित्सा**) विचिकित्सा (स्मृता) कहते हैं।। 578।।

(**विचिकित्सायाः**) उस विचिकित्सा से जो (**निष्क्रान्तः**) रहित है वह (**निर्विचिकित्सकः**) निर्विचिकित्सक नामक (**सद्दर्शनस्य**) सम्यदर्शन का (**उच्चैः गुणः**) उत्कृष्ट गुण (**प्रोक्तः**) कहा गया है अब आगे (**तल्लक्षणं**) उसके लक्षण को (**वक्ष्ये**) कहता हूँ (**यथा**) जैसे कि।। 579।।

(**दुर्दैवात्**) दुर्दैव से (**तीव्रासाताघृणास्पदे**) तीव्र असाता वेदनीय के उदय के कारण तिरस्कार करने के योग्य (**दुःखिते पुंसि**) दुःखित पुरुष में (**यत्**) जो (**असूया परं चेतः न**) घृणा तत्पर चित्त का नहीं होना है वही (**निर्विचिकित्सकः स्मृतः**) निर्विचिकित्सक गुण माना गया है।। 580।।

भावार्थ :- निःशंकित और निःकांक्षित गुणों का वर्णन करके अब आगे उस निर्विचिकित्सा नामक गुण का वर्णन किया जाता है कि जो आगम प्रमाण से ही नहीं, किन्तु युक्ति से भी सम्यग्दर्शन का गुण (लक्षण) कहलाता है।

स्वात्मप्रशंसा से जो अपने गुणों के उत्कर्ष को बताते हुए दूसरों के गुणों में अपकर्ष बुद्धि की जाती है उसको विचिकित्सा कहते हैं।

उक्त प्रकार की विचिकित्सा से जो रहित है उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं तथा यह निर्विचिकित्सक भाव भी उक्त गुणों के समान सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट गुण है अब आगे उसी का लक्षण बताया जाता है।

दुर्दैव से दुखित और तीव्र असाता के उदय से घृणास्पद जो व्यक्ति हैं, उनके प्रति चित्त की ग्लानि का नहीं होना ही निर्विचिकित्सक गुण कहलाता है।

निर्विचिकित्सक की मान्यता

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम्।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम्।। 581।।
प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः।
प्राणिनःसदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः।। 582।।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात्।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना।। 583।।
जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहं ते चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः।। 584।।
अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्।। 585।।
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः।। 586।।
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये।। 587।।

मैं तो हूँ सम्पन्न और यह दीन विपत्ति का स्थान।
अतः हमारे तुल्य नहीं है - ज्ञानी को नहिं यह अज्ञान।। 1349।।
कर्मों के विपाक से त्रस अरु स्थावर होते प्राणी।
इसीलिए सब जीव एक से - यही जानता है ज्ञानी।। 1350।।
यथा शूद्रिका महिला ने दो सन्तानों को जन्म दिया।
यद्यपि दोनों शूद्र तथापि भ्रम से भेद गिना जाता।। 1351।।
जैसे जल में काई रहती वैसे चित् में कर्म-मलिन।
वैसे मैं अरु अन्य जीव सब वास्तव में है कर्म-मलिन।। 1352।।
सम्यग्दर्शन का यह गुण है निर्विचिकित्सा नाम कहा।
क्योंकि यह समकित होने पर हो अवश्य अन्यथा नहीं।। 1353।।
कर्म-जन्य पर्यायों में रागी को कैसे यह गुण हो।
सत्-विशेष होने पर भी मोहोदय से जो एक लखे।। 1354।।
इस प्रकार समकित का यह गुण युक्ति-पूर्वक कहा गया।
नहीं कहें तो दोष नहीं कुछ कहने से कुछ लाभ नहीं।। 1355।।

अन्वयार्थ :- (**तन्मनसि**) उस निर्विचिकित्सक अंगवाले सम्यग्दृष्टि के मन में (**एतत्**) यह (**अज्ञानं न**) अज्ञान नहीं होता है कि (**अहं**) मैं (**सम्पदां**) सम्पत्तियों का (**पदं अस्मि**) आस्पद हूँ और (**असौ**) यह (**दीनः वराकः**) दीन गरीब (**विपदां पदं**) विपत्तियों का ही आस्पद है इसलिये (**अस्मत् समः न**) हमारे समान नहीं है।। 581।।

(प्रत्युत) किंतु **(तत्र)** उस निर्विचिकित्सक गुणवाले सम्यग्दृष्टि में **(एतत् एव ज्ञानं)** ऐसा ही ज्ञान होता है कि **(कर्मविपाकजाः)** कर्मों के उदय से उत्पन्न **(त्रसस्थावरयोनयः)** त्रस और स्थावर योनि वाले **(सर्वे प्राणिनः)** सब जीव **(सदृशाः)** सदृश हैं।। 582।।

(यथा शूद्रिकायाः उदरात् द्वौ अर्भकौ जातौ) जैसे शुद्र पत्नी के पेट से दो बच्चे पैदा हुए **(तौ द्वौ)** वे दोनों ही बच्चे **(अभ्रांतितः शूद्रौ)** निश्चय से यद्यपि शूद्र हैं **(तथा)** वैसे ही गरीब-अमीर, ज्ञानी-अज्ञानी सब ही कर्मोपाधि से युक्त होने से सदृश ही बंध अवस्था को प्राप्त हैं, परन्तु **(भ्रमात्मनः भेदः कृतः)** भ्रमिष्ट लोगों के द्वारा उनमें भेद माना जाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि के द्वारा उनमें भेद कल्पित किया जाता है।। 583।।

(जले जम्बालवत्) जैसे जल में काई रहती है **(स्फुटं)** ठीक वैसे ही **(जीवे यावत् अशुचिकर्म)** जीव में जब तक अशुचि कर्म मौजूद है तब तक **(अहं च ते)** मैं और वे सब संसारी जीव **(अविशेषात् वा)** सामान्यरूप से **(नूनं)** निश्चय पूर्वक **(कर्ममलीमसाः)** कर्मों से मलिनीकृत हैं।। 584।।

(असौ) यह **(निर्विचिकित्सकः)** निर्विचिकित्सा नामक **(गुणः)** गुण **(सद्दर्शनस्य अस्ति)** सम्यग्दर्शन का है **(यतः)** क्योंकि **(सः)** वह **(तत्र)** सम्यग्दर्शन के होने पर **(अवश्यं अस्ति)** अवश्य होता है और **(तस्मात् अन्यत्र)** उसके बिना **(क्वचित् न)** कहीं पर भी नहीं होता है।। 585।।

(संमोहात्) मिथ्योदयजन्य व्यामोह के कारण **(सद्विशेषे अपि)** सत् में भेद के होने पर भी **(द्वयोः ऐक्योपलब्धितः)** दोनों में एकता का श्रद्धान करने वाले ऐसे **(कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः)** कर्म के उदय से होनेवाली पर्यायों में राग रखनेवाले अर्थात् पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टि के **(सः गुणः कुतः)** वह निर्विचिकित्सिक गुण कैसे प्रगट हो सकता है।। 586।।

(इति युक्तिपूर्वः उक्तः सद्दर्शनस्य यः गुणः) इस प्रकार युक्तिपूर्वक कहा गया यह जो निर्विचिकित्सित नामक सम्यग्दर्शन का गुण/अंग है **(असौ)** यह यदि **(अविवक्षः)** नहीं कहा जाय तो **(दोषाय न)** किसी प्रकार के दोष के लिए नहीं होता है (अपि) और **(विवक्षः गुणाप्तये न)** कहा जाय तो सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार के विशेष गुण के लाने के लिए भी कारण नहीं होता है।। 587।।

भावार्थ :- उक्त निर्विचिकित्सक गुण से युक्त सम्यग्दृष्टि के ऐसे कुविचार नहीं होते हैं कि मैं तो सम्पत्तियों का आस्पद हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियों का आस्पद है, इसलिए यह मेरे समान नहीं है।

केवल कर्मोदयवश ही त्रस स्थावर जीवों में भेद है, आत्मदृष्टि से नहीं। इसप्रकार सम्यग्दृष्टियों के सब जीवों में सदृशता का द्योतक सम्यग्ज्ञान ही होता है, उक्त प्रकार का भाव नहीं होता है।

जैसे किसी शूद्र पत्नी के दो बच्चे थे उनकी माँ मर गई थी। अत: एक बच्चे का पालन-पोषण ब्राह्मण के यहाँ हुआ और दूसरे का पालन किसी शूद्र के यहाँ हुआ। अत: बड़े होने पर क्रम से अज्ञात पुरुषों द्वारा एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र शब्द से पुकारा जाता है। वास्तव में दोनों ही शूद्र हैं। ठीक वैसे ही कर्मोपाधि से नाना जीवों में जो भेद पाया जाता है; वह सब पर-वस्तु में निजत्व के भ्रम के कारण होता है। वास्तव में सब ही संसारी कर्ममलीमस होने से सदृश हैं।

सम्यग्दृष्टि के निर्विचिकित्सित गुण के प्रभाव से विचार होते हैं कि जब तक जीव के कर्म लगे हुए हैं, तब मैं व अन्य जीव सब ही कर्म-मल से मलिन हैं, अपने में ममता की आसक्ति से अन्य असाता के उदय प्राप्त पुरुषों में ग्लानि करना भ्रमयुक्त चेतना का काम है। इसी की पुष्टि के लिये ऊपर का उदाहरण दिया है।

यह निर्विचिकित्सितक गुण भी सम्यग्दर्शन का एक अंग है। कारण कि सम्यग्दर्शन के होने पर ही वह होता है और उस सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता, अत: सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होने से यह भी एक अंग कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि के ही निर्विचिकित्सित अंग क्यों होता है। इसी को ग्रन्थकार यहाँ दर्शावते हैं कि मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायबुद्धि होता है। आत्मा और कर्म ये दोनों यद्यपि भिन्न हैं, तथापि आत्मा में कर्म के निमित्त से जो देह, वाग् और बुद्धि पाई जाती है, वह आत्मा का स्वरूप है - इस प्रकार की मिथ्या बुद्धि मिथ्यादृष्टि के होती है, कारण यह है कि कर्म और आत्मा में यद्यपि भेद है तो भी मिथ्यात्व के उदय के कारण मिथ्यादृष्टियों के मन में एकत्व का व्यामोह होता है, इसलिये उनके इस प्रकार भ्रम रहता है और इसी कारण से वे विचिकित्सा भाव से ग्रस्त रहते हैं, अत: उनके निर्विचिकित्सिक अंग नहीं होता है।

यहाँ पर 'अविवक्ष:' और 'विवक्ष:' - ये दो शब्द अविवक्षित और विवक्षित अर्थ में आए है, परन्तु मुझे ये दोनों कुछ अशुद्ध मालूम पड़ते हैं विद्वान् लोग विचार करें। जिस प्रकार से इतर अंगों के विषय में ग्रंथकार ने जगह-जगह बताया है, उसी प्रकार इस अंग के विषय में भी बताते हैं कि सम्यग्दर्शन के होने पर आत्मा में निर्विचिकित्सा बुद्धि होती है। इसलिए यह भी अंग है, परन्तु उसके प्रतिपादन से कुछ विशेषता और न प्रतिपादन से कुछ न कुछ सम्यग्दर्शन में हीनता होती है, यह नहीं कहा जा सकता है। यहाँ ग्रन्थकार का ऐसा अभिप्राय मालूम पड़ता है कि यह बाह्य लक्षण है और बाह्य लक्षण सर्वथा ज्ञापक ही होता है - ऐसा नहीं कहा जा सकता है। सम्यग्दर्शन का अन्तरंग लक्षण एक ज्ञान चेतना है।

अमूढ़दृष्टि गुण का स्वरूप
(छन्द 588 से 776 तक)

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि।। 588॥
अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक्।। 589॥
अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः।। 590॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत् किं पुनश्चेद् बहुश्रुतः।। 591॥
अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढ़ता।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः।। 592॥

जिससे श्रृंगारित होने पर सम्यग्दर्शन शोभित हो।
सम्यग्दर्शन के संग में ऐसी अमूढ़-दृष्टि होती।। 1356।।
जो अतत्त्व को तत्त्व मानना मूढ़-दृष्टि का स्व-लक्षण।
जिसे नहीं है मूढ़-दृष्टि यह वह अमूढ़-दृष्टि होता।। 1357।।
अन्य मतों के मिथ्या हेतु-दृष्टान्तों से सिद्ध हुई।
दर्शमोह क्षय से वह दृष्टि मोहोत्पन्न न कर सकती।। 1358।।
सूक्ष्म अन्तरित दूर अर्थ भी यदि कुदृष्टि दिखलाता है।
अल्प ज्ञानि भी मुग्ध न होता बहुश्रुतज्ञ तो कैसे हो।। 1359।।
सूक्ष्म अर्थ-आभासों में भी ज्ञानी मूढ़ नहीं होते।
तो पार्श्वस्थ रु वर्तमान स्थूल अर्थ में भ्रम कैसे।। 1360।।

अन्वयार्थ :- (**यया अलंकृतवपुषिनरि एतद् सम्यग्दर्शनं भाति**) जिससे अलंकृत पुरुष में सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है (**सा सम्यग्दर्शनशालिनी अमूढदृष्टिः अस्ति**) वह सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली अमूढ़दृष्टि कहलाती है।। 588।।

(**स्वलक्षणात्**) मूढदृष्टि के लक्षण की अपेक्षा से (**अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः**) अतत्त्वों में तत्त्व की श्रद्धा को मूढ़दृष्टि कहते हैं (**सा**) वह मूढ़दृष्टि (**यस्य जीवस्य नास्ति**) जिस जीव की नहीं है (**सः अमूढदृक् अस्ति**) वह अमूढदृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि है।। 589।।

(यः) जो **(अपरैः)** अन्य मतवालों के द्वारा **(असद्धेतुदृष्टांतैः मिथ्यार्थः साधितः अस्ति)** मिथ्या हेतु और दृष्टांतों के द्वारा वस्तु का स्वरूप विपरीत रीति से सिद्ध कर रखा है, **(सः अपि)** वह भी **(तत्र दृङ्मोहस्य उदयक्षतेः)** सम्यग्दृष्टियों के मिथ्यात्व का सद्भाव नहीं है, इसलिए **(मोहाय अलं न)** मोह पैदा करने के लिए समर्थ नहीं होता है।। 590।।

(कुदृष्टिभिः सूक्ष्मांतरितदूरार्थे दर्शिते अपि) मिथ्यादृष्टियों द्वारा परमाणु आदि सूक्ष्म, सुमेरु आदि अन्तरित और भूतकालीन रामरावणादि दूरार्थों के प्रत्यक्ष दिखाने पर भी **(अल्पश्रुतः सः)** अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि **(न मुह्येत)** मोहित नहीं होता तो **(बहुश्रुतः चेत् पुनः किं)** यदि बहुश्रुत हुआ तो फिर भला क्यों कर मोहित होगा?।। 591।।

(तत्र अर्थाभासे अपि) उन सूक्ष्मादि अर्थाभासों में भी जब **(उच्चैः)** यथार्थ में **(सम्यग्दृष्टेः)** सम्यग्दृष्टि को **(मूढ़ता न)** मूढ़ता नहीं होती तो फिर **(स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थे अस्य भ्रमः कुतः)** स्थूल और पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थों में इसको भ्रम कैसे हो सकता है?।। 592।।

भावार्थ :- तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि मूढ़ नहीं होती, किन्तु अमूढ़ होती है, इसलिए जिस दृष्टि के द्वारा अलंकृत आत्मा में सम्यग्दर्शन शोभा को प्राप्त होता है वह सम्यग्दर्शन के अविनाभाव से होने वाली अमूढ़दृष्टि है।

अतत्त्वों में तत्त्वों के श्रद्धान को करने वाली जो दृष्टि है, उसे मूढ़दृष्टि कहते हैं। जिसके इस प्रकार की विपरीत दृष्टि नहीं होती, किन्तु तत्त्वों में तत्त्वों के श्रद्धान करनेवाली दृष्टि होती है, उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं। उसी को आगे बताते हैं :-

मिथ्या मतवालों के द्वारा मिथ्या हेतु दृष्टांतों के द्वारा सिद्ध किया हुआ भी अर्थ (पदार्थ) मिथ्यात्व के अभाव में सम्यग्दृष्टियों के मोह को उत्पन्न नहीं कर सकता, अर्थात् जिनके मिथ्यात्व का सद्भाव होता है उनके ही मिथ्या मतवालों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ मोहजनक होते हैं, सम्यग्दृष्टि के नहीं है।

सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मादि पदार्थों का मिथ्यादृष्टि द्वारा युक्ति प्रयुक्ति से प्रत्यक्ष कराया जाये तो भी वह मोहित नहीं होता। उसकी उस विषय में श्रद्धा नहीं होती, कारण सम्यग्दर्शन के बिना न तो समीचीनरूप से वस्तु के स्वरूप का बोध ही होता है और न समीचीन प्रतिपादन ही होता है, अतः मिथ्यादृष्टियों के द्वारा यथार्थ स्वरूप कहा नहीं जाता, इसलिए अल्पज्ञानी अमूढ़दृष्टि को भी उसका श्रद्धान नहीं होता तो बहुश्रुत को तो क्यों कर होवेगा?

सम्यग्दृष्टि के जब मिथ्यादृष्टियों द्वारा बताए हुए सूक्ष्मादि मिथ्या अर्थों में भ्रम नहीं हो सकता है, तो फिर स्थूल तथा पार्श्ववर्ती तथा वर्तमान मिथ्या अर्थों में भ्रम कैसे हो सकता है?

लोकमूढ़ता का स्वरूप

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात्।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा।। 593।।
अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः।।594।।

यही खुलासा है कि रूढ़ि होती अनेक भेदों वाली।
सार-हीन पुरुषों के आश्रित अरु अनिष्ट फलदायी है।। 1364।।
निष्फल दुष्फल अरु अनिष्टफल हेतु-शून्य सम्बद्ध-विहीन-
लौकिक रूढ़ि न छोड़ सके दृग-मोहोदय से कोइ पुरुष।। 1362।।

अन्वयार्थ :- (**तद्यथा**) उसका खुलासा इस प्रकार है कि (**नानाविकल्पसात्**) अनेक विकल्प वाली (**लौकिकी रूढिः अस्ति**) लौकिक रूढ़ि है और वह (**निःसारैः पुम्भिः**) निस्सार पुरुषों द्वारा (**आश्रिता**) आश्रित है (**अथ**) तथा (**अनिष्टफलप्रदा**) अनिष्ट फल को देने वाली है।। 593।।

(**अफला**) निष्फल (**अनिष्टफला**) दुष्फल अर्थात अनिष्ट फलरूप (**हेतुशन्या**) युक्तिरहित (**योगापहारिणी**) अन्वर्थ अर्थ से रहित अथवा असम्बद्ध (**लौकिकी रूढ़िः**) लौकिक रूढ़ि (**दुष्कर्म पातकः**) मिथ्यात्व कर्म के उदय से (**कैश्चित्**) किन्हीं-किन्हीं के द्वारा (**दुस्त्याज्या**) छोड़ी नहीं जाती है।। 594।।

भावार्थ :- उक्त मूढ़ता का खुलासा इस प्रकार है कि यद्यपि देवमूढ़ता गुरुमूढता आदि विकल्पों सहित नानाप्रकार की लौकिक रुढ़ियाँ हैं जो कि निस्सार पुरुषों के द्वारा आश्रित, अनिष्ट फल को देनेवाली, अफल, अनिष्टफलरूप, युक्तिशून्य और असम्बद्ध होती हैं, तथापि वे मिथ्यात्वोदयवश मिथ्यादृष्टियों के द्वारा छोड़ी नहीं जाती है।

देवमूढ़ता

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता।। 595।।

कुदेवाराधना भी लोकमूढ़ता है

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता।। 596।।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका।। 597।।
अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः।। 598।।
नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम्।। 599।।
अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टां वाक्कायचेतसाम्।। 600।।

देव-बुद्धि यदि हो अदेव में अरु अधर्म में धर्म-मति।
गुरु-बुद्धि यदि हो अगुरु में यह देवादि मूढ़ता है।। 1363।।
लौकिक इच्छा पूर्ति के लिए कुधी कुदेवादिक सेवें-
मिथ्या लोकाचार अतः अश्रेया लोक-मूढ़ता है।। 1364।।
लोक मूढ़ता के कारण इस जग में कोई यह माने।
सच्ची पूजा से अम्बिका आदि धन आदि अवश्य देती।। 1365।।
अन्य लोग भी अपनी इच्छा से प्रज्ञापराध द्वारा।
दोष-युक्त देवों को भी निर्दोष समान देव मानें।। 1366।।
उनका कथन प्रसङ्गोचित होने पर भी हम नहीं करें।
निश्चय से विद्वान पुरुष निष्फल विस्तार नहीं करते।। 1367।।
और कुदेवाराधन सम्बन्धी प्रयत्न जो होता है।
उनके द्वारा कहे धर्म में मन-वच-तन की क्रिया अधर्म।। 1368।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस लोक में (**या**) जो (**अदेवे देवबुद्धिः**) कुदेव[7] में देवबुद्धि (**अधर्मे धर्मधीः**) अधर्म में धर्मबुद्धि और (**अगुरौ गुरुबुद्धिः**) कुगुरु में गुरुबुद्धि (**स्यात्**) होती है (**सा**) वह (**देवादिमूढ़ता**) देवादिमूढ़ता (**ख्याता**) कही जाती है।। 595।।

(**ऐहिकश्रेयसे**) इहलोक सम्बन्धी कल्याण के लिये जो (**कुधीः**) मिथ्यादृष्टि जीव (**कुदेवाराधनं**) मिथ्या देवों की आराधना को (**कुर्यात्**) करता है वह केवल (**मृषालोकोपचार-**

7. कुदेव और कुगुरु की जगह अदेव और अगुरु समझना चाहिए।

त्वात्) मिथ्या लोकोपचारवश की जाने के कारण (**अश्रेया**) अकल्याणकारी (**लोकमूढ़ता**) लोकमूढ़ता है।।596।।

(**इह**) इस लोक में (**लोकमूढ़वशात्**) उक्त लोकमूढ़ता के कारण (**एकेषां**) किन्हीं-किन्हीं का (**श्रद्धानं अस्ति**) ऐसा श्रद्धान है कि (**सम्यगाराधिताम्बिका**) अच्छी तरह से आराधित की गई अम्बिकादेवी (**नूनं**) निश्चय से (**धनधान्यप्रदा**) धन-धान्य आदि को देने वाली है।।597।।

(**अपरे अपि दुर्धियः**) अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी (**प्रज्ञापराधतः**) अज्ञान के कारण (**सदोषान् अपि देवान्**) दोषयुक्त देवों को भी (**निर्दोषानिव**) निर्दोष देवों की तरह (**यथाकामं इच्छन्ति**) अपनी-अपनी इच्छानुसार मानते हैं।।598।।

(**प्रसङ्गात् संगतः अपि**) प्रसङ्गानुसार सुसङ्गत होते हुये भी (**तेषां समुद्देशः**) उन कुदेवों का कथन (**न उक्तः**) यहाँ पर नहीं किया है, क्योंकि (**वै**) निश्चय से (**लब्धवर्णः**) विद्वान पुरुष (**निस्सारं**) निष्फल (**ग्रन्थविस्तरं**) ग्रन्थ के विस्तार को (**न कुर्यात्**) नहीं करता है।।599।।

(**तु**) और (**कुदेवानां यावान् आराधनोद्यमः**) जितना भी कुदेवों के आराधना के सम्बन्ध में उद्यम है वह तथा (**तैः प्रणीतेषु धर्मेषु वाक्कायचेतसां चेष्टां**) उनके द्वारा बताये हुये धर्म के विषय में मन वचन और काय की जो-जो चेष्टा है, वह सब भी (**अधर्मः**) अधर्म है।।600।।

भावार्थ :- कुदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और कुगुरु में गुरुबुद्धि को देवादिमूढ़ता कहते हैं अर्थात् देवमूढ़ता, धर्ममूढ़ता और गुरुमूढ़ता कहते हैं।

ऐहिक स्वार्थ सिद्धि के लिये जो कुदेवों की आराधना की जाती है उसको लोकमूढ़ता कहते हैं और वह मिथ्यालोकोपचारवश होने के कारण अकल्याणकारी है।

लोकरूढ़िवश किन्हीं-किन्हीं का ऐसा विश्वास है कि यदि देवी की भले प्रकार उपासना की जावे तो यथेच्छ धन धान्यादिक की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले अज्ञान के कारण लोकरूढ़िवश सदोष देवों को निर्दोष देवों के समान अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मानते हैं।

यद्यपि कुदेवों का विशेष कथन करना प्रसंगवश युक्तियुक्त है, तथापि निरर्थक ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ पर उनका विशेष कथन नहीं किया गया है, क्योंकि कोई भी विद्वान पुरुष निरर्थक अन्य विस्तार को नहीं करता है।

पुरुष प्रमाण से वचन में प्रमाणता होती है, इसलिये सर्वज्ञ देव की श्रद्धा के होने पर उनकी आराधना के उद्यम को तथा उनके द्वारा बताये हुए धर्म में, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करने

को धर्म कहते हैं; तथा इसके विपरीत जो कुदेवों की आराधना है तथा कुदेव प्रणीत धर्म में मन-वचन और काय की जो प्रवृत्ति है, उसे अधर्म कहते हैं।

कुगुरु और सुगुरु का लक्षण

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः।। 601।।
अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात्।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः।। 602।।

जो कुत्सित आचारी शल्य-परिग्रह युक्त कुगुरु हैं वे।
क्योंकि सम्यग्दर्शन और व्रतों से युक्त सुगुरु होते।। 1369।।
कुगुरु कुधर्म विषय में अति विस्तार कथन नहिं करने योग्य।
विधि-पूर्वक है कथन योग्य, जो नहीं कहा वह कथ्य नहीं।। 1370।।

अन्वयार्थ :- (**कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः कुगुरुः**) जिसका चारित्र मिथ्या हो, जो शल्यसहित हो, परिग्रह सहित हो, वह कुगुरु है (**यतः**) क्योंकि (**सम्यक्त्वेन अपि व्रतेन युक्तः सद्गुरुः स्यात्**) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से युक्त गुरु को सद्गुरु कहते हैं।। 601।।

(**अत्र अपि**) कुगुरु और कुधर्म के विषय में भी (**अतीव विस्तरात्**) अत्यन्त विस्तार से (**उद्देशः**) कथन करना (**सर्वतः श्रेयान न**) सर्वथा श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि (**अत्र**) इस विषय में आगम में (**उक्तः विधिः एव**) जो विधि कही गई है वह ही (**आदेयः**) ग्रहण करना चाहिये तथा (**अनुक्तः सः**) जो विधि नहीं कही गई है वह (**आदेयः न**) ग्रहण नहीं करना चाहिये।। 602।।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से युक्त गुरु को सद्गुरु कहते हैं। इसलिये परिग्रह, तीन प्रकार की शल्य और मिथ्या चारित्र को धारण करने वाले को कुगुरु समझना चाहिये।

कुगुरु और कुधर्म के विषय में विस्तार के भय से यहाँ पर ज्यादह कुछ भी कथन नहीं किया गया है। अत: उनके विषय में आगम में जो विधि प्रतिपादित की गई है, उसे ग्रहण करना चाहिये तथा जो विधि प्रतिपादित नहीं की गई है, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये।

सच्चे देव का स्वरूप

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्मतत्।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते।। 603।।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम्।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम्।। 604।।
एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्थाविशेषतः।
संख्येयो नामसन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा।। 605।।

रागादिक सद्भाव दोष अरु ज्ञानावरणादिक हैं कर्म।
जो इनसे सर्वथा रहित हैं उनको सच्चे देव कहें।। 1371।।
उनमें केवलज्ञान और क्षायिक सुख क्षायिक दर्शन है।
क्षायिक वीर्य सहित ये सब मिल अनन्त चतुष्टय होते हैं।। 372।।
सामान्य दृष्टि से देव एक, दो भेद विशेष अपेक्षा से।
नाम अपेक्षा संख्याते अरु गुणापेक्षया देव अनन्त।। 1373।।

अन्वयार्थ :- (**रागादिसद्भावः दोषः**) रागादिक का सद्भावरूप दोष और (**आवरणं च तत् कर्म स्यात्**) प्रसिद्ध ज्ञानावरणादिक कर्म कहलाते हैं तथा (**यत्र**) जिसमें (**तयोः**) उन दोनों का रागादिक और ज्ञानावरणादिक कर्मों का (**निःशेषः अभावः अस्ति**) सर्वथा अभाव पाया जाता है (**असौ**) वह (**देवः उच्चते**) देव कहलाता है।। 603।।

(**अत्र**) सच्चे देव में (**केवलं ज्ञानं**) केवलज्ञान (**क्षायिकं दर्शनं**) क्षायिक दर्शन (**सुखं**) क्षायिक सुख (**च**) और (**वीर्यं**) क्षायिक वीर्य (**इति**) इस प्रकार जो (**सुविख्यातं**) सुप्रसिद्ध (**अनन्त चतुष्टयं स्यात्**) अनन्त चतुष्टय है वह (**अस्ति**) पाया जाता है।। 604।।

(**सः देवः**) वह देव (**सामान्यात्**) देवत्व सामान्यपने से (**एकः**) एक प्रकार का है (**अवस्थाविशेषतः**) अवस्था विशेष से पर्यायों की अपेक्षा से (**द्विधा**) दो प्रकार का है (**नाम सन्दर्भात्**) संज्ञावाचक शब्दों की अपेक्षा से (**सख्येयः**) संख्यात प्रकार का है और (**गुणेभ्यः**) गुणों की अपेक्षा से (**अनन्तधा स्यात्**) अनन्त प्रकार का है।। 605।।

भावार्थ :- जिसमें रागादिक वैभाविक भावों का और ज्ञानावरणादिक कर्मों का सद्भाव नहीं पाया जाता है, उसको सच्चा देव कहते हैं।

रागादिक भावों का तथा ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से उस देव में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस प्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाता है।

वह देव, देवत्व सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार का है। अरहंत तथा सिद्धरूप पर्याय की अपेक्षा से दो प्रकार का है। संज्ञावाचक शब्दों की अपेक्षा से संख्यात प्रकार का है और प्रत्येक गुण की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का है।

एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः।। 606।।
दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन धर्मोपदेशकः।। 607।।
मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः।। 608।।

पर्यायार्थिक नय से हैं अर्हन्त सिद्ध दो भेद प्रसिद्ध।
द्रव्यार्थिक से देव एक है यह शुद्धोपयोग से सिद्ध।। 1374।।
दिव्यौदारिक देह स्थित अरु घाति चतुष्टय रहित हुए।
दर्शन ज्ञान वीर्य सुखमय अर्हन्त धर्म-उपदेशक हैं।। 1375।।
मूर्तिक तन से मुक्त, लोक-अवलोकी, लोक-अग्र संस्थित।
ज्ञानादिक गुण अष्ट युक्त निष्कर्म देव हैं सिद्ध प्रसिद्ध।। 1376।।

अन्वयार्थ :- (**सः देवः**) वह देव (**शुद्धोपलब्धितः द्रव्यार्थात्**) शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से (**एकः सिद्धः**) एक प्रकार का प्रसिद्ध है-एक प्रकार का माना गया है (**च**) और (**पर्यायार्थात्**) पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से (**अर्हन्**) अर्हन्त (**च**) तथा (**सिद्धः**) सिद्ध (**इति च**) इस तरह (**द्विधा मतः**) दो प्रकार का माना गया है।। 606।।

(**यः**) जो (**दिव्यौदारिक देहस्थः**) परम दिव्य औदारिक शरीर को धारण करने वाला है (**धौतघातिचतुष्टयः**) चारों घातिया कर्मों से रहित है (**ज्ञानदृगवीर्यसौख्याढ्यः**) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य इन चार अनन्त चतुष्टयों से सहित है और (**धर्मोपदेशकः**) धर्म तीर्थ का प्रवर्तक है (**सः**) वह (**अर्हन**) अर्हन्त देव है।। 607।।

(**यः**) जो (**मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तः**) मूर्तिक शरीर से रहित है (**लोकः**) सम्पूर्ण चर-अचर पदार्थों का युगपत् जानने तथा देखने वाला है (**लोकाग्रसंस्थितः**) लोकाकाश के अग्रभाग में विराजमान है (**ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतः**) ज्ञानादिक अष्ट गुणों से युक्त है और (**निष्कर्मा**) संपूर्ण कर्म मल से रहित है (**सः**) वह (**सिद्धसंज्ञकः**) सिद्ध नामक देव है अर्थात् उसे सिद्ध कहते हैं।। 608।।

भावार्थ :- वह देव, द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत सामान्य कथन की अपेक्षा से एक प्रकार का है और पर्यायार्थिक नय के विषयभूत विशेष कथन की अपेक्षा से अरहन्त तथा सिद्ध इस तरह दो प्रकार का है।

जो परम दिव्य औदारिक शरीर में स्थित है, विराजमान है, चार घातिया कर्मों का नाश करने वाला है, अनन्त चतुष्टय से परिपूर्ण है और समवसरणादि बाह्य विभूति से सहित होकर त्रिजगत के कल्याण के लिये मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाला है उसको अरहन्त कहते हैं।

जो मूर्तिक शरीर रहित है, सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् ज्ञाता-दृष्टा है, लोक के अग्रभाग में विराजमान है, आठों कर्मों के अभाव से उत्पन्न होने वाले अनन्त ज्ञानादिक आठ गुणों से युक्त है और कर्म मल से रहित है उसको सिद्ध परमात्मा कहते हैं।

अर्हन्त देव के अनेक सार्थक नाम

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोर्धिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात्।। 609।।
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतवात्कथंचन।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात्।। 610।।
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात्।। 611।।
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकाविधत्वतः।। 612।।

जगत् पूज्य होने से हैं अर्हन्त कर्मनाशक जिन हैं।
महादेव देवाधिदेव हैं जग को सुखदायक शंकर।। 1377।।
सकल अर्थ में व्याप्त कथञ्चित् ज्ञान-द्वार से विष्णु हैं।
है ब्रह्मज्ञ अतः ब्रह्मा अरु दुखनाशक हैं अतः हरि।। 1378।।
इत्यादिक बहु-नाम तथापि स्वलक्षण से नहीं अनेक।
क्योंकि प्रसिद्ध साधनों द्वारा गुण अनन्तमय एक पदार्थ।। 1379।।
चौबीसों तीर्थंकर आदि-अन्त-पर्यन्त अनन्त हुए।
एकरूप देवत्व किन्तु उनके बहुत्व में दोष नहीं।। 1380।।

अन्वयार्थ :- (**जगत्पूज्यः इति**) वह देव जगत्पूज्य होने से (**अर्हन्**) अरहन्त कहलाता है (**कर्मारिशातनात्**) कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने से (**जिनः**) जिन कहलाता है (**अधिदेवत्वात्**) देवाधिदेव होने से (**महादेवः**) महादेव कहलाता है (**अभिसुखावहात्**) जगत के प्राणियों को सुख का देने वाला होने से (**शंकरः**) शंकर कहलाता है।। 609।।

(ज्ञानेन) ज्ञान के द्वारा **(कथञ्चन)** कथञ्चित् **(सर्वार्थ विस्तृतत्वात्)** सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक होने से **(विष्णुः)** विष्णु कहलाता है **(ब्रह्मज्ञरूपत्वात्)** ब्रह्मज्ञरूप होने से आत्मा के स्वरूप को जानने वाला होने से **(ब्रह्मा)** ब्रह्मा कहलाता है और **(दुःखापनोदनात्)** जगत के दुःखों का नाश करने वाला होने से **(हरिः)** हरि कहलाता है।। 610।।

(इत्यादि अनेकनामा अपि) इस प्रकार वह अर्हन्त देव अर्हन् इत्यादिक अनेक नामवाला होकर के भी **(स्वलक्षणात्)** अपने लक्षण की अपेक्षा से **(अनेकः न अस्ति)** अनेक नहीं है **(यतः)** क्योंकि **(सिद्धसाधनात्)** प्रसिद्ध साधनों के द्वारा **(अनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्)** अनन्त गुण स्वरूप एक ही द्रव्य है तथा इसी तरह।। 611।।

(चतुर्विंशतिः इत्यादि) चौबीस तीर्थंकर आदि से लेकर **(अन्तं यावत्)** अन्त पर्यंत **(अनंत)** देव में अनन्तपना पाया जाता है परन्तु **(देवत्वेकविधत्वतः)** देवत्व को एक प्रकार का ही होने से **(तद्बहुत्वं)** देव का बहुपना **(दोषाय न)** दोष के लिए नहीं हो सकता है।। 612।।

भावार्थ :- वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अर्हत कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाला है इसलिए जिन कहलाता है, देवों का देव है इसलिए महादेव कहलाता है, सम्पूर्ण जीवों को सुख देने वाला है इसलिए शंकर कहलाता है, ज्ञान की अपेक्षा से कथंचित् सम्पूर्ण पदार्थगत है इसलिए विष्णु कहलाता है, शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानने वाला है इसलिए ब्रह्मा कहलाता है और जगत के दुःखों का नाश करने वाला है इसलिए हरि कहलाता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा से कहा जाने वाला वह देव यद्यपि संज्ञावाचकों की दृष्टि से संख्यात भेद वाला कहा जाता है, तथापि देव के लक्षण की अपेक्षा से वह एक ही प्रकार का है, क्योंकि अनन्त गुणों के पिंड को द्रव्य कहते हैं, इसलिये किसी भी द्रव्य के गुणों की अपेक्षा से जो विवक्षित भेद हैं, वे वास्तविक भेद नहीं कहलाते हैं तथा इसी प्रकार यद्यपि चौबीस तीर्थंकर आदि से लेकर अनन्त संख्यापर्यंत देव के विषय में भेद विवक्षा की जा सकती है, तथापि देवत्व सामान्य की अपेक्षा से वह देव एक ही प्रकार का है। अतः जो देव के विषय में भेद विवक्षा से कहा हुआ बहुत्व है, वह दोषघातक नहीं माना जा सकता है।

विशेष स्पष्टीकरण

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता।। 613॥

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनंतधा।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम्।। 614॥

न यतः सर्वतो मुख्यं संख्यातस्येव संभवात्।
अधिकस्य ततो वाचाऽव्यवहारस्य दर्शनात्।। 615।।[8]

शब्द श्रुत स्थूल है

वृद्धेः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत्।
द्वादशाङ्गाङ्गवाच्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम्।। 616।।

दीप अनेक तथापि एक दीपत्व हानि नहिं कर सकते।
क्योंकि एक प्रकार दीप है किन्तु अनेक प्रकार नहीं।। 1381।।
एक-एक गुण मुख्य करें तो नाम अनन्त प्रकार बनें।
इसी न्याय से देव अनन्त प्रकार करो नहिं यह शंका।। 1382।।
क्योंकि शब्द-विषयक नय से संख्यात-भेद ही हो सकते।
इससे अधिक वचन-गोचर, नहिं नाम कभी भी हो सकते।। 1383।।
इसीलिए पूर्वाचार्यों ने तत्त्व, वचन से कहा अगम्य।
द्वादशांग अरु अंग-बाह्य स्थूल अर्थ-गोचर है गम्य।। 1384।।

अन्वयार्थ :- (**प्रदीपानां**) प्रदीपों की (**अनेकत्वं**) अनेकता (**प्रदीपत्वहानये न**) प्रदीपत्व की हानि के लिये समर्थ नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अल**) इन दीपकों में (**एकविधत्वं स्यात् एक प्रकारतः**) एक रूपता ही है (**नानाप्रकारता न स्यात्**) व्यक्तियों के अनेक होने पर भी अनेक प्रकारता नहीं है।। 613।।

(**न्यायात्**) न्यायानुसार (**एकं गुणं प्रति एकैक च नाम भवति इति**) एक-एक गुण की मुख्यता से देव का एक-एक नाम अलग-अलग हो जायेगा इसलिये (**यथासंख्यं नामतः अपि तु**) यथासंख्य रीति से नामों की अपेक्षा से भी तो (**अनन्तधा अस्तु**) देव अनन्त प्रकार होना चाहिये ऐसी (**आशंक्यं न च**) आशंका भी नहीं करना चाहिये।। 614।।

(**नयतः**) क्योंकि शब्द की अपेक्षा को विषय करने वाले नय की अपेक्षा से (**सर्वतोमुख्य-संख्यातस्यैव संभवात्**) अधिक से अधिक उत्कृष्ट संख्यात तक ही नाम हो सकते हैं (**ततो अधिकस्य अवाचा व्यवहारस्य दर्शनात्**) उत्कृष्ट संख्यात से अधिक शब्द कभी भी प्रतिपादित नहीं होते हैं।। 615।।

---

8. कारंजा प्रति में छन्द 615 के सन्दर्भ से त्रिलोकसार ग्रन्थ के आधार से अलौकिक गणित के अन्तर्गत जघन्य परीतासंख्यात का वर्णन किया गया है।

(अतः) इसलिये **(वृद्धैः)** पूर्वाचार्यों ने **(सूत्रे)** सूत्र में **(प्रोक्तं)** कहा है कि **(यत्)** जो **(तत्त्वं)** तत्त्व है वह **(वागतिशायि)** वचनातीत है **(च)** और **(द्वादशांगांगबाह्यं)** द्वादशांग तथा अङ्गबाह्यरूप **(श्रुतं)** शब्द-श्रुतज्ञान **(स्थूलार्थगोचरं)** स्थूल पदार्थ को विषय करने वाला है।।616।।

भावार्थ :- जैसे एकजाति के नाना दीपों में एक प्रदीपत्व जाति ही रहती है नाना नहीं; वैसे ही कर्म मल से रहित देवों में एक देवत्व जाति है नाना नहीं। इसलिये प्रदीपों के समान देवों की अनेकता भी सामान्यपने से कहे जाने वाले देवत्व के प्रतिपादन के लिये बाधक नहीं हो सकती है।

यहाँ पर कोई ऐसी भी शंका न करे कि एक गुण के अनुसार एक-एक नाम मान लेने से शब्द दृष्टि-नाम दृष्टि से भी देव के अनन्त भेद मान लेना चाहिये, कारण बोलने योग्य शब्द उत्कृष्ट संख्यात से अधिक नहीं हो सकते हैं, इसलिये अरहन्त आदि शब्दों द्वारा नाम की अपेक्षा से संख्यात ही भेद हो सकते हैं। असंख्यात और अनन्त भेद भी हो सकते हैं, परन्तु वे भेद व्यक्ति भेद व गुण भेद के कारण आगम में माने हैं, नाम भेद से नहीं।

तत्त्व जो द्वादशांग गोचर कहा जाता है वह सब स्थूल दृष्टि की अपेक्षा से कहा जाता है क्योंकि वास्तव में तत्त्व वचन के अगोचर ही है।

सिद्धों का स्वरूप

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम्।। 617।।
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः।
अप्यगुरुलघुत्वंच सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः।। 618।।
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः।। 619।।
अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः।। 620।।

सकल कर्म क्षय से होता है क्षायिकज्ञान और दर्शन।
आत्मा से उत्पन्न वीर्य सुख यही चतुष्टय कहे अनन्त।। 1385।।
सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व-रु स्वतः सिद्ध सम्यक्त्व कहे।
और अगुरुलघुत्व सिद्ध प्रभु के गुण आठों कहे गए।। 1386।।

इस प्रकार गुण पिण्ड अनन्त-रु अष्ट-कर्म से रहित हुए।
दोष अठारह रहित देव ही सेवनीय हैं अन्य नहीं।। 1387।।
वास्तव में वे ही सद्गुरु हैं श्रेय मार्ग का दें उपदेश।
क्योंकि वही साक्षात् मोक्षपथ के नेता भगवान वही।। 1388।।

अन्वयार्थ :- (**कृत्स्नकर्मक्षयात्**) सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला (**क्षायिकं ज्ञानं**) क्षायिक ज्ञान (**पुनः**) और (**दर्शनं**) क्षायिक दर्शन (**अत्यक्षं सुखं**) अतींद्रिय अनन्त सुख (**च**) तथा (**आत्मोत्थं वीर्य**) आत्मा से उत्पन्न होने वाला अनन्त बल (**इति चतुष्टयं**) इस प्रकार अनन्त चतुष्टय (**च**) और (**सम्यक्त्वं**) क्षायिक सम्यक्त्व (**सूक्ष्मत्वं**) सूक्ष्मत्व (**च**) तथा (**स्वतः एव अव्याबाधगुणः**) स्वतःसिद्ध अव्याबाधत्व (**अपि च**) और (**अगुरुलघुत्वं**) अगुरुलघुत्व (**'इति' च**) इस प्रकार सामान्यरूप से (**सिद्धे**) सिद्ध भगवान में (**अष्टगुणाः स्मृताः**) अष्ट गुण माने गये हैं।।। 617-618।।

(**इत्यादि अनन्तधर्माख्यः**) इस प्रकार ज्ञानादिक अनन्त गुणों से परिपूर्ण (**कर्माष्टक-विवर्जिनः**) ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित और (**अष्टादशभिः दोषः**) क्षुधादिक अठारह दोषों से (**मुक्तः**) निर्मुक्त/रहित (**देवः सेव्यः**) देव ही सेवन करने के योग्य हैं/पूज्य हैं, किन्तु (**इतरः न च**) अन्य देव पूज्य नहीं हैं।। 619।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**स एव गुरुः अस्ति**) वही देव सद्गुरु है (**श्रेयोमार्गोपदेशकः**) कल्यागमार्ग का उपदेश देने वाला (**तु**) तथा (**भगवान्**) सर्वज्ञ है (**यतः**) क्योंकि वह (**साक्षात् मोक्षस्य वर्त्मनः नेता**) साक्षात् मोक्षमार्ग का नेता है।।। 620।।

भावार्थ :- अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये सिद्धों के आठ गुण हैं।

जो देव ज्ञानादिक अनन्त गुणों से युक्त हैं, आठ कर्मों से मुक्त हैं तथा क्षुधादिक अठारह दोषों से रहित हैं वही पूज्य है, किन्तु जो इससे विपरीत है, वे पूज्य नहीं हैं।

वही देव वास्तव में गुरु है, श्रेयमार्ग का उपदेशक है तथा भगवान है क्योंकि वह साक्षात् मोक्षमार्ग का नेता है।

गुरु का स्वरूप

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायात् नान्योऽवस्थाविशेषभाक्।। 621॥

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ।। 622 ।।
भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेश्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात्।। 623 ।।

उनसे पूर्व वही रूपधारी मुनि यद्यपि हैं छद्मस्थ।
भावी नय से गुरु-विशेष हैं वही गुरु हैं अन्य नहीं।। 1389।।
यहाँ विशेष अवस्था उनकी युक्ति स्वानुभव आगम से।
क्योंकि शेष संसारी जीवों से उनमें अतिशय होता।। 1390।।
होने वाला कार्य हो गया भावी नैगम नय कहता।
क्योंकि अवश्यंभावी होने की व्याप्ति से साधनसिद्ध।। 1391।।

अन्वयार्थ :- (**तेभ्यः अर्वाक्**) उन सिद्ध और अर्हन्तों की अवस्था से पहले की अवस्था वाले (**तद्रूपधारिणः**) उसी देव के रूपधारी (**छद्मस्थरूपाः अपि**) छट्टे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहने वाले मुनि भी (**गुरवः स्युः**) गुरु कहलाते हैं क्योंकि वे भी (**न्यायात्**) भावी नैगमनय की अपेक्षा से (**गुरोः अवस्था विशेषभाक्**) उक्त गुरु की अवस्था विशेष को धारण करने वाले हैं (**अतः अन्यः न**) अतः अन्य गुरु नहीं हैं ।। 621 ।।

(**युक्तिस्वानुभवागमात्**) युक्ति स्वानुभव और आगम से (**अत्र**) आचार्यादि मुनियों में (**अवस्थाविशेषः अस्ति**) देव की पूर्ववर्ती विशेष अवस्था ही है, अतः वे भी गुरु शब्द से कहे जाते हैं, क्योंकि (**शेषसंसारिजीवेभ्यः**) देव के बिना शेष संसारी जीवों की अपेक्षा से (**तेषां एव**) उन आचार्यादिक में ही (**अतिशयनात्**) अतिशय पाया जाता है।। 622 ।।

(**भाविनैगमनयायत्तः**) भावीनैगम नय की अपेक्षा से (**भूष्णुः**) होने वाला (**तद्वान् इव इष्यते**) हो चुके हुये के समान माना जाता है, क्योंकि ऐसा कहना (**अवश्यंभावतः**) अवश्यंभावी (**व्याप्तेः सद्भावात्**) व्याप्ति के पाये जाने से (**सिद्धसाधनात्**) युक्तियुक्त है।। 623 ।।

भावार्थ :- छट्टे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में रहने वाले छद्मस्थ मुनियों को भी भाविनैगमनय की अपेक्षा से देव कह सकते हैं*, क्योंकि मुनि अवस्था देव की ही पूर्व अवस्था है। देव की अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न अन्य अवस्था नहीं है। अतः मुनि भी सद्गुरु है, असद्गुरु नहीं है।

* मूल छन्द में छद्मस्थ मुनियों को भी भावी नैगमनय से गुरु कहा है देव नहीं, क्योंकि छन्द 620 में अर्हन्तों और सिद्धों को ही वास्तव में सद्गुरु कहा है। मुनि को भावी नैगमनय से देव भी कहा जा सकता है, परन्तु यहाँ वह विवक्षा नहीं है।

छट्टे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में रहने वाले आचार्यादिक छद्मस्थ मुनियों में उक्त देव की अवस्थाविशेषपना युक्ति, स्वानुभव तथा आगम से भी सिद्ध है क्योंकि शेष सम्पूर्ण जीवों से उन छद्मस्थ मुनियों में देवत्व की ओर झुकने वाली अतिशय युक्त विशेषता पाई जाती है।

जिस अवस्था के अनन्तर आगामी जिस अवस्था का होना निश्चित होता है, उस अवस्था को वर्तमान में भी कहना भावीनैगम नय से युक्तियुक्त सिद्ध होता है – इस न्याय से छद्मस्थ मुनियों को भी आगामी काल में निश्चय से सुदेवत्व की प्राप्ति होगी, इसलिए उनमें उस आगामी देवत्व की भावीनैगमनय से विवक्षा करके उनको सद्गुरु कहना असंगत नहीं है, किन्तु युक्तियुक्त ही है।

गुरु रत्नत्रयधारी होते हैं

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः।। 624।।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात्।। 625।।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरन्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि।। 626।।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम्।। 627।।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः।। 628।।

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः।। 629।।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत्।। 630।।

उनमें दर्शन-मोहोपशम से सम्यग्दर्शन होता है।
चरित-मोहनी के आंशिक अभाव से चारित होता है।। 1392।।

इसीलिए उनमें स्वाभाविक और हेतु दिखने से सिद्ध।
मोहोदय है नहीं अतः उसका भी कार्य असम्भव है।। 1393।।

उनकी विख्यात शुद्धता ही वास्तव में हेतु निर्जरा का।
संवर का भी कारण एवं मुक्ति प्राप्ति का भी कारण।। 1394।।
वही शुद्धता ही वास्तव में संवर निर्जर एवं मोक्ष।
क्योंकि शुद्ध भावों से अविनाभावी यही निर्जरा द्रव्य।। 1395।।
आत्मा का जो शुद्ध भाव है वही निर्जरा का कारण।
वह ही परम पूज्य है उससे युक्त आत्मा ही गुरु है।। 1396।।
मात्र दोष का क्षय होना ही गुरुपने का कारण है।
क्योंकि जगत्-साक्षी ही शिवपथ-नेता होता अन्य नहीं।। 1397।।
रागादिक अशुद्ध भावों का कारण मोह कर्म ही है।
इसीलिए छद्मस्थ दशा से नहिं गुरुत्व की हानि है।। 1398।।

अन्वयार्थ :- (**तेषु**) उन छद्मस्थ गुरुओं में (**मिथ्याकर्मोपशान्तितः**) मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से (**सद्दर्शनं अस्ति**) क्षायिकादि सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं और (**देशतः चारित्रावरणक्षतेः**) एकदेश चरित्रमोहनीय के अभाव से (**सम्यक्चारितं अस्ति**) सम्यक्चारित्र पाया जाता है।। 624।।

(**ततः**) इसलिए उन गुरुओं में (**वै**) निश्चय करके (**निसर्गात्**) स्वभाव से और (**हेतुदर्शनात्**) हेतुदर्शन से (**शुद्धत्वं**) शुद्धपना (**सिद्धं**) सिद्ध है क्योंकि (**मोहकर्मोदयाभावात्**) मोहनीय कर्म के उदय का अभाव होने से (**तत्कार्यस्य अपि**) मोहोदयजन्य रागादिकरूप कार्य का होना भी (**असंभवात्**) असंभव है।। 625।।

(**सुविख्यातं**) सुप्रसिद्ध (**तच्छुद्धत्वं**) उनकी वह शुद्धता ही (**अंजसा**) वास्तव में (**निर्जराहेतुः**) निर्जरा का कारण है (**अपि**) और (**संवरस्य निदानं**) संवर का मूल कारण है तथा (**क्रमात्**) क्रम-क्रम से (**निर्वाणभाक् अपि**) मोक्ष को भी प्राप्त कराने वाली है।। 626।।

(**यद्वा**) अथवा (**अर्थात्**) वास्तव में (**स्वयं**) स्वतः (**तत् एव**) वह शुद्धता ही (**निर्जरादि-त्रयं**) निर्जरा संवर और मोक्ष है (**यतः**) क्योंकि (**शुद्धभावाविनाभावि**) शुद्ध भावों से अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला (**तत् त्रयं अपि**) वह निर्जरात्रिक ही (**द्रव्यनाम**) शुद्ध द्रव्य है।। 627।।

(**यः**) जो (**चिदात्मनः**) आत्मा का (**शुद्धः भावः**) शुद्धभाव (**निर्जरादि निदानं**) निर्जरादिक का कारण है (**स एव**) वह ही (**परमार्ह अस्ति**) परमपूज्य है और (**तद्वान् आत्मा**) वह शुद्धभाव से युक्त आत्मा (**परं गुरुः**) केवल गुरु कहलाता है।। 628।।

(**न्यायात्**) न्यायानुसार (**गुरुत्वहेतुः**) गुरुपने का कारण (**केवलं दोषसंक्षयः स्यात्**)

केवल दोषों का क्षय हो जाना है क्योंकि जो (**निर्दोषः**) दोष रहित है वही (**जगतः साक्षी**) सर्वदर्शी-सर्वज्ञ और (**मार्गस्य नेता**) मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है, किन्तु (**इतरः न**) जो दोषयुक्त है वह नहीं हो सकता है।। 629।।

(**मुनेः**) मुनि की (**एषा**) यह (**छद्मस्थता अपि**) अल्पज्ञता भी (गुरुत्वक्षतये) गुरुपने की हानि के लिये (**अलं न**) समर्थ नहीं हो सकती है क्योंकि (**रागादि अशुद्धभावानां**) रागादिक अशुद्ध भावों का (**हेतुः**) कारण (**तत्**) वह (**मोहकर्म**) एक मोहनीय कर्म ही है।। 630।।

भावार्थ :- छद्मस्थ मुनियों को सद्गुरु कहने में कारण यह है कि उनके मिथ्यादर्शन के अनुदय से सम्यक्त्व और यथायोग्य चारित्रमोह के अनुदय से आंशिक सम्यक्चारित्र पाया जाता है।

इसलिए उन छद्मस्थ मुनियों में स्वभाव से तथा युक्ति से भी शुद्धता सिद्ध होती है, कारण कि उनके दोनों प्रकार के मोह का अनुदय रहता है। इसलिये उस मोह के अभाव से उत्पन्न होने वाला जो शुद्धतारूप कार्य है वह उनके देखा जाता है।

और उन छद्मस्थ गुरुओं की वह शुद्धता उनके बद्ध कर्मों की निर्जरा तथा आनेवाले कर्मों के संवर का कारण होती है और क्रम-क्रम से मोक्ष का भी कारण होती है।

शुद्धता और संवर निर्जरा तथा मोक्ष - इन तीनों का अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिये शुद्धता को ही संवरत्रिक तथा संवरत्रिक को ही शुद्धता कहने में कोई बाधा नहीं आती है, कारण कि इसी अभिप्राय ही से आगम में संवर निर्जरा और मोक्ष को शुद्ध द्रव्य कहा है।

वास्तव में कर्मों के संवर निर्जरा और मोक्ष का मूल कारण जो शुद्ध नय है, वह भाव ही परमपूज्य है तथा उस शुद्ध भाव को धारण करने वाला आत्मा ही परम गुरु कहलाता है।

युक्तिपूर्वक विचार करने से सद्गुरुपने का कारण केवल रागादिक दोषों का अभाव ही कहा जा सकता है, क्योंकि रागादि दोषों से रहित आत्मा ही सर्वज्ञ और मोक्षमार्ग का नेता सिद्ध हो सकता है अन्य नहीं।

छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के मुनियों को सम्पूर्ण घातिया कर्मों का नाश न होने से छद्मस्थ कहते हैं, परन्तु उनकी इस छद्मस्थ अवस्था में भी दोनों ही प्रकार के मोह का यथासंभव अनुदय रहता है। इसलिये उनके अंशरूप से शुद्धता और शुद्धता के निमित्त से यथासंभव संवर तथा निर्जरा भी होती है और संवर तथा निर्जरा के होते रहने से कालान्तर में मोक्ष भी उनको प्राप्त हो जाता है। अतः छद्मस्थ अवस्था गुरुपने की बाधक नहीं कही जा सकती है, कारण कि गुरुत्व का बाधक केवल एक मोहकर्म का उदय ही माना है और वह मोह का उदय छद्मस्थ मुनियों के नहीं रहता है, किन्तु उसका यथासंभव क्षयोपशमादिक रहता है।

शंका

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत्।। 631।।

समाधान

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च।
मोहकर्माविनाभूतं बंधसत्वोदयक्षयम्।। 632।।
तद्यथा बध्यमानेऽस्मिस्तद्बंधो मोहबंधसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः।।633।।
नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः।। 634।।
नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात्।। 635।।
ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम्।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता।। 636॥

ज्ञान दर्शनावरण और वीर्यान्तराय निश्चित उनमें।
तो निश्चय से उन गुरुओं में कहो शुद्धता कैसे हो।। 1399।।
सत्य कहा पर यह विशेषता है कि उक्त घातित्रय का।
बन्ध सत्व अरु उदय तथा क्षय अविनाभाव मोह से है।। 1400
मोहनीय बँधने पर ही उसके संग में हो उनका बन्ध।
उसके सत्त्व उदय क्षय होने पर इनके सत्त्वादिक त्रय।। 1401
आवरणादिक क्षय से पहले मोह-कर्मक्षय नहीं कहो।
आँशिक अथवा पूर्ण मोहक्षय हो तो वैसा क्षय उनका।। 1402।।
नहिं असिद्ध है ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्म निर्जर होते।
दर्शन-मोहोदय अभाव से क्रमशः गुण-असंख्य होती।। 1403।।
इसीलिए यद्यपि छद्मस्थों को कर्म-त्रय होते हैं।
किन्तु मोह अरु रागद्वेष के असद्भाव से गुरु होते।।1404।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**चेत्**) यदि (**तत्रापि**) उन छद्मस्थ गुरुओं में भी (**आवृत्तिद्वयं कर्म**) ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म (**च**) और (**वीर्यविध्वंसिकर्म**) अन्तरायकर्म (**अवश्यं अस्ति**) अवश्य है तो फिर (**वै**) निश्चय करके (**अत्र**) इन छद्मस्थ गुरुओं में (**शुद्धत्वं**) शुद्धता (**कुतः**) कहाँ से आ सकती है ?।। 631 ।।

(**सत्यं**) शंकाकार का कहना ठीक है (**किंतु**) परन्तु (**विशेषः अस्ति**) इतनी विशेषता है कि (**प्रोक्तकर्मत्रयस्य च**) उक्त तीनों कर्मों का (**बन्धसत्वोदयक्षयं**) बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय (**मोहकर्माविनाभूतं**) मोह कर्म के साथ अविनाभूत है/अविनाभावी है अर्थात् मोहकर्म के साथ-साथ ही उक्त ज्ञानावरणादिक तीनों ही कर्मों का बन्ध, उदय, सत्त्व तथा क्षय होता है।। 632 ।।

(**तद्यथा**) पूर्वोक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि (**अस्मिन् बध्यमाने**) उसी मोहनीय कर्म का बन्ध होने पर (**मोहबंधसात्**) उसी मोहकर्म के बन्ध के आधीन साथ-साथ (**तद्बन्धः**) ज्ञानावरणादिक का बन्ध होता है (**तत्सत्त्वे**) मोहनीय कर्म का सत्व होने पर (**एतस्य**) ज्ञानावरणादिक का (**सत्त्वं**) सत्त्व रहता है (**पाके**) उदय होने पर (**पाकः**) उदय होता है और (**क्षये**) क्षय होने पर (**क्षयः**) क्षय होता है।। 633 ।।

(**छद्मस्थावस्थायां**) छद्मस्थ अवस्था में (**अर्वाक एव**) ज्ञानावरणादिक क्षय होने के पहले ही (**तत् क्षयः अस्ति**) मोहनीय कर्म का क्षय होता है ऐसी (**नोह्यं**) आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि (**मोहक्षयस्य अंशतः**) मोहनीय कर्म का अंशरूप से क्षय होने पर (**अंशात् क्षयः**) ज्ञानावरणादि का भी अंशरूप से क्षय होता है और (**सर्वतः**) मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर (**सर्वतः क्षयः**) ज्ञानावरणादिक का भी सम्पूर्ण रूप से ही क्षय हो जाता है।। 634 ।।

(**सद्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि के (**कृत्स्नकर्मणां**) ज्ञानावरणादि के सम्पूर्ण कर्मों की (**निर्जरा-तत्त्वं**) निर्जरा (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**आदृङ्मोदयात्**) दर्शन मोहनीय कर्म उदय का अभाव होने तक (**तत् च**) वह निर्जरा तत्त्व भी (**क्रमात्**) क्रम से उत्तरोत्तर (**असंख्यगुणं**) असंख्यात गुणा माना गया है।। 635 ।।

(**ततः**) इसलिए (**यद्यपि**) यद्यपि (**सांप्रतं**) छद्मस्थ वीतराग गुरुओं के (**प्रोक्तं कर्मत्रयं अस्ति**) उक्त ज्ञानावरणादिक तीनों ही कर्मों का सद्भाव पाया जाता है, तथापि (**रागद्वेषविमोहानां अभावात्**) राग, द्वेष और मोह का अभाव होने से (**गुरुता मता**) गुरुपना माना ही जाता है।। 636 ।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि यद्यपि छद्मस्थ गुरुओं के यथायोग्य मोहकर्म का अनुदय रहता है, परन्तु ज्ञानावरण और दर्शनावरण अन्तराय कर्म का तो सद्भाव पाया ही जाता है इसलिए उनके शुद्धता कैसे सिद्ध हो सकती है ?

शंकाकार का कहना ठीक है कि छद्मस्थों को ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मों का सद्भाव पाया जाता है, परन्तु इतनी विशेषता है कि घातिया कर्मों में से केवल एक मोह कर्म में ही आत्मा में विपरीत स्वादरूप परिणति करने की सामर्थ्य है और उसका उदय रहने पर ही इतर/अन्य[9] तीव्र ज्ञानावरणादिक कर्मों के उदय में अत्यधिक तीव्रतादि रहती है; किन्तु उस मोह के अनुदय के होते ही उन तीनों कर्मों में जो आत्मा के ज्ञानादिक गुणों के घातने की शक्ति है वह हीन पड़ जाती है, कारण कि मोह का अभाव होते ही ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मों का भी यथासंभव अभाव हो जाता है; इसलिए मोह के उदयादिक के साथ ही इतर तीन घातिया कर्मों के उदयादि का अविनाभाव माना है अर्थात् जितने अंशों में मोह के अनुदय से आत्मा में शुद्धता प्रगट होती है उतने ही अंशों में इतर तीनों घातिया कर्मों का भी अभाव होता है और तदनुसार आत्मा के ज्ञानादिक गुणों में भी यथायोग्य विशेषता प्रगट होती है अतएव ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मों का सद्भाव पाया जाने से छद्मस्थ मुनियों के शुद्धता कैसे हो सकती है यह शंका करना ही ठीक नहीं है।

उक्त कथन का खुलासा इसप्रकार है कि मोह के बन्ध, उदय, सत्त्व और क्षय के अनुसार ही ज्ञानावरणादि तीनों कर्मों का यथायोग्य बन्ध, उदय, सत्त्व तथा क्षय होता है।

यहाँ ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि 'छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्म के पहले ही मोह का क्षय हो जाता है। इसलिए पूर्व श्लोक में कहा हुआ मोह के उदयादिक के साथ इतर कर्मत्रिक के उदयादिक का अविनाभाव सिद्ध नहीं होगा।' **क्योंकि सर्वत्र ही मोह के अंशरूप से क्षय होने पर नियम से इन तीनों कर्मों का आंशिक क्षय और सम्पूर्ण क्षय होने पर पूर्ण क्षय होता है।**

सम्यक्त्व की उत्पत्ति से लेकर मोहनीय के पूर्ण क्षय होने तक आठों ही कर्मों की प्रत्येक गुणस्थान में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है, इसलिए यदि मोह के आंशिक क्षय के साथ इतर तीन घातिया कर्मों के आंशिक होना असिद्ध होता तो गुणश्रेणी निर्जरा में सब कर्मों की यथायोग्य निर्जरा का युगपत् कथन नहीं पाया जाता, किन्तु चारों ही घातिया कर्मों की निर्जरा मोह की क्षयोपशमादिक अवस्था के अनुपात से ही गुणश्रेणी निर्जरा में पाई जाती है, इसलिए मोह के उदयादिक के साथ इतर ज्ञानावरणादिक तीनों कर्मों के उदयादिक का अविनाभाव सम्बन्ध युक्तियुक्त ही है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि यद्यपि छद्मस्थ अवस्थाओं में ज्ञानावरणादिक तीनों कर्म विद्यमान हैं, तथापि मोह के यथायोग्य क्षयोपशमादिक के हो जाने से उन तीनों कर्मों का भी क्षयोपशम हो जाता है। अतः केवल राग, द्वेष और मोह के अभाव से गुरुपना के सिद्ध करने से ही शेष तीनों

९. मोहनीय कर्म से भिन्न

घातिया कर्मों का भी यथायोग्य अनुदयादिपना गर्भित हो जाता है। दूसरे - गुरुपने के लिये केवल मोहकर्म का अभाव/अनुदय ही मुख्य हेतु है, कारण कि मोह का अभाव होने पर शेष तीनों घातिया कर्मों का भी यथायोग्य अनुदय हो जाता है, इसलिए रागद्वेष और मोह के अभाव से गुरुपना कहा जाता है।

गुरु के तीन भेद

अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात् त्रिधा मतः।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते।। 637 ।।
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुंजराः।। 638 ।।

सामान्यतया गुरु एकरूप एवं विशेषता से त्रय भेद।
यथा अग्नि है एकरूप पर, पत्र काष्ठ तृण से त्रय भेद।। 1405 ।।
तीन अवस्थायें गुरु की आचार्य उपाध्याय साधू।
तीनों गुरुवर मुनिकुञ्जर हैं पद-विशिष्ट के हैं धारी।। 1406 ।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) अब गुरु का विशेष वर्णन करने के लिये प्रकरण प्रारम्भ करते हैं कि (**सः**) वह गुरु (**सामान्यात्**) सामान्यरूप से (**एकः अस्ति**) एक प्रकार का माना गया है और (**सद्विशेषात्**) सत् की विशेष अपेक्षा से (**त्रिधा मतः**) तीन प्रकार का माना गया है (**यथा**) जैसे कि (**एकः अग्निः**) अग्नित्व सामान्य से अग्नि एक प्रकार की होकर भी (**तार्ण्यः पार्ण्यः दार्व्यः**) तृण की, पत्र की तथा लकड़ी की अग्नि इस प्रकार वह (**त्रिधा उच्यते**) तीन तरह की कही जाती है।। 637 ।।

(**आचार्यः**) आचार्य (**उपाध्यायः**) उपाध्याय (**च**) और (**साधुः**) साधु (**इति**) इसप्रकार उस गुरु की (**त्रिधा गतिः स्यात्**) तीन अवस्थाएँ होती हैं अर्थात् वह गुरु तीन प्रकार का माना गया है कारण (**त्रयः अपि**) ये तीनों ही (**मुनिकुन्जराः**) मुनिकुन्जर/मुनिवर (**विशिष्टपदारूढाः स्युः**) आचार्यादि विशेष-विशेष पद में आरूढ़ माने जाते हैं/कहे जाते हैं ।। 638 ।।

भावार्थ - जैसे अग्नित्व सामान्य से अग्नि एक प्रकार की है और अपनी तृणादिकजन्य अवस्था विशेष की अपेक्षा से तृणाग्नि, पर्णाग्नि तथा काष्ठाग्नि इसतरह तीन प्रकार की कही जाती है। वैसे ही वह गुरु भी गुरुत्वसामान्य से एक प्रकार का और गुरुविशेष के कथन की अपेक्षा से अर्थात् आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप गुरु की पदवी विशेष की अपेक्षा से तीन प्रकार का कहा जाता है।

एक गुरु की ही आचार्य, उपाध्याय साधु और ये तीन अवस्थाएँ हैं। सारांश यह है कि आचार्यादिक तीनों ही गुरु के पद-विशेष अवस्थाएँ हैं। **कोई भी सामान्य धर्म, विशेष अवस्था के बिना नहीं रह सकता है** - इस न्यायानुसार गुरुत्व धर्म भी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुरूप पद के बिना उपलब्ध नहीं होता, इसलिए एक ही गुरु, अवस्था भेद से तीन प्रकार का माना जाता है।

आचार्य, उपाध्याय और साधु में मुनित्व की समानता

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पंचधा।। 639।।
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमाप्येकधा मतः।। 640।।
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम्।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्या स्थानासनादयः।। 641।।
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम्।। 642।।
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता।। 643।।
किंवाऽत्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक्।। 644।।

उन तीनों का एक प्रयोजन क्रिया एक अरु वेश समान।
बारह व्रत अरु पञ्च महाव्रत भी तीनों के एक समान।। 1467।।
तेरह-विध चारित्र एक-सा और एक सी समता है।
मूलोत्तर गुण सभी एक से संयम भी है एक समान।। 1408।।
परिषह अरु उपसर्ग एक से सहते हैं तीनों मुनिराज।
आहारादिक विधिचर्या आसन शय्या भी एक समान।। 1409।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्ष-पथ तीनों का।
अन्तरंग बहिरंगरूप रत्नत्रय एकरूप उनका।। 1410।।

ध्याता-ध्यान-ध्येय अरु ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय है एक-समान।
चारों आराधना एक सी क्रोधादिक जय एक समान।। 1411।।
और अधिक क्या कहें कि उनका वह विशेष रह जाता शेष।
जो विशेष से शेष रह गया वही कहा जाता अविशेष।। 1412।।

अन्वयार्थ :- (**एकः हेतुः**) उन आचार्यादिक तीनों का एक ही प्रयोजन है (**क्रिया अपि एका**) क्रिया भी एक है (**च**) और (**बहिः वेषः**) बाह्य वेष (**एकः समः**) एक सा है (**च**) तथा (**द्वादशधा तपः एकं**) बारह प्रकार का तप एकसा है (**च**) और (**पञ्चधा व्रतं च एकं**) पाँच प्रकार का महाव्रत भी एकसा है।। 639।।

(**त्रयोदशविधं चारित्रं**) तेरह प्रकार का चारित्र (**एकं**) एकसा है (**च**) तथा (**समता एकधा**) समता एक प्रकार की है/एकसी है (**च**) और (**मूलोत्तरगुणाः**) मूल तथा उत्तर गुण (**एके**) एक से है (**अपि**) और (**संयमः एकधा मतः**) संयम एक प्रकार का माना गया है।। 640।।

(**च**) तथा (**परीषहोपसर्गाणां सहनं**) परीषह और उपसर्गों का सहन (**समं स्मृतं**) एकसा माना है (**च**) तथा (**आहारादिविधिः**) आहारादिक की विधि (**एकः**) एक है (**चर्या-स्थानासनादयः**) चर्या, शय्या, आसन इत्यादिक एक से है और।। 641।।

(**तेषां**) उन तीनों के (**मोक्षस्य मार्गः**) मोक्ष के मार्गरूप (**आत्मनः**) आत्मा के (**सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र, इसप्रकार (**अन्तः**) अन्तरङ्ग (**च**) और (**बहिः**) बहिरंग (**रत्नत्रयं अपि**) रत्नत्रय भी (**समं स्थितं**) समान होता है।। 642।।

(**ध्याता**) ध्याता (**ध्यानं**) ध्यान (**च**) तथा (**ज्ञेयसात् ज्ञानं**) ज्ञेयाधीन ज्ञान (**चतुर्धा आराधना**) चार प्रकार की आराधना (**अपि च**) और (**क्रोधादिजिष्णुता**) क्रोधादिक की जयनशीलता (**तुल्या**) समान है इसलिये।। 643।।

(**अत्र**) इस विषय में (**बहुना उक्तेन किं वा**) अधिक कहाँ तक कहा जाये, उन आचार्यादिक तीनों की सब ही विषयों में समानता है केवल (**तद्विशेषः**) उनका वही विशेष (**अवशिष्यते**) अवशिष्ट रह जाता है जिसका कि आगे उल्लेख किया जायेगा क्योंकि (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**विशेषात् शेष निःशेषः**) विशेष कथन से बाकी बचा हुआ सब ही कथन (**अविशेषभाक् अस्ति**) सामान्य कहलाता है।। 644।।

भावार्थ :- आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में प्रयोजन, क्रिया, बाह्यवेष, बारह प्रकार का तप, पाँच प्रकार का व्रत, तेरह प्रकार का चारित्र, समताभाव, मूलगुण, उत्तरगुण, संयम, परीषह तथा उपसर्गों का सहन, आहारादिक विधि, चर्या, आसन, शयन, मोक्ष का मार्गभूत निश्चय और

व्यवहार रत्नत्रय, ध्याता, ज्ञाता, ज्ञान, शेष, चार प्रकार की आराधना और उत्तम क्षमादिक दशधर्म आदि सब सदृश होते हैं, परन्तु केवल वह इतना ही अन्तर रह जाता है कि जिसके कारण वे परस्पर में भिन्न होकर आचार्य, उपाध्याय तथा साधु कहलाते हैं।

आचार्यों का स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पंचाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी।। 645।।
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति।। 646।।

आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति होती निरुक्ति अरु रुढ़ि से।
पञ्चाचारों का आचरण कराते मुनियों से आचार्य।। 1413।।
व्रत खण्डित होने पर फिर से उसमें जो थिरता चाहे।
पुनः आचरण करने का आदेश करें यह प्रायश्चित।। 1414।।

अन्वयार्थ :- (**अनादितः रूढेः**) अनादि रूढ़ि से और (**योगात् अपि**) योग से भी- निरुक्त्यर्थ से भी (**आचार्यः**) आचार्य शब्द की (**निरुच्यते**) व्युत्पत्ति की जाती है कि जो (**संयमी**) संयमी (**परेभ्यः**) अन्य संयमियों से (**पंचाचारं आचारयति**) पाँच प्रकार के आचारों का आचरण कराता है (**सः**) वह आचार्य कहलाता है।। 645।।

(**अपि**) अथवा जो (**व्रते छिन्ने**) व्रत के खंडित होने पर (**पुनः**) फिर से (**सन्धानं इच्छतः**) प्रायश्चित्त लेकर उस व्रत में स्थिर होने की इच्छा करने वाले (**साधोः**) साधु को (**तत्समा देशदानेन**) अखंडित व्रत के समान व्रतों के आदेश दान के द्वारा (**प्रायश्चितं प्रयच्छति**) प्रायश्चित्त को देता है वह आचार्य कहलाता है।। 646।।

भावार्थ :- आचार्य शब्द का अर्थ रूढ़ि तथा निरुक्ति से आचरण कराने वाला होता है, इसलिये जो स्वयं दर्शनाचार आदि पाँचों आचारों का पालन करता हुणा अन्य मुनियों से उनका (पंचाचारों का) पालन करवाता है उसको आचार्य कहते हैं। प्रमादवश व्रतों के छिन्न होने पर व्रतों को पुनः निर्दोष करने की इच्छा करने वाले मुनियों को जो प्रायश्चित्त देता है तथा अखण्डितरूप से व्रतों के पालन करने का आदेश करता है, उसको आचार्य कहते हैं।

आदेश और उपदेश

आदेशस्योपदेशभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः।। 647।।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया।। 648।।
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात्।। 649।।
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः।। 650।।

यह विशेष है भेद कहा आदेश और उपदेशों में।
'गुरु आज्ञा को ग्रहण करूँ मैं' यह विधि नहिं उपदेशों में।। 1415।।
व्रतधारी गृहस्थ भी दे सकते आदेश, निषिद्ध नहीं।
दीक्षाचार्य प्रदत्त सुदीक्षा जैसी क्रिया कही इनकी।। 1416।।
किन्तु अव्रती गृही न किञ्चित् दे आदेश यथाऽम्नाय।
और किसी भी कारण से हिंसक उपदेश नहीं कर्तव्य।। 1417।।
मुनिव्रतधारी अरु गृहस्थ के व्रत-धारण-कर्ताओं को।
हिंसा के आश्रित उपदेश तथा आदेश नहीं कर्त्तव्य।। 1418।।

अन्वयार्थ :- (**आदेशस्य**) आदेश में (**उपदेशेभ्यः**) उपदेशों से (**सः भेदभाक् विशेषः स्यात्**) वह भेद रखने वाला विशेष होता है कि मैं (**गुरुणा दत्तं आददे**) गुरु के दिये हुये व्रत को ग्रहण करता हूँ परन्तु (**अयं विधिः**) यह विधि (**उपदेशेषु न**) उपदेशों में नहीं होती है।। 647।।

(**व्रतधारिणां गृहिणां**) व्रती गृहस्थों को भी (**तदादेशः**) आचार्यों के समान आदेश करना (**निषिद्धः न**) निषिद्ध नहीं है क्योंकि (**दीक्षाचार्येण दीयमाना**) दीक्षाचार्य के द्वारा दी हुई (**दीक्षा इव**) दीक्षा के समान ही (**तत्क्रिया अस्ति**) गृहस्थाचार्यों की क्रिया होती है।। 648।।

(**अत्र**) आदेश और उपदेश के विषय में (**अव्रतिनां**) अव्रती गृहस्थों को दूसरे के लिये (**यथाम्नायात्**) आम्नाय के अनुसार (**मनाक् अपि सः**) थोड़ा सा भी आदेश करना (**निषिद्धः**) निषिद्ध है (**च**) तथा (**कारणात्**) किसी भी कारण से (**हिंसकः उपदेशः अपि**) दूसरे के लिये हिंसा का उपदेश देना भी (**उपयुज्यः न**) उचित नहीं है।। 649।।

(**मुनिव्रतधराणां**) मुनिव्रत धारियों को (**वा**) और (**गृहस्थव्रतधारिणां**) गृहस्थ के व्रत

धारण करने वालों को (**वधाश्रितः**) हिंसा का अवलंबन करने वाला (**आदेशः**) आदेश (**च**) तथा (**उपदेशः**) उपदेश (**न वा कर्तव्यः**) नहीं करना चाहिये।। 650।।

भावार्थ :- आदेश और उपदेश में यह अन्तर है कि आदेश पालना ही पड़ता है, भंग नहीं किया जाता है और उपदेश का पालना, न पालना अपनी इच्छा पर निर्भर रहता है अर्थात् उपदेशानुसार न चलने से भंगकृत पाप नहीं लगता है, इसलिये 'गुरु के द्वारा दिये हुये आदेश को मैं ग्रहण करता हूँ' इसप्रकार की विधि जैसे आदेश में होती है, वैसे उपदेश में नहीं होती है।

यत्याचार्यों के समान गृहस्थाचार्य भी होते हैं और उनके (यत्याचार्यों के) समान ही गृहस्थाचार्य भी गृहस्थों को दीक्षा तथा प्रायश्चित्त देते हैं। इसलिये व्रती गृहस्थाचार्यों के लिये प्रायश्चित्तादिक के विषय में आदेश करना निषिद्ध नहीं है, क्योंकि गृहस्थाचार्यों के द्वारा दी हुई क्रियाएँ भी यत्याचार्य के द्वारा दी हुई दीक्षा के समान ही पालनीय होती हैं।

अव्रती पुरुष आम्नायानुसार भी आदेश नहीं कर सकता है तथा किसी भी कारणवश वह हिंसा का उपदेश भी नहीं कर सकता है।

अव्रती पुरुष के समान व्रती गृहस्थ तथा मुनि भी हिंसादिक का आदेश और उपदेश नहीं कर सकते हैं।

विशेष स्पष्टीकरण

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम्।। 651।।

नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम्।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः।। 652।।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि।। 653।।

यद्वादेशोपदेशौ स्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित्।। 654।।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्ग भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्नचार्हतः।। 655।।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः।। 656।।

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाऽचार्योप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः।। 657।।
इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी।। 658।।

महाव्रती मुनियों द्वारा मूर्तिक द्रव्यों की शक्ति सभी।
हस्त रेखवत् देखी जाती - यह आशंका करो नहीं।। 1419।।
नहीं राग के लिए विरागी का धर्मोपदेश होता।
किन्तु राग के लिए सरागी का, इसलिए निषेध किया।। 1420।।
नहीं किया उपदेश निषिद्ध नहीं आदेश निषिद्ध किया।
सत्पात्रों के दान हेतु अथवा जिनवर पूजा हेतु।। 1421।।
अथवा दें आदेश और उपदेश अवद्य क्रियाओं में।
पाप क्रिया यदि किंचित् भी हो तो आदेश न हो सकता।। 1422।।
जो असंयमी पुरुषों के संग सम्भाषण रति सूरि करें।
वे आचार्य नहीं हो सकते तथा नहीं वे आर्हत है।। 1423।।
कोई नर ऐसा माने कि सूरि संघ के पोषक हैं।
किन्तु धर्म-उपदेश और आदेश समान नहीं कर्तव्य।। 1424।।
अथवा मोह-प्रमाद हेतु से जब तक लौकिक क्रिया करें।
तब तक वे आचार्य नहीं हैं अन्तरंग व्रत से च्युत हैं।। 1425।।
इस प्रकार जो सूरि शील व्रत तप संयम धारण करते।
वन्दनीय साक्षात् गुरु वे अन्य गणी तो गुरु नहीं।। 1426।।

अन्वयार्थ :- (**यत्**) जो यह (**प्रसिद्धं**) प्रसिद्ध है कि (**व्रतधारिभिः मुनिभिः**) व्रती मुनियों के द्वारा (**मूर्तिमत् शक्तिसर्वस्वं**) मूर्तिमान पदार्थों की सम्पूर्ण शक्तियाँ (**हस्तरेखा इव दर्शितं**) हाथ की रेखाओं के समान देख ली जाती हैं (**'इति' न च आशंक्यं**) ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये।। 651।।

(**नूनं**) निश्चय करके (**विरागिणां**) वीतरागियों का (**प्रोक्तोपदेशोऽपि**) पूर्वोक्त उपदेश देना भी (**रागाय न**) राग के लिये नहीं होता, किन्तु (**रागिणां एव रागाय**) सरागियों का ही पूर्वोक्त उपदेश देना राग के लिये होता है (**ततः**) इसलिये रागियों को (**अवश्यं निषेधितः**) उपदेश देने के लिये अवश्य निषेध किया है।। 652।।

(नूनं) निश्चय करके **(सत्पात्रदानेषु)** सत्पात्रों के लिये दान देने के विषय में **(अपि)** और **(अर्हता पूजायां)** अर्हंतों की पूजा के विषय में **(न सः आदेशः निषिद्धः)** न तो वह आदेश निषिद्ध है तथा **(न उपदेशः निषेधितः)** न उपदेश ही निषिद्ध है।। 653।।

(यद्वा) अथवा **(तौ आदेशोपदेशौ द्वौ)** वे आदेश और उपदेश दोनों ही **(निरवद्य कर्मणि स्तः)** निर्दोष क्रियाओं में ही होते है किन्तु **(यत्र)** जहाँ पर **(सावद्यलेशः अपि)** पाप की थोड़ी सी भी संभावना है **(तत्र)** वहाँ पर **(जातुचित्)** कभी भी **(आदेशः न)** आदेश की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।। 654।।

(आचार्यः) आचार्य **(असंयमिभिः लोकैः सह)** असंयमी पुरुषों के साथ **(संसर्ग)** सम्बन्ध **(भाषणं)** भाषण/बातचीत और **(रतिं)** प्रेम व्यवहार **(कुर्यात्)** करे **(इति एके)** ऐसा कोई कहते हैं, परन्तु जैनाम्नाय से असंयमी पुरुषों के साथ संसर्गादिक को करने वाला **(असौ)** वह आचार्य **(न सूरिः)** न तो आचार्य ही हो सकता है **(च)** तथा **(न आर्हतः)** न अर्हत् भगवान का अनुयायी ही हो सकता है।। 655।।

(इह) इस लोक में **(कैश्चित् मतेः)** किन्हीं-किन्हीं लोगों ने अपनी बुद्धि से ऐसा **(प्रोक्तः)** कहा है कि **(सूरिः)** आचार्य **(संघसम्पोषकः)** संघ का पोषक/पालन करने वाला होता है, परन्तु उनका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि **(अतः धर्मादेशोपदेशाभ्यां)** इस धर्म के आदेश और उपदेश से बढ़कर **(अपरः उपकारः न अस्ति)** दूसरा कोई उपकार ही नहीं है।। 656।।

(यद्वा) अथवा **(यः)** जो **(मोहात्)** मोह से **(वा)** अथवा **(प्रमादात्)** प्रमाद से **(यावत्कालं)** जितने काल तक **(लौकिकीं क्रियां कुर्यात्)** लौकिक क्रिया को करता है **(तावत्कालं)** उतने काल तक **(सः)** वह **(आचार्यः न)** आचार्य नहीं है **(च)** और **(अन्तव्रतात् च्युतः अपि अस्ति)** अन्तरंग में व्रतों से च्युत भी है।। 657।।

(इति) इसप्रकार जो **(गणी)** आचार्य **(उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरः)** पूर्वोक्त व्रत, तप, शील तथा संयमादिक को धारण करने वाला है **(सः)** वही **(साक्षात्गुरुः)** साक्षात् गुरु है और **(नमस्थः)** नमस्कार करने के योग्य है किंतु **(तदन्यः)** उससे भिन्न **(गणी)** आचार्य **(गुरुः न)** गुरु नहीं हो सकता है।। 658।।

भावार्थ :- ऐसा भी आशंका ठीक नहीं है कि व्रती, मुनि संपूर्ण मूर्तिक पदार्थ के पूर्ण ज्ञाता होते हैं, अतः वे चाहे जैसा उपदेश परिणाम देखकर दे सकते हैं, क्योंकि सब ही मुनि पूर्ण रीति से मूर्त पदार्थ के ज्ञाता नहीं होते, कारण पूर्ण ज्ञातापने के साथ तो उपदेश की व्याप्ति है, हिंसक उपदेश के साथ नहीं है अर्थात् आचार्य हिंसक उपदेश नहीं देते।

यहाँ रागी शब्द का अर्थ अव्रती समझना चाहिये। पहले जो अव्रतियों को आदेश तथा उपदेश देने का निषेध किया है, उसका खुलासा ही इस पद्य के द्वारा किया गया है। वीतराग अर्थात् व्रती पुरुषों द्वारा उपदेश देने से राग की पुष्टि नहीं होती है और रागी पुरुषों द्वारा उपदेश देने से राग की पुष्टि होती है, अतएव रागी अव्रती पुरुषों को उपदेश देना निषिद्ध बताया है।

अव्रतियों को जो उपदेश देने का निषेध बताया है वह व्रतादिक के विषय में ही बताया है। सत्पात्र दान और अर्हंतों की पूजा के विषय में अव्रती पुरुषों के लिए भी आदेश तथा उपदेश का देना निषिद्ध नहीं है।

आचार्य वगैरह प्रशस्त मोक्षमार्ग के विषय में ही आदेश तथा उपदेश करते हैं, किन्तु जिस विषय में थोड़े से भी पाप की संभावना है उस विषय का कभी भी आदेश नहीं करते, क्योंकि सावद्य कार्य करने का आदेश देने से उनको अनुमोदनाजन्य पाप लगता है।

किन्हीं-किन्हीं लोगों का ऐसा कहना है कि 'आचार्य असंयमी पुरुषों के साथ संसर्ग, भाषण व प्रेम व्यवहार करते हैं।' परन्तु उनका ऐसा कहना शास्त्र विरुद्ध है, क्योंकि असंयमी पुरुषों के साथ जो आचार्य संसर्गादिक रखता है, वह न आचार्य ही है और न अर्हत् भगवान का अनुयायी ही है।

कोई-कोई अपनी बुद्धि के अनुसार आचार्य को संघ का पालक बताते हैं, परन्तु उनका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म के आदेश व उपदेश से बढ़कर अन्य कोई उपकार नहीं है, इसलिये आचार्य का जो महत्त्व धर्मादेश तथा धर्मोपदेश से सिद्ध होता है, वह पालक कहने से सिद्ध नहीं होता। दूसरे - पालक को आरम्भ और परिग्रह की अपेक्षा रहती है। आचार्य आरम्भ परिग्रह से सर्वथा विरक्त होते हैं, इसलिये वे संघ के पालक नहीं होते हैं किंतु धर्म के आदेशक तथा उपदेशक ही होते हैं :-

अथवा जब तक आचार्य मोह या प्रमाद के वश में होकर किसी लौकिक क्रिया में तत्पर रहता है, तब तक वह यथार्थ में आचार्य नहीं कहलाता है और अपने अन्तरंग व्रतों से च्युत भी समझा जाता है।

इस प्रकार निर्दोष रीति से उक्त व्रत, तप, शील संयमादिक को धारण करनेवाला जो गण का अधिपति आचार्य है, वही साक्षात् गुरु है और यही नमस्कार करने के योग्य है। किन्तु जिसमें उक्त व्रतादिक गुण नहीं हैं, वह न आचार्य ही है तथा न गुरु ही है।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः।। 659।।

कवित्रेत्यग्रसूत्राणां शब्दर्थैः सिद्धसाधनात्।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम्।। 660।।
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद् गुरुः।। 661।।
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशंसूरिवत्क्वचित्।। 662।।
तेषामेवाश्रमं लिंगं सूरिणां संयमं तपः।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पंचाचारं स शुद्धधीः।। 663।।
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम्।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद् ध्रुवम्।। 664।।
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी।। 665।।

स्याद्वाद् कोविद वक्ता अरु वाग्ब्रह्म सर्वज्ञ मुनि।
सिद्धान्त शास्त्र ज्ञाता पाठक हैं समाधान करते सबका।। 1427।।
शब्द अर्थ से सिद्ध करें वे कवि वार्तिक अरु सूत्रों को।
अर्थ-मधुरता के ज्ञाता वक्तृत्व मार्ग में श्रेष्ठ मुनि।। 1428।।
मात्र शास्त्र-अभ्यास एक कारण है उपाध्यायपन का।
जो अध्ययन स्वयं करता वह अध्यापक हो शिष्यों का।। 1429।।
उनमें अन्य व्रतादिक की विधियाँ सब मुनियों जैसी हैं।
मात्र धर्म उपदेश करें आदेश न दें आचार्य समान।। 1430।।
आचार्यों जैसे आश्रम लिंग संयम तप धारण करते।
शुद्ध बुद्धि पाठक वे पञ्चाचार शुद्ध चारित धारें।। 1431।
शास्त्रोक्त मूल एवं उत्तर गुण का पालन करते।
निश्चय से वे परिषह अरु उपसर्ग जीतने वाले हैं।। 1432।।
अन्तर्बाह्य मुनि का शुद्ध वेश धारें वे गणाग्रणी।
धीर-वीर हैं पाठक वे निर्ग्रन्थ और कुछ कहूँ नहीं।। 1433।।

अन्वयार्थ :- (**उपाध्यायः**) उपाध्याय (**समाधीयान्**) शंका समाधान करने वाला (**वाग्मी**) सुवक्ता (**स्याद्वाद कोविदः**) स्याद्वाद में निपुण (**वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः**) भाषा-सर्वज्ञ (**सिद्धांतागम-पारगः**) सिद्धांत शास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी।। 659।।

(**व्रत्यग्रसूत्राणां**) वार्तिक तथा सूत्रों को (**शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्**) शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला होने से (**कविः**) कवि (**अर्थस्य माधुर्ये गमकः**) अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा (**वक्तृत्ववर्त्मनाम् धुर्यः**) वक्तृत्व के मार्ग का अग्रणी होता है।। 660।।

(**उपाध्यायत्वं इत्यत्र**) उपाध्यायपने में (**श्रुताभ्यासः**) शास्त्र का विशेष अभ्यास ही (**कारणं अस्ति**) कारण है (**यत्**) क्योंकि जो (**स्वयं अध्येति**) स्वयं अध्ययन करता है (**च**) और (**शिष्यान् अपि अध्यापयेत्**) शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही (**गुरु**) गुरु उपाध्याय है।। 661।।

(**तत्र**) उपाध्याय में (**व्रतादीनां शेषः विधिः**) व्रतादिक के पालन करने की शेष सब विधि (**सर्वसाधारणः**) सब मुनियों के समान है तथा (**सः**) वह उपाध्याय (**धर्मोपदेशं कुर्यात्**) धर्म का उपदेश तो करे किंतु (**सूरिवत्**) आचार्य की तरह (**कश्चित आदेशं न कुर्यात्**) किसी भी विषय में आदेश न करे।। 662।।

(**सः शुद्धधीः**) वह शुद्ध बुद्धिवाला उपाध्याय (**तेषां सूरिणां एव**) उन आचार्यों के ही (**आश्रमं**) आश्रम (**लिंग**) लिंग (**संयमं**) संयम (**तपः**) तप (**शुद्धचारित्रं**) शुद्ध चारित्र तथा (**पंचाचारं**) पंचाचार को (**आश्रयेत्**) धारण करे।। 663।।

(**यथोक्तान् मूलोत्तरगुणान् एव**) शास्त्रोक्त मूल और उत्तर गुणों का ही (**चिरं**) चिरकाल तक (**आचरेत्**) पालन करे तथा (**ध्रुवं**) निश्चय से (**सः**) वह (**परीषहोपसर्गाणां**) परीषह और उपसर्गों का (**विजयी भवेत्**) जीतने वाले हो।। 664।।

(**अत्र**) उपाध्याय के विषय में (**अति विस्तरेण अलं**) अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किन्तु इतना कहना ही पर्याप्त है कि (**सः**) वह उपाध्याय (**नूनं**) निश्चय से (**मुनेः**) मुनि का (**अन्तर्बहिः**) अन्तरंग तथा बहिरंग (**शुद्धवेषधरः**) शुद्ध वेष धारण करने वाला (**धीरः**) धीर-वीर (**निग्रंथः**) निर्ग्रन्थ और (**गणाग्रणीः**) गण में अग्रणी-श्रेष्ठ होता है।। 665।।

भावार्थ :- जो मुनि शंका समाधान करने वाला हो, वाद पटु हो, अनेकांत का यथार्थ वेत्ता हो, वाग्मी हो, शद्धब्रह्म तथा सिद्धांत शास्त्रों का पारगामी हो, वृत्ति है आगे जिनमें ऐसे सूत्रों का अर्थात् सवृत्ति सूत्रों का शब्दार्थ द्वारा सिद्ध करने वाला हो, स्वाभाविक प्रतिभा सम्पन्न होने से कवि हो, शब्दों का माधुर्य पूर्वक अर्थ प्रगट करनेवाला हो और वक्ताओं में अग्रणी हो वह उपाध्याय कहलाता है।

उपाध्याय को उपाध्याय कहने में केवल विशेष रीति से श्रुताभ्यास ही कारण है, क्योंकि उपाध्याय शब्द का निरुक्तयर्थ भी यही है कि 'जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराने वाले हैं, उसे उपाध्याय कहते हैं'। इसलिये स्वयं अध्ययन करने वाले तथा शिष्यों को भी अध्ययन कराने वाले गुरु को उपाध्याय गुरु कहते हैं। इस प्रकार अध्ययन अध्यापन की विशेषता रहते हुए भी उपाध्याय गुरु में शेष सब विधि सर्व साधारण मुनियों के समान होती है।

अत: यद्यपि उपाध्याय गुरु आचार्य के समान आदेश नहीं करते हैं, तथापि मुनियों के समान आचार्य के आश्रम का आश्रय करते रहते हैं। आचार्य के ही लिंग (नग्नलिंग) संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पाँच प्रकार के आचार को पालते हैं। अपने मूलगुण तथा उत्तर गुणों का भी सदैव निर्दोष रीति से पालन करते हैं। परीषह और उपसर्गो को जीतते हैं/सहन करते हैं। इस विषय में अधिक कहाँ तक कहा जावे, इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपाध्याय गुरु अन्तरंग तथा बहिरंगरूप से शुद्ध मुनिवेष धारी होकर धीर-वीर गणाग्रणी तथा निर्ग्रन्थ होते हैं।

साधु का स्वरूप

उपाध्याय: समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणै:।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात्।। 666।।

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद् दृग्ज्ञप्तिपुर:सरम्।
साधयत्यात्मसिद्धयर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञक:।। 667।।

नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया।
न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसाऽपि न चिन्तयेत्।। 668।।

अस्ति स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवांश्च परम्।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनि:।। 669।।

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुन:।। 670।।

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ:।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापर:।। 671।।

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरक: श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभि:।। 672।।

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः।। 673।।
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान्।। 674॥

स्व-लक्षण से जो प्रसिद्ध उन उपाध्याय का वर्णन कर।
अब आगम से सिद्ध साधु के लक्षण का भी करूँ कथन।। 1434।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक सम्यक्-चारित शिवपथ को।
आत्म-सिद्धि के लिए साधते वे अन्वर्थ नाम साधू।। 1435।।
मुख से बोलें नहीं, हस्त पादादिक से न करें संकेत।
मन से भी कुछ नहीं सोचते केवल आत्मलीन होते।। 1436।।
केवल शुद्ध आत्मा में ही लीन सदा साधू रहते।
अन्तर्बाह्य विजल्प रहित वे निस्तरंग सागर सम हैं।। 1437।।
स्वर्ग और अपवर्ग मार्ग का भी न करें किञ्चित् आदेश।
अथवा नहिं उपदेश करें तो क्यों विरुद्ध पथ का उपदेश।। 1438।।
वे वैराग्य-चरम सीमा अधिरूढ़ महान प्रभावशाली।
यथाजात निर्ग्रन्थ रूप धर दया भाव में भीगे हैं।। 1439।।
अन्तर्बाह्य मोह की ग्रन्थि खोल हुए हैं जो निर्ग्रन्थ।
गुण-श्रेणी निर्जरा करें तप-किरणों से आलोकित हैं।। 1440।।
परिषह अरु उपसर्गों से अपराजित मन्मथ-विजयी हैं।
एषणा शुद्धि से अशन गहें वे प्रत्याख्यान-परायण हैं।। 1441।।
इत्यादिक अनेक साधु-गुण-भूषित पूज्य महा-मुनिराज।
वन्दनीय हैं विद्वानों से अन्य न कोई वन्दन योग्य।। 1442।।

अन्वयार्थ :- (**स्वलक्षणैः विख्यातः**) अपने लक्षणों से प्रसिद्ध (**उपाध्यायः**) उपाध्याय का (**समाख्यातः अस्ति**) सम्यक् प्रकार से वर्णन हो चुका है इसलिए (**अधुना**) अब आगे (**आगमात् सिद्धं**) आगम से सिद्ध (**साधोः लक्षणं**) साधु के लक्षण को (**साध्यते**) सिद्ध करते हैं/कहते हैं।।666।।

(**यः**) जो (**मोक्षस्य मार्ग**) मोक्ष के मार्गभूत (**सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरं**) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-

पूर्वक (**चारित्रं**) सम्यक्चारित्र को (**आत्मसिद्ध्यर्थं**) आत्मसिद्धि के लिये (**साधयति**) साधता है (**सः**) वह (**अन्वर्थसंज्ञकः**) अन्वर्थ नामधारी (**साधुः**) साधु कहलाता है।। 667।।

(**अयं यमी**) यह साधु (**किंचित् न च उच्यात्**) कुछ नहीं बोले (**हस्तपादादिसंज्ञया**) हाथ, पैर आदि के संकेत से (**किंचित् न दर्शयेत्**) कुछ नहीं दरशावे/किसी बात का इशारा नहीं करे और (**स्वस्थः**) आत्मस्थ होकर (**मनसा अपि**) मन से भी (**न चिन्तयेत्**) कुछ चिंतवन नहीं करे।। 668।।

(**च**) और (**सः मुनिः**) वह साधु (**परं**) केवल (**शुद्धं आत्मानं**) शुद्ध आत्मा में (**आस्तिघ्नुवानः**) लीन होता हुआ अथवा शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ (**स्तिमितांतर्बहिर्जल्पः**) अन्तरंग तथा बहिरंग वाग्व्यापार से रहित होकर (**निस्तरंगाब्धिवत्**) तरंग रहित समुद्र की तरह शान्त (**अस्ति**) रहता है तथा जब (**सः**) वह मुनि (**स्वर्गापवर्गमार्गस्य**) स्वर्ग और मोक्षमार्ग का (**मनाक् अपि**) किंचित् भी (**न आदेशं**) न तो आदेश (**च**) तथा (**न उपदेशं वा**) न उपदेश ही (**आदिशेत्**) करता है तो (**पुनः**) फिर (**तद्विपक्षस्य किं**) स्वर्ग व मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग के आदेशादिक कर ही कैसे सकता है?।। 669-670।।

(**सः यमी**) वह साधु (**वैराग्यस्य**) वैराग्य की (**परां काष्ठां**) पराकाष्ठा को चरम सीमा को (**अधिरूढः**) प्राप्त होकर (**अधिकप्रभः**) अधिक प्रभावशाली (**दिगम्बरः**) दिगम्बर (**यथाजात-रूपधारी**) यथाजातरूप (जन्म के समय जैसा रूप था वैसे रूप) को धारण करने वाला (**दयापरः**) दयाशील (**अन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेः**) अन्तरंग तथा बहिरंग मोह की ग्रंथि को (गाँठ को) (**उद्ग्रन्थकः**) खोलने वाला (**निग्रंथः**) निर्ग्रंथ (**श्रेण्याः**) गुणश्रेणिरूप से (**कर्मनिर्जरकः**) कर्मों की निर्जरा करने वाला (**यमी**) यमी (**तपोंऽशुभिः**) तपरूपी किरणों से युक्त होने से (**तपस्वी**) तपस्वी (**परोषहोपसर्गाद्यैः**) परीषह तथा उपसर्गों के द्वारा (**अजय्यः**) पराजित नहीं होने वाला (**जितमन्मथः**) कामरूपी शत्रु को जीतने वाला (**एषणाशुद्धि-संशुद्धः**) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक आहार लेने वाला और (**प्रत्याख्यानपरायणः**) प्रत्याख्यान में/त्याग में परायण होता है/तत्पर रहता है (**इत्यादि अनेकधा**) इत्यादि अनेक प्रकार के (**अनेकैः साधुगुणैः**) अनेक साधु संबंधी गुणों से (**श्रितः**) युक्त वह (**महान्**) पूज्य (**साधुः**) साधु ही (**श्रेयसे**) मोक्ष की प्राप्ति के लिये (**विदुषां अवश्यं नमस्यः**) तत्त्वज्ञानियों के द्वारा अवश्य नमस्कार करने के योग्य है किन्तु (**इतरः न**) इतर गुणों से रहित जो साधु है, वह नमस्कार करने के योग्य नहीं है।। 671-674।।

भावार्थ :- इस प्रकार अपने लक्षणों से प्रसिद्ध उपाध्याय के स्वरूप का निरूपण करके अब आगम से सिद्ध साधु के लक्षण का निरूपण करते हैं।

जो आत्मकल्याण की कामना से मोक्ष के मार्गभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र को साधते है, उन्हें साधु कहते हैं और वे **आचार्यों के समान आदेश को तथा उपाध्याय के समान वचन व हाथ के निर्देशादिक के द्वारा उपदेश को भी नहीं देते है और आत्मध्यान में ही सदैव निमग्न रहने से मन के द्वारा भी उपदेश देने की इच्छा नहीं करते हैं।** केवल शुद्ध आत्मा में तत्पर होते हुए अन्तरंग-बहिरंग व्यापार से भी रहित होकर सदैव हँसमुख तथा वातान्दोलित तरंगों से रहित समुद्र के समान शान्त रहते हैं और न वे स्वर्ग व मोक्ष मार्ग का आदेश उपदेश देते हैं तथा न इससे विपरीत मार्ग का आदेश उपदेश देते हैं, किन्तु वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुए अत्यन्त उत्कृष्ट तपरूपी ज्योति से प्रकाशमान, यथाजातरूपधारी होने से दिगंबर, परमदयालु, अन्तरंग बहिरंग मोह की गाँठ को खोलने वोले होने से निर्भय श्रेणी में आरूढ़ होकर कर्मों की निर्जरा करने वाले होने से यमी, तपरूपी किरणों से युक्त होने से तपस्वी, परीषह और उपसर्ग को सहने वाले, काम को जीतने वाले, एषणा शुद्धि से परम शुद्ध तथा चारित्र में तत्पर होते हैं, रहते हैं। **इस प्रकार साधु के अनेक गुणों से विभूषित जो साधु हैं, वे ही तत्त्वज्ञानियों के द्वारा वन्दनीय होते हैं, किन्तु जो उपरि-उक्त गुणों से युक्त नहीं हैं, वे न तो साधु है और न तत्त्वज्ञानियों के द्वारा वंदनीय भी है।**

उक्त तीनों पदों की विशेषतायें

एवं मुनित्रयीख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः।। 675।।

श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ महामुनि तीनों का व्याख्यान किया।
क्रमशः तारतम्य से उनमें भी होती है शुद्धि विशेष।। 1443।।

अन्वयार्थ :- (**एवं**) इस प्रकार (**महतां अपि महती**) श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ (**मुनित्रयी**) उक्त आचार्यादिक तीनों का सामान्यरूप से ही (**ख्याता**) कथन किया गया है तथापि (**क्रमात्**) क्रमपूर्वक (**तरतमात्मकः**) तरतमरूप से होने वाली (**तद्विशुद्धि विशेषः अस्ति**) उनकी विशुद्धि के द्वारा उन तीनों में परस्पर विशेषता पाई जाती है।। 675।।

भावार्थ :- इस प्रकार यद्यपि सामान्यरूप से ही आचार्य, उपाध्याय और साधु का वर्णन किया गया है, तथापि तरतमरूप से होनेवाली विशुद्धि के द्वारा उन तीनों में विशेषता पाई जाती है जिसका कि आगे उल्लेख किया जाता है।

आचार्य परमेष्ठी की विशेषताएँ

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्‌गणाग्रणीः।
न्यायाद्वादेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः।। 676।।

अर्थान्नातत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम्।।677।।
अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः।।678।।
अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः।।679।।

दीक्षा अरु आदेश प्रदाता गणाधीश आचार्य प्रसिद्ध।
युक्ति स्वानुभव अरु आगम से वे आत्मा में तत्पर सिद्ध।।1444।।
दर्श-मोहनी के अनुदय से निज में नहीं अतत्पर हैं।
क्योंकि उसकी अविनाभावी निज अनुभूति है स्पष्ट।। 1445।।
उसमें चरित-मोहनी का भी एक-देश क्षय कारण है।
केवल बाह्य-क्रिया से चारित में वृद्धि या हानि नहीं।। 1446।।
उपादान हेतु से ही चारित की क्षति-अक्षति होती।
बाह्य-वस्तु चारित की क्षति-अक्षति में कारण नहिं होती।। 1447।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उन तीनों में से जो (**दीक्षादेशात्**) दीक्षा तथा आदेश देता है वह (**गणाग्रणीः**) गणाधीश (**आचार्यः प्रसिद्धः अस्ति**) आचार्य प्रसिद्ध ही है और वह (**न्यायात्**) युक्तिवाद से (**आदेशतः वा अध्यक्षात्**) आगम और स्वानुभव प्रत्यक्ष से (**स्वात्मनि तत्परः**) अपनी आत्मा में तत्पर (**सिद्धः**) सिद्ध होता है (**अर्थात्**) अर्थात् (**दृङ्मोहानुदयात् सतः**) दर्शनमोहनीय का अनुदय होने से (**एषः अपि**) यह आचार्य भी (**अतत्परः न अस्ति**) अपनी आत्मा में अतत्पर नहीं है, क्योंकि उसके (**तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटं अस्ति**) दर्शनमोह के अनुदय का अविनाभावी शुद्धात्मानुभव स्पष्ट रीति से पाया जाता है।। 676-677।।

(**तत्र**) आचार्य के शुद्धात्मानुभवरूप आत्मतत्परता में (**देशतः**) एकदेशरूप से (**चारित्रावरण-क्षतिः अपि अस्ति**) चारित्रावरण का क्षय भी कारण है इसलिये आचार्य दीक्षा व आदेश देने के समय अपनी आत्मा में अतत्पर नहीं कहा जाता, क्योंकि (**केवलं**) केवल (**बाह्यार्थात्**) दीक्षादि के देने व न देनेरूप बाह्य कारण से (**क्षतिः**) चारित्र की क्षति (**वा**) अथवा (**तदक्षतिः**) चारित्र की अक्षति (**न च स्यात्**) नहीं होती है।। 678।।

(**उपादानहेतोश्च**) केवल अपने उपादान हेतु से ही (**तत्क्षतिः**) चारित्र की क्षति (**वा**)

अथवा (**तदक्षतिः**) चारित्र की अक्षति (**अस्ति**) होती है इसलिए (**तदापि**) जिस समय अपने उपादान हेतु से चारित्र को क्षति व अक्षति होती है उस समय भी (**अहेतुतः**) कारण न होने से (**बहिः वस्तुः तद्धेतुः न स्यात्**) दीक्षादेशादि देने तथा न देनेरूप बाह्य वस्तु, चारित्र की क्षति अथवा अक्षति में कारण नहीं होती है।। 679।।

भावार्थ :- जो दीक्षा तथा आदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं और वह अनुमान, आगम तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष से आत्मा में तत्पर ही सिद्ध होता है अतत्पर नहीं। कारण कि उसके दर्शन-मोह का अनुदय रहता है, इसलिये आत्मा में लीनतारूप स्वरूपाचरण चारित्र सदैव पाया ही जाता है।

आचार्य के दर्शनमोह के अभाव के साथ-साथ आंशिकरूप से चारित्रमोह का अभाव भी रहता है, इसलिये दीक्षा तथा आदेश देने के कारण आचार्य को स्वानुभव और चारित्र से च्युत नहीं कह सकते तथा जो संज्वलन कषाय के निमित्त से आचार्य के चारित्र की क्षति व अक्षति बतलाई जाती है, वह केवल संज्वलन के तीव्र और मन्दोदय से ही सम्बन्ध रखती है, अर्थात् संज्वलन के तीव्र तथा मन्दोदय से ही चारित्र की क्षति अथवा अक्षति होती है। दीक्षा व आदेश के देने अथवा नहीं देने से नहीं होती।

यहाँ पर क्षति शब्द का अर्थ आत्मा में संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से होने वाला संक्लेश है और अक्षति शब्द का अर्थ उसके (संज्वलन के) मन्दोदय से होने वाली विशुद्धि है। ये दोनों ही अपने-अपने उपादान कारणों से मुनि अवस्था में होती रहती है। इनका होना न होना केवल बाह्य कारणों पर अवलम्बित नहीं है, इसलिए दीक्षा-आदेशादि देनेरूप बाह्य कारण से आचार्य को संक्लेश होता होगा और आदेश न देने से (साधुपद में रहने से) संक्लेश नहीं होता होगा - ऐसा नहीं समझना चाहिये, **क्योंकि संक्लेश व विशुद्धिरूप परिणाम संज्वलन कषाय के तीव्र-मन्द उदयरूप अपने-अपने उपादान कारण पर ही निर्भर हैं, बाह्य कारण पर नहीं।**

संज्वलन कषाय के उदय का कार्य

संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद् द्वयोः।। 680।।
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोप्यनेकैरनेकधा।। 681।।
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः।। 682।।

तत्राऽवश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः।। 683।।
किंतु दैवाद्विशुद्ध्यांशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित्।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः।। 684।।
तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोस्त्यतः।। 685।।
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः।। 686।।

वास्तव में जो देशघाति स्पर्धक प्रकृति संज्वलन की।
उनके तीव्र-रु मन्द उदय से चारित में क्षति-अक्षति है।। 1448।।
वास्तव में संक्लेश-उदय में क्षति विशुद्धि में अक्षति है।
वह भी तारतम्य अंशों के कारण बहु प्रकार की है।। 1449।।
अतः शिथिलता हो अथवा नहिं हो उनमें आदेश वशात्।
वे निज में तत्पर नहिं हैं - बस इतने से यह सिद्ध नहीं।। 1450।।
मन्द-उदय से उनमें होते हैं विशुद्धि के अंश अवश्य।
तीव्र-उदय से संक्लेश हों ये नहिं हेतु सूरि पद में।। 1451।।
किन्तु दैववश उन्हें विशुद्धि अरु संक्लेश अंश होते।
मन्दोदय में हो विशुद्धि अरु तीव्र-उदय में हो संक्लेश।। 1452।।
उनको तो केवल विशुद्धि में तीव्र उदय बाधक होता।
बाधक कहें सर्वथा तो इससे न बड़ा कोई अपराध।। 1453।।
शुद्ध तत्त्व के अनुभव से च्युति उन्हें मात्र इस कारण से-
कह न सकें, क्योंकि इसमें तो अन्य और भी कारण हैं।। 1454।।

अन्वयार्थ :- (**उच्चैः**) वास्तव में जो (**संज्वलनस्य देशघातिनः स्पर्द्धकाः सन्ति**) उनके संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्द्धक हैं (**तद्विपाकः अमंदः व मंदः क्रमात् द्वयोः हेतुः अस्ति**) उनका तीव्र व मंद जो विपाक होता है, वही यथाक्रम से आचार्य के चारित्र को क्षति व अक्षति में हेतु होता है।। 680।।

कारण (**नूनं**) निश्चय से (**संक्लेशः तत्क्षतिः विशुद्धिः तदक्षतिः**) संज्वलन कषाय के

तीव्र उदय से होने वाला जो संक्लेश है वह चारित्र की क्षति (**हानि**) और संज्वलन कषाय के मंदोदय से होने वाली जो विशुद्धि है व चारित्र की अक्षति अर्थात् आचार्य परमेष्ठी के चारित्र की पूर्णता कहलाती है और (**सः अपि तरतमस्वांशै**) वह संक्लेश भी अपने तरतमभाव को धारण करने वाले अंशों से अनेक प्रकार है तथा (**सः अपि अनेकैः अनेकधा**) वह तरतमभाव भी अपने अनेक कारणों से अनेक प्रकार है।। 681।।

अतः संज्जवलन कषाय के तीव्र तथा मन्दोदयजन्य संक्लेश और विशुद्धि के योग से (**तत्र इह आदेशवशात्**) आचार्य परमेष्ठी के (**यत् शैथिल्यं अस्ति तत् अस्तु वा न 'अस्तु'**) शिथिलता होवे अथवा न होवे, उससे आचार्य को आचार्य कहने की विवक्षा में कुछ प्रयोजन नहीं है, अर्थात् वह तो दैवयोग से यथासम्भव हुआ ही करती है। प्रयोजन यहाँ पर यह है कि आदेश आदि के कारण आचार्य के आचार्यपने में बाधा नहीं आती, यह दिखाने से उसके विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि (**तथापि एतावता**) आचार्य के दैवानुसार संज्वलन के तीव्रोदय व मन्दोदय होता रहता है केवल इतने से (**आचार्यः**) आचार्य (**आत्मनि अतत्परः सिद्धः न भवति**) आत्मा में अतत्पर सिद्ध नहीं होते हैं।। 682।।

(**तत्र**) आचार्य की आत्मा में (**तेषां मंदोदयात् विशुद्ध्यंशः अथवा तीव्रोदयात् संक्लेशांशः इति अयं विधिः न स्मृतः**) जो प्रतिसमय यथायोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उन संज्वलन कषाय के मंद उदय से होने वाली विशुद्धता और तीव्र उदय के कारण होने वाला संक्लेश है, वह सब आचार्य पद के लिए कुछ साधक बाधक विधि रूप नहीं है (**किन्तु**) किन्तु (**दैवात् विशुद्ध्यांशः क्वचित् संक्लेशांशः**) कर्मों के यथायोग्य मंद व तीव्र उदयानुसार विशुद्धि व संक्लेश का अंश आचार्य महाराज के पाया जाता है अर्थात् (**तद्विशुद्धेः विशुद्ध्यंशः पुनः संक्लेशादयः भवति**) संज्वलन कषाय की मंदता से होने वाली विशुद्धि के निमित्त से चारित्र की विशुद्धि का अंश और मंदता के हटने से संज्वलन कषाय की तीव्रता के होते ही संक्लेश का अंश होता रहता है।। 683-684।।

(**अत्र**) आचार्य पद में (**तेषां तीव्रोदयः एतावान् बाधकः अस्ति**) उन संज्वलन कषाय का तीव्रोदय इतना ही बाधक है अर्थात् मंद उदय से जो विशुद्धि रहती है उसका बाधक है, आचार्य पद का बाधक नहीं है (**सर्वतः प्रकोपाय चेत्**) यदि वह सब प्रकार से प्रकोप के लिये है अर्थात् आचार्यपने का बाधक होता है - यह कहा जाय तो (**अतः अपरः अपराधः न अस्ति**) इससे बड़ा कोई अपराध नहीं होता है।। 685।।

सारांश यह है कि (**अत्र एतावता तेन**) उस संज्वलन के तीव्रोदय द्वारा आचार्य की आत्मा में

(नूनं) निश्चय से **(शुद्धत्वानुभवच्युतिः कर्तुं न शक्यते)** शुद्धात्मा के अनुभव की च्युति नहीं की जा सकती है। **(यस्मात्)** क्योंकि **(अत्र)** शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत करने में **(अन्यः प्रयोजकः अस्ति)** अन्य किसी कर्म का उदय कारणीभूत होता है अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत करना संज्वलन कषाय के तीव्रोदय का काम नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय का काम है।।686।।

भावार्थ :- आचार्य परमेष्ठी को मिथ्यात्व अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का अनुदय होता है तथा संज्वलन कषाय का यथासंभव उदय होता है और वह उदय भी उनमें दो प्रकार का संभव है; एक तीव्रोदय दूसरा मंदोदय तथा ये दोनों प्रकार के उदय का संबंध आदेश के देने व न देने से नहीं है, किन्तु स्वतः पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के अनुसार होता रहता है। उसमें भी यथायोग्य तरतमभाव पाया जाता है। जब संज्वलन कषाय का तीव्रोदय रहता है, तब चारित्र में (प्रमादकृत) थोड़ी सी शिथिलता आ जाती है जिसे यहाँ संक्लेश अथवा क्षति शब्द से कहा है और जब संज्वलन कषाय का मंदोदय हो जाता है, तब अप्रमत्त दशा हो जाती है जिसे यहाँ पर विशुद्धि अथवा अक्षति शब्द से कहा है। संक्लेश और विशुद्धि कितने ही बार हुआ करती है। इसका कारण सिर्फ दैवानुसार होने वाला संज्वलन कषाय का तीव्र व मंदोदय है आदेशादिक नहीं, क्योंकि संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से न तो संयतपने का ही नाश होता है और न सम्यक्त्व का नाश होता है, इसलिए इतनी शिथिलता से आचार्य, आत्मा में अतत्पर (मिथ्यादृष्टि) सिद्ध नहीं होते हैं।

संयम के नाश में और सम्यक्त्व के नाश में अन्य कषाय व मिथ्यात्व का उदय कारण है, संज्वलन कषाय नहीं, जिसे कि आगे स्वयं ग्रन्थकार खुलासेवार बतायेंगे। अतएव संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से आचार्य के संयम व सम्यक्त्व में बाधा का मानना शास्त्र विरुद्ध होने से एक प्रकार का सबसे बड़ा अपराध है।

दर्शनमोह का उदय आत्मानुभूति में बाधक है

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रयत्नीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात्।। 687।।

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः।। 688।।

न चाकिंचित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत्।। 689।।

आत्मानुभूति में दर्श-मोह का अनुदय कारण होता है।
वास्तव में वह कर्मोदय होने हो तो अनुभव नहिं होता है।। 1455।।
दर्श-मोहनी के अभाव से शुद्धात्मानुभूति होती।
कोई भी चारित्र-मोहनी उसमें विघ्न न कर सकती।। 1456।।
नहीं सर्वथा अकिञ्चित्कर चारित्र-मोहनी अनुभव में।
दर्श-मोह में वह समर्थ नहिं, पर स्वकार्य में सक्षम है।। 1457।।

अन्वयार्थ :- (**शुद्धात्मनः ज्ञाने**) शुद्धात्मा के अनुभव में (**मिथ्यात्वकर्मणः शमः हेतुः**) मिथ्यात्व कर्म का अनुदय कारण है (**तु**) और (**अशमः**) मिथ्यात्वकर्म का उदय (**तत्र**) शुद्धात्मा के अनुभव में (**उच्चैः प्रत्यनीकः**) वास्तविक बाधक है क्योंकि (**तत्र तस्य व्यत्ययात्**) उस मिथ्यात्व का उदय होते ही आत्मा का वह शुद्धात्मानुभव नहीं होता है।। 687।।

(**पुंसः**) आत्मा के (**दृङ्मोहे अस्तंगते**) दर्शनमोहनीय कर्म का अभाव होने पर (**शुद्धस्यानुभवः भवेत्**) शुद्धात्मा का अनुभव होता है उस शुद्धात्मानुभव में (**कश्चित् चारित्रावरणोदयः**) किसी भी चारित्रावरण कर्म का उदय (**विघ्नकरः न भवेत्**) बाधक नहीं होता है।। 688।।

(**एवं च**) इस प्रकार से अर्थात् शुद्धात्मानुभव में बाधक नहीं है, एतावता (इतने मात्र से) वह (**चारित्रावरणोदयः**) चारित्रावरण का उदय (**अकिञ्चित्करः**) सर्वथा अकिञ्चित्कर (**न च**) नहीं है, क्योंकि यद्यपि (**तत्**) वह चारित्रावरण कर्म का उदय (**दृङ्मोहस्य कृते**) दर्शन में मोह उत्पन्न करने के लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं है, तथापि (**स्वस्य कृते**) चारित्र में, मोह उत्पन्न करने के लिये तो (**अलं च**) समर्थ ही है।। 689।।

भावार्थ :- शुद्धात्मा के ज्ञान में मिथ्यात्व का अभाव ही एक साधक कारण है, क्योंकि मिथ्यात्व के अभाव में ही शुद्धात्मानुभव के होने का तथा मिथ्यात्व के सद्भाव में शुद्धात्मानुभव नष्ट होने का नियम है।

दर्शनमोह के अस्त होते ही शुद्धात्मा का अनुभव होने लगता है। इसलिए शुद्धानुभव के लिए केवल मिथ्यात्व का उदय ही बाधक है, किन्तु किसी भी चारित्रावरण का उदय बाधक नहीं है।

चारित्र मोह का उदय सम्यक्त्व अर्थात् शुद्धात्मानुभव के लिये बाधक नहीं है एतावता वह किसी का भी बाधक नहीं है - ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह चारित्र मोह भी आत्मा को चारित्र गुण से च्युत करने वाला है अर्थात् आत्मा के चारित्र गुण का बाधक है। इसलिये चारित्रमोह का उदय आत्मा के चारित्र गुण में विघ्न करने वाला है - ऐसा समझना चाहिये।

चारित्रमोहनीय का नैमित्तिक कार्य

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत्।। 690।।
यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः।। 691।।
कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः।। 692।।
ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते।। 693।।

चरित-मोह का कार्य आत्म को चारित से च्युत करना है।
अन्य दृष्टिवत् दृष्टि-न्याय से च्युत न करे अनुभूति से।। 1458।।
किसी पुरुष की चक्षु प्रसन्न रहे, पर किसी दूसरे की-
आँखों में पीड़ा हो, वैसे समकित में नहिं कोई क्षति।। 1459।।
अनुद्रेक जितना कषाय का वास्तव में उतना चारित्र।
जितना उदय कषायों का है उतनी चारित से च्युति है।। 1460।।
स्वतः संज्वलन का विपाक हो या फिर उदय नहीं होवे।
दर्शन-मोह-विपाक बिना आत्मानुभूति में क्षति नहीं।। 1461।।

अन्वयार्थ :- (**न्यायात्**) न्याय के अनुसार (**आत्मनः**) आत्मा को (**चारित्रात् च्युतिः**) चारित्र से च्युत करना ही (**चारित्रमोहस्य कार्यं**) चारित्र मोह का कार्य है (**तु**) किन्तु (**इतरदृष्टिवत्**) इतर की दृष्टि के समान (**दृष्टित्वात्**) दृष्टि होने से (**आत्मदृष्टेः न**) शुद्धात्मानुभव से च्युत करना चारित्र मोह का कार्य नहीं है।। 690।।

(**यथा**) जैसे (**दृष्टाध्यक्षात्**) प्रत्यक्ष में (**दैवयोगतः**) दैवयोग से (**इतरत्र अक्षतापेऽपि**) किसी की आँख में पीड़ा के होने पर भी (**कस्यचित्**) किसी दूसरे की (**चक्षुः वै प्रसन्नं**) आँख प्रसन्न भी रह सकती है (**तथा**) वैसे ही चारित्रमोह के उदय से चारित्र गुण में विकार के होने पर भी उससे (**तत्क्षतिः न**) आत्मा के सम्यक्त्व गुण की/शुद्धात्मानुभव की किसी प्रकार से क्षति नहीं होती है।। 691।।

(**हि**) निश्चय से जितना (**कषायाणां अनुद्रेकः**) कषायों का अभाव है (**तावत् एव**

चारित्रं) उतना ही चारित्र है और जो (**कषाकाणां अनुद्रेकः न**) कषायों का उदय है वही (**आत्मनः**) आत्मा का (**चारित्रात् च्युतिः**) चारित्र से च्युत होना है।। 692।।

(**दृङ्मोहस्य उदयात् ऋते**) दर्शनमोह के उदय के बिना (**स्वतः**) स्वयं (**तेषां**) संज्वलन कषायों का (**अनुद्रेकः**) अनुदय (**अथवा**) अथवा (**उद्रेकः**) उदय (**स्यात्**) हो, परन्तु (**नूनं**) निश्चय करके (**ततः**) उससे (**आत्मदृष्टेः क्षतिः न**) शुद्धात्मानुभव की क्षति नहीं होती है।। 693।।

भावार्थ :- जैसे किसी एक की दृष्टि में (चक्षु में) पीड़ा होने से किसी दूसरे की दृष्टि की प्रसन्नता का घात नहीं होता है। वैसे ही संज्वलनरूप चारित्रमोह के द्वारा आत्मा के चारित्र गुण में थोड़ा-सा विकार होने से आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण में विकार नहीं होता, अर्थात् उसका घात नहीं है। अब आगे इसी अर्थ का दृष्टान्तपूर्वक खुलासा करते हैं - जैसे एक के आँख की पीड़ा दूसरे की आँख सम्बन्धी प्रसन्नता की बाधक नहीं होती है। वैसे ही चारित्र-गुण में विकार उत्पन्न करने वाला संज्वलनरूप चारित्रमोह शुद्धात्मानुभव का बाधक नहीं हो सकता है।

जितने-जितने अंशों में आत्मा कषायों के उदय से रहित होता जाता है उतने-उतने ही अंशों में उसके चारित्र की वृद्धि होती जाती है और जितने-जितने अंशों में वह आत्मा कषायों के उदय से युक्त हो जाता है उतने-उतने ही अंशों में वह चारित्र से च्युत होता जाता है अर्थात् कषायों के उदय का ही नाम आत्मा का चारित्र गुण से च्युत होना है तथा कषायों के उदय के अभाव का ही नाम आत्मा का चारित्र गुण से युक्त होना है।

जब शुद्धात्मानुभव और चारित्र के प्रगट होने के लिए भिन्न-भिन्न मोहोदय कारण है, तब दर्शनमोह के बिना केवल चारित्रमोह से आत्मा के शुद्धानुभव में बाधा कैसे पहुँच सकती है, इसलिए आचार्य के संज्वलन कषाय के तीव्र अथवा मन्द उदय से जो चारित्र की क्षति व अक्षति होती है, वह रहो अथवा नहीं रहो; परन्तु उससे आचार्य के शुद्धात्मानुभव में बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार दीक्षा वा आदेशरूप बाह्य निमित्त से आचार्य के शुद्धात्मानुभव में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती है; इस बात को सिद्ध करके अब आगे आचार्य और उपाध्याय दीक्षादि तथा पठन-पाठन के कराने पर भी साधुओं की अपेक्षा हीनाधिकपने को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न रूप से धर्मादेशोपदेशादि बाह्य कार्यों को करते हुए भी वास्तव में तीनों गुरु सदृश हैं और तीनों ही श्रेणी चढ़कर मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं, इसका क्रमपूर्वक विस्तृत रीति से वर्णन करते हैं।

आचार्य, उपाध्याय और साधु में समानता

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धो शुद्धोपयोगिनौ।। 694।।

नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमौ मिथः।
नेताभ्यामन्तरुन्कर्षः साधोरप्यतिशायनात्।। 695 ॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः।। 696 ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु।। 697 ॥

सूरि तथा पाठक हैं दोनों हेतु अपेक्षा एक समान।
आत्मज्ञ शुद्धोपयोगि अरु शुद्ध साधु हैं साधु समान।। 1462।।
दोनों में नहि तारतम्यता से कोई विशेषता है।
नहिं उत्कर्षपना इनसे है अन्तरंग में साधु के।। 1463।।
तीनों में यदि कुछ विशेषता दिखती बाह्य-दृष्टि से है।
अन्तः शुद्धि समान है अतः मूल हेतु में क्या क्षति है।। 1464।।
युक्ति स्वानुभव आगम से आचार्य साधु अरु पाठक में।
कोई मन्द तीव्र उदयादिक नहीं संज्वलन का निश्चित।। 1465।।

अन्वयार्थ :- (**सूरिः**) आचार्य (**अथ**) और (**उपाध्यायः**) उपाध्याय (**एतौ दौ**) ये दोनों ही (**साधुः इव**) साधु की तरह (**हेतुतः**) अन्तरंग कारण से (**समौ**) समान हैं (**साधु**) साधु हैं (**आत्मज्ञो**) आत्मज्ञ हैं (**शुद्धौ**) शुद्ध हैं (**शुद्धोपयोगिनौ**) शुद्धोपयोगी हैं।। 694।।

इसलिए (**तयोः**) उन दोनों में (**मिथः**) परस्पर (**कथित् अपि तरतमः विशेषः न अस्ति**) कोई भी तरतमरूप विशेष अन्तर नहीं है तथा (**एताभ्यां अतिशायनात् साधोऽपि अन्तः उत्कर्षः न**) आचार्य और उपाध्याय से अतिशय पूर्वक दृष्टि गोचर होने वाली, साधु में भी कोई अन्तरङ्ग उत्कृष्टता नहीं पाई जाती है।। 695।।

(**चेत**) यदि (**तेषां**) उन तीनों में (**मिथः**) परस्पर कुछ (**लेशतः विशेषः अस्ति**) आंशिक विशेषता पाई जाती हैं तो वह केवल (**बहिः कृतः**) बहिरंग दृष्टि से ही पाई जाती हैं, क्योंकि (**मूलहेतोः अन्तःशुद्धेः समत्वतः**) मूल कारणभूत जो अन्तरंग शुद्धि है, वह उन सबकी समान है, इसलिए उनमें जो साधारणरूप से बाह्य अपेक्षाकृत विशेषता पाई जाती है, उससे (**का क्षतिः स्यात्**) क्या हानि हो सकती है अर्थात् कुछ नहीं।। 696।।

तथा (**अत्र**) इन (**सूर्युपाध्याय साधुषु**) आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में (**युक्तिस्वानु-**

भवागमात्) युक्ति, स्वानुभव तथा आगम से (**तेषां**) संज्वलन कषाय के स्पर्द्धकों का (**कश्चित् मन्दादिः उदयः**) कोई मन्द उदय आदि भी (**नियतः न अस्ति**) नियत नहीं है।। 697।।

भावार्थ :- साधु के समान आचार्य और उपाध्याय गुरु के भी चारित्रमोह का क्षयोपशमादिक सदृश होता है। इसलिए ये दोनों भी हेतु की अपेक्षा से समान हैं। दोनों ही साधु के समान मोक्षमार्ग के साधने वाले होने से अन्वर्थ साधु हैं। साधु के ही समान आत्मज्ञ, शुद्ध और शुद्धोपयोगी हैं। अतः दोनों में परस्पर तरतमता बताने वाला कोई अन्तर नहीं पाया जाता है तथा न आचार्य व उपाध्याय से अधिकता द्योतित करनेवाला साधु में ही कोई उत्कर्ष पाया जाता है यदि तीनों में कोई विशेषता है तो वह केवल दीक्षा, आदेश और उपदेशादि देनेरूप बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा से ही है। इसलिए उस विशेषता से जो भेद द्योतित होता है वह न कुछ के बराबर है अर्थात् उसके निमित्त से किसी में न्यूनाधिक्यपना द्योतित नहीं होता है तथा इसी प्रकार संज्वलन कषाय के स्पर्धकों का मन्द उदयादिक भी उन तीनों की विशेषता के लिए नियत नहीं है।

इस प्रकार अन्तरंग दृष्टि से तीनों को समान बताकर अब आगे प्रत्येक के अवान्तर संभव भेदों को बताते हैं -

आचार्य, उपाध्याय और साधु में अन्तर

प्रत्येकं बहवः सन्ति सुर्युपाध्यायसाधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक्।। 698।।
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत्।। 699।।
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम्।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित्।। 700।।
परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक्।। 701।।

आचार्योपाध्याय साधु तीनों के भेद अनेक कहे।
पृथक् पृथक् हैं उत्तम मध्यम अरु जघन्य ये भेद कहे।। 1466।।
किसी समय कोई आचार्य परम विशुद्धि प्राप्त करें।
और कभी वे पुनः जघन्य-रु मध्य विशुद्धि में आते।। 1467।।
विविध भाव अंश स्पर्धक उदय हेतु प्रतिक्षण इसमें।
किन्तु बाह्य धर्मोपदेश आदिक का हेतु नहीं इसमें।। 1468।।

इसी तरह से उपाध्याय अरु साधू में भी है ज्ञातव्य।
क्योंकि उनमें नहिं विशेषता-धारक कोई शेष विशेष।। 1469।।

अन्वयार्थ :- (**प्रत्येक**) प्रत्येक में अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनों में (**पृथक्**) पृथक्-पृथक् (**ऐकैकशः**) प्रत्येक के (**जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्च**) जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्टपने के निमित्त से (**सूर्युपाध्यायसाधवः बहवः सन्ति**) आचार्य, उपाध्याय और साधुरूप बहुत से विकल्प हो जाते हैं।। 698।।

(**कश्चित् सूरिः**) कोई आचार्य (**वै**) निश्चय से (**कदाचित्**) किसी समय (**परमां विशुद्धिं गतः**) परम विशुद्धि को प्राप्त होते हुए (**पुनः**) फिर (**मध्यमां**) मध्यम (**वा**) अथवा (**जघन्यां**) जघन्य (**विशुद्धिं वा**) विशुद्धि को भी (**आश्रयेत्**) प्राप्त हो जाते हैं।। 699।।

(**तत्र**) विशुद्धि के तरतमत्व में (**क्षणं**) प्रतिक्षण (**नानाभावांशैः उदिताः स्पर्धकाः**) नाना अविभाग प्रतिच्छेदों को लिए हुए उदय में आने वाले संज्वलन और नोकषाय के स्पर्धक ही (**हेतुः**) कारण हैं किन्तु (**अत्र क्वचित्**) इन तीनों ही भेदों में कहीं पर भी (**बहिः**) बाह्य (**धर्मादेशोपदेशादि**) धर्म का आदेश तथा उपदेश (**हेतुः न**) कारण नहीं है।। 700।।

(**अनया परिपाठ्या**) इसी परिपाटी से (**ये पाठकाः**) जो उपाध्याय (**च**) और (**साधवः**) साधु हैं उनकी भी (**योज्याः**) योजना कर लेना चाहिये (**यतः**) क्योंकि (**तेषां विशेषभाक्-नियतः विशेषः शेषः न**) उन उपाध्याय तथा साधुओं में विशेषता को धारण करने वाला कोई निश्चित विशेष शेष नहीं रहता है।। 701।।

भावार्थ :- आचार्यादिक तीनों में परस्पर तो कुछ अन्तर नहीं है, परन्तु जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टपने की अपेक्षा से प्रत्येक के नाना भेद हो सकते हैं अर्थात् जघन्य आचार्य, मध्यम आचार्य तथा उत्कृष्ट आचार्य इत्यादि रूप से आचार्य के नाना भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य के समान उपाध्याय और साधु के भी अवान्तर नाना भेद लगा लेना चाहिये।

एक ही आचार्य उत्तम विशुद्धि को धारण करने की अपेक्षा से उत्तम और कालान्तर में यथायोग्य संक्लेश के निमित्त से मध्यम व जघन्य विशुद्धि को धारण करने से मध्यम अथवा जघन्य आचार्यपद को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये एक ही आचार्य के जघन्य मध्यम और उत्कृष्टपने की अपेक्षा से तीन भेद कहे जाते हैं।

आचार्य की इस उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धि में बाह्य धर्म का आदेश अथवा उपदेश कारण नहीं है, किन्तु संज्वलन तथा नोकषाय का यथासंभव उदय ही कारण है।

जैसे आचार्य के उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धि की अपेक्षा से भेद बताए हैं, वैसे ही

उपाध्याय और साधुओं के भी समझना चाहिये, क्योंकि इन तीनों में परस्पर विशेषता का नियामक कोई भेद नहीं है। इसलिए उपाध्याय तथा साधुओं में भी आचार्य के समान उत्तम, मध्यम और जघन्य विशुद्धि की अपेक्षा से अवान्तर भेद लगाना चाहिये।

शंका

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्य हेतुर्बहिः क्वचित्।। 702।।

बाह्य-क्रिया उपदेशादिक आचार्य-भेद में कारण है।
क्योंकि अन्तरंग-हेतु का भी बहिरंग-हेतु होता।। 1470।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**धर्मोपदेशादि बहिः कर्म**) धर्मोपदेश देना आदि बाह्य क्रियायें (**तत्कारकं**) आचार्य की विशेषता में कारण है क्योंकि (**अभ्यन्तरस्य हेतो अपि**) अभ्यन्तर हेतु का भी (**क्वचित्**) कहीं पर (**बाह्य**) बाह्य वस्तु (**बहिः हेतुः**) बाह्य हेतु होता है।। 702।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि अभ्यन्तर हेतु के लिए भी बाह्य कारण की अपेक्षा होती है, इसलिए आचार्य के आचार्यपने में भी धर्म के आदेश तथा उपदेश को बाह्य कारण मानना चाहिये।

समाधान

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं बहिः।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम्।। 703।।
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः।
धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत्।। 704।।
नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित्।। 705।।

ठीक नहीं यह क्योंकि बाह्य-पदार्थ अकिञ्चित्कर ही है।
किन्तु मोह से फल अरु पर-वाञ्छक को वह पद फल प्रद है।। 1471।।
जो आचार्यपने एवं शिष्यादिक के प्रति राग विहीन।
तो धर्मोपदेश इत्यादिक बाह्य क्रिया भी हो न सके।। 1472।।

नहिं असिद्ध है निरभिलाषिता उपदेशादि क्रियाओं में।
न्याय-दृष्टि से इन्द्रिय-विषयों की इच्छा अभिलाषा है।। 1473।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**अर्थात्**) वास्तव में (**सर्व बहिः वस्तु**) सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ (**अकिंचित्करं**) अकिंचित्कर हैं, कारण कि यदि आचार्यादिक के भेद में बाह्य वस्तु कारण मानी जायेगी तो (**मोहात्**) मोह के कारण (**परं अपि आंतरं इच्छतः**) पर-वस्तु को भी निज मानने वाले के ही (**तत् पदं फलवत्**) वह पद-आचार्यादिक का पद फलवान/प्रयोजनभूत ठहरेगा और ऐसे मानने से (**सर्वतः बहिः अनिच्छतः तस्य गणिनः**) सर्वथा बाह्य वस्तु की इच्छा न रखने वाले आचार्य के (**यत्**) जो (**स्वपदं**) आचार्यपद (**च**) तथा (**तत्फलं धर्मादेशोपदेशादि**) उस पद का फल जो धर्म का आदेश व उपदेश करना है वह (**पुनः किं**) फिर कैसे सिद्ध होगा ?।। 703-704।।

(**अस्य**) आचार्य के (**धर्मादेशादिकर्मणि**) धर्मादेश आदि क्रियाओं में (**निरीहत्वं**) निरपेक्षता (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है क्योंकि (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**अक्षार्थकांक्षायाः अन्यत्र**) इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा के सिवाय (**जातुचित्**) कभी भी (**ईहा न**) अभिलाषा नहीं कहलाती है।। 705।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आचार्य के आचार्यपने में धर्मोपदेशादि बाह्य क्रियाओं को कारण माना जायेगा अर्थात् यदि आचार्य, आचार्यपने की इच्छा से धर्मोपदेशादिक करते हैं तो आचार्य के परवस्तु को निज मानने का प्रसंग आवेगा और ऐसा होने से सर्वथा पर को निज न मानने वाले यथार्थ आचार्य के जो वास्तविक आचार्यत्व और उस आचार्यपने का जो निरीह वृत्ति से धर्म का आदेश व उपदेश देनेरूप फल बताया है वह सिद्ध न होगा।

यदि कदाचित् यह कहा जाय कि आचार्य के धर्म-विषयक आदेशादिक में निरीहपना असिद्ध है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, कारण कि इन्द्रियों के विषयों की चाह को ईहा/कांक्षा/अभिलाषा कहते हैं और वह आचार्य के नहीं पायी जाती है, क्योंकि आचार्य इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त रहते हुए ही धर्म का आदेश व उपदेश करते हैं, इसलिए धर्मविषयक आदेश और उपदेश में उनकी निरीहवृत्ति असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध ही है।

शंका

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा।। 706।।

बिना क्रिया इच्छा नहिं होती, क्रिया नहीं इच्छा बिन हो।
विषयेच्छा हो या नहिं हो, पर क्रिया अनिच्छित नहिं होती।। 1474।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**क्वचित्**) कहीं भी (**कर्म बिना ईहा न**) क्रिया के बिना इच्छा नहीं होती है और (**ईहां बिना कर्म न**) इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती है (**तस्मात्**) इसलिए उस क्रिया में (**अक्षार्थः स्यात् वा न वा**) इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहो या न रहो (**तु**) किन्तु कोई भी (**कर्म**) क्रिया (**अनिहितं न**) बिना इच्छा के नहीं हो सकती है।। 706।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि आचार्य की इंद्रियार्थ विषयों में प्रवृत्ति हो अथवा न हो परन्तु क्रिया के बिना इच्छा और इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती है, इसलिए आचार्य की जो धर्मादेशादिक क्रिया है, वह बिना इच्छा के सिद्ध नहीं हो सकती है।

समाधान

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः।। 707।।

ततोस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु।
निर्विशेषात्समस्वेषः पक्षो माभूद्बहिः कृतः।। 708।।

किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरंजसा।। 709।।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम्।। 710।।

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिंतानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत।। 711।।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत्।। 712।।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनां वरम्।
प्रागादायक्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत्।। 713।।

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गात् गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूप जिनागमात्।। 714।।

दश से तेरह गुणस्थान में हेतु की अतिव्याप्ति है।
इससे बन्ध नित्य होगा तो मुक्ति असम्भव हो जाए।। 1475।।
नाना शुद्धि-अंश भेदों से अन्तरंग अन्तर उनमें।
सामान्यरूप से तीनों एक समान बाह्य-कृत भेद नहीं।। 1476।।
तथा रूढ़ि परमागम में यौगिकीरूप से कहीं प्रसिद्ध।
वास्तव में साधूपद के बिन केवलज्ञानोत्पत्ति नहीं।। 1477।।
सकल अर्थ प्रत्यक्ष जानने वालों ने परमागम में।
यही कहा श्रेणी आरोहक शिवपद पाते क्षण भर में।। 1478।।
क्योंकि सूरि एवं पाठकगण श्रेणी आरोहण के काल।
धारण करते ध्यान सकल चिन्ता-निरोध जिसका लक्षण।। 1479।।
अतः सिद्ध है अनायास श्रेणी में साधुपना उनको-
हो जाता है, क्योंकि उन्हें बाह्योपयोग का नहिं अवसर।। 1480।।
ऐसा नहिं है कि छेदोपस्थापन चारित को पहले-
धारण करके साधू हों फिर श्रेणी आरोहण करते।। 1481।।
प्रकरण वश संक्षिप्त मात्र गुरु का लक्षण है यहाँ कहा।
उनका शेष विशेष स्वरूप कहेंगे आगम के अनुसार।। 1482।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (**हेतोः**) इच्छा के बिना क्रिया के न मानने से (**आरात् आक्षीणमोहिषु**) क्षीण कषाय और उसके समीप के गुणस्थानों में अर्थात् दशवें, ग्यारहवें बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में अनिच्छापूर्वक क्रिया के पाये जाने के कारण (**अतिव्याप्तेः**) उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है और यदि उक्त गुणस्थानों में भी क्रिया के सद्भाव से इच्छा का सद्भाव माना जायगा तो (**बन्धस्य नित्यतापत्तः**) बन्ध के नित्यत्व का प्रसंग आने से (**मुक्तेः असम्भवः भवेत्**) मुक्ति का होना भी असंभव हो जायेगा।। 707।।

(**ततः**) इसलिए यद्यपि (**त्रिषु**) तीनों में (**शुद्धेः नानांशतः**) अपनी-अपनी विशुद्धिकृत नाना अंशों के द्वारा (**अन्तःकृतः भेदः अस्ति**) अंतरंगकृत भेद पाया जाता है (**तु**) परन्तु (**निर्विशेषात्**) सामान्यरूप से तीनों ही (**समः**) समान है अतः (**बहिः कृतः एषः पक्षः माभूत्**) उन तीनों में बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा से भेद है, यह पक्ष ठीक नहीं है।। 708।।

(**किंच**) तथा दूसरी बात यह है कि (**परमागमे**) परमागम में (**यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा अस्ति**) यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि (**अंजसा**) वास्तव में (**साधुपदं विना**) साधु पद के ग्रहण

किये बिना किसी को भी (**केवलोत्पत्तिः न स्यात्**) केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है (**च**) तथा (**तत्र**) उस परमागम में (**साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा**) प्रत्यक्षरूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने देखने वाले सर्वज्ञ देव ने (**इदं सम्यक् उक्तं**) यह अच्छी तरह कहा है कि (**श्रेण्यां अधिरूढ़स्य**) उपशम या क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले आचार्यादिक को (**क्षणं**) क्षण भर में (**तत्पदं**) वह साधुपद (**स्वतः अस्ति**) स्वयं प्राप्त हो जाता है।। 709-710।।

(**यतः**) क्योंकि (**सः सूरिः**) वह आचार्य (**वा**) और (**पाठकः**) उपाध्याय (**श्रेण्यनेहसि**) श्रेणी चढ़ने के काल में (**कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानं**) सम्पूर्ण चिताओं के निरोधरूप ध्यान को (**अवश्यं**) अवश्य ही (**आश्रयेत्**) धारण करता है।। 711।।

(**ततः सिद्धं**) इसलिए सिद्ध होता है कि (**इह**) श्रेणी के काल में (**तयोः**) उन आचार्य और उपाध्याय को (**अनायासात्**) बिना किसी प्रयत्न के ही स्वयं ही (**तत्पदत्वं**) वह साधुपद प्राप्त होता है (**यत्**) क्योंकि (**तत्र**) वहाँ पर (**नूनं**) निश्चय से (**बाह्योपयोगस्य अवकाशः न अस्ति**) बाह्य उपयोग के लिए बिल्कुल अवकाश ही नहीं मिलता है।। 712।।

(**न पुनः**) किन्तु ऐसा नहीं है कि (**सूरिः**) आचार्य (**तत्र**) श्रेणी के आरोहण काल में (**प्राक्क्षणं**) पहले (**छेदोपस्थापनां वरं चारित्रं**) छेदोपस्थापनारूप उत्तम चारित्र को (**आदाय**) ग्रहण करके (**पश्चात्**) पीछे (**साधुपदं श्रयेत**) साधुपद को ग्रहण करते हैं।। 713।।

(**प्रसंगात्**) प्रकरण वश (**अत्र**) यहाँ पर (**दिङ्मात्रं**) केवल साधारणरूप से (**गुरुलक्षणं अपि**) गुरु का लक्षण भी (**उक्तं**) कहा और (**शेषं तत्स्वरूपं**) गुरु के शेष स्वरूप को (**विशेषतः**) विशेषरूप से (**जिनागमात्**) जिनागम के अनुसार (**वक्ष्ये**) मौका मिलने पर आगे कहेंगे।।714।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि इच्छापूर्वक ही क्रिया के मानने से दशवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक जो बिना इच्छा के क्रिया होती है उसे भी इच्छापूर्वक मानने का प्रसंग आवेगा। तथा यदि उक्त गुणस्थानों में भी इच्छापूर्वक क्रिया को मानोगे तो इच्छा राग की पर्याय है, इसलिये राग का सदैव सद्भाव पाए जाने से बन्ध में नित्यता सिद्ध हो जावेगी और बन्ध में नित्यता सिद्ध होने पर मोक्ष का होना भी असंभव हो जायगा। इसलिये आचार्यादिक के इंद्रियजन्य विषयों में राग न होने से उनकी जो धर्मोपदेशादिक में क्रिया पाई जाती है। वह बिना इच्छा के ही सिद्ध होती है।

इसलिए सिद्ध होता है कि आचार्यादिक तीनों में विशुद्धिकृत अंशों से ही भेद है बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि सामान्यरूप से तीनों ही समान हैं, अतएव बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा से भेद बतलाना - यह पक्ष ठीक नहीं है।

जिसप्रकार आगम में सर्वज्ञ देव ने यह कहा है कि साधुपद के ग्रहण किये बिना किसी भी जीव को केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार परमागम में सर्वज्ञ देव ने यह भी कहा है कि श्रेणी में अधिरूढ़ आचार्यादिक को वह साधुपद क्षणभर में ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि श्रेणी के आरोहण काल में आचार्य और उपाध्याय, दोनों को ही सम्पूर्ण चिन्ताओं का निषेध है लक्षण जिसका, ऐसे ध्यान को धारण करते हैं और उसी के कारण वे यथार्थ मोक्षमार्ग के साधन से साधु कहलाते हैं तथा थोड़े ही काल में केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं।

इसलिए सिद्ध होता है कि श्रेणी के आरोहण काल में विशुद्धि की वृद्धि से आचार्य और उपाध्याय को स्वयमेव साधुपद प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ पर शुक्लध्यान में लवलीन होने से बाह्योपयोग के लिए बिल्कुल अवकाश ही नहीं मिलता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि श्रेणी के चढ़ते समय आचार्य पहले अपने पद की, भले प्रकार छेदोपस्थापना करके पीछे साधुपद को धारण करते हैं। इस प्रकार प्रसंगवश यहाँ पर साधारण रूप से गुरु का लक्षण कहा। विशेष रूप से गुरु के लक्षण को–स्वरूप को यथावकाश आगे कहेंगे।

धर्म का स्वरूप

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः।। 715।।

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शन मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः।। 716।।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्।।717।।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्म शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया।। 718।।

अणुव्रत–महाव्रत का स्वरूप

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः।। 719।।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्।। 720।।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम्।। 721।।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते।। 722॥

धर्म धरे धार्मिक जीवों को नीचे से ऊँचे पद में।
और यहाँ संसार नीच पद तथा उच्च पद शिवथल में।। 1483।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र त्रयात्मक है वह धर्म स्वरूप।
सम्यग्दर्शन एक मूल कारण है ज्ञान-चरित द्वय का।। 1484।।

इसीलिए सागार तथा अनगाररूप इन दोनों को।
धर्म कहें सम्यक्त्व सहित हो उसके बिना न धर्म कहें।। 1485।।

रूढ़ि से तन और वचन की क्रिया धर्म शुभ-फलदायी।
इनके संग अनुकूल मनोवृत्ति भी धर्म कही जाती।। 1486।।

वह प्रवृत्ति है दो प्रकार सागारी अरु अनगारी की।
क्योंकि क्रिया में हो विशेषता तो हो धर्म-विशेष स्वरूप।। 1487।।

हिंसा झूठ तथा चोरी अब्रह्म परिग्रह पापों से।
आंशिकरूप विरक्ति को अणुव्रत गृहस्थ का कहते हैं।। 1488।।

उन्हीं पाँच पापों से पूर्ण विरक्ति महाव्रत कहलाती।
यह जिनरूप मुनिलिङ्ग, नहीं गृहस्थों से पाला जाता।। 1488।।

यथा गृहस्थों के मूलोत्तर गुण आंशिक ही होते हैं।
वैसे मुनियों के नहिं होते उनके पूर्णरूप होते।। 1490।।

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**धार्मिकं**) धर्मात्मा पुरुषों को (**नीचैः पदात्**) नीचपद से (**उच्चैः पदे**) उच्च पद में (**धरति**) धारण करता है (**सः**) वह (**धर्मः**) धर्म कहलाता है तथा (**तत्र**) उन नीच और उच्च पदों में (**आजवज्वः**) संसार (**नीचैः पदं**) नीचपद तथा (**तदत्ययः**) संसार का नाश मोक्ष (**उच्चैः पदं**) उच्च पद कहलाता है।। 715।।

(**सः धर्मः**) वह धर्म (**सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंरूप है तथा (**तत्र**) उन तीनों में (**सद्दर्शनं**) सम्यग्दर्शन (**एतयोः**) सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन दोनों का (**अद्वैत मूलं हेतुः**) एक मूल कारण है।। 716।।

(रूढितः) रूढ़ि से **(अधिवपुः)** शरीर में **(वाचां)** वचनों की **(शुभावहा)** शुभरूप-शुभ फल को देने वाली **(क्रिया)** क्रिया **(धर्मः)** धर्म कहलाती है **(वा)** अथवा **(तत्र)** शरीर में **(अनया सह)** उस वचन की शुभरूप क्रिया के साथ-साथ **(अनुकूलरूपा मनोवृत्तिः)** अनुकूलरूप मन की प्रवृत्ति धर्म कहलाती है।। 717।।

(ततः) इसलिए **(सागाररूपः वा अनगारः वा धर्मः)** सागाररूप अथवा अनगाररूप जो भी धर्म है वह सब **(सदृक्पुरस्सरः एव धर्मः)** सम्यग्दर्शनपूर्वक होने से ही धर्म कहलाता है और **(तद्विना)** उस सम्यग्दर्शन के बिना **(क्वचित्)** कहीं भी वह **(धर्मः न)** धर्म नहीं कहलाता है।। 718।।

(विशेषतः) विशेष कथन की अपेक्षा से **(सर्वसागारानगाराणां सा द्विधा)** सम्पूर्ण गृहस्थ और मुनियों की वह मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया दो प्रकार की है **(यतः)** क्योंकि **(नूनं)** निश्चय से **(क्रियाविशेषात्)** क्रिया की विशेषता से ही **(धर्मविशेषता)** धर्म में विशेषता होती है।। 719।।

(तत्र) उन सागार और अनगाररूप दोनों प्रकार के धर्मों में **(हिंसानृतस्तेयाब्रह्म कृत्स्न-परिग्रहात्)** हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रह से **(देशतः विरतिः)** एकदेश विरक्त होना **(गृहस्थानां अणुव्रतं प्रोक्तं)** गृहस्थों का अणुव्रत कहा गया है।। 720।।

(तेषां हिंसादीनां) उन्हीं हिंसादिक पंच पापों का **(सर्वतः विरतिः)** सर्वदेशरूप से त्याग करना **(महत् व्रतं)** महाव्रत कहलाता है और **(एतत्)** यह **(अर्हतां लिंग)** जिनरूप मुनि लिंग **(सागारिभिः)** गृहस्थों के द्वारा **(कर्तुं न शक्यते)** नहीं पाला जा सकता, किन्तु मुनियों के द्वारा ही पाला जाता है।। 721।।

(यथा) जैसे **(वेश्मवर्तिनां)** गृहस्थों के **(देशतः)** एकदेशरूप से **(मूलोत्तरगुणाः सन्ति)** मूल और उत्तर गुण होते हैं तथा वैसे **(अनगारिणां न स्युः)** मुनियों के एकदेशरूप से नहीं होते हैं, किन्तु उनके **(ते अथ परे)** वे मूल गुण तथा उत्तर गुण **(सर्वत्रः स्युः)** सर्व देशरूप से ही होते हैं।। 722।।

भावार्थ :- नीचपद से उच्च पद में धारण करने वाले आत्मा के स्वभाव को धर्म कहते हैं। संसार, जीव का नीच पद है और मोक्ष उच्च पद है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा उन तीनों में सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रधान कारण है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान व चारित्र में सम्यक्पना नहीं बनता है।

सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही गृहस्थ अथवा मुनिधर्म को धर्म कहते हैं और उसके बिना उन दोनों को भी धर्म नहीं कहते हैं, किन्तु वे दोनों ही अधर्म शब्द से कहे जाते हैं।

रूढ़ि से मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति को धर्म कहते हैं।

क्रिया के भेद से ही धर्म में भेद विवक्षित होता है। इसलिए विशेष कथन की अपेक्षा से मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्तिरूप वह धर्म दो प्रकार का है। एक सागार धर्म और दूसरा अनगार धर्म।

हिंसादिक पाँचों पापों के एकदेश त्याग को अणुव्रत-गृहस्थ धर्म कहते हैं और यह अणुव्रत केवल गृहस्थों के द्वारा ही धारण किया जाता है।

हिंसादिक पाँचों पापों के सर्वथा त्याग को महाव्रत-मुनिधर्म कहते हैं और यह धर्म-व्रत मुनियों के द्वारा ही पाला जाता है, क्योंकि गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थों के द्वारा यह व्रत पालन नहीं किया जा सकता है।

गृहस्थों के समान एक देशरूप से मुनियों के मूलोत्तर गुण नहीं होते हैं, किन्तु उनके (मुनियों के) मूलगुण और उत्तरगुण सर्वदेशरूप से ही होते हैं।

गृहस्थों एवं मुनिराजों के मूलगुण

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे।। 723।।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत् सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम्।। 724।।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा।। 725।।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथा गृही।। 726।।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम्।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसी क्रियाम्।। 727।।

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मध्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत्।। 728।।

व्रतधारी सागारों के जो आठ मूल गुण कहे गए।
किन्हीं अव्रती को भी होते इसीलिए ये साधारण।। 1491।।
ये गुण स्वाभाविक होते हैं या कुल परम्परा से हों।।
इनके बिना नहीं व्रत या सम्यक्त्व जीव को हो सकता।। 1492।।
इनके बिना नाम से भी श्रावक यह जीव न हो सकता।
तो फिर कैसे पाक्षिक नैष्ठिक गूढ़-रु साधक हो सकता।। 1493।।
मद्य मांस मधु एवं पाँच उदम्बर फल का त्यागी हो।
वही गृहस्थ नाम से श्रावक कहलाता अन्यथा नहीं।। 1494।।
यथाशक्ति व्यसनों का त्याग गृहस्थों को है करने योग्य।
कल्याणेच्छुक व्रती गृहस्थों को अवश्य ही करने योग्य।। 1495।।
उनमें कहे दोष अतिचारों को भी त्याज्य अवश्य कहा।
नहिं तो कौन गृही माँसादिक का प्रत्यक्ष भक्षण करता।। 1496।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उनमें (**यस्मात्**) जिस कारण से (**व्रतधारिणां गृहिणां**) व्रती गृहस्थों के (**अष्टौ मूलगुणाः**) जो आठ मूलगूण हैं वे (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**अव्रतिनां च सन्ति**) अव्रती गृहस्थों के भी पाए जाते हैं इसलिए (**इमे सर्वसाधारणाः**) ये आठों ही मूलगुण सर्वसाधारण हैं।। 723।।

(**ते गुणाः**) वे आठ मूलगुण (**निसर्गात्**) स्वभाव से (**वा**) अथवा (**कुलाम्नायात्**) कुलपरंपरा से भी (**आयाताः**) आते हैं अर्थात् गृहस्थों को प्राप्त होते हैं (**तथा**) और (**स्फुटम्**) यह स्पष्ट है कि (**तद्विना**) इन मूलगुणों के बिना (**अङ्गिनां**) जीवों के (**यावत् व्रतं**) सब प्रकार का व्रत (**च**) और (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**न**) नहीं हो सकता है।। 724।।

(**एतावता बिना**) इन मूल गुणों के बिना जब (**एषः**) यह जीव (**नामतः अपि**) नाम से भी (**श्रावकः नास्ति**) श्रावक नहीं हो सकता है तो (**पुनः**) फिर (**पाक्षिकः गूढः नैष्ठिकः अथवा साधकः किं**) पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे हो सकता है ?।। 725।।

(**मद्यमांसमधुत्यागी**) मद्य, मांस तथा मधु का त्याग करने वाला और (**त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः**) पाँचों उदुम्बर फलों को छोड़ने वाला (**गृही**) गृहस्थ (**नामतः**) नाम से (**श्रावकः**) श्रावक (**ख्यातः**) कहलाता है (**अपि**) किन्तु (**अन्यथा तथा न**) मद्यादिक का सेवन करने वाला गृहस्थ नाम से भी श्रावक नहीं कहलाता है।। 726।।

(गृहस्थैः) गृहस्थों को **(यथाशक्ति)** अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार **(व्यसनोज्झनं विधातव्यं)** व्यसनों का त्याग करना चाहिये और **(श्रेयसीं क्रियां इच्छद्भिः)** कल्याणप्रद क्रियाओं के करने की इच्छा करने वाले **(व्रतस्थैः तैः)** व्रती गृहस्थों को तो **(अवश्यं)** अवश्य ही **(तत् व्यसनोज्झनं विधातव्यं)** उन व्यसनों का त्याग करना चाहिये।। 727।।

(तु) और **(तत्र)** मूलगुणों में लगने वाले **(सूत्रे उक्तान्)** शास्त्र में कहे गये **(अतीचार-संज्ञकान्)** अतीचार नामक **(दोषान्)** दोषों को भी **(त्यजेत्)** अवश्य छोड़ना चाहिये **(अन्यथा)** अन्यथा **(मद्यमांसादीन्)** मद्यमांसादिक को **(कः श्रावकः)** कौनसा श्रावक **(समाचरेत्)** खाता है ?।। 728।।

भावार्थ :- व्रती गृहस्थों के समान अव्रती गृहस्थों के भी पाए जाने से गृहस्थों के जो आठ मूलगुण हैं, वे सर्वसाधारण के हैं।

किन्हीं-किन्हीं गृहस्थों की मद्यादिक में स्वभाव से ही प्रवृत्ति नहीं होती है और किन्हीं-किन्हीं के कुल परम्परा की आम्नाय से मद्यादिक के सेवन करने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, इसलिये ये आठों मूलगुण साधारण कहे गये हैं और इनके बिना जीव को सम्यक्त्व तथा किसी प्रकार के व्रत की प्राप्ति नहीं होती है।

जब मूल गुणों के बिना कोई जीव नाम निक्षेप से भी श्रावक नहीं हो सकता है तो फिर पाक्षिक, गूढ*, नैष्ठिक और साधक श्रावक कैसे हो सकेगा ?

तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग करने वाले गृहस्थ को ही नाम से श्रावक कहते हैं, किन्तु जो इससे विपरीत कार्य करने वाला है अर्थात् मद्यादिक का सेवन करने वाला है उसको नाम से भी श्रावक नहीं कहते हैं।

गृहस्थों को अपनी शक्ति के अनुसार व्यसनों का त्याग करना चाहिये और व्रती श्रावकों को तो नियम से ही उनका त्याग करना चाहिये।

गृहस्थों को आचार शास्त्र में प्रसिद्ध उक्त आठ मूलगुणों के अतीचारों का भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि अतीचारों के त्याग पूर्वक अष्ट मूलगुणों का पालन करना ही वास्तव में श्रावकों के अष्ट मूलगुणों का पालन करना कहलाता है। अतीचारों के दूर किये बिना जो मूलगुणों का पालन किया जाता है, वह वास्तव में मूलगुणों का पालन करना नहीं है, कारण कि साक्षात्‌रूप से तो मद्यमांसादिक को कोई श्रावक खाता ही नहीं है।

---

* गूढ़ श्रावक का उल्लेख प्रचलित श्रावकाचारों में नहीं देखा गया।

गृहस्थों को दान-पूजा-व्रतादि कार्यों का निर्देश

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ।। 729 ।।

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया।। 730 ।।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः।। 731 ।।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः।। 732 ।।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम्।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः।। 733 ।।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्त्तव्यं च सधर्मिणां।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम्।। 734 ।।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः।। 735 ।।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयाऽस्ति दूष्या नावद्यलेशतः।। 736 ।।

सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः।। 737 ।।

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत्।। 738 ।।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः।। 739 ।।

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः।। 740 ।।

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात्।। 741।।
उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्रं प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम्।। 742।।

उत्तम श्रावक पात्र-बुद्धि या श्रद्धा से नित दान करें।
उत्तम मध्यम अरु जघन्य पात्रों को दान चतुर्विध दें।। 1497।।
किन्तु कुपात्रों या अपात्र को करुणा पूर्वक देने योग्य।
पात्र बुद्धि से देने का होता निषेध, नहिं करुणा से।। 1498।।
अशुभोदय से क्षुधा तृषा से पीड़ित दीन दुखी को भी।
अभयदान आदिक हैं देने योग्य दयालु श्रावक को।। 1499।।
प्रतिमा में अर्हन्त-बुद्धि से अर्हत्-पूजा करें सुधी।
स्वर व्यञ्जन संस्थापित करके पूजा करें सिद्ध की भी।। 1500।।
आचार्योपाध्याय साधु के सम्मुख जाकर चरणों की -
पहले स्तुति करे, अष्टविध पूजा करे त्रिशुद्धि से।। 1501।।
व्रती अव्रती साधर्मी का यथा-शक्ति सन्मान करो।
त्यागी ब्रह्मचारि साधक का तो विशेष सन्मान करो।। 1502।।
व्रती नारियों का सन्मान जिनागम में न निषिद्ध कहा।
लोकाचारों से अविरुद्ध विनय उनकी भी करने योग्य।। 1503।।
जिन-मन्दिर रचना में सम्पत्ति अनुसार रहे सावधान।
क्योंकि पाप थोड़ा होता इसलिए निषेध नहीं उनका।। 1504।।
सिद्ध-यन्त्र एवं अर्हन्तों की मनोज्ञ प्रतिमाओं को।
जिनालयों में स्थापित कर शीघ्र प्रतिष्ठा करें सुधी।। 1505।।
और तीर्थ-यात्रादिक में भी मन को उद्यत करें सुधी।
किन्तु वहाँ भी श्रावक अपने संयम का न विराधक हो।। 1506।।
नित्य तथा नैमित्तिक होनेवाले जिन-बिम्बोत्सव में।
तत्त्व-ज्ञानियों को विशेषता से न शिथिलता करने योग्य।। 1507।।
यथा-शक्ति प्रतिमा धारण कर या उसके ही बिना गृहस्थ।
दो प्रकार के संयम का पालन अवश्य ही किया करें।। 1508।।

बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार के तप के छह छह भेद कहे।
अपनी शक्ति छिपाए बिना कोई भी तप है करने योग्य।। 1509।।
यहाँ गृहस्थों के व्रत का उल्लेख प्रसंगनुसार किया।
यथा-समय आगे उपासकाध्ययन से भी विस्तार करें।। 1510।।

अन्वयार्थ :- (**श्रावकोत्तमैः**) उत्तम श्रावकों को (**पात्रबुद्धया**) पात्र बुद्धि से (**अथ**) और (**श्रद्धया**) श्रद्धा बुद्धि से (**जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः**) जघन्य मध्यम तथा उत्कृष्ट पात्रों के लिये (**चतुर्विधं दानं देयं**) चार प्रकार का दान देना चाहिये।। 729।।

(**कुपात्राय**) कुपात्र के लिये और (**अपात्राय अपि**) अपात्र के लिये भी (**यथोचितं**) यथायोग्य (**दानं देयं**) दान देना चाहिये क्योंकि कुपात्र तथा अपात्र के लिये (**पात्रबुद्धया**) केवल पात्रबुद्धि से दान देना (**निषिद्धं स्यात्**) निषिद्ध है (**कृपाधिया**) करुणा बुद्धि से दान देना (**निषिद्धं न**) निषिद्ध नहीं है।। 730।।

(**करुणार्णवैः**) दयालु श्रावकों को (**अशुभोदयात्**) अशुभ कर्म के उदय से (**क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्यः शेषेभ्यः दीनेभ्यः**) क्षुधा, तृषा आदि से दुखी शेष दीन प्राणियों के लिये भी (**अभयदानादि**) अभयदानादिक (**दातव्यं**) देना चाहिये।। 731।।

(**सुधीः**) उत्तम बुद्धिवाला श्रावक (**प्रतिमासु**) प्रतिमाओं में (**तद्धिया**) अर्हत की बुद्धि से (**अर्हतां पूजां अपि कुर्यात**) अर्हंत भगवान की पूजा भी करे (**यद्वा**) और (**स्वरव्यंजनानि संस्थाप्य**) सिद्ध यंत्र में स्वर व्यंजनादिक रूप से सिद्धों की स्थापना करके (**सिद्धान् अपि अर्चयेत्**) सिद्ध भगवान की भी पूजा करे।। 732।।

(**सः**) वह श्रावक (**सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरः**) आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के सामने जाकर (**प्राक्**) पहले (**तत्पादयोः स्तुतिं विधाय**) उनके चरण कमलों की स्तुति करके (**त्रिशुद्धितः**) मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक उनकी भी (**अष्टधा पूजां विदध्यात्**) अष्ट द्रव्य से पूजा करें।। 733।।

(**यथाशक्ति**) अपनी शक्ति के अनुसार (**व्रतिनां वा इतरेषां च सधर्मिणां**) व्रती अथवा अव्रती साधर्मी जनों का (**सम्मानादि कर्तव्यं**) सन्मान आदि करना चाहिये (**च**) तथा (**ब्रह्मचारिणां**) त्यागी ब्रह्मचारियों का तो (**विशेषात्**) विशेषरूप से सन्मान आदि करना चाहिये।। 734।।

(**जिनागमे**) जिनागम में (**व्रताढ्याभ्यः नारीभ्यः अपि**) व्रतों से परिपूर्ण स्त्रियों का भी सन्मानादिक करना (**निषिद्धं न**) निषिद्ध नहीं है इसलिए व्रती स्त्रियों का भी (**लोकानां अविरुद्धतः**) लोक व्यवहार के अनुकूल (**सम्मानदानादि देयं**) सन्मान दानादिक करना चाहिये।। 735।।

(यथासम्पत्) अपनी सम्पत्ति के अनुसार **(जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे)** जिन मंदिर आदि के बनवाने में भी **(सावधानता विधेया)** सावधानता करना चाहिये क्योंकि **(अवद्यलेशतः)** थोड़ा सा पाप होने के कारण जिनमन्दिर आदि का बनवाना **(दूष्या न अस्ति)** निंद्य नहीं है।। 736 ।।

(सुधीः) ज्ञानी श्रावक **(सिद्धानां यन्त्राणि)** सिद्धों के यंत्रों को **(अपि च)** और **(अर्हतां शुभाः प्रतिमाः)** अर्हन्त भगवान की मनोज्ञ प्रतिमाओं को **(चैत्यालयेषु संस्थाप्य)** जिनालयों में स्थापित करके **(द्राक् प्रतिष्ठापयेत्)** शीघ्र ही उनकी प्रतिष्ठा करे।। 737 ।।

(अथ) और **(सः श्रावकः)** वह श्रावक **(तीर्थादियात्रासु)** तीर्थादिक की यात्रा में भी **(मनः)** मन को **(सोद्यतं विदध्यात्)** तत्पर करे **(च)** तथा **(तत्रापि)** उस तीर्थयात्रादिक में भी वह **(संयमं न विराधयेत्)** अपने संयम की विराधना नहीं करे अर्थात् संयम में बाधा नहीं आने देवे।। 738 ।।

(एवं च) इसी प्रकार **(नित्ये च नैमित्तिके)** नित्य और नैमित्तिक रूप से होने वाले **(जिनबिम्बमहोत्सवे)** जिनबिम्ब महोत्सव में भी **(शैथिल्यं नैव कर्तव्यं)** शिथिलता नहीं करना चाहिये तथा **(तत्त्वज्ञैः)** तत्त्वज्ञानियों को तो **(तत् विशेषतः न कर्तव्यं)** वह शिथिलता कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं करना चाहिये।। 739 ।।

(गृहमेधिभिः) गृहस्थों को **(स्वशक्तितः)** अपनी शक्ति के अनुसार **(प्रतिमारूपं व्रतं)** प्रतिमारूप से व्रत **(यद्वा)** अथवा **(प्रतिमारूपं बिना अपि)** बिना प्रतिमारूप से व्रत **(एवं)** इस प्रकार **(द्विविधः संयमश्च)** दोनों प्रकार का संयम भी **(विधेयः)** पालना चाहिये।। 740 ।।

(बाह्याभ्यन्तरभेदतः) बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से **(द्वेधा तपः)** दो प्रकार का तप अपने-अपने अवान्तर छह-छह भेदों की अपेक्षा से **(द्वादशधा)** बारह प्रकार का है, उनमें से श्रावकों को **(अनतिवीर्यसात्)** अपनी शक्ति के अनुसार **(कृत्स्नं)** सम्पूर्ण **(वा)** अथवा **(अन्यतमं च तत् कार्यं)** किसी एक प्रकार के ही तप को करना चाहिए।। 741 ।।

(अत्रापि) यहाँ पर भी **(प्रसङ्गात् वा)** प्रसंगानुसार **(दिङ्मात्रतः)** संक्षेप से **(गृहिव्रतं उक्तं)** गृहस्थों के व्रत का निरूपण किया **(च)** और **(सविस्तरं)** विस्तार पूर्वक गृहस्थ धर्म का निरूपण तो **(सावकाशं)** मौका मिलने पर **(उपासकाध्यायात्)** उपासकाध्ययन से **(वक्ष्ये)** आगे कहेंगे।। 742 ।।

भावार्थ :- श्रावकों को तीनों ही प्रकार के पात्रों के लिए श्रद्धापूर्वक पात्र बुद्धि से चार प्रकार का दान देना चाहिये।

सम्यक्त्व के बिना व्रत पालन करने वाले कुपात्र के लिये और सम्यक्त्व तथा व्रत से रहित मिथ्या चारित्र पालन करने वाले अपात्र के लिये भी कृपाबुद्धि से दान देना चाहिये, क्योंकि इन दोनों के लिये पात्रबुद्धि से दान देने का निषेध किया गया है, करुणा बुद्धि से दान देने का निषेध नहीं है।

गृहस्थों को उक्त पात्र, कुपात्र और अपात्रों से बाकी बचे हुए, अशुभकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली क्षुधादिक की पीड़ा से दुखी प्राणियों के लिए भी अभयदानादिक देना चाहिये।

श्रावकों को प्रतिमाओं में अर्हंत की स्थापना करके अर्थात् भगवान को तथा स्वर व्यंजनादिक रूप में सिद्धयन्त्र में सिद्ध की स्थापना करके सिद्ध भगवान की भी पूजा करना चाहिये।

श्रावक को आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के सामने स्वयं उपस्थित होकर पहले उनके चरणों की स्तुति करना चाहिये तथा फिर अष्ट द्रव्य से पूजा करना चाहिये।

श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार व्रती और अव्रती दोनों ही प्रकार के साधर्मी जनों का यथायोग्य सन्मानादिक करना चाहिये तथा ब्रह्मचारी साधर्मी जनों का तो विशेषरूप से सन्मान आदि करना चाहिये।

जैनागम में व्रती स्त्रियों का आदर सत्कार करना, उनको सन्मान देना आदि निषिद्ध नहीं है, इसलिये लोकव्यवहार के अनुकूल उनका भी आदर सत्कार, सन्मान आदि करना चाहिये।

यद्यपि जिनमंदिरादिक बनवाने में जीव हिंसा होने के कारण थोड़ा सा पाप लगता है, परन्तु पुण्य की अधिकता होने के कारण वह थोड़ा-सा पाप निंद्यनीय नहीं समझा जाता, अर्थात् पाप नहीं माना जाता, इसलिए गृहस्थों को अपनी शक्ति के अनुसार जिनमंदिर आदि भी बनवाना चाहिये।

गृहस्थों को जिनमंदिरों में सिद्ध यंत्र तथा अर्हन्त भगवान की प्रतिमाओं को स्थापित करके उनकी शीघ्र ही विधिपूर्वक प्रतिष्ठा कराना चाहिये।

गृहस्थों को अपने संयम की रक्षा करते हुए तीर्थयात्रा आदि पुण्य को बढ़ाने वाले कार्य भी करना चाहिये।

श्रावकों को नित्य तथा नैमित्तिकरूप से होने वाले जो जिनबिम्ब आदि महोत्सव है उनमें भी शिथिलता नहीं करना चाहिये, किन्तु उत्साह पूर्वक उनमें सम्मिलित होना चाहिये और तत्त्वज्ञानियों को तो विशेषरूप से उनमें सम्मिलित होना चाहिये।

गृहस्थों को प्रतिमारूप से अथवा बिना प्रतिमारूप से भी संयम का पालन करना चाहिये। जो प्रतिमारूप से व्रतों का पालन करते हैं, उन्हें नैष्ठिक श्रावक कहते हैं और जो बिना प्रतिमारूप से व्रतों का पालन करते हैं, उन्हें पाक्षिक श्रावक कहते हैं।

तप के दो भेद हैं - एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर तप। बाह्य तप के अनशन आदि छह भेद हैं। अभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त, विनय आदि छह भेद हैं। इस प्रकार बाह्य तथा अभ्यन्तर के भेद से जो दो प्रकार का तप है, उसके बारह भेद हो जाते हैं। उनमें से श्रावकों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सम्पूर्ण अथवा किसी एक प्रकार के तप को करना चाहिए।

इस प्रकार प्रसंगवश गृहस्थधर्म का संक्षेप से निरूपण किया विस्तारपूर्वक उस गृहस्थ धर्म का निरूपण मौका मिलने पर उपासकाध्ययन के अनुसार आगे करेंगे।

मुनिराजों के मूलगुण

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन।। 743।।
संवैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि।। 744।।

(आर्या छन्द)

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।। 745।।*
एते मूलगुणाः प्रोक्ता यतीनां जैनशासने।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तर संज्ञकाः।। 746।।

मुनि के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं तरु-मूल समान।
कभी एक भी कम नहिं होते और अधिक भी नहिं होते।। 1511।।
सभी मूलगुण से सम्पूर्ण मुनिव्रत की सिद्धि होती।
मात्र अंशग्राही नयवत्, कम गुण से मुनिव्रत सिद्ध नहीं।। 1512।।
इन्द्रिय निरोध व्रत समिति लौंच आवश्यक नग्नपना अस्नान।
भूमि-शयन, नहिं दन्त धोवना एक-भुक्ति है खड़े-खड़े।। 1512।।
जिन-शासन में ये अट्ठाइस कहे मूलगुण मुनियों के।
इनके संग में लख चौरासी उत्तर-गुण भी कहे गए।। 1513।।

अन्वयार्थ :- (**तरोः मूलवत्**) वृक्ष की जड़ के समान (**यतेः**) मुनि के (**अष्टाविंशतिः मूलगुणाः सन्ति**) अट्ठाईस मूल गुण होते हैं (**अपि च**) और (**अत्र**) इन अठ्ठाईस मूल गुणों में

* यह आर्या छन्द बनारस से प्रकाशित प्रत में उक्तं च कहकर उद्धृत किया गया है।

से मुनियों के वे मूल गुण (**कदाचन**) किसी भी समय (**न अन्यतमेन ऊनाः**) न तो किसी एक से कम तथा (**न अतिरिक्ताः**) न अधिक होते हैं।। 743।।

(**यावत् मुनिव्रत**) सम्पूर्ण मुनिव्रत (**एभिः सर्वै च समस्तैः**) इन सब और समस्त मूलगुणों से ही (**सिद्ध**) सिद्ध होता है (**तु**) किन्तु यावत् (**अंशनयात् अपि**) केवल अंश को ही विषय करने वाले किसी एक नय की अपेक्षा से (**व्यस्तैः**) असमस्त मूलगुणों के द्वारा (**व्यस्तमात्रं न**) एकदेशरूप मुनिव्रत सिद्ध नहीं होता है।। 744।।

(**वदसमिदिंदियरोधो**) पाँच महाव्रत और पाँच समितियों का धारण करना, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना (**लोचः**) केशलौंच करना (**आवस्सयं**) छह आवश्यक पालना (**अचेलं**) नग्न दिगम्बर रहना (**अन्हाणं**) स्नान न करना (**खिदिसयणं**) भूमि पर शयन करना (**अदन्तमणं**) दतोन नहीं करना (**ठिदिभोयणं**) खड़े होकर भोजन करना (**च**) और (**एयभत्तं**) एक बार अल्प भोजन करना - ये मुनियों के अट्ठाईस मूल गुण हैं।। 745।।

(**जैनशासने**) जिनागम में (**यतीनां एते मूलगुणा प्रोक्ताः**) मुनियों के ये अट्ठाईस मूलगुण कहे हैं (**च**) और (**लक्षाणां चतुरशीतिः**) चौरासी लाख (**उत्तरसंज्ञकाः गुणाः**) उत्तरगुण कहे हैं।। 746।।

भावार्थ :- वृक्ष के लिये जड़ के समान मुनिव्रत के लिए मूलभूत मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इनमें से मुनियों के न तो कोई गुण कम होता है और न कोई गुण अधिक ही होता है, किन्तु अठ्ठाईस ही होते हैं।

अठ्ठाईस मूलगुणों से युक्त होने पर ही मुनिव्रत, मुनिव्रत कहलाता है। किन्तु कुछ मूलगुणों के पालने से वह मुनिव्रत व्यस्तमात्र एकदेश मुनिव्रत नहीं कहलाता है अर्थात् सम्पूर्ण मूलगुणों के पालने से ही मुनिव्रत सिद्ध होता है, कम से नहीं।

5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियों का निरोध, 6 आवश्यक, केशलोंच, अदन्तधावन, अस्नान, भूमिशयन, खड़े होकर भोजन लेना और एक बार भोजन करना ये मुनियों के 28 मूलगुण कहलाते हैं।

मुनियों के उपर्युक्त 28 मूलगुण होते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुण होते हैं।

अहिंसा धर्म का स्वरूप

ततः सागारधर्मोवाऽनगारो वा यथोदितः।
प्राणिसंरक्षणंमूलमुभयत्राविशेषतः ।। 747।।

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम्।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये।। 748।।
अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृतिव्रतमुच्यते।। 749।।
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सर्व हिंसा प्रकीर्तिता।। 750।।
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि।। 751।।
तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत्।। 752।।
सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा।। 753।।
लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम्।
हिंसास्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः।। 754।।
अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल।। 755।।
आत्मेतराङ्गिणामंगारक्षणं यन्मतं स्मृतौ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्र तत्।। 756।।
सत्सु रागादि भावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात्।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः।। 757॥

इसीलिए सागार तथा अनगार धर्म जो कहे गए।
दोनों में सामान्यरूप से धर्म अहिंसा मूल कहा।। 1514।।
सभी व्रतों की बाह्य क्रिया विस्ताररूप जो कही गई।
वह सब ही सावद्य योग से निवृत्ति के लिए कही।। 1515।।
वास्तव में जैनोपदेश एवं आदेश मात्र इतना।
सब सावद्य-योग से निवृत्ति ही व्रत कहलाता है।। 1516।।

सर्व संग से अन्तरंग बहिरंग प्रवृत्ति कही गई।
प्राणों का उच्छेद यही हिंसा सावद्य कही जाती।। 1517।।

उसमें जो उपयोग बुद्धि-पूर्वक वह योग शब्द का वाच्य।
सूक्ष्म अबुद्धि-पूर्वक भी उपयोग योग का होता वाच्य।। 1518।।

सावद्य-योग के त्यागरूप जो है निवृत्ति वह ही व्रत है।
अंशरूप हो तो अणुव्रत है पूर्ण निवृत्ति महाव्रत है।। 1519।।

अतः सर्वतः सिद्ध हुआ कि जीवदया है व्रत-बहिरंग।
और कषायों का अभाव अन्तर-व्रत यह स्व-दया कहा।। 1520।।

लोक-असंख्य प्रमाण राग-द्वेषदि भाव जो होते हैं।
उनसे संवेदन स्वधर्म की हिंसा वही स्व-हिंसा है।। 1521।।

अतः राग भावों को ही हिंसा अधर्म अव्रत कहते।
निश्चय से उनके अभाव को धर्म-अहिंसा व्रत कहते।। 1522।।

इसीलिए आगम में जो निज-पर की रक्षा कही गई।
वह केवल निज की रक्षा के लिए अन्य के लिए नहीं।। 1523।।

रागादिक भावों से होता है बलात् कर्मों का बन्ध।
कर्मोदय से जीव दुःखी हो अतः राग से स्व-हिंसा।। 1524।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) इसलिए (**यथोदितः**) यथोक्त जो (**सागारधर्मः**) सागार धर्म (**वा**) अथवा (**अनगारः वा**) अनगार धर्म है (**उभयत्र**) उन दोनों में ही (**अविशेषतः**) सामान्यरूप से (**प्राणिसंरक्षणं**) अहिंसारूप धर्म (**मूलं**) मूलरूप से हैं।। 747।।

(**यत्**) जो (**व्यासात्**) विस्तार से (**क्रियारूपं**) शुभ प्रवृत्तिरूप (**व्रत-कदम्बकं**) व्रत, समुदाय (**उक्तं अस्ति**) कहा गया है (**तत्**) वह सब (**एकस्य सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तये**) एक सर्व सावद्य योग की निवृत्ति के लिए है।। 748।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**अयं**) यही (**जैनोपदेशः**) जैनाचार्यों का उपदेश है (**च**) और (**सः एव**) वही (**आदेशः अस्ति**) आदेश भी है कि केवल (**सर्वसावद्य योगस्य**) सम्पूर्ण सावद्य योग की (**निवृत्तिः**) निवृत्ति ही (**व्रतं उच्यते**) व्रत कहलाता है।। 749।।

(**यत्**) क्योंकि (**तत्र**) उस सर्व सावद्य योग शब्द में (**अर्थतः**) अर्थ की अपेक्षा से (**सर्व शब्देन**) सर्व शब्द से (**अन्तर्बहिर्वृत्तिः**) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रवृत्ति है तथा (**हि**) निश्चय से

(सावद्यं प्राणच्छेदः) सावद्य शब्द का अर्थ प्राणच्छेद है और **(सा एव)** वही **(हिंसा प्रकीर्तिना)** हिंसा कही जाती है तथा।। 750।।

(तत्र) उस हिंसा में **(यः)** जो **(बुद्धिपूर्वः उपयोगः)** बुद्धिपूर्वक उपयोग होता है **(सः)** वह **(योगः उच्यते)** योग शब्द का अर्थ है **(वा)** और **(यः)** जो **(अबुद्धिपूर्वः)** अबुद्धिपूर्वक **(च)** तथा **(सूक्ष्मः)** सूक्ष्म उपयोग होता है **(सः अपि)** वह भी **(योगः इति स्मृतः)** योग शब्द का अर्थ है।। 751।।

और **(अर्थात्)** वास्तव में **(तस्य अभावात्)** उस सर्व सावद्य योग के अभाव से जो **(निवृत्तिः स्यात्)** निवृत्ति होती है उसी को **(व्रतं वा इति स्मृतिः)** व्रत कहते हैं तथा यदि **(सा)** वह निवृत्ति **(अंशात्)** अंशरूप से हो तो **(तत् अपि)** वह व्रत भी **(अंशतः)** अणुव्रत कहलाता है और यदि **(सा)** वह **(सर्वतः)** सम्पूर्ण रूप से हो तो **(तत् अपि)** वह व्रत भी **(सर्वतः)** महाव्रत कहलाता है।। 752।।

(एतत्) यह **(सर्वतः सिद्ध एव)** सब तरह से सिद्ध होता है कि जो **(आंगिषुदया)** सब प्राणियों पर दया करना है वह **(बाह्यं व्रतं)** बहिरंग व्रत है और जो **(कषायाणां त्यागः)** कषायों का त्याग करना है वह **(अन्तःव्रत)** अन्तर्व्रत है **(तथा सा एव आत्मनि कृपा)** वही अन्तव्रत स्वदया कहलाती है।। 753।।

(स्फुटं) यह बात स्पष्ट है कि **(यावत्)** जब तक **(ते लोकासंख्यातमात्राः रागादयः सन्ति)** वे असंख्यात लोकप्रमाण रागद्वेषादिक भाव रहते हैं **(तावत्)** तब तक प्रत्येक के द्वारा **(चितः)** आत्मा के **(संविदादीनां धर्माणां)** स्वसंवेदन आदि धर्मों की **(हिंसनात्)** हिंसा होने से **(हिंसा स्यात्)** स्व-हिंसा होती रहती है।। 754।।

(अर्थात्) अर्थात् **(रागादयः)** रागादिक का नाम ही **(हिंसा अधर्मः च व्रतच्युतिः अस्ति)** हिंसा, अधर्म और अव्रत है तथा **(किल)** निश्चय से **(तत्परित्यागः)** उनके त्याग का ही नाम **(अहिंसा व्रतं अथवा धर्मः)** अहिंसा, व्रत अथवा धर्म है।। 755।।

(अतः) इसलिये **(यत्)** जो **(स्मृतौ)** आगम में **(आत्मेतरांगिणां)** स्व और अन्य प्राणियों की **(अंगरक्षणं मतं)** अहिंसा का सिद्धान्त माना गया है **(तत्)** वह **(परं)** केवल **(स्वात्मरक्षायाः कृते)** स्वात्मरक्षा के लिए ही है **(परत्र कृते तत् न)** पर के लिए नहीं है।। 756।।

(रागादि भावेषु सत्सु) रागादिक भावों के होने पर **(बलात्)** जबरन **(कर्मणां बन्धः स्यात्)** कर्मों का बन्ध होता है और **(तत्पाकात्)** उन कर्मों के उदय से **(आत्मनः दुःखं)** आत्मा को दुःख होता है **(तत्)** इसलिये रागादिक भावों के द्वारा **(स्वात्मनः वधः सिद्धः)** स्वात्मा का वध सिद्ध होता है।। 757।।

भावार्थ :- उपर्युक्त इन सागार और अनगाररूप दोनों ही धर्मों में अहिंसा मूलरूप से पायी जाती है तथा शेष सत्यादिक धर्म उसके परिकररूप से पाए जाते हैं।

प्रवृत्तिरूप पाँचों ही व्रत केवल एक सर्वसावद्यरूप पापों की निवृत्ति के लिए ही कहे गए हैं।

जिनेन्द्र भगवान का यही आदेश और उपदेश है कि सम्पूर्ण पापों के त्याग को ही व्रत कहते हैं। अब आगे 'सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति' शब्द का अन्वय अर्थ बताते हैं –

'सर्व सावद्य योग निवृत्ति' इस वाक्य का प्रत्येक शब्द के अर्थ के अनुसार यह अर्थ होता है कि सर्व इस शब्द से सब प्रकार की अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति का बोध होता है। सर्व सावद्य इस शब्द से हिंसा का बोध होता है। योग इस शब्द से हिंसा में जो बुद्धिपूर्वक स्थूल उपयोग तथा अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है, उन दोनों का बोध होता है और निवृत्ति इस शब्द से सब प्रकार की अन्तरंग तथा बहिरंग प्रवृत्ति में जो हिंसा के लिये, बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक जीव का उपयोग होता है उसके त्याग का बोध होता है। इस प्रकार सर्व सावद्य योग की निवृत्ति शब्द का, सर्व प्रकार की हिंसा में आत्मा के सब प्रकार के उपयोग का त्याग – यह अर्थ होता है और इसी को व्रत कहते हैं। यदि वह सर्व सावद्य योग की निवृत्ति अंशरूप से हो तो व्रत भी एकदेश व्रत कहलाता है तथा यदि वह निवृत्ति पूर्णरूप से हो वो व्रत भी महाव्रत/सर्वदेशव्रत कहलाते हैं।

सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति को व्रत कहते हैं, इसलिए यह सिद्ध होता है कि जीवों पर दया करना बहिरंग व्रत तथा अपनी कषायों का त्याग करना अन्तरंग व्रत कहलाता है और यही अन्तरंग व्रत स्व-दया है।

रागादिक भावों के द्वारा आत्मा के स्वसंवेदनादि गुणों का घात होता है, इसलिए वे रागादिक भाव हिंसारूप हैं।

वास्तव में रागादिक को ही हिंसा, अधर्म और व्रतच्युति तथा रागादिक के अभाव को ही अहिंसा, धर्म और व्रत समझना चाहिये।

दूसरे जीवों की रक्षा करने से प्रमाद का परिहार होता है, इसलिए पर-रक्षा भी स्वात्म-रक्षा कहलाती है।

रागादिक भावों से कर्मों का बन्ध होता है और उनके उदय से आत्मा में दुःख होता है तथा उस दुःख का होना ही आत्मा का वध है इसलिए सिद्ध होता है कि रागादिक के द्वारा आत्मा का वध होता है।

शुद्धोपयोग ही निश्चय चारित्र और व्रत है

ततः शुद्धोपयोगो यो मोह कर्मोदयादृते।
चारित्रापरनामै तद् व्रतं निश्चयतः परम्।। 758।।
चारित्रं निर्जरा हेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम्।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत्।। 759।।
रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात्।। 760।।
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत्।। 761।।
विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र संभवात्।। 762।।
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभोनाप्यशुभावहात्।। 763।।
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः।। 764।।

उक्तं च –

(आर्या)

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।
निश्चय से चारित्र धर्म है, धर्म कहें जिनवर सम भाव।
साम्य भाव है मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का निज भाव।।

– प्रवचनसार, गाथा 7

(खलु) निश्चय करके **(चारित्रं धम्मो)** चारित्र को ही धर्म कहते हैं और **(जो धम्मो)** जो धर्म है **(सो समोत्ति णिद्दिट्ठो)** उसी को सम कहते हैं क्योंकि **(मोहक्खोहविहीणो)** मोह और क्रोध से रहित **(अप्पणो परिणामो धम्मो)** आत्मा का परिणाम ही धर्म है।

चारित्र को ही धर्म कहते हैं, क्योंकि धर्म समरूप अवस्था को कहते हैं, इसलिए आत्मा के जिस

परिणाम में मोह के निमित्त से मूर्च्छा और क्रोध के निमित्त से चंचलता नहीं है, उस समरूप परिणाम को धर्म कहते हैं।

मोह-कर्म के असद्भाव से जो शुद्धोपयोग होता।
निश्चय से चारित्र यही है अपर नाम है व्रत उत्कृष्ट।। 1525।।
यह चारित्र निर्जरा हेतु सिद्ध न्याय से है निर्बाध।
स्वार्थ क्रिया में है समर्थ दीपकवत् सार्थक नाम सहित।। 1526।।
लोक-रूढ़ि से शुभोपयोग को भी चारित्र कहा जाता।
स्वार्थ क्रिया नहिं करता है वह अतः सार्थक नाम नहीं।। 1527।।
और बन्ध-कारण वह वास्तव में अशुभोपयोग जैसा।
अतः नहीं है श्रेष्ठ क्योंकि जो भला-बुरा न करे वह श्रेष्ठ।। 1528।।
शुद्ध क्रिया से भिन्न सभी एकान्त-बन्ध का कारण है।
नहिं असिद्ध है बन्ध कार्यकारीपन इसका करो विचार।। 1529।।
मन्द-बुद्धि से वह आंशिक निर्जरा हेतु - यह नहिं मानो।
नहिं मुक्ति का हेतु अतः शुभ नहीं, अशुभ ही है जानो।। 1530।।
कर्मास्त्रव निरोध जिससे हो वही स्वरूपाचरण कहा।
वह चरित्र शुद्धोपयोग अरु धर्म नाम से कहा गया।। 1531।।

अन्वयार्थ :- (**ततः**) इसलिए (**यः**) जो (**मोहकर्मोदयात् ऋते**) मोहनीय कर्म के उदय के अभाव में (**शुद्धोपयोगः**) शुद्धोपयोग होता है (**एतत्**) यही (**निश्चयतः**) निश्चयनय से (**चारित्रापरनाम**) चारित्र है, जिसका दूसरा नाम (**परं व्रतं**) उत्कृष्ट व्रत है।। 758।।

(**चारित्रं निर्जरा हेतुः**) यह चारित्र निर्जरा का कारण है यह बात (**न्यायात् अपि अबाधितं अस्ति**) न्याय से भी अबाधित है कि वह चारित्र (**सर्वस्वार्थ क्रियां अर्हन्**) अन्वर्थ क्रिया में समर्थ होता हुआ (**दीपवत् सार्थनामा अस्ति**) दीपक की तरह अन्वर्थ नामधारी है।। 759।।

(**रुढ़े**) यद्यपि लोकरूढ़ि से (**शुभोपयोगः अपि**) शुभोपयोग भी (**चारित्रसंज्ञया ख्यातः**) चारित्र नाम से कहा जाता है परन्तु (**निश्चयात्**) निश्चयनय से वह चारित्र (**स्वार्थ-क्रियां अकुर्वाणः**) स्वार्थ क्रिया को नहीं करने से अर्थात् आत्मा में लीनतारूप अर्थ का धारी न होने से (**सार्थनामा न**) अन्वर्थ नामधारी नहीं है (**किन्तु**) परन्तु (**अर्थात्**) वास्तव में (**प्रत्यनीकवत्**) अशुभोपयोग की तरह (**तत्**) वह (**बन्धस्य हेतः स्यात्**) बन्ध का ही कारण होता है, इसलिए (**असौ वरम् न**) यह उत्तम नहीं है क्योंकि (**यः**) जो (**अपकारोपकारकृत् न**) अपकार और उपकार का करने वाला नहीं है (**सः वरं**) वही उत्तम है।। 760-761।।

(एकान्ततः) नियम से **(शुद्धात् अन्यत्र बन्धस्य सम्भवात्)** शुद्ध क्रिया को छोड़कर शेष क्रियायें बन्ध की ही जनक होती हैं **(हेतोः)** इस हेतु से **(विचारसात्)** विचार करने पर **(अस्य)** इस शुभोपयोग को **(विरुद्धकार्यकरित्वं)** विरुद्ध कार्यकारित्व **(असिद्धं न)** असिद्ध नहीं है।। 762 ।।

(प्रज्ञापराधत्वात्) बुद्धि की मन्दता से **(न उह्यम्)** यह आशंका नहीं करना चाहिये कि **(अंशतः निर्जर हेतुः)** शुभोपयोग एक देश से निर्जरा का कारण हो सकता है कारण **(अशुभावहात्)** निश्चयनय से शुभोपयोग भी संसार का कारण होने से **(प्रबन्धहेतुः न अस्ति)** वह निर्जरादिक का हेतु नहीं हो सकता है और **(न शुभा अपि)** न वह शुभ ही कहा जा सकता है।। 763 ।।

(यत्) जो **(कर्मादानक्रियारोधः)** कर्मों की आस्रवरूप क्रिया का रुक जाना है वही **(स्वरूपाचरणं)** स्वरूपाचरण है **(च)** और **(सैषः चारित्रसंज्ञकः शुद्धोपयोगः धर्मः स्यात्)** वही चारित्र नामधारी है, शुद्धोपयोग है तथा धर्म है।। 764 ।।

भावार्थ :- इस प्रकार पूर्वोक्त कथन से सिद्ध होता है कि चारित्रमोह के अभाव से जो आत्मा में शुद्धोपयोग होता है, उसको ही निश्चय से व्रत अथवा चारित्र कहते हैं।

'आत्मा येन स्वात्मनि चर्यते तत् चारित्रं' अर्थात् जिस गुण के द्वारा आत्मा, आत्मा में लीन होता है उसे चारित्र कहते हैं और इसका ही यह निरुक्तिकृत अर्थ है कि आत्मा रागद्वेषादिरूप हिंसा से रहित होकर जो आत्मा में लीन होता है उसी को शुद्धोपयोग कहते हैं। जहाँ पर चारित्र का यह यथार्थ अर्थ प्रगट नहीं होता अर्थात् आत्मा में लीनता सिद्ध नहीं होती, वहाँ पर वास्तविक चारित्र भी सिद्ध नहीं होता है और यह चारित्र अवश्य ही निर्जरा का हेतु है।

यद्यपि रूढ़ि से व्यवहारनय से शुभ प्रवृत्ति को भी चारित्र कहते हैं। परन्तु वह चारित्र, शुभ प्रवृत्तिमय होने से शुभास्रव का ही कारण है संवर व निर्जरा का नहीं। इसलिए वह शुभोपयोगरूप चारित्र निश्चयनय से चारित्र नहीं कहा जाता है, किन्तु अशुभोपयोग की तरह बन्ध का ही कारण माना जाता है, अतः वह उपादेय नहीं है क्योंकि निश्चयनय से जो अपकार उपकार व किसी को भी नहीं करता है, वह शुद्धोपयोग ही उपादेय माना गया है।

विचार कर देखा जाय तो शुभोपयोग में विरुद्ध कार्यकारित्व/संसारकार्यकारत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोग को छोड़कर सब क्रियाएँ केवल बन्ध की जनक मानी गई हैं।

शुभोपयोग को निर्जरा का कारण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि शुभोपयोग भी तो बन्ध का कारण है, अतः वह केवल व्यवहार से शुभ माना जाता है क्योंकि वास्तव में जिसके द्वारा संवर व निर्जरा हो उसको ही शुभ कहते हैं, अतः शुभोपयोग से जो शुभ बन्ध होता है, वह भी बन्ध है, इसलिये शुभोपयोग भी अशुभ है, शुभ नहीं।

वास्तव में कर्मों के आस्रव के निरोध को ही स्वरूपाचरण, शुद्ध चारित्र, शुद्धोपयोग और धर्म कहते हैं।

शंका

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया।। 765।।

समाधान

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रांतर्गतंमिथः।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखंडितम्।। 766।।
किञ्च सदर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः।। 767।।
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत्।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम्।। 768।।
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी।
साभवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवाऽपि च।। 769।।
यत्पुनर्द्रव्य चारित्रं श्रुतज्ञानं विनापिदृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्तिचेत्कर्मबन्धकृत्।। 770।।
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित्।
मोक्षमार्गेकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि।। 771।।
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्धएव स्यान्नारागांशैः कदाचन।। 772।।
येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।। 773।।[10]
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसंगात्संगतोंऽशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्ताराद्वा करिष्यति।। 774।।

10. यह गाथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की 212वीं गाथा है, अतः बनारस से प्रकाशित प्रति में स्व. पण्डित फूलचन्दजी ने इसमें क्रमांक न देकर उक्तञ्च के रूप में समाविष्ट किया है।

देवे गुरो तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थ दर्शिनी।
ख्याताऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता।। 775।।
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः।[11]
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः।। 776।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरितमय एक मुक्ति का मार्ग कहा।
भिन्न-भिन्न ये नहीं मोक्ष पथ, तो केवल चारित कैसे।। 1532।।
सत्य कहा, पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान, चरित में अन्तर्भूत।
ये तीनों है अविनाभावी अतः अखण्डित कहे गए।। 1533।।
तथा ज्ञान एवं चारित का कारण सम्यग्दर्शन है।
दोनों में सम्यक्त्व विशेषण भी समकित के कारण है।। 1534।।
सम्यग्दर्शन के होते ही पहले के ज्ञान-रु चारित्र-
सम्यक् होते, अतः उसे सद्ज्ञान-चरित का जनक कहा।। 1535।।
जो शुद्धोपलब्धि-शक्ति है वही ज्ञान सातिशय करे।
वह शक्ति समकित से होती शुद्धभाव भी समकित से।। 1536।।
सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य-चारित्र तथा जो है श्रुतज्ञान।
वे नहिं ज्ञान-चरित्र क्योंकि वे कर्म बन्ध के कारण हैं।। 1537।।
तीनों में से किसी एक का भी यदि कथन किया जाए।
मोक्षमार्ग के साधक हैं इसलिए न दोष कहा जाए।। 1538।।
प्रश्न-चतुर को बन्ध-मोक्ष का यह संक्षेप जानने योग्य।
राग अंश से बन्धन होता अरागांश से बन्ध नहीं।। 1539।।
आत्मा को जो अंश सुदृष्टि-स्वरूप, नहीं बन्धन उससे।
रागरूप जो अंश रहा है बन्धन होता है उससे।। 1539।।
युक्तियुक्त संक्षिप्त धर्म का वर्णन किया प्रसंगनुसार।
यथा-समय आगे भी कभी करेंगे इसका ही विस्तार।। 1540।।
देव-गुरु में और धर्म में जो तत्त्वार्थ-दर्शि दृष्टि।
वह अमूढ़-दृष्टि कहलाती मूढ़-दृष्टि इससे विपरीत।। 1541।।

---

11. छन्द 588 से सम्यग्दृष्टि के अमूढ़दृष्टि अंग का वर्णन प्रारम्भ किया गया था, जिसके अंतर्गत देव-गुरु-धर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है, अब इस प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन का यह लक्षण नहीं दोष उत्पन्न करे।
क्योंकि सुदृष्टि अमूढ़ रहे मिथ्यादृष्टि नित मूढ़ रहे।। 1542।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**समस्तैः सद्दर्शनज्ञानचारित्रैः एव**) समुदायरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही (**मोक्षपद्धतिः**) मोक्षमार्ग सिद्ध होता है (**व्यस्तैः न**) भिन्न-भिन्न सम्यग्दर्शनादिक के द्वारा मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता है (**तत्**) तो फिर (**चारित्रमात्रया किं**) केवल चारित्रमात्र से ही मोक्षमार्ग की सिद्धि कैसे हो सकती है ?।। 765।।

(**सत्यं**) ठीक है किन्तु (**सद्दर्शनं ज्ञानं**) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (**चारित्रांतर्गतं**) उस शुद्धोपयोगरूप चारित्र में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि (**मिथः त्रयाणां अविनाभावात्**) परस्पर में तीनों का अविनाभाव सम्बन्ध होने से (**इदं त्रयं**) ये तीनों (**अखण्डितं**) अखण्डितरूप से एक ही है।। 766।।

(**किञ्च**) और दूसरी बात यह है कि (**संविच्चारित्रयोः द्वयोः**) ज्ञान तथा चारित्र इन दोनों का (**सद्दर्शनं हेतुः**) सम्यग्दर्शन कारण है (**यद्वा**) अथवा (**प्रत्यग्रजन्मनः**) आगे होनेवाले ज्ञान और चारित्र में जो (**सम्यग्विशेषणस्य**) सम्यक् विशेषण है उसका वह (**उच्चैः हेतुः**) सम्यग्दर्शन ही कारण है।। 767।।

(**अयं अर्थः**) उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि (**अत्र**) इस लोक में (**सम्यक्त्वे सति**) सम्यग्दर्शन के होते ही (**यत्**) जो (**भूतपूर्वं ज्ञानं चारित्रं**) भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था वह (**सम्यक् भवेत्**) सम्यक् विशेषण सहित हो जाता है अतः सम्यग्दर्शन (**अभूतपूर्वकं वा सूते**) अभूतपूर्व के समान ही सम्यग्ज्ञान और सम्यच्चारित्र को उत्पन्न करता है - ऐसा कहा जाता है।। 768।।

(**या**) जो (**ज्ञानातिशायिनी**) ज्ञान में अतिशय लाने वाली (**शुद्धोपलब्धिशक्ति लब्धिः**) शुद्धोपलब्धि की शक्तिरूप लब्धि है (**सा**) वह (**सम्यक्त्वे सति**) सम्यक्त्व के होने पर ही (**भवेत्**) होती है (**अथवा**) अथवा (**शुद्धः भावः अपि च**) सम्पूर्ण शुद्धभावरूप जो चारित्र है, वह भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता है।। 769।।

(**पुनः**) और (**यत्**) जो (**दृक् बिना**) सम्यग्दर्शन के बिना (**द्रव्यचारित्रं**) द्रव्य चारित्र (**अपि**) तथा (**श्रुतज्ञानं**) श्रुतज्ञान होता है (**तत्**) वह (**न ज्ञानं**) न सम्यग्ज्ञान है और (**न चारित्रं**) न सम्यक्चारित्र है (**अस्ति चेत्**) यदि है तो वह ज्ञान तथा चारित्र केवल (**कर्मबन्धकृत्**) कर्मबन्ध को ही करने वाला है।। 770।।

(**अपि**) तथा (**मोक्षमार्गैकसाध्यस्य**) मोक्षमार्गरूप एक साध्य के ही (**साधकानां स्मृतेः**) साधक होने से (**तेषां अन्यतमोद्देशः**) उन तीनों में से अपेक्षा पूर्वक किसी एक का भी कथन (**जातुचित्**) कभी भी (**दोषाय अलं न**) दोष के लिए समर्थ नहीं है।। 771।।

इस प्रकार (**प्रश्नकोविदैः**) प्रश्न करने में चतुर जिज्ञासुओं को (**समासात्**) संक्षेप से (**बन्धः च मोक्षः**) बन्ध और मोक्ष (**ज्ञातव्यः**) समझ लेना चाहिये कि (**रागांशः**) जितने राग के अंश हैं उनसे (**बन्ध एव स्यात्**) बन्ध ही होता है तथा (**अरागांशैः कदाचन न**) जितने अराग के अंश हैं, उनसे कभी भी बन्ध नहीं होता है।। 772।।

(**येन अंशेन**) जिस अंश से (**सुदृष्टिः**) सम्यग्दर्शन है (**तेन अंशेन**) उस अंश से (**अस्य बन्धनं न अस्ति**) इस सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं होता है (**तु**) और (**येन अंशेन**) जिस अंश से (**रागः**) राग है (**येन अंशेन**) उस अंश से (**अस्य बन्धनं भवति**) इस सम्यग्दृष्टि के बन्ध होता है।। 773।।

(**प्रसंगात्**) प्रसङ्गानुसार (**अंशतः**) संक्षेप से (**संगतः**) युक्तियुक्त (**धर्मस्वरूपः अपि**) धर्म का स्वरूप भी (**उक्तः**) कहा (**वा**) और (**विस्तरात्**) विस्तारपूर्वक (**ते**) उस धर्म के स्वरूप का वर्णन (**कविः**) कवि (**लब्धावकाशः**) मौका पाकर के आगे (**करिष्यति**) करेंगे।। 774।।

अन्वयार्थ :- (**देवे**) देव में (**गुरौ**) गुरु में (**तथा**) और (**धर्मे**) धर्म में (**तत्त्वार्थदर्शिनी दृष्टिः**) समीचीन श्रद्धान करने वाली जो दृष्टि है वह (**अमूढदृष्टिः ख्याता**) अमूढ़दृष्टि कहलाती है (**अपि**) और जो (**अन्यथा**) असमीचीन श्रद्धान करने वाली दृष्टि है वह (**मूढ़दृष्टिता स्यात्**) मूढ़दृष्टि कहलाती है।। 775।।

(**सम्यक्त्वस्य**) सम्यक्त्व का (**एषः**) यह (**लक्षितः गुणः अपि**) लक्षित किया हुआ अमूढ़दृष्टि गुण भी (**दोषाय अलं न**) दोष के लिये समर्थ नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**अवश्यं तथा स्यात्**) अवश्य ही अमूढ़दृष्टि रखने वाला होता है और (**इतरः**) मिथ्यादृष्टि जीव (**तथा न**) सम्यग्दृष्टि की तरह अमूढ़ दृष्टि रखने वाला नहीं होता है।। 776।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता से ही मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। इसलिए केवल शुद्ध चारित्र से वह मोक्षमार्ग की सिद्धि कैसे हो सकती है?

शुद्ध चारित्र में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है, इसलिए अखण्डरूप से विवक्षा करने पर ये तीनों एक ही हैं अर्थात् शुद्ध चारित्ररूप ही होते हैं।

ज्ञान और चारित्र में जो सम्यक्पना आता है उसका मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान तथा चारित्र को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन, भूतपूर्व ज्ञान और चारित्र के सम्यक् विशेषण का कारण होने से अभूतपूर्व (पहले कभी न होनेवाले) सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का जनक कहलाता है।

जिस ज्ञान विशेष के द्वारा शुद्ध आत्मा का उपयोग होता है अर्थात् जो शुद्धोपलब्धिरूप सम्यग्ज्ञान है, वह और जिस पवित्र चारित्र को शुद्धभाव शब्द से कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र केवल सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन को अभूतपूर्व के समान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का जनक कहा है।

सम्यग्दर्शन के बिना द्रव्यलिंगी मुनि तथा श्रावकों का जो ज्ञान व चारित्र है, वह शुद्धोपलब्धि को विषय न करने के कारण वास्तव में न ज्ञान है न चारित्र है, किन्तु परवस्तु में इष्टानिष्ट कल्पना का जनक होने से केवल बन्ध का ही कारण है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्ष के साधक हैं, तथापि उन तीनों में से अपेक्षापूर्वक किसी एक को भी सम्यग्दर्शन को भी मोक्ष का साधक कहना दोषाधायक[12] नहीं होता है।

संक्षेप से बन्ध और मोक्ष का इतना ही स्वरूप है कि जितने अंशों में राग है उतने अंशों से बन्ध होता है तथा जितने अंशों में राग का अभाव होता हैं उतने अंशों में बन्ध का भी अभाव होता है और बन्ध के अभाव को ही मोक्ष कहते हैं।

जितने अंश में राग होता है उतने अंश में बन्ध और जितने अंश में सम्यक्त्व होता है उतने अंश में बन्ध का अभाव होता है।

यहाँ पर प्रकरणवश धर्म के स्वरूप का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है और यदि मौका मिला तो आगे भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

देव, गुरु तथा धर्म के विषय में यथार्थ श्रद्धान करनेवाली दृष्टि को अमूढ़ दृष्टि कहते हैं और इससे विपरीत दृष्टि को मूढ़दृष्टि कहते हैं।

जैसी, सम्यग्दृष्टि जीव की देवादिक के विषय में मूढ़ता रहित दृष्टि रहती है, वैसी मिथ्यादृष्टि जीवों की नहीं रहती है, इसलिए इसको भी (अमूढ़दृष्टि को भी) सम्यग्दर्शन का गुण मानने में कोई दोष नहीं है।

उपगूहन अंग का स्वरूप

उपबृंहणनामाऽस्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
लक्षणादात्मशक्तिनामवश्यं बृंहणादिह।। 777।।
आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम्।
अर्थाद् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत्।। 778।।

12. दोष का आधार

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव।। 779।।
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात्।। 780॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सक्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम्।। 781॥
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं न वाचारेत्।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुलाघतामपि ।। 782।।
यद्वा सिद्धं विनायासात् स्वतस्तत्रोपबृंहणम्।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात्।। 783।।
अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणां।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात्।। 784।।
न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः।। 785॥
यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी।
तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि।। 786।।
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत्।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान्।। 787।।
उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणानामध्ये गुणानां नागुणाय च।। 788॥

सम्यग्दृष्टि आत्मा का उपवृंहण गुण है कहा गया।
आत्म-शक्तियों का वर्धक होने से वृंहण नाम प्रसिद्ध।। 1543।।
आत्म-शुद्धि में कमी नहीं होने से यह उपवृंहण है।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित निज भावों से च्युति नहिं होती।। 1544।।
पर का ज्ञाता रहकर भी उनमें पुरुषार्थी जैसा है।
तो भी मिथ्यादृष्टि जैसा पर में नहिं पुरुषार्थ करे।। 1545।।

वह शुद्धोपलब्धि में किञ्चित् भी प्रमाद नहिं करता है।
निष्प्रमाद वृत्ति से आदर पूर्वक स्वाश्रय करता है।। 1546।।
तथा शुद्ध-उपलब्धि हेतु वह बाह्य-क्रिया भी करता है।
जो शुद्धोपयोग में साधन है उनका अभ्यास करे।। 1547।।
पारा सेवन करने वाला यदि न पथ्य-आचरण करे।
रोग नाश होने के संग में जीवन का भी नाश करे।। 1548।।
ऊपर ऊपर गुण-श्रेणी निर्जरा सुसम्भव होने से।
अनायास ज्ञानी को उपबृंहण अंग सिद्ध होता।। 1550।।
ज्ञानी को तो समस्त कर्म-निर्जरा अवश्यंभावी है।
असंख्यात गुणी क्रम से प्रत्येक समय में होती है।। 1550।।
अतः न्याय से सिद्ध हुआ जितने अंशों में कर्म खिरे।
वृद्धि हो शुद्धोपयोग की पुनः विशुद्धि की वृद्धि।। 1551।।
जैसे जैसे अन्तर में आलोकित शुद्धि की वृद्धि।
वैसे वैसे इन्द्रिय-विषयों के प्रति बुद्धि उपेक्षा की।। 1552।।
अतः समकिती कठिन क्रिया में आत्म-शक्ति नहिं लोप करे।
अपितु स्वयं पुरुषार्थी होकर अपनी शक्ति बढ़ाता है।। 1553।।
इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का उपबृंहण गुण कहा गया।
गुण में उसकी गणना होती नहीं दोषप्रद हो सकता।। 1554।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस लोक में (**आत्मशक्तिनां अवश्यं बृंहणात्**) आत्मा की शक्तियों के अवश्य बढ़ानेरूप (**लक्षणात्**) लक्षण से (**सम्यग्दृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि जीव का (**उपबृंहणनामा गुणः अस्ति**) उपबृंहण नाम का भी एक गुण है।। 777।।

(**आत्मशुद्धेः अदौर्बल्यकरणं च**) आत्मा की शुद्धि में कभी दुर्बलता नहीं आने देना ही (**उपबृंहणं**) उपबृहण अंग कहलाता है (**अर्थात् यत् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् अस्खलितं हि तत् भवति**) अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप अपने भावों से जो च्युत नहीं होता है, वही उपबृहंण अंग कहलाता है।। 778।।

(**एषः**) यह व्यक्ति (**निःशेषात् जानन् अपि**) सब कुछ भलीभांति जानने पर भी (**पौरुषं प्रेरयन् इव**) पुरुषार्थ को प्रेरित करता हुआ प्रतीत होता है (**तथापि**) फिर भी (**अत्र यत्नवान् न पौरुषं प्रेरयन् इव**) यहाँ यत्नशील होकर पुरुषार्थ को वास्तविक रूप से प्रेरित नहीं करता, केवल दिखावा करता है।। 779।।

(निष्प्रमादतया समादरात् आत्मानं आददानः) प्रमाद रहितपने से आदर पूर्वक आत्मा का ग्रहण करने वाला **(अयं)** उपबृंहण अंग का धारी **(शुद्धोपलब्धौ लेशतः अपि)** अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि में लेशमात्र से **(प्रमादवान् न स्यात्)** प्रमादी नहीं होता है।। 780।।

(यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थं) अथवा उपबृंहण अंगधारक शुद्धोपलब्धि के लिये **(तत् बहिः अपि अभ्यस्येत्)** उन बाह्य शुभ क्रियाओं का भी अभ्यास करता है **(अर्थात्)** अर्थात् **(तत्त-त्साध्योपयोगिनीं काञ्चित् सत्क्रियां अपि 'अभ्यस्येत्')** सम्यग्दृष्टि के लिये शुद्धोपयोग को साध्य करने के लिये उपयोग में आने वाली किन्हीं शुभक्रियाओं का भी वह अभ्यास करे।। 781।।

(रसेन्द्रं सेवमानः अपि कः अपि) पारे के भस्म को सेवन करने वाला जो कोई एखादा (एक) व्यक्ति है वह यदि **(पथ्यं न वा आचरेत्)** पथ्य सेवन नहीं करे तो **(आत्मनः अनुल्लाघतां उज्झन्)** पारे के सेवन से रोग के नाश को करता हुआ वह **(आत्मनः उल्लाघतां अपि उज्झन् स्यात्)** अपने स्वात्मा का भी नाश करने वाला हो जायेगा।। 782।।

(यद्वा) अथवा **(ऊर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात्)** ऊपर-ऊपर होने वाली गुण-श्रेणी निर्जरा में असंख्यात गुणी निर्जरा प्रतिसमय होती रहती है अतः **(तत्र)** सम्यग्दृष्टि के **(आयासात् बिना)** बिना किसी प्रयत्न के ही **(उपबृंहण सिद्ध)** उपबृहण अंग सिद्ध हो जाता है।।783।।

(अत्र) सम्यग्दृष्टि के गुण श्रेणी निर्जरा सम्बन्धी स्थानों में **(कृत्स्नकर्मणां निर्जरा च)** सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा भी **(प्रति सूक्ष्मक्षणं यावत्)** प्रतिसमय **(असंख्येय-गुणक्रमात्)** असंख्यात गुणी क्रम से **(अवश्यं भाविनी)** अवश्य ही होती है इसलिए **(वै)** निश्चय से **(न्यायात् एतत् आयातं)** न्याय से यह बात सिद्ध हुई कि **(यावतांशेन)** जितने अंश से **(तत्क्षतिः)** कर्मों का क्षय होता है उतने अंश से **(शुद्धोपयोगस्य वृद्धिः)** शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है और **(वृद्धेः)** शुद्धोपयोग की वृद्धि होने पर **(पुनः पुनः)** उत्तरोत्तर **(वृद्धिः)** विशुद्धि की वृद्धि होती जाती है।। 784-785।।

(यथा यथा) जैसे-जैसे **(विशुद्धेः)** विशुद्धि की **(अन्तःप्रकाशिनी)** अन्तरङ्ग में प्रकाशमान **(वृद्धिः स्यात्)** वृद्धि होती जाती है **(तथा तथा)** वैसे-वैसे ही **(हृषीकाणां)** इन्द्रियों के **(विषयेषु अपि)** विषयों में भी **(उपेक्षा)** उपेक्षा बुद्धि होती जाती है।। 786।।

(ततः) इसलिए **(सः)** वह **(दृष्टिमान्)** सम्यग्दृष्टि जीव **(भूम्नि क्रियाकाण्डे)** बड़े भारी क्रियाकाण्ड में भी **(आत्मशक्ति)** अपनी शक्ति को **(न लोपयेत्)** नहीं छिपावे **(किन्तु)** किंतु **(नूनं)** निश्चय से **(प्रयत्नात् अपि)** पुरुषार्थ से भी अपनी शक्ति को **(संवर्धयेत्)** बढ़ावे।।787।।

इस प्रकार (**सद्दर्शनस्य**) सम्यग्दर्शन का (**यः**) जो (**उपबृंहणनामा अपि गुणः**) उपबृंहण नाम का भी गुण है वह भी (**गुणानां**) गुणों की (**गणनामध्ये गणितः**) गणना में गिना जाकर (**अगुणाय न च**) किसी प्रकार से दोषाधायक[13] नहीं कहा जा सकता है।। 788।।

भावार्थ :- जिस गुण के द्वारा आत्मा की शक्तियों की वृद्धि होती है उसको सम्यग्दृष्टि का उपबृंहण नामक गुण कहते हैं।

अपनी शुद्धि को संभालना अर्थात् अपने रत्नत्रय से च्युत नहीं होने को उपबृंहण अंग कहते हैं।

यह जीव जानता हुआ भी आत्मसाक्षात्कार के विषय में पूरी तरह से पुरुषार्थ नहीं कर पाता; तथापि पुरुषार्थ की प्रेरणा देता हुआ भी इस विषय में प्रयत्नवान रहता है।[14]

उपबृंहण अंग के धारक सम्यग्दृष्टि को शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि होती है, इसलिए वह शुद्धोपलब्धि के विषय में प्रमादी नहीं होता है।

अथवा शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये, शुद्धोपयोग की सहायक, बाह्य शुभ क्रियाओं का भी वह अभ्यास करे! सारांश यह है कि अशुभ का त्याग करके सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओं में तत्पर होता है और शुभ क्रियाओं को भी उपादेय न मानकर शुद्ध परिणति में प्रवेश करता है। अतः शुद्धोपयोग को बाधक शुभपरिणति में भी प्रवृत्ति का उपदेश ग्रन्थकार ने किया है।

जैसे - पारे के सेवन करने वालों को पथ्याचरण आवश्यक है, क्योंकि पारे का सेवन करके यदि पथ्य का पालन नहीं किया जावेगा तो बीमारी के साथ-साथ स्वास्थ्य का भी नाश अवश्यंभावी है; वैसे ही शुभ परिणति की साधक शुभ क्रियाओं का पालना भी शुद्धोपलब्धि में सहायक होने से आवश्यक है।

अथवा सम्यग्दृष्टि के गुणश्रेणी निर्जरा के समय निर्जरा होती रहती है, इसलिये अवश्य ही उक्त उपबृंहण का लक्षण घट जाता है।

सम्यग्दृष्टि के उन गुणश्रेणी निर्जरा के स्थानों में प्रतिसमय सम्पूर्ण कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा नियम से होती है इसलिए जितने-जितने अंशों में कर्मों की निर्जरा होती जाती है उतने-उतने अंशों में उत्तरोत्तर विशुद्धि के बढ़ने से उसके उपबृंहण गुण की भी वृद्धि होती जाती है।

उक्त क्रम के अनुसार जैसे-जैसे स्वात्मा में लीनतारूप विशुद्धि बढ़ती जाती है। वैसे-वैसे ही इंद्रियों के विषयों में भी परम उपेक्षा होती जाती है।

13. दोष का आधार

14. श्री गणेशप्रसादजी वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान वाराणसी से उद्धृत

इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को सत्क्रियाओं के करने में अपनी शक्ति को नहीं छिपाना चाहिये किन्तु प्रयत्न से बढ़ाना ही चाहिये।

आत्मा की विशुद्धि को बढ़ाने के कारण सम्यग्दृष्टि का उपबृहंण नाम का गुण भी यदि सम्यक्त्व के गुणों की गणना में गिना जाय तो वह भी किसी प्रकार से दोषाधायक सिद्ध नहीं हो सकता है।

स्थितिकरण अंग का स्वरूप

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः।। 789।।
न प्रमाणीकृतं वृद्धेर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः।। 790।।
परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्रलेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत्।। 791।।
नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः।। 792।।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः।। 793।।
तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः।
स्वात्मनः स्वात्मतत्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत्।। 794।।

धर्म चलित को पुनः धर्म में स्थित करते हैं ज्ञानी।
यह गुण स्थितिकरण कहा है, नहिं अधर्म में थिर करना।। 1555।।
भावि-धर्म की आशा से कुछ धर्म-बुद्धि हिंसा करते।
किन्तु सुधीजन नहिं अधर्म-सेवन को प्रमाणीक मानें।। 1556।।
उक्त मान्यता से पोषण को लेश मात्र अवकाश नहीं।
नहीं मूर्ख को छोड़ कोइ नर अग्नि प्रवेश करे शीतार्थ।। 1557।।
नहिं अधर्म का सेवन होता धर्मकार्य की पूर्व क्रिया।
नहीं पक्ष-धर्मत्व तथा हेतु में भी व्यभिचारिपना।। 1558।।
कर्मोदय के कारण प्रतिक्षण स्वयं सहज होते रहते।
धर्म-अधर्म होते हैं दोनों यह सर्वत्र सुनिश्चित है।। 1559।।

स्व-पर भेद से दो प्रकार का स्थितिकरण प्रत्यक्ष कहा।
अपने को अपने में एवं पर को पर में थिर करना।। 1560।।

अन्वयार्थ :- (**धर्मात् च्युतस्य**) धर्म से च्युत व्यक्ति को (**धर्मे सुस्थितीकरणं नाम सम्यग्दृगात्मनः गुणः**) धर्म में स्थिर कर देना ही सम्यग्दृष्टि का स्थितीकरण अंग/गुण कहलाता है, किन्तु (**अधर्मणः क्षतेः अधर्मे तत् न**) अधर्म के नाश होने से जो किसी को फिर से उसी अधर्म में स्थिर करना है, वह स्थितिकरण नहीं कहलाता है।। 789।।

यद्यपि (**केचित्**) कोई-कोई (**मन्दाः**) अल्पज्ञानी (**भाविधर्माशया**) भविष्य में धर्म की आशा से (**सावद्यवादिनः**) अधर्म सेवन को धर्म मानते हैं, परन्तु (**वृद्धैः**) वृद्ध पुरुषों ने (**धर्माय**) धर्म के लिये (**अधर्मसेवनम्**) अधर्म का सेवन करना (**न प्रमाणीकृतं**) प्रमाणिक नहीं माना है।। 790।।

(**परम्परा इति पक्षस्य**) अधर्म सेवन परम्परा से धर्म का कारण होता है इस पक्ष को भी (**अत्र**) इस धर्म के विषय में (**लेशतः अवकाशः न**) लेशमात्र अवकाश नहीं है अर्थात् यह पक्ष भी किसी तरह न्यायसङ्गत नहीं है, क्योंकि (**मूर्खात् अन्यत्र**) अज्ञानी को छोड़कर कोई भी प्राणी (**मोहात्**) मोह के कारण (**शीतार्थं**) शीत के लिये (**वन्हिं न आविशेत्**) अग्नि में प्रवेश नहीं करेगा।। 791।।

(**प्राक् अधर्मस्य सेवनं**) पहले अधर्म का सेवन करना (**एतत्**) यह (**धर्मस्य प्राक् रूपं न**) धर्म का पूर्वरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर (**व्याप्तेः अपक्षधर्मत्वात्**) पक्षधर्मता न रहने से व्याप्ति नहीं बन सकती है (**वा**) तथा (**हेतोः व्यभिचारतः**) उसकी सिद्धि के लिए जो हेतु दिया जाता है वह व्यभिचारी है।। 792।।

(**प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावत्**) प्रत्येक क्षण में (**कर्मोदयात् हेतोः**) कर्मोदय के कारण (**स्वतः**) स्वयं (**धर्मः अपि वा अधर्मः वा**) धर्म और अधर्म ये दोनों ही होते रहते है (**एषः सर्वत्र निश्चयः**) यह सर्वत्र निश्चित है।। 793।।

(**अध्यक्षात्**) प्रत्यक्ष से (**स्व-परभेदतः**) स्व और पर के भेद से (**तत्**) वह (**स्थितीकरणं**) स्थितीकरण गुण (**द्वेधा**) दो प्रकार है (**अर्थात्**) अर्थात् (**स्वात्मतत्त्वे स्वात्मनः**) अपनी आत्मा में आत्मा को स्थित करना स्व-स्थितिकरण है (**तु**) तथा जो (**परस्य परत्वे**) दूसरे की आत्मा में उसकी आत्मा को स्थित करना है (**तत्**) वह पर-स्थितिकरण है।। 794।।

भावार्थ :- सुधर्म से च्युत व्यक्ति को समझाकर/उपदेश देकर फिर से जो सुधर्म में स्थिर करना है, उसे ही स्थितिकरण अंग कहते हैं, किन्तु कुधर्म से च्युत व्यक्ति को फिर से उसी कुधर्म में स्थिर करने को स्थितिकरण नहीं कहते हैं।

यद्यपि कोई-कोई अल्पज्ञानी पुरुष आगामी काल में धर्म की आशा से सावद्य क्रियायों को भी धर्म कहते हैं, परन्तु अनुभवी तत्त्वज्ञानियों ने अधर्मसेवन से धर्म होता है इसको प्रामाणिक नहीं माना है।

यदि कदाचित् कोई यह कहे कि परम्परा से अधर्म के सेवन से धर्म का सेवन हो सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे शांति के लिए अग्नि में प्रवेश नहीं किया जाता है, वैसे ही धर्म के लिए अधर्म का सेवन भी नहीं किया जाता है।

धर्म और अधर्म के विषय में यह सिद्धान्त निश्चित है कि जब तक इस जीव के संसार अवस्था है, तब तक स्वयमेव ही प्रतिसमय शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार धर्म तथा अधर्म होते रहते हैं, इसलिये अधर्म-सेवन धर्म प्राप्ति का पूर्वरूप हो सकता है - यह नहीं कहना चाहिये। यहाँ पर कषायों के तीर्वोदय से संक्लेश से होने वाली अशुभ क्रिया को अधर्म कहा है और कषायों के मन्द उदय से विशुद्धि से होने वाली शुभ क्रिया को धर्म कहा है।

वह स्थितिकरण स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से जो अपनी मूल को अपने आप परिणामों की विशुद्धि से सुधारता है उसको स्वस्थितिकरण कहते हैं तथा अपने से भिन्न व्यक्ति को सम्यग्दर्शन व चारित्र से च्युत देखकर जो उसे उपदेश देकर के शंका-समाधान पूर्वक फिर से उसे सम्यग्दर्शन व चारित्र में स्थिर कर देना है उसको पर-स्थितिकरण कहते हैं।

स्व-स्थितिकरण का स्वरूप

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मानि।। 795।।

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम्।। 796।।

अथ क्वचिद्यथा हेतुदर्शनादपतन्नपि।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति।। 797।।

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुंचति।
न मुंचति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत्।। 798।।

यद्वा बहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते।। 799।।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह।। 800।।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः।। 801।।

तीव्र मोह के उदय वशात् जो निज स्वरूप से च्युत होते।
पुनः स्वयं को निज में थिर करते यह स्थितिकरण कहें।। 1561।।
कहीं कहीं कर्मोदय से ज्ञानी समकित से च्युत होते।
पुनः मोह के उपशम से समकित पाकर ऊपर चढ़ते।। 1562।।
अथवा कारण पाकर समकित से च्युत नहिं होने पर भी।
भाव शुद्धि के निम्नांशों से ऊपर चढ़ते जाते हैं।। 1563।।
कभी बाह्य स्वीकृत शुभ आचारों को भी तज देते हैं।
कभी न तजते, अथवा फिर से उन्हें ग्रहण कर लेते हैं।। 1564।।
अथवा बाह्य क्रियाचार में यथावस्थित थिर रह कर भी।
अन्तरंग भावों से कभी प्रकाशित होते रहते हैं।। 1565।।
नहीं असंभव है ऐसा क्योंकि चरित्र मोहोदय के-
तारतम्य अंशों से हीनाधिक्य अवस्था होती है।। 1566।।
यहाँ यही अभिप्राय जानना स्थितिकरण स्वतः होता।
यदि अन्य कारण मानें तो अनवस्थिति दोष होगा।। 1567।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) स्थितिकरण के उन दोनों भेदों में से जो (**मोहोदयोद्रेकात्**) मोह के उदय की उग्रता से (**आत्मस्थितेः**) अपनी स्थिति से (**च्युतस्य स्वस्य चितः**) च्युत हुए अपनी आत्मा को (**भूयः**) फिर से (**आत्मनि**) अपनी आत्मा में (**संस्थापनं**) स्थापित करना है, वह (**स्थितिकरणं**) स्थितिकरण है।। 795।।

(**अयं भावः**) सारांश यह है कि (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**दैवात्**) कर्मोदय से (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि जीव (**दर्शनात् अधः पतति**) सम्यग्दर्शन से नीचे गिर जाता है (**पुनः**) और कभी (**दैवात्**) मोह के उपशमादिक से (**दर्शनं सम्यक् आरुह्य**) सम्यग्दर्शन को पाकर (ऊर्ध्व व्रजति) ऊपर चढ़ जाता है।। 796।।

(**अथ**) अथवा (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**यथा हेतुदर्शनात्**) जैसी कारण सामग्री मिलती जाती है उसके अनुसार दर्शन से (**अधोऽधोंऽशैः**) नीचे-नीचे के अंशों के द्वारा (**भावशुद्धिं**)

भावशुद्धि से (**अपतन् अपि**) च्युत न होकर के भी (**ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं प्ररोहति**) केवल ऊपर-ऊपर ही चढ़ता जाता है।। 797।।

(**च**) और (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**बहिः**) बहिरंग (**स्वीकृतं शुभाचारं अपि**) स्वीकृत शुभाचारों को भी (**मुञ्चति**) छोड़ देता है तथा (**वै**) निश्चय से मुक्त्वा शुभाचारों को छोड़कर के (**पुनः आश्रयेत्**) फिर से उनको ग्रहण कर लेता है।। 798।।

(**यद्वा**) अथवा (**बहिः क्रियाचारे**) बाह्य क्रियाचार के (**यथावस्थं स्थिते च अपि**) तदवस्थ स्थित रहने पर भी (**कदाचित्**) कभी-कभी (**अन्तर्भावैः दीप्यमानः भूत्वा च**) अन्तरंग भावों से दैदीप्यमान होकर के (**वर्तते**) रहता है।। 799।।

(**इदं असंभवं न**) यह कथन असंभव नहीं है (**यस्मात्**) क्योंकि (**इह**) इन सम्यग्दृष्टि की अवस्थाओं में जो (**चारित्रावरणोदयः**) चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है उसके (**तरतमस्वांशैः**) तरतमरूप अंशों से वह (**निम्नोन्नतां गच्छन् अस्ति**) हीनाधिक अवस्था को प्राप्त होता रहता है।। 800।।

(**अत्र**) इस स्व-स्थितिकरण के विषय में (**एतत् एव अभिप्रेतं**) इतना ही अभिप्राय है कि (**स्वस्थितिकरण स्वतः**) स्व-स्थितिकरण स्वयमेव ही होता है (**अत्रापि कुतश्चित् न्यायात् हेतुः**) यदि स्व-स्थितिकरण के विषय में भी न्यायानुसार कोई न कोई कारण होता है ऐसा मानेंगे तो (**तत्र अनवस्थितिः**) उस कारण के लिए कारण और उस कारण के लिए भी कारण की कल्पना करते जाने से अनवस्था नाम के दोष का प्रसङ्ग आवेगा इसलिए स्व-स्थितिकरण स्वतः ही होता है, यही मानना ठीक है।। 801।।

भावार्थ :- उक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि मोह के उदय से जो विकार होते हैं, उनको अपनी आत्मा से हटाकर फिर से अपनी आत्मा के गुणों में अपनी आत्मा के स्थित करने को स्व-स्थितीकरण कहते हैं।

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं ही दैवयोग से मिथ्यात्व का उदय आने से अपने सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है और फिर स्वयं दैवयोग से सम्यक्त्व को प्राप्त करके उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जो पतन पूर्वक फिर से स्वयं सम्यक्त्व में स्थित होता है उसे भी स्व-स्थितिकरण कहते हैं।

अथवा सम्यक्त्व तथा चारित्र से च्युत न होने के साथ-साथ जो उन दोनों के विषय में उच्चैस्त्व (ऊर्ध्वता) को प्राप्त करना है, उसको भी स्व-स्थितिकरण कहते हैं।

अथवा बारंबार जो विशुद्धि और संक्लेश की वृद्धि से शुभाचारों का ग्रहण और त्याग होता रहता है, उनमें से प्रमादवश जिनका त्याग कर दिया था – ऐसे शुभाचारों के फिर से ग्रहण करने को स्व-स्थितिकरण कहते हैं।

इसतरह जो सम्यग्दृष्टि का, चारित्र से च्युत होकर फिर से स्वयं उसी चारित्र में स्थिर होना बताया है वह असंभव नहीं है, क्योंकि चारित्रमोह के उदय के तारतम्य में उसके चारित्रगुण में भी सदैव हीनाधिकपना होता रहता है।

पर-स्थितिकरण का स्वरूप

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः।। 802।।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे।। 804।।[15]
उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः।। 805।।

उक्तं च –

(आर्या छन्द)

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठुकादव्वं।।

अपने पद से भ्रष्ट जीव को फिर उसमें स्थित करना।
उत्तम दया भाव पूर्वक यह पर-स्थितिकरण कहा।। 1568।।
धर्मादेश तथा उपदेशों से पर का अनुग्रह कर्तव्य।
किन्तु स्वयं के व्रत तजकर पर का उपकार नहीं कर्त्तव्य।। 1569।।
प्रथम आत्म हित है कर्तव्य यदि सम्भव हो तो पर का।
हित भी करो किन्तु दोनों में निज हित करना भली प्रकार।।
गुण श्रेणी निर्जरारूप में है प्रसिद्ध यह ज्ञानी का।
स्थितिकरण नाम गुण का वर्णन संक्षिप्त प्रकार किया।। 1570।।

15. कारंजा से प्रकाशित प्रति में 803 क्रमांक छूट गया है और उसके स्थान पर 804 क्रमांक लिख गया है, उस प्रति से मिलान करने में कोई भ्रम न हो, इसलिए यहाँ भी 803 के स्थान पर 804 क्रमांक रखा गया है और बाद के छन्दों में भी उसी प्रति के अनुसार क्रमांक रखे गए हैं।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उन दोनों स्थितिकरणों में (**स्वपदात्**) अपने पद से (**भ्रष्टानां परेषां**) भ्रष्ट हुए अन्य जीवों को जो (**सदनुग्रहात्**) उत्तम दया भाव से (**तत्पदे**) उनके पद में (**पुनः**) फिर से (**स्थापनं**) स्थापित करना है वह (**सुस्थितिकरणं नाम**) परस्थितिकरण कहलाता है।। 802।।

(**धर्मादेशोपदेशाभ्यां**) धर्म के आदेश और उपदेश के द्वारा ही (**परे**) दूसरे जीवों पर (**अनुग्रहः कर्तव्यः**) अनुग्रह करना चाहिये किन्तु (**आत्मव्रतं विहाय**) अपने व्रत को छोड़कर के (**पररक्षणे तत्परः न अस्तु**) दूसरे जीवों की रक्षा करने में तत्पर नहीं होना चाहिये।। 804।।

(**गुणश्रेणौ निर्जरायां प्रसिद्धः**) गुण श्रेणी निर्जरा में प्रसिद्ध (**सुदृगात्मनः**) सम्यग्दृष्टि का (**सुस्थितीकरणं अपि गुणः**) स्थितिकरण नाम का भी गुण (**अत्र**) इस प्रकरण में (दिङ्मात्रतः उक्तं) संक्षेप से कहा।। 805।।

(**आदहिदं कादव्वं**) पहले आत्म-हित करना चाहिये और (**जइ सक्कइ**) यदि शक्य हो तो (**परहिदं च कादव्वं**) पर-हित भी करना चाहिये किन्तु (**आदहिदपरहिदादो**) आत्म-हित तथा पर-हित इन दोनों में से (**आदहिदं सुट्ठु कादव्वं**) आत्म-हित ही भले प्रकार करना चाहिये।

भावार्थ :- अपने पद से भ्रष्ट हुए अन्य मुनि अथवा श्रावकों को जो धार्मिक भाव से उनके पद में फिर से स्थिर करना है, उसको पर-स्थितिकरण कहते हैं।

आत्मव्रत को नहीं छोड़कर ही धर्म के आदेश और उपदेश के द्वारा पर-स्थितिकरण करना चाहिये, किन्तु आत्मव्रत को छोड़कर पर-स्थितिकरण नहीं करना चाहिये।

गुणश्रेणी निर्जरा के लिए कारणभूत जो सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण नाम का गुण है उसका भी यहाँ पर प्रकरणानुसार संक्षेप से वर्णन किया।

आगम में कहा है कि सदैव आत्मकल्याण ही करना चाहिये और आत्मकल्याण करने के साथ-साथ यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये तथा यदि ऐसा समय उपस्थित हो कि दोनों हितों में से केवल कोई एक हित ही बन सकता है तो ऐसी परिस्थिति में आत्म-हित ही करना चाहिये, क्योंकि पर-हित भी अपने हित के लिये किया जाता है, इसलिये जिस पर-हित के द्वारा अपने सम्यक्त्व तथा चारित्र में बाधा आती हो - ऐसे पर-हित को भी नहीं करना चाहिये।

अब आगे वात्सल्य नाम के गुण का लक्षणपूर्वक वर्णन करते हैं -

वात्सल्य अंग का स्वरूप

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्।। 806।।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सुघोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये।। 807।।
यद्वा नह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकं।
तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद् बाधा सहते न सः।। 808।।
तद् द्विधाऽथच वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि न।। 809।।
परीषहोपसर्गाद्यै पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम्।। 810।।
इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम्।। 811।।

जिन अरु सिद्ध-बिम्ब जिनमन्दिर चौविध संघ तथा श्रुत में।
स्वामी के प्रति सेवकवत् दासत्व भाव वात्सल्य कहे।। 1571।।
उपर्युक्त प्रतिमा आदि में किसी एक पर हो उपसर्ग।
उसे दूर करने में तत्पर रहते ज्ञानी - यह तात्पर्य।। 1572।।
यदि निज में सामर्थ्य न हो तो जब तक वित्त मन्त्र तलवार।
तब तक उनकी बाधा देख तथा सुन सकें नहीं ज्ञानी।। 1573।।
निज-पर के विभाग से दो प्रकाररूप वात्सल्य कहा।
अपने प्रति वात्सल्य मुख्य है पर के प्रति को गौण कहा।। 1574।।
परिषह अरु उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी ज्ञानी।
ज्ञान ध्यान अरु शुभाचार में दृढ़ रहते यह निज वात्सल्य।। 1575।।
और दूसरा पर-वात्सल्य ग्रन्थ में पहले कहा गया।
शुद्ध ज्ञान बल से बाधा हो दूर प्रगट गुण ज्ञानी का।। 1576।।

अन्वयार्थ :- (**स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्**) स्वामी के कार्य में उत्तम सेवक की तरह (**सिद्धार्हद्-बिम्बवेश्मसु**) सिद्ध प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमंदिर (**चतुर्विध संघे**) चार प्रकार के संघ में और (**शास्त्रे**) शास्त्र में जो (**दासत्वं**) दासत्वभाव रखना है वही (**वात्सल्यं नाम**) सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य नाम का अंग-गुण है।। 806।।

(**अर्थात्**) अर्थात् (**सः दृष्टिमान**) वह वात्सल्य गुण का धारी सम्यग्दृष्टि जीव (**उद्दिष्टेषु**) उक्त

सिद्ध प्रतिमा आदि में से (**अन्यतमस्य**) किसी एक के ऊपर (**घोरोपसर्गेषु सत्सु**) घोर उपसर्ग के आने पर (**उच्चैः**) अच्छी तरह से (**तदत्यये**) उसके दूर करने के लिये (**तत्परः स्यात्**) तत्पर रहता है।। 807।।

(**यद्वा**) अथवा (**आत्मसामर्थ्यं नहि**) अपने में सामर्थ्य तो नहीं है किन्तु (**यावत् मन्त्रासिकोशकं**) जब तक मन्त्र, तलवार और धन है (**तावत्**) तबतक (**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**तद्बाधां**) जिनबिम्बादिक के उपसर्ग को (**द्रष्टुं च श्रोतुं न च सहते**) देख तथा सुन नहीं सकता है।। 808।।

(**अथ**) तथा (**तत् वात्सल्यं च**) वह वात्सल्य अंग भी (**स्वपरगोचरात् भेदात्**) स्व और पर के विषय के भेद से (**द्विधा**) दो प्रकार का है, उनमें से जो (**स्वात्मसम्बन्धि**) अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला वात्सल्य है वह (**प्रधानं**) प्रधान है तथा (**यावत् परात्मनि**) सम्पूर्ण पर-आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाला जो वात्सल्य है वह (**गुणः**) गौण है।। 809।।

(**परीषहोपसर्गाद्यैः**) परीषह और उपसर्गों के द्वारा (**पीडितस्य अपि**) पीड़ित होते हुए भी जो (**कुत्रचित् शुभाचारे ज्ञाने ध्याने**) किसी शुभाचार, ज्ञान तथा ध्यान में (**शैथिल्यं न**) शिथिलता नहीं आने देना है (**तत् आदिमं**) वही पहला स्वात्मसम्बन्धी वात्सल्य है।। 810।।

(**इतरत्**) दूसरा पर-वात्सल्य जो (**इह**) इस ग्रंथ में (**प्राक् ख्यातं**) पहले कहा गया है वह भी (**दृष्टिमतः स्फुटं गुणः**) सम्यग्दृष्टि का प्रकट गुण है (**यतः**) क्योंकि (**शुद्धज्ञानबलादेव**) शुद्ध ज्ञान के बल से ही (**बाधापकर्षणं**) बाधा दूर की जाती है।। 811।।

भावार्थ :- जैसे कोई योग्य सेवक अपने स्वामी की सेवा करता है, वैसे ही अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं की, मंदिर की, चार प्रकार के संघ की और शास्त्र की भक्तिपूर्वक सेवा करने को वात्सल्य अंग कहते हैं।

उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जिनबिंब, जिनमंदिर, चतुर्विध संघ व शास्त्र के ऊपर उपसर्गादिक के उपस्थित होने पर वह वात्सल्य अंग का पालन करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव उसके दूर करने के लिये पूरा प्रयत्न करता है।

अपनी सामर्थ्य और मन्त्रादिक शक्ति के सद्भाव में वात्सल्य गुण वाला सम्यग्दृष्टि जिनबिम्बादिक के उपसर्ग को देख व सुन नहीं सकता है।

स्थितिकरण अंग के समान वात्सल्य अंग भी स्व और पर के विषय के भेद से दो प्रकार का है। उन दोनों में से स्वात्मसम्बन्धि वात्सल्य प्रधान है तथा परात्मसम्बन्धी वात्सल्य गौण है।

अपने ऊपर घोर उपसर्ग और परीषहों के आने पर भी जो अपने किसी भी शुभाचार, ज्ञान तथा

ध्यान में किसी प्रकार की शिथिलता को नहीं आने देना है वही स्व-वात्सल्य कहलाता है अर्थात् वास्तविक शुभाचार, ज्ञान और ध्यान में जो प्रेम है वही स्व-वात्सल्य है।

दूसरे संयमियों के ऊपर घोर उपसर्ग तथा परीषहों के उपस्थित होने पर जो उनकी बाधा का दूर करना है, उसे पर-वात्सल्य कहते हैं।

इस प्रकार वात्सल्य अंग का साधारण रीति से वर्णन किया। इसका विशेष कथन पूर्वा-पर सम्बन्ध जोड़कर पूर्व कथन से समझ लेना चाहिये अर्थात् अपने सम्यक्त्व और व्रत को छोड़कर पर-वात्सल्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि केवल शुद्ध ज्ञान से ही स्व तथा पर की बाधा दूर होती है।

प्रभावना अंग का स्वरूप

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम्।। 812।।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्यामनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ।। 813।।

पूर्ववत्सोऽपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः।। 814।।

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित्।। 815।।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना।। 816।।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किंतु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम्।। 817।।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामंत्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम्।। 818।।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोकर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः।। 819।।

उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन संपूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम्।। 820।।
इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम्।। 821।।

सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अंग नाम गुण कहा गया।
धर्मोत्कर्षरूप यह अपने लक्षण से जाना जाता।। 1577।।
पोषण करने से अधर्म का धर्म-पक्ष की क्षति होती।
अतः पाप-पथ का किंचित् भी पोषण करने योग्य नहीं।। 1578।।
वात्सल्यवत् यह भी निज-पर भेदरूप से द्वय विध है।
पहला मुख्यरूप से है आदेय दूसरा गौण कहा।। 1579।।
बाधक कारण के अभाव में धर्म-बुद्धि हो बलपूर्वक।
इसे धर्म-उत्कर्ष कहें इसमें नहि कोई दोष लगे।। 1580।।
मोह-शत्रु क्षत करके कोई शुद्ध शुद्धतर होते हैं।
और शुद्धतम भी होते हैं यह उत्कर्ष भावना है।। 1581।।
यह उत्कर्ष नहीं पौरुष-आधीन किन्तु स्वाभाविक है।
क्योंकि उत्तरोत्तर गुण-श्रेणी होती है निर्जरा स्वयं।। 1582।।
विद्या मन्त्र आदि बल अथवा दान तपादिक के द्वारा।
जैन धर्म-उत्कर्ष करें यह बाह्य-प्रभावना अंग कहा।। 1583।।
मिथ्यामत उत्कर्ष करें जो उनके अपकर्षण हेतु।
किञ्चित् चमत्कार आदिक भी महाजनों को करने योग्य।। 1584।।
सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अंग भी समकित का गुण है।
जिससे सम्यग्दर्शन के आठों ही अंग पूर्णता पाते हैं।। 1585।।
इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अन्य और भी गुण होते।
लाभ नहीं उनके विचार से, मात्र विवक्षित कहे गए।। 1586।।

अन्वयार्थ :- (**उत्कर्षकरणं नाम**) धर्म का उत्कर्ष करना जो प्रभावना अंग का लक्षण है, उस (**लक्षणात् अपि लक्षितं**) अपने लक्षण से सिद्ध (**प्रभावना अंगसंज्ञः**) प्रभावना नामक अंग भी (**च**) निश्चय से (**सद्दर्शनस्य गुणः अस्ति**) सम्यग्दर्शन का एक गुण है।। 812।।

(**अथ अतद्धर्मणः पक्षे**) जो आत्मा का धर्म नहीं है उसके पक्ष में (**अवद्यस्य**) अवद्य मार्ग का–पाप मार्ग का (**मनाक् अपि न**) किंचित् भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिये (**यस्मात्**) क्योंकि (**अधर्मोत्कर्षपोषणात्**) अधर्म की उत्कर्षता में पुष्टि करने से (**धर्मपक्षक्षतिः**) धर्मपक्ष की क्षति होती है।। 813।।

(**सः अपि पुनः**) वह प्रभावना अंग भी (**पूर्ववत्**) वात्सल्य की तरह (**स्वान्यात्मभेदतः**) स्व और पर की भेद से (**द्विविधः**) दो प्रकार का है (**तत्र**) उनमें से (**आद्यः**) पहला (**वरं आदेयः**) प्रधान रीति से आदेय है (**अपि**) तथा (**अतः परः**) इससे भिन्न जो पर–प्रभावना है वह (**समादेयः**) गौणरूप से उपादेय है।। 814।।

(**असत्सु प्रत्यनीकेषु**) प्रतिबंधक कारणों के न रहने पर (**यत्**) जो (**वृषे**) धर्म में (**बलाधिकात् अधिकीकरणं**) बलपूर्वक अधिकता की जाती है वह (**उत्कर्षः**) धर्म का उत्कर्ष कहलाता है और (**तत् क्वचित् दोषाय अलं न**) वह प्रतिबन्धकाभाव में बलपूर्वक धर्म की अधिकता का करना किसी भी विषय में दोषाधायक नहीं है।। 815।।

(**कश्चित् जीवः**) कोई जीव (**मोहारातिक्षतेः**) मोहरूपी शत्रु के नाश होने से (**शुद्धः**) शुद्ध और कोई जीव (**शुद्धात्**) शुद्ध से (**शुद्धतरः**) शुद्धतर तथा कोई जीव (**ततः**) उस शुद्धतर से भी (**शुद्धतमः**) शुद्धतम हो जाता है (**इति**) इस तरह उत्तरोत्तर शुद्धता का प्रकर्ष ही (**आत्म-प्रभावना अस्ति**) आत्म–प्रभावना कहलाती है।। 816।।

(**नूनं**) निश्चय से (**इदं पौरुषायत्तं न स्यात्**) तरतमरूप से होने वाली शुद्धता का यह उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता है (**किंतु**) किंतु (**स्वभावतः**) स्वभाव से ही सम्पन्न होता है (**यतः**) कारण कि (**यथोत्तरं ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं गुणश्रेणौ सिद्धिः**) उत्तरोत्तर जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है उसमें स्वयमेव उस शुद्धता की तरतमरूप से वृद्धि होती जाती है।। 817।।

(**विद्यामंत्रादिभिः**) विद्या और मंत्रों के द्वारा (**बलैः**) बल के द्वारा तथा (**तपोदानादिभिः**) तप और दान के द्वारा जो (**जैनधर्मोत्कर्षः**) जैनधर्म का उत्कर्ष किया जाता है वह (**बाह्यः प्रभावनांगः अस्ति**) बाह्य प्रभावना अंग कहलाता है तथा यह भी तत्त्वज्ञानियों को (**विधीयतां**) अवश्य करना चाहिये।। 818।।

(**मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनां परेषां**) मिथ्यात्व के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले मिथ्यादृष्टियों का (**अपकर्षाय**) अपकर्ष करने के लिए (**यत् किंचित् चमत्कारं अस्ति**) जो कुछ चमत्कार दिखाने वाली क्रियाएँ हैं (**तत् महात्मभिः विधेयं**) वे भी महात्माओं को करना चाहिये।। 819।।

(**सद्दर्शनान्वितः**) सम्यग्दर्शन सहित (**उक्तः प्रभावनांगोऽपि**) कहा हुआ प्रभावनांग भी

(गुणः) सम्यग्दर्शन का वह गुण है **(येन)** कि जिस सच्चे प्रभावनांग से **(दर्शनस्य गुणाष्टकं)** सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ गुण-अंग **(संपूर्णतां याति)** पूर्णता को प्राप्त होते हैं।।820।।

(सद्गात्मनः) सम्यग्दृष्टि के **(इत्यादयः अन्ये च गुणाः विद्यन्ते)** इन निःशंकितादिक गुणों की तरह और भी अनेक गुण होते हैं परन्तु **(तेषां चिन्तनया अलं)** उनके विषय में विचार करने से कुछ अधिक फायदा नहीं है **(अतः)** अब **(यद्विवक्षितम्)** जो विवक्षित है **(तद् उच्यते)** वही कहा जाता है।।821।।

भावार्थ :- धर्म के उत्कर्ष करने का नाम प्रभावना है और यह प्रभावना अंग भी वात्सल्य अंग के समान सम्यग्दर्शन का एक गुण है।

जितने अंश में अधर्म की पुष्टि होती है उतने अंश में धर्म की क्षति होती है इसलिए अधर्म के पक्ष में सावद्य कार्यों की किंचित् भी पुष्टि नहीं करना चाहिये।

वात्सल्य अंग के समान प्रभावना अंग भी स्व-पर के भेद से दो प्रकार का है, उनमें से स्व-प्रभावना प्रधानरूप से उपादेय है तथा पर-प्रभावना गौणरूप से उपादेय है।

प्रतिबन्धक कारण की उपस्थिति में बलपूर्वक किया हुआ प्रयोग असफल होता है, इसलिए प्रतिबन्धक कारण सामग्री के अभाव में जो बलपूर्वक धर्म की अधिकता की जाती है, उसे उत्कर्ष कहते हैं। इस प्रकार अपने और पर के सम्यग्दर्शनरूप धर्म के उत्कर्ष की जो मिथ्यात्व के अभाव में वृद्धि करना है, उसे स्व-पर-भावना कहते हैं।

मोहरूपी शत्रु के अभाव में जो उत्तरोत्तर तरतमरूप से शुद्धता की वृद्धि होती है, उसको आत्म-प्रभावना कहते हैं।

यह आत्म-प्रभावना पुरुषार्थ के आधीन नहीं है, किन्तु स्वभाव से ही है, क्योंकि जब प्रतिपक्षी कर्मों का अभाव हो जाता है, तब जो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, उसमें स्वयमेव उत्तरोत्तर शुद्धता की तरतमरूप से वृद्धि होती जाती है अर्थात् इस जीव की शुद्धता का उत्कर्ष होता जाता है।

जो विद्या और मंत्रादिकों के बल से तथा तप और दान के द्वारा धर्म का उद्योत किया जाता है, उसे बाह्य प्रभावना अंग कहते हैं तथा बाह्य प्रभावना अंग को भी करना चाहिये।

मिथ्यात्व के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले पाखंडी मिथ्यादृष्टियों के महत्त्व को गिराने के लिए महात्माओं को कुछ न कुछ चमत्कारिक कार्य भी करना चाहिये।

यह प्रभावना अंग तब ही सम्यग्दर्शन का अंग हो सकता है, जबकि वह सम्यग्दर्शन सहित हो तथा जिस सम्यग्दृष्टि के यह प्रभावना अंग पाया जाता है, उसके इसी प्रभावना के अविनाभावी शेष अंग भी पूर्ण रीति से पाये जाते हैं, अतः यहाँ प्रभावना अंग से ही आठों अंग पूर्णता को प्राप्त होते हैं - ऐसा कहा है।

केवल ज्ञानचेतना ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। प्रशमादि तथा निःशंकितादिक तो उस ज्ञानचेतना के अविनाभाव सम्बन्ध से सम्यग्दर्शन के लक्षण होते हैं अन्यथा नहीं, तथा जैसे ज्ञानचेतना के अविनाभाव से प्रशमादिक सम्यग्दर्शन के लक्षण हो सकते हैं; वैसे ही ज्ञानचेतना के साथ होने वाले अन्य भी गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण हो सकते हैं, इसलिये यहाँ अब उन इतर गुणों के विषय में ऊहापोह करना व्यर्थ है। अतः मूलभूत उस ज्ञानचेतना के विषय में ही ऊहापोह करते हैं।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण[16]

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनाऽत्मनः।
सा त्रिधात्वाप्युपादेया सदृष्टेर्ज्ञानचेतना।। 822।।
श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योलेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना।। 823।।

आत्मा का निजरूप चेतना कही गई है तीन प्रकार।
किन्तु यहाँ सम्यग्दृष्टि की ज्ञान-चेतना ही है ग्राह्य।। 1587।।
यहाँ बाह्य उल्लेख बहाने श्रद्धादिक गुण कहे गए।
वास्तव में सम्यग्दर्शन का ज्ञान-चेतना लक्षण है।। 1588।।

अन्वयार्थ :- (**प्रकृतं तद्यथा**) प्रकृत यह है कि (**चेतना**) चेतना (**आत्मनः**) आत्मा का (**स्वं स्वरूपं अस्ति**) निज स्वरूप है (**सा त्रिधा अपि**) और वह तीन प्रकार की है तो भी (**अत्र**) सम्यग्दर्शन के लक्षण करते समय (**सदृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि को (**ज्ञानचेतना उपादेया**) एक ज्ञान चेतना ही उपादेय होती है।। 822।।

यद्यपि (**इह**) यहाँ पर (**बाह्योल्लेखच्छलात्**) केवल बाह्य स्वरूप के उल्लेख करने के ब्याज (उद्देश्य) से (**एते श्रद्धानादि गुणाः च**) यह श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, निःशंकितादि तथा प्रशम संवेगादिक गुण में सम्यग्दृष्टि के गुण बताए हैं तथापि (**अर्थात्**) वास्तव में (**सद्दर्शनस्य**) सम्यग्दर्शन का (**ज्ञानचेतना**) ज्ञानचेतना ही (**एकं लक्षणं**) एक लक्षण है।। 823।।

भावार्थ :- कर्म, कर्मफल तथा ज्ञानचेतना इस तरह चेतना के तीन प्रकार हैं। इसका निरूपण प्रथम किया जा चुका है। उन तीनों चेतनाओं में से सम्यग्दृष्टि के उपादेय केवल ज्ञानचेतना ही है अन्य दो नहीं हैं। सारांश यह है कि यद्यपि कदाचित् कर्म तथा कर्मफल चेतनारूप भी सम्यग्दृष्टि के ज्ञान

16. छन्द 822 से 869 तक सम्यग्दर्शन के लक्षण की विशद व्याख्या की गई है, जिसके अंतर्गत अनेक बिन्दुओं का स्पष्टीकरण किया गया है।

की परिणति पायी जाती है तो भी उसके वे दो चेतनायें उपादेय नहीं होती हैं, केवल एक ज्ञानचेतना ही उपादेय होती है।

वास्तव में ज्ञान चेतना ही सम्यग्दर्शन का अंतरंग लक्षण है और जिन बाह्य चिन्हों में सम्यग्दृष्टि की पहिचान की जाती है, वे बाह्य चिन्ह सम्यग्दर्शन के बाह्य लक्षण हैं। बहुधा वे बाह्य चिन्ह अंतरंग लक्षण के अविनाभावी होते हैं, इसलिए वे सम्यग्दर्शन के बाह्य लक्षण कहे जाते हैं, किन्तु किसी-किसी भद्र मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक वा द्रव्यलिंगी मुनि के भी सम्यक्त्व के न होते हुए भी ये बाह्य लक्षण संभव हो सकते हैं, इसलिये इन्हें सम्यग्दर्शन का बाह्य लक्षण कहा है। अतः अन्तरंग लक्षण नहीं कहा है। यहाँ आत्मभूत लक्षण को ही अन्तरंग लक्षण समझना चाहिये क्योंकि ज्ञान चेतना सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है, बिना सम्यक्त्व के नहीं होती है, अतः यह सम्यग्दर्शन का अन्तरंग लक्षण है।

शंका

ननु रूढ़िरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थ निश्चयाद् व्यवहारतः।। 824।।
व्यावहारिकं सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागंतु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।। 825।।

योग-रूढ़ि अथवा लौकिक व्यवहार रूढ़ि से कहा गया।
निश्चय अरु व्यवहार-भेद से दो विध सम्यग्दर्शन है।। 1589।।
सविकल्पक या राग सहित जो सम्यग्दर्शन वह व्यवहार।
निर्विकल्प अरु वीतराग सम्यग्दर्शन - यह निश्चय है।। 1590।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शङ्काकार का कहना है कि (**इह**) यहाँ पर (**योगात् वा लोकतः रूढिः अपि अस्ति**) योग से व लोक के व्यवहारवश भी ऐसी रूढ़ि है कि (**तत्सम्यक्त्वं अपि**) वह सम्यग्दर्शन भी (**अर्थनिश्चयात् व्यवहारतः द्विधा**) अर्थनिश्चय/निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है।। 824।।

उनमें से (**सविकल्पकं**) विकल्पसहित तथा (**सरागं**) राग सहित सम्यक्त्व (**व्यावहारिकं**) व्यवहार सम्यक्त्व है (**तु**) और (**निर्विकल्पक**) विकल्परहित तथा (**वीतरागं**) राग रहित सम्यक्त्व (**निश्चयं सम्यक्त्वं**) निश्चय सम्यक्त्व है।। 825।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि लोकरूढ़ि में तथा अन्वर्थ से भी इस लोक में वह सम्यग्दर्शन, निश्चय और व्यवहार इस भेद से दो प्रकार का है। उनमें से वो सम्यक्त्व, सराग और

सविकल्पक होता है वह व्यवहार-सम्यक्त्व है और जो वीतराग तथा निर्विकल्पक होता है वह सम्यक्त्व, निश्चय-सम्यक्त्व है।

शंका का कारण

इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम्।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना।। 826।।
ते सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधाकृतः।
एकः कश्चित्सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन।। 827।।
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन।। 828।।
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना।। 829।।

समाधान

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः।
तेषां यावत् श्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम्।। 830।।
अत्रोच्यते समाधानं सामवादेन सूरिभिः।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम्।। 831।।
सतृष्णाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक्।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम्।। 832।।
वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक् कर्तुं त्वमर्हसि।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुसाऽचाक्षुषाशयाः।। 833।।

किन्हीं किन्हीं मोही जीवों की मोह-वासना का उन्मेष।
ज्ञान-चेतना वीतराग सद्दृष्टि को उनके मत में।। 1591।।
उनने समकित के दो भेद और स्वामी दो माने हैं।
एक सरागी और दूसरे वीतराग सम्यग्दृष्टि।। 1592।।
उनमें वीतराग अरु निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि को ही।
ज्ञान-चेतना होती है, नहिं सविकल्पक को हो सकती।। 1593।।

सविकल्पी अरु राग सहित व्यवहारिक सम्यग्दृष्टि को।
मात्र प्रतीति ही होती है ज्ञान-चेतना कैसे हो।। 1594।।
इस प्रकार प्रज्ञापराध से खोटे आशय से कहते।
उनका जितना श्रुताभ्यास है केवल काय क्लेश हेतु।। 1595।।
अब आचार्य देव उनका शान्ति से समाधान करते।
यही ठीक जब दूध उफनता हो तब निर्मल जल डालें।। 1596।।
तृण-संयुत् भोजन-ग्राही हाथी जैसा मिथ्यादृष्टी।
किन्तु प्राज्ञ ! तू छोड़ मूढ़ता अरु विवेक से वर्तन कर।। 1597।।
हे आत्मज्ञ! वन्हि-ऊष्णतावत् निज को तुम भिन्न लखो।
देख रहे प्रत्यक्ष तथापि अदृश्य समान भ्रमित मत हो।। 1598।।

अन्वयार्थ :- (**केषांचित्**) किन्हीं (**मोहशालिनां**) मोहशाली पुरुषों को (**इति**) इस प्रकार का (**वासनोन्मेषः**) यह मोह की वासना के संस्कार का फल है कि जिसके कारण (**तन्मते**) उनकी समझ में (**वीतरागस्य सदृष्टः**) वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही (**ज्ञानचेतना**) ज्ञान-चेतना होती है-सराग सम्यग्दृष्टि के नहीं।। 826।।

(**तैः**) उन्होंने (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व के (**द्विधा कृत्वा**) दो भेद करके (**स्वामि भेदः**) सम्यग्दर्शन के अधिकारी भी (**द्विधा कृतः**) दो प्रकार से बतलाये हैं अर्थात् (**कश्चित् एकः**) कोई एक (**सरागः**) सराग सम्यग्दृष्टि (**च**) और (**कश्चन**) दूसरा (**वीतरागः अस्ति**) वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है।। 827।।

(**तत्र**) उन दोनों में से (**कस्यचित्**) एक (**वीतरागस्य**) वीतराग (**निर्विकल्पस्य**) निर्विकल्प (**सदृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि के ही (**ज्ञानचेतना अस्ति**) ज्ञान चेतना होती है और (**इतरस्य**) सविकल्पक सम्यग्दृष्टि के तो (**कदाचन् न**) वह ज्ञान-चेतना कभी भी नहीं होती है क्योंकि।। 828।।

किन्तु (**सविकल्पस्य**) सविकल्प (**रागिणः**) और सरागी (**व्यावहारिकसदृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि के तो (**प्रतीतिमात्रं**) केवल प्रतीति-श्रद्धा ही होती है इसलिये उसके (**ज्ञानचेतना कुतः स्यात्**) व्यवहार से ज्ञानचेतना कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है।। 829।।

किन्तु (**प्रज्ञापराधेन**) बुद्धि के दोष से (**ये दुराशयाः**) जो दुराशय-खोटे आशयवाले (**इति वदन्ति**) ऐसा कहते हैं (**तेषां**) उनका (**यावत् श्रुताभ्यासः**) जितना भी शास्त्राध्ययन है वह सब (**केवलं**) केवल (**कायक्लेशाय**) शरीर-क्लेश के लिये ही समझना चाहिये।। 830।।

(**अत्र**) अब यहाँ पर (**सूरिभिः**) आचार्य (**सामवादेन**) शांति के साथ (**उच्यते**) कहते हैं,

सो ठीक ही है क्योंकि (**दुग्धे उच्चैः उत्फणिते**) जिस समय दूध में उफान आ रहा हो, उस समय दूध में (**अनाविलं जलं**) निर्मल जल ही (**योज्यम्**) डालना योग्य है।। 831।।

(**कुद्दकू**) मिथ्यादृष्टि जीव (**करी इव**) हाथी के समान (**सतृणाभ्यवहारित्वं कुरुते**) मय घास फूस के अपने भोजन को ग्रहण करता है किन्तु (**प्राज्ञ**) हे प्राज्ञ (**त्वं**) तू (**तद् जहीहि जहीहि**) उसे छोड़ छोड़ और (**विवेकितां कुरु**) योग्य विवेक को संपादन कर।। 832।।

(**आत्मज्ञ**) भो आत्मज्ञ! (**वन्हे रौष्ण्यं इव**) अग्नि की ऊष्णता के समान (**त्वं**) तुझे भी तुम्हारे स्वरूप को (**पृथक् कर्तु**) पृथक् करना (**अर्हसि**) योग्य है (**चक्षुषा दुष्ट्वा अपि**) प्रत्यक्ष देखकर भी (**अचाक्षुषाशयाः**) अदृष्ट की आशा से (**मा विभ्रमस्व**) भ्रम में मत पड़ो।। 833।।

भावार्थ :- इस प्रकार किन्हीं-किन्हीं मोहशाली पुरुषों के पक्षपातवश सदैव एक प्रकार की वासना रहती है और जिसके वशीभूत होकर जो मोही लोग सदैव ऐसा निरूपण करते हैं कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञानचेतना होती है तथा उन्होंने ही सम्यग्दर्शन के सविकल्प और निर्विकल्परूप से दो भेद करके, उसके स्वामी भी क्रम से सरागी और वीतरागी बताए हैं और उनमें से केवल वीतराग-सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञानचेतना बताई है।

इस प्रकार बुद्धिमन्दता के कारण जो पक्षपाती लोग सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्परूप से भेद करके उसके सराग तथा वीतराग भेद बताते हैं उनका सब शास्त्राध्ययन केवल कायक्लेश के लिये ही है - ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर स्वयं ग्रंथकार ही उक्त शंका का ठीक उत्तर समझा कर देते हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि जैसे जिस समय दूध में उफान आ रहा हो, उस समय में शीतल जल के छीटे डाल कर ही दूध का उफान बंद करना ठीक है; वैसे ही पक्षपात वश की हुई शंकाओं का उत्तर भी शांतिपूर्वक ही देना ठीक है। कारण कि ऐसा करने से कषाय का वेग मंद पड़ जाता है तथा तत्त्व का ठीक स्वरूप समझ में आता है।

जैसे - हाथी अपने भोजन को बिना सोधे तृण सहित भक्षण करता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव भी अपने ग्राह्य विषयों का बिना विवेक के रागादि सहित विषय करता है। इसलिये भो प्राज्ञ तू मिथ्यादृष्टि की तरह आत्मा को सराग (सविकल्प) विषय करना छोड़कर विवेकी बन; अर्थात् सम्यक्त्व को सराग सविकल्प मानना हाथी के सतृण भोजन की तरह मिथ्यादृष्टित्व का विषय है। सम्यग्दृष्टित्व का नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो प्रत्येक विषय में सविवेक प्रवृत्ति करता है, क्योंकि रागांश और विकल्पांश सम्यक्त्व का धर्म नहीं, किन्तु मोही का धर्म है।

जिस तरह अग्नि का अग्नित्व पृथक् जाना जाता है, उसी तरह तुम भी अपने में अपने आत्मस्वरूप को (निर्विकल्प और वीतरागस्वरूप को) प्रत्यक्ष देखकर प्रत्यक्ष सिद्ध न होनेवाले सराग और सविकल्प की आशा के भ्रम में मत पड़ो।

सम्यक्त्व की सविकल्पता और निर्विकल्पता

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसंगतः।। 834।।
क्षायोपशमिकं तस्द्वयादर्थादक्षार्थसंभवात्।
क्षायिकात्यक्ष ज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात्।। 835।।
अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थांतराकार योगसंक्रांतिलक्षणात्।। 836।।
तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्।
एकोऽर्थो ग्रहणं तस्य आकारः सविकल्पता।। 837।।
विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसंक्रान्ति रूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना।। 838।।
ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रातिमृते क्वचित्।
गतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः।। 839।।
इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत्।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत्।। 840।।
इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतरा।। 841।।

योगों में परिवर्तन को कहते विकल्प वह ज्ञान दशा।
एक ज्ञेय से अन्य ज्ञेय-आकार ज्ञान-पर्याय विकल्प।। 1599।।
इन्द्रिय-विषयों के निमित्त से होता अतः क्षयोपशमरूप।
क्योंकि क्षायिक-पूर्ण-प्रत्यक्ष ज्ञान में नहिं संक्रान्ति हो।। 1600।।
क्षायिक ज्ञान विकल्परूप अपने निज लक्षण से होता।
ज्ञेयान्तर आकार योग-संक्रान्ति स्वरूप विकल्प नहीं।। 1601।।

निज का और अपूर्व-अर्थ का ग्रहण विशेष ज्ञान-लक्षण।
एक अर्थ का ग्रहण वही आकार वही सविकल्पक है।। 1602।।
ज्ञान-स्वरूप विकल्पों का समकित में कोइ प्रसङ्ग नहीं।
किन्तु योग-संक्रान्तिरूप सविकल्प सुदृष्टि संग होता।। 1603।।
इन्द्रिय-ज्ञान कदापि योग-संक्रान्ति बिना नहिं हो सकता।
क्योंकि ज्ञेय से ज्ञेयान्तर प्रतिक्षण उसकी गति होती है।। 1604।।
इन्द्रिय-ज्ञान वर्तता क्रम से अक्रम से नहिं होता है।
क्योंकि एक ज्ञेय से हटकर अन्य ज्ञेय को विषय करे।। 1605।।
समव्याप्ति होने से दोनों की आवश्यक वृत्ति यहाँ।
यह उसके होने पर होती वह इसके होने पर हो।। 1606।।

अन्वयार्थ :- (**योगसंक्रान्तिः**) मन, वचन काय की प्रवृत्ति के परिवर्तन को (**विकल्पः**) विकल्प कहते हैं (**अर्थात्**) अर्थात् (**ज्ञेयार्थात्**) एक ज्ञान के विषयभूत अर्थ से (**ज्ञेयार्थान्तरसंगतः**) दूसरे विषयान्तरत्व को प्राप्त होने वाला (**सः**) जो (**ज्ञेयाकारः**) ज्ञेयाकाररूप (**ज्ञानस्य पर्ययः**) ज्ञान की पर्याय है (**सः विकल्पः**) वह विकल्प कहलाता है।। 834।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**अक्षार्थसम्भवात्**) इंद्रियों के विषयों को अवलंबन करके उत्पन होने वाली (**तद्**) यह सविकल्पक ज्ञानरूप ज्ञान की पर्याय (**क्षायोपशमिकं स्यात्**) क्षायोपशमिक है क्योंकि (**क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य**) अतीन्द्रिय क्षायिक केवलज्ञान में (**संक्रान्तेः अपि असम्भवात्**) संक्रान्ति नहीं होती है, अतः उसमें योगावलंबन से किसी प्रकार का परिवर्तनरूप विकल्प भी समय नहीं है।। 835।।

(**स्वलक्षणात्**) स्वलक्षण की अपेक्षा से (**क्षायिकज्ञानस्य**) क्षायिकज्ञान में (**विकल्पत्वं**) जो विकल्पपना (**अस्ति**) है वह (**अर्थात्**) एक अर्थ से (**अर्थांतराकारयोग-संक्रांन्ति लक्षणात्**) दूसरे अर्थ के विषय में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अवलंबन से होने वाले संक्रांतिरूप विकल्प शब्द के अर्थ की अपेक्षा से (**न**) नहीं है।। 836।।

(**स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम्**) स्व और अपूर्व अर्थ का विशेष ग्रहण करना (**तत् लक्षणम्**) ज्ञान का लक्षण है (**अर्थः एकः**) अर्थ एक है और (**तस्य ग्रहणं**) आत्मा का[17] जो ग्रहण करना है वह (**आकारः**) वह आकार कहलाता है (**सविकल्पता स्यात्**) वही सविकल्पता क्षायिक ज्ञान में होती है।। 837।।

17. आत्मा में अर्थ का ग्रहण करना।

(सः विकल्पः) ज्ञान का स्वलक्षणभूत वह विकल्प **(अस्मिन् अधिकारे)** सम्यक्त्व के निर्विकल्पक और सविकल्प के कथन में **(मनागपि अधिकारी न)** कुछ भी अधिकार नहीं रखता है अर्थात् उपयोगी नहीं है किन्तु **(योगसंक्रान्तिरूपः यः विकल्पः)** योगसंक्रान्तिरूप जो विकल्प **(सः)** वही **(अधुना)** इस समय सम्यक्त्व के सविकल्प और निर्विकल्प के विचार करते समय **(अधिकृतः)** अधिकार रखता है-उपयुक्त है।। 838 ।।

(ऐन्द्रियं ज्ञानं तु पुनः) इन्द्रियजन्यज्ञान तो **(क्वचित्)** कहीं भी **(संक्रान्तिम् ऋत्ते)** योगसंक्रान्ति के बिना **(न)** नहीं होता है **(यतः)** क्योंकि **(अस्य)** इन्द्रियजन्य ज्ञान की **(क्षणं अपि यावत्)** प्रत्येक क्षण में भी **(अर्थात् अर्थान्तरे गतिः)** अर्थ से अर्थान्तररूप संक्रान्ति होती रहती है।। 839 ।।

(इदं तु) और यह इन्द्रियजन्य ज्ञान **(क्रमवर्ति अस्ति)** क्रमवर्ति है **(अक्रम वर्ति न स्यात्)** अक्रमवर्ति नहीं है **(यत्)** क्योंकि वह **(एकां व्यक्तिं परित्यज्य)** एक व्यक्ति को/विवक्षित अर्थ को छोड़कर **(पुनर्व्यक्ति समाश्रयेत्)** अर्थान्तर को विषय करने लगता है।। 840 ।।

(समव्याप्तेः) समव्याप्ति होने के कारण **(अद्वया इव आवश्यकी वृत्तिः अस्ति)** अभिन्न की तरह उन दोनों की-अर्थ से अर्थान्तर गति और योगसंक्राति की यह वृत्ति अवश्य होती है कि **(इयम्)** यह योगसंक्रान्ति **(तत्रैव)** उस इन्द्रियज्ञान के होने पर ही होती है **(अन्यत्र न)** ज्ञान के अतीन्द्रिय होने पर नहीं होती **(तथा तत्रैव च)** योगसंक्रान्ति होने पर ही **(इयं)** अर्थ से अर्थान्तर गति होती है **(इतरा न च)** अनर्थान्तर गति नहीं होती, अर्थात् योगसंक्रान्ति के होते हुए अर्थान्तर गति न हो, यह नहीं हो सकता और अर्थान्तर गति होने पर योग संक्रान्ति न हो - यह भी नहीं हो सकता, इसलिए योग संक्रान्ति और अर्थ से अर्थान्तर गति में समव्याप्ति होने के कारण एक प्रकार से अद्वैत है।। 841 ।।

भावार्थ :- मन-वचन-काय के अवलम्बन के विषय से विषयान्तररूप जो ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, उसे विकल्प कहते हैं।

योगसंक्रांतिरूप विकल्प केवल क्षयोपशमजन्य ऐंद्रियक ज्ञानों में ही संभव है, क्योंकि स्वाभाविक अतीन्द्रिय क्षायिकज्ञान में संक्रान्ति के न होने से वह योगसंक्रान्तिरूप विकल्प नहीं होता, इससे यही अभिप्राय समझना चाहिये कि ज्ञान का इस प्रकार सविकल्प होना नैमित्तिक स्वरूप है, वास्तविक नहीं है अत: वह वास्तव में सम्यक्त्व का स्वरूप नहीं हो सकता है।

ज्ञान गुण साकार है, शेष गुण निराकार हैं, ज्ञान गुण के साकार होने से ही उसके द्वारा वस्तु का वस्तुत्व और निज स्वरूप भी जाना जाता है तथा अन्य जितने भी गुणों का उल्लेख

किया जाता है वह सब उन सब गुणों के विकास होने से इस ज्ञान गुण में होने वाली उन विकासों की अविनाभावी पर्यायों के उल्लेख से ही उन शेष गुणों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार का ज्ञान का स्वलक्षणभूत सविकल्पत्व तो क्षायिक ज्ञान में है, किन्तु अर्थ से अर्थान्तराकार योगसंक्रांतिरूप सविकल्पत्व नहीं है। ज्ञान के लक्षणभूत विकल्पत्व में और क्षायोपशमिक ज्ञान में पर-निमित्त से होने वाले विकल्पत्व में बड़ा भारी अन्तर है - इसी विषय का खुलासा करते हैं।

केवलज्ञान में ज्ञान गुण तो स्वशब्द से गृहीत होता है और ज्ञान बिना शेष अनन्त गुण अपूर्वार्थ शब्द से गृहीत होते हैं तथा ग्रहण शब्द से आकार का बोध होता है, इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अपने शेष अनन्त गुणों के ग्रहण को ही स्वापूर्वार्थ ग्रहणात्मक आकार अथवा सविकल्पता कहते हैं।

इन्द्रियज्ञान में प्रतिसमय अर्थ से अर्थान्तररूप परिवर्तन होता रहता है, इसलिए इन्द्रिजन्य ज्ञान संक्रान्ति सहित होता है कभी भी वह संक्रान्ति बिना नहीं होता है।

इन्द्रियजन्यज्ञान एक समय में एक विषय को विषय करके दूसरे समय में दूसरे ही विषय को विषय करता है; भिन्न समयवर्ती विषयों को युगपत् विषय नहीं करता है, इसलिए वह क्रमवर्ती ही है, अक्रमवर्ती नहीं है।

दुतरफा व्याप्ति को समव्याप्ति कहते हैं, जैसे रूप और रस में समव्याप्ति है, कारण कि जैसे रूप के होने पर रस होता है और रस के होने पर रूप होता है; वैसे ही उन दोनों में से किसी एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव पाया जाता है। अग्नि और धूम में विषम व्याप्ति है, कारण कि अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, ऐसा तो कह सकते हैं, किन्तु जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता ही है - यह नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध अंगाररूप अग्नि में धूम नहीं रहता है, इसलिए इसे विषमव्याति कहते हैं। योगसंक्रांति और इंद्रियज्ञान (अर्थ से अर्थान्तरगति) इन दोनों में परस्पर समव्याप्ति है। जहाँ-जहाँ योग-संक्रांति होती है वहाँ-वहाँ ज्ञानसंबंधी अर्थान्तरगति भी होती है अथवा जहाँ-जहाँ ऐंद्रियज्ञान की अर्थान्तर गति होती है वहाँ-वहाँ योगसंक्रांति भी अवश्य होती है कारण कि ये दोनों परस्पर में एक-दूसरे के अभाव में नहीं रहते हैं इसलिए इन दोनों की व्याप्ति को समव्याप्ति बताया है।

क्षायोपशमिक या क्षायिक ज्ञान में ध्यान

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्धयानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोर्थतः।। 842।।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानेकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च।। 843।।
नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात्।। 844।।
नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि।
स्यात्परिणामवृत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात्।। 845।।
यावच्छ्मस्थजीवानामास्तिज्ञानचतुष्टयम्।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वे संक्रमणात्मकम्।। 846।।
नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तं संक्रांतिलक्षणा।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत्।। 847।।
ज्ञानसंचेतनायास्तु न स्यात्ताद्विघ्नकारणम्।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः।। 848।।

किन्तु एक ही किसी विषय में ज्ञान निरन्तर बना रहे।
वही ध्यान है किन्तु वहाँ भी क्रम होता, नहिं अक्रम है।। 1607।।
एकरूप जैसा लगता वह ज्ञान ध्यान में मग्न अतः।
पुनः पुनः वह उसी ज्ञेय में लगने से क्रमवर्ती है।। 1608।।
यहाँ क्रमत्व सिद्धि में केवल ज्ञेयान्तर नहिं हेतु कहा।
एक ज्ञेय को बार-बार जाने इसलिए क्रमत्व कहा।। 1609।।
क्षायिक में भी अति-व्याप्ति होगी - मत ऐसा तर्क करो।
परिणामी स्वभाव होने से पुनर्वृत्ति उसमें नहिं है।। 1610।।
छद्मस्थों को जो भी ज्ञान चतुष्टय पाये जाते हैं।
ये सब क्रमवर्ती होने से होते हैं संक्रान्ति स्वरूप।। 1611।।
यद्यपि उनमें वैभाविकता किन्तु ज्ञान में शक्ति समान।
अतः नहीं संक्रान्तिपने से उनमें कोइ दोष लगता।। 1612।।
ज्ञान चेतना में कोई बाधा न विकल्पात्मकता से।
वह पर्याय उसी स्वरूप में उसके भेद विरुद्ध नहीं।। 1633।।

अन्वयार्थ :- (**यत् पुनः**) किन्तु जो (**कुत्रचित् एकत्र**) किसी एक विषय में (**नैरन्तर्येण**

ज्ञानं) निरन्तररूप से ज्ञान रहता है (**तद्ध्यानं अस्ति**) उसे ध्यान कहते हैं और (**अत्रापि**) इस ध्यान में भी (**अर्थतः**) वास्तव में (**क्रमः**) क्रम ही है (**अपि**) किन्तु (**अक्रमः न**) अक्रम नहीं है।। 842।।

(**ध्यानैकतानतः**) ध्यान की एकाग्रता के कारण (**ज्ञानं**) ध्यानरूप ज्ञान (**एकरूपमिव**) अक्रमवर्ती की तरह (**आभाति**) प्रतीत होता है परन्तु (**तत्**) वह ध्यानरूप ज्ञान (**पुनः पुनः वृत्तिरूपं स्यात्**) पुनः पुनः उसी-उसी विषय में होता रहता है इसलिए (**क्रमवर्ति च स्यात्**) क्रमवर्ती ही है।। 843।।

(**अत्र क्रमत्वे साध्ये**) ऐन्द्रियज्ञान में क्रमत्व की सिद्धि करते समय (**अर्थान्तराकृतिः**) अर्थान्तराकार होना (**परं**) केवल (**हेतुः न**) हेतु नहीं है (**किन्तु**) किन्तु (**तत्रैव एकार्थे च**) उसी एकार्थ में ही (**क्रमात्**) क्रमपूर्वक अर्थात् समय-समय में (**पुनः वृत्तिः अपि**) फिर-फिर से अपने उस ही विषय में रहना भी क्रमत्व की सिद्धि में हेतु होता है।। 844।।

(**तत्र**) उस (**क्षायिकात्यक्षसंविदि**) क्षायिक/अतीन्द्रिय केवलज्ञान में (**अपि**) भी (**अतिव्याप्तिः**) अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग आवेगा (**इति न उह्यम्**) ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये क्योंकि (**परीणामवत्त्वे अपि**) उस केवलज्ञान में स्वाभाविकरूप से परिणमन होते हुए भी (**पुनर्वृत्तेः असम्भवात्**) पुनर्वृत्ति सम्भव नहीं है।। 845।।

(**छद्मस्थजीवानां**) छद्मस्थ/अल्पज्ञ जीवों में (**यावद् ज्ञानचतुष्टयं अस्ति**) जो चारों ज्ञान पाये जाते हैं (**सर्वं**) वे सब (**नियतक्रमवर्तित्वात्**) नियम से क्रमवर्ती होने के कारण (**संक्रमणात्मकम्**) संक्रमणरूप होते हैं।। 846।।

(**वैभाविकत्वे अपि शक्तित्वात् हेतोः**) उन चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञानों में वैभाविकपना है तथापि शक्तिपनेरूप हेतु से (**ज्ञानशक्तिवत्**) ज्ञान शक्ति की तरह (**सुमुक्तं संक्रांतिलक्षणा तच्छक्तिः**) उत्तम प्रकार से जिसका संक्रांतिरूप लक्षण कहा गया है - ऐसी उन चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञानों की विकल्पात्मक शक्ति सम्यक्त्व के लिए (**दोषाय अलं न**) दोष का कारण नहीं है।। 847।।

(**तद्**) वह क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्पपना (**ज्ञानसञ्चेतनायाः**) ज्ञानचेतना का (**विघ्नकारणम्**) बाधक (**न तु स्यात्**) नहीं हो सकता, क्योंकि (**तद् पर्यायः तदेव**) जिस गुण की जो पर्याय होती है, वह कथंचित् तद्रूप ही होती है, इसलिए (**तद्विकल्पः**) क्षायोपशमिक ज्ञान का पर्यायार्थिकनय से विकल्पात्मक होनेरूप एक प्रकार का स्वभाव (**तद्गरिपुः न**) ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञान का बाधक नहीं हो सकता है।। 848।।

भावार्थ :- अन्य सब विषयों से चित्त को हटाकर किसी एक विषय में चित्त के लगाने को ध्यान कहते हैं, यह ध्यान श्रुतज्ञान की पर्याय है और उसमें जो चित्त की एकाग्रता होती है, उसे भी सर्वथा चित्त की अचंचल वृत्ति नहीं कह सकते हैं, किन्तु अन्य सब विषयों से हटाकर किसी एक ही विषय में चित्त की पुनः-पुनः वृत्ति लगाने को भी ध्यान कहते हैं, इसलिए ध्यान में भी पुनः-पुनः वृत्ति की संभावना के कारण क्रमवर्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यदि कदाचित् यह कहा जाय कि ध्यानरूप ज्ञान में क्रमवर्तित्व तो नहीं है इसलिए योगसंक्रान्ति और क्रमवर्तित्व की व्याप्ति नहीं हो सकती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है कारण किसी एक विषय में बार-बार परिणत होने का नाम ध्यान है, इसलिए उसमें भी अर्थसंक्रान्तिरूप सिद्ध हो जाता है।

जैसे - अर्थान्तराकृति से ऐन्द्रिय ज्ञानों में मतिश्रुतादि ज्ञानों में क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है वैसे ही किसी एक विषय में पुनः-पुनः वृत्ति के द्वारा भी क्रमवर्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए ध्यान में अक्रमवर्तित्व का निराकरण हो जाता है अर्थात् क्रमवर्ति ध्यान की सन्तान को भी ध्यान कहते हैं। उक्तं च - **ध्यानसन्तानमपि ध्यानमित्युपचर्यते।**

अलक्ष्य में भी लक्षण के जाने को अतिव्याप्ति कहते हैं। शंकाकार का कहना है कि यदि कदाचित् यह कहो कि ध्यान में क्रमवर्तित्व मानने से केवली के ध्यान में भी क्रमवर्तित्व का प्रसंग आवेगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवली के अतींद्रिय क्षायिक ज्ञान में पुनर्वृत्ति नहीं होती, इसलिए वह क्रमवर्ती न कहला कर अक्रमवर्ति तथा युगपद् अनन्त पदार्थों का ज्ञायक कहलाता है तथा उसमें जो ध्यान शब्द की वृत्ति है, वह उपचारतः है, क्योंकि ध्यान श्रुतज्ञान की पर्याय है, इसलिए वास्तव में ध्यान बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक होता है, परन्तु आगे के गुणस्थानों में कर्म की निर्जरारूप ध्यान का कार्य पाये जाने के कारण ध्यान का उपचार किया जाता है।

छद्मस्थ जीव के चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञान संक्रमणात्मक होते हैं और केवली का क्षायिक ज्ञान असंक्रमणात्मक होता है।

यद्यपि चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञान वैभाविक भाव होने के कारण संक्रमणात्मक हैं, तथापि अपनी शक्तिपने से सम्यग्दर्शन के लिए बाधक नहीं हैं, इसलिए इनमें वैभाविकपने के कारण जो विकल्पात्मकपना है उससे सम्यक्त्व में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः सरागों के सम्यक्त्व को सविकल्प कहना युक्तियुक्त नहीं है।

सम्यक्त्व के साथ उत्पन्न होने वाली ज्ञानचेतना के लिए चारों ही ज्ञानों का संक्रमण बाधक नहीं है, क्योंकि ज्ञानचेतना का बाधक विवक्षित ज्ञानावरण का उदय ही हो सकता है, क्षयोपशम नहीं। जिस प्रकार प्रतिपक्षी कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली ज्ञान की क्षायिकरूप

शुद्ध पर्याय ज्ञानचेतना की बाधक नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षायोपशमिकरूप ज्ञान की पर्याय भी यद्यपि वैभाविक है, तथापि वह ज्ञानचेतना की बाधक नहीं हो सकती है। कारण कि क्षायोपशमिकरूप ज्ञान की पर्यायें कथंचित् ज्ञानगुणरूप ही होती हैं, इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान के विकल्प उस ज्ञान चेतना के बाधक नहीं हो सकते हैं।

संक्रान्ति के सम्बन्ध में शंका

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम्।। 849।।

समाधान

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद् व्यभिचारिता।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना।। 850।।
किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया।। 851।।
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात्।। 852।।

यदि ज्ञेय से ज्ञेयान्तर होता है ज्ञान चेतना का।
यही प्रतिज्ञा हो तो अन्य वस्तु में ज्ञान चेतना हो।। 1614।।
ठीक कहा कि हेतु की विपक्षवृत्ति है व्यभिचारी-
किन्तु ज्ञान चेतना अन्य से भिन्न निजात्मा में होती।। 1615।।
और सभी सम्यग्दृष्टि की नित्य ज्ञान चेतना बहे।
अविच्छिन्न धारा प्रवाह अथवा अखण्ड है धारा एक।। 1616।।
उसका कारण यह है कि समकित के संग अविनाभावी-
स्वावरण क्षयोपशम से सदैव सद्ज्ञान चेतना होती है।। 1617।।

अन्वयार्थ :- **(ननु च)** शंकाकार का कहना है कि यदि ज्ञान का संक्रमणात्मकपना ज्ञानचेतना का किसी भी प्रकार से बाधक नहीं है तो **(अर्थात् अर्थान्तरे गतिः इति प्रतिज्ञा स्यात्)** ज्ञानचेतना में भी मतिज्ञानपने के कारण अर्थ से अर्थान्तररूप संक्रमण होता है यह पक्ष मानना पड़ेगा और **(तत्र)** वैसा मानने पर **(आत्मनः अन्यत्र)** आत्मा के बिना इतर विषयों में भी ज्ञानचेतना का उपयोग होता है - यह मानना पड़ेगा।। 849।।

(सत्यं) ठीक है कि **(हेतोः विपक्षत्वे वृत्तित्वात्)** हेतु की विपक्ष में वृत्ति होने से उसमें **(व्यभिचारिता)** व्यभिचारीपना आता है **(यतः)** क्योंकि **(अन्यात्मनो अन्यत्र)** पर-स्वरूप पर-पदार्थ से भिन्न **(अत्र स्वात्मनि)** अपने इस स्वात्मा में **(ज्ञानचेतना)** ज्ञानचेतना होती है।। 850।।

(किञ्च) तथा **(सर्वस्य सदृष्टेः)** सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियों के **(अव्युच्छिन्न प्रवाहेण)** धारा प्रवाह में **(यद्वा)** अथवा **(अखण्डैकधारया)** अखण्ड एक धारा से **(नित्यं ज्ञानचेतना स्यात्)** सदैव ज्ञानचेतना होती है।। 851।।

(तत्र हेतुः अस्ति) सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना की सदैव उपलब्धि में कारण यह है कि **(इह)** इसमें **(सम्यक्त्वेन अन्वयात्)** सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ अविनाभावरूप से होने वाली **(स्वावरण व्ययात्)** स्वानुभूति मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से **(सध्रीची)** समीचीन **(ज्ञानचेतना लब्धिः)** ज्ञानचेतना की लब्धि अर्थात् लब्धिरूप ज्ञानचेतना **(नित्या)** सदैव पाई जाती है।। 852।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि ज्ञानचेतना का निरुक्त्यर्थ पहले ऐसा किया है कि **'ज्ञानं चेत्यते अनया'** अर्थात् ज्ञान/शुद्धात्मा जिस चेतना के द्वारा जाना जाता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं परन्तु इस प्रकरण में जैसे सम्यग्दृष्टि के अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों में अर्थ से अर्थान्तररूप संक्रान्ति होती है वैसे ही क्षायोपशमिकपने के कारण ज्ञानचेतना में भी संक्रमण मानना पड़ेगा और संक्रमण के मानने से ज्ञानचेतना का विषय केवल शुद्ध आत्मा न होकर इतर विषय भी होते हैं - यह मानना पड़ेगा।

ठीक है कि हेतु को विपक्षवृत्ति की सम्भावना में व्यभिचारीपने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु ज्ञानचेतना में जो आत्मा की प्रवृत्ति होती है, वह पर-पदार्थों से आत्मा को खींचकर पुनः पुनः स्वात्मा में स्थापित करती है। इसप्रकार के क्रमवर्तिपने से विपक्षी वृत्ति सम्भव ही न होने के कारण व्यभिचारीपना नहीं कहा जा सकता है।

सब सम्यग्दृष्टियों को जब तक सम्यक्त्व रहता है, तब तक अवश्य ही प्रवाहरूप से अथवा अखण्ड धारारूप से ज्ञानचेतना रहती है। **यहाँ पर अव्युच्छिन्न प्रवाह अथवा अखण्डधारारूप से उसे नित्य कहने का यह प्रयोजन है कि ज्ञानचेतना जाति की अपेक्षा लब्धिरूप से सदैव रहती है।** यद्यपि तीन प्रकार के सम्यक्त्वों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि की ज्ञानचेतना में तरतमभाव की सम्भावना नहीं है, किन्तु क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के देशघाति सम्यक् प्रकृति के उदय से चल-मल आदि दोष उत्पन्न होने से ज्ञानचेतना में तरतमभाव हो सकता है; तथापि ज्ञानचेतना की धारा और प्रवाह में बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि जब तक सम्यक्त्व रहता है, तब तक लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य रहती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों की उत्पत्ति का एक ही काल है, परन्तु फिर भी इन दोनों में कार्य-कारण भाव है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान में सम्यक्पना आता है; जिस समय मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षयोपशम किंवा क्षय होता है उसी समय मिथ्यात्व के अभाव के साथ ही **स्वानुभूत्यावरण नामक मतिज्ञानावरण का भी क्षयोपशम अवश्य हो जाता है। सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान के बाधक, मिथ्यात्व कर्म और स्वानुभूत्यावरण कर्म का व्यय युगपत् होने से उक्त दोनों की उपलब्धि भी युगपत् ही होती है, जब तक सम्यक्त्व का सद्भाव रहता है, तब तक लब्धिरूप ज्ञानचेतना भी अखण्ड धारा से व अव्युछिन्न प्रवाह से अवश्य रहती है, इसलिए सम्यक्त्व के साथ ज्ञानचेतना का नित्य संबंध बताया है और इसीलिए सम्यग्दृष्टि की ज्ञान चेतना को नित्य कहा है।**

लब्धि और उपयोगरूप ज्ञान चेतना

कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात्।। 853।।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः।। 854।।

अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्चवा न वा।
***यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना।। 855।।**

अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात्।। 856।।

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि।
स्यात् सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः।। 857।।

स्वोपयोगिनी ज्ञान चेतना यद्यपि कभी कभी होती।
समव्याप्ति है नहिं दोनों में अतः लब्धि का नाश नहीं।। 1618।।
लब्धि और उपयोग उभय में विषम व्याप्ति पाई जाती।
लब्धि नाश होने पर होता है उपयोग अवश्य विनष्ट।। 1619।।

* आवरण शब्द से आवरण का क्षयोपशम अर्थ ग्रहण किया है, अन्यथा पद्य का अर्थ ठीक नहीं हो सकता है। प्रकरणवश 'दृशा' और 'तदावरणस्य' इन दोनों का अर्थ दर्शनमोह और ज्ञानावरण का यथायोग्य क्षयोपशमादि किया है। दूसरा अर्थ ''दर्शनमोह के उदय के साथ स्वानुभूत्यावरण के उदय की व्याप्ति'' किया जा सकता है।

यदि उपयोग अभाव हुआ तो लब्धि की क्षति हो, ना हो।
तदावरण समकित सम-व्याप्ति, नहिं उपयोग संग व्याप्ति।। 1620।।
समकित के होने पर उनकी लब्धि आवरण में क्षति हो।
समकित नहिं हो तो उसकी क्षति नहीं, सिद्ध यह आगम से।। 1621।।
ज्ञानी को भी कर्म-चेतना और कर्मफल होती हैं।
क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य सबसे बलवान कहा जाता।। 1622।।

अन्वयार्थ :- (**समव्याप्तः असम्भवात्**) लब्धि और उपयोग में समव्याप्ति नहीं होने से (**कादाचित्का स्वोपयोगिनी ज्ञानस्य चेतना**) यदा कदाचित् आत्मोपयोग में तत्पर रहने वाली उपयोगात्मक ज्ञानचेतना (**लब्धेः**) लब्धिरूप ज्ञानचेतना के (**विनाशाय**) नाश करने के लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं है।। 853।।

(**अत्र**) यहाँ (**यावद्-लब्धि उपयोगयोः**) सम्पूर्ण लब्धि और उपयोगों में (**विषमव्याप्तिः अस्ति**) विषम व्याप्ति ही होती है (**यतः**) क्योंकि (**लब्धिक्षतेः**) लब्धि के नाश से (**अवश्यं उपयोगक्षतिः स्यात्**) अवश्य ही उपयोग का नाश हो जाता है (**तु**) किन्तु (**उपयोगस्य अभावात्**) उपयोग के अभाव से (**लब्धेः क्षतिः**) लब्धि का नाश हो (**वा**) अथवा नहीं भी हो। (**यद्**) कारण (**दृशा अमा**) जैसे दर्शनमोह के क्षयोपशमादिक के साथ (**तदावरणस्य**) स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम की लब्धिरूप ज्ञानचेतना की (**व्याप्तिः**) समव्याप्ति है; (**अमुना ज्ञान**) वैसी ज्ञानचेतना के उपयोग के साथ सम्यक्त्व की व्याप्ति नहीं है किन्तु विषम-व्याप्ति है।। 854-855।।

(**सम्यक्त्वे सति**) सम्यक्त्व होते ही (**तद् लब्ध्यावरणक्षतः**) ज्ञान चेतनावरण-स्वानुभूत्यावरण कर्म का नाश (**अवश्यं भवति**) अवश्य होता है तथा (**अत्र असति**) इस सम्यक्त्व के न होने पर (**तत्क्षतिः न**) उस ज्ञानचेतनावरण कर्म का क्षयोपशम भी नहीं होता अर्थात् उदय ही रहता है (**एतद् जिनागमात् सिद्धं**) यह आगम में प्रसिद्ध है।। 856।।

(**सद्यः**) चतुर्थ आदि गुणस्थानों में (**सर्वतः प्रमाणात्**) सब प्रमाणों से (**कर्मफले**) कर्मफल में (**अथवा**) अथवा (**कर्मणि**) कर्म में (**चेतना नूनं स्यात्**) चेतना अवश्य पाई जाती है (**यतः**) क्योंकि (**वै**) निश्चय से (**प्रत्यक्षं**) प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों से (**बलवत्**) बलवान् है।। 857।।

भावार्थ :- जैसे भावेन्द्रिय और भावमन - ये दोनों लब्धि तथा उपयोगरूप होते हैं; वैसे ही स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली ज्ञानचेतना भी लब्धि और उपयोगरूप होती है। यद्यपि युगपद् नाना ज्ञानों की लब्धि रह सकती है किन्तु उपयोग एक समय एक ही जाति के

ज्ञान का होता है अर्थात् जिस समय सम्यग्दृष्टि के कोई इन्द्रियोपयोग किंवा अन्य कोई श्रुतज्ञानोपयोग होता है, उस समय यद्यपि उसके उपयोगात्मक ज्ञान चेतना नहीं होती है; तथापि लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य होती है; इसलिए जिस समय उसके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं होती, उस समय उसके उपयोगात्मक ज्ञान चेतना के अभाव में लब्धिरूप ज्ञानचेतना नहीं होती – ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लब्धि और उपयोग इन दोनों में समव्याप्ति नहीं है। अत: उपयोगात्मक ज्ञानचेतना का अभाव लब्धिरूप ज्ञानचेतना के नाश में कारण नहीं हो सकता है।

स्वानुभूति की लब्धि के अभाव में उपयोग का भी अभाव हो जाता है, किन्तु उपयोग के अभाव में लब्धि के अभाव होने का नियम नहीं है, इसलिये स्वानुभूति की लब्धि और उपयोग में विषम व्याप्ति है, जैसे – सम्यक्त्व के उत्पत्ति के साथ ही स्वानुभूत्वावरण कर्म के क्षयोपशमजन्यरूप ज्ञानचेतना/लब्धि की उत्पत्ति का सहभावी नियम है; वैसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ सदैव सम्यग्दृष्टि के शुद्ध आत्मा के प्रति ही उपयोग रहता है – यह नियम नहीं है, इसलिए सम्यक्त्व के साथ स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली ज्ञानचेतना की लब्धि का सहभावी अविनाभाव है और उस सहभावी अविनाभाव के कारण ज्ञानचेतना की लब्धि और सम्यक्त्व की समव्याप्ति है, किन्तु सम्यक्त्व के होने पर ज्ञानचेतना का उपयोग होगा ही – यह नियम नहीं, किन्तु ज्ञानचेतना का उपयोग यदि होगा तो सम्यक्त्व के होने पर ही होगा अन्यथा नहीं – ऐसा नियम है, इसलिए अग्नि और धूम के समान, सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना के उपयोग में विषम व्याप्ति ही है।

सम्यग्दृष्टि के कर्म और कर्मफलचेतना के होने का कारण ग्रन्थकार ने जघन्यपद बताया है और उस जघन्य पद का कारण चारित्र मोह का उदय बताया है अर्थात् जब तक सम्यग्दृष्टि जघन्य पद में स्थित रहता है, तब तक उसके कर्म और कर्मफल चेतना के सद्भाव की भी सम्भावना रहती है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कभी-कभी कर्म तथा कर्मफलचेतना भी होती है। कारण उसके सदैव उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं रहती है; तथा जैसे – अविरत सम्यग्दृष्टि के नाना उपयोगों की सम्भावना के रहने से ज्ञानचेतना की लब्धि और उपयोग में समव्याप्ति नहीं है, वैसे ही सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना के साथ भी समव्याप्ति नहीं है, किन्तु दोनों ही जगह विषम व्याप्ति ही है, अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग्दर्शन और लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतना के साथ ही समव्याप्ति है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के साथ लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतना की समव्याप्ति तथा उपयोगात्मक ज्ञानचेतना की विषमव्याप्ति का विचार करके आगे योगसंक्रान्तिरूप विकल्प की अपेक्षा से जैसा छद्मस्थों के ज्ञान में सविकल्पपना रहता है, वैसा लब्धि तथा उपयोगरूप ज्ञानचेतना में सविकल्पकपना रहता है या नहीं रहता है – इस विषय का विचार करते हैं।

स्वानुभूतिरूप ज्ञानचेतना की निर्विकल्पता

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्त्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा।। 858।।

शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसंगतेः।। 859।।

शंका

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम्।
यत्कश्चित् बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः।। 860।।

समाधान

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत्।। 861।।

निर्विशेषाद्यथाऽत्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति।। 862।।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।। 863।।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः।। 864।।

तस्मात् स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकार चिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवेहि भो।। 865।।

चर्यया पर्यटन्नैव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात्।। 866।।

इतने से यह सिद्ध हो गया पूर्व कथित लक्षण-लब्धि।
स्वयं नहीं उपयोगरूप होने से निर्विकल्प होती।। 1623।।
स्वयं ज्ञान चेतनारूप जो शुद्ध आत्म-उपयोग कहा।
असंक्रान्तिमय होने से वह निर्विकल्प ही कहा गया।। 1624।।

यहाँ मात्र बस एक प्रश्न को ही अवकाश प्राप्त होता।
क्या आत्मा से भिन्न वस्तु में भी उपयोग पहुँचता है।। 1625।।
यह ज्ञानोपयोग के निज स्वभाव की अद्भुत महिमा है।
स्व-पर उभय युगपत् आकार-प्रकाशक दीपक जैसा है।। 1626।।
ज्यों सामान्यतया अपने को त्यों ही अन्य ज्ञेय जाने।
तथा मूर्त एवं धर्मादि अमूर्त पदार्थों को जाने।। 1627।।
आत्मा में उपयुक्त वही उपयुक्त, नहीं ऐसा जानो।
जो पर में उपयुक्त वही उपयुक्त, नहीं यह भी मानते।। 1628।।
निज में ही उपयुक्त हुआ तो भी उत्कर्ष नहीं होता।
यदि पर में उपयुक्त हुआ तो भी अपकर्ष नहीं होता।। 1629।।
निज में थिरता हेतु अन्य से हटकर निज में एकाकार -
होने की इच्छा से खेद न कर सार्थक पदार्थ को जान।। 1630।।
ज्ञान अर्थ से अर्थान्तर में लीला से ही वर्त रहा।
उसका ज्ञेयाकार परिणमन नहीं दोष-गुण का कारण।। 1631।।

अन्वयार्थ :- (**एतावता उक्तेन**) इतना कहने से (**सिद्धं**) यह सिद्ध होता है (**प्रोक्तलक्षणा या लब्धिः**) कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है (**सा**) वह (**स्वतः निरुपयोगरूपत्वात्**) स्वतः उपयोगरूप न होने से (**निर्विकल्पा**) निर्विकल्प (**अस्ति**) है।। 858।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**स्वयं ज्ञानचेतना**) स्वयं ज्ञानचेतनारूप (**यः शुद्धः स्वात्मोपयोगः स्यात्**) जो शुद्ध स्वकीय आत्मा का उपयोग है (**सः**) वह (**असंक्रांतसंगतेः**) संक्रांत्यात्मक न होने से (**निर्विकल्पः एव**) निर्विकल्पकरूप ही है।। 859।।

(**अत्र**) अतः अब यहाँ पर (**केवलम्**) केवल (**प्रश्नावकासस्य लेशमात्रः**) इतने ही प्रश्न को अवकाश (**अस्ति**) मिलता है कि (**आत्मनः अन्यत्र**) आत्मा के सिवाय (**बहिः अर्थे**) बाह्य अर्थ में भी सम्यग्दृष्टि का (**यद् कश्चित् उपयोगः स्यात्**) क्या कोई अन्य उपयोग होता है ?।। 860।।

(**ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः**) ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा ही ऐसी कुछ है कि वह ज्ञानोपयोग (**प्रदीपवत्**) प्रदीप की तरह (**आत्मपरोभयाकारभावकश्च अस्ति**) स्व और पर के तथा उभय के आकार का युगपत् आभाषक-प्रकाशक होता है।। 861।।

(**यथा**) जैसे वह ज्ञान (**निर्विशेषाद्**) सामान्य रीति से अर्थात् किसी प्रकार से किसी प्रकार का भेद न करके (**आत्मानं इव**) अपनी तरह (**ज्ञेयं च अवैति**) अपने विषयभूत ज्ञेय को भी

जानता है (**तथा**) वैसे ही (**मूर्तान्**) मूर्त पदार्थों को (**च**) और (**अमूर्तान् धर्मादीन्**) अमूर्त जो धर्म, अधर्म वगैरह द्रव्य है उनको भी (**अवगच्छति**) जानता है।। 862।।

(**यः**) जो (**स्वस्मिन् एव उपयुक्तः**) निजात्मोपयोगी ही है (**सः एव हि**) वही निश्चय से (**उपयुक्तः**) उपयुक्त है (**न वा**) ऐसा नहीं है तथा (**यः**) जो (**परस्मिन् उपयुक्तः**) पर-पदार्थोपयोगी है (**सः एव हि**) वह ही निश्चय से (**उपयुक्तः**) उपयुक्त है (**न वा**) ऐसा भी नहीं है, किन्तु उभय विषय को विषय करने वाला ही उपयुक्त अर्थात् यथार्थ उपयोग करने वाला होता है – ऐसा नियम है। इस प्रकार क्रिया का अध्याहार करना चाहिये।। 863।।

(**सः**) वह सम्यग्दृष्टि (**स्वस्मिन् एव**) अपने में (**उपयुक्तः अपि**) उपयुक्त होकर भी (**वस्तुतः**) वास्तव में (**उत्कर्षाय न**) किसी प्रकार के उत्कर्ष के लिए समर्थ नहीं होता है अर्थात् इससे उसका कुछ संवर व निर्जरा में किसी प्रकार का उत्कर्ष नहीं हो जाता है और यदि (**परत्र उपयुक्तः अपि**) पर-पदार्थ में भी वह उपयुक्त हो गया हो तो भी (**तत्त्वतः**) वास्तव में (**अपकर्षायन**) किसी प्रकार के अपकर्ष के लिये समर्थ होता है – ऐसा भी नहीं है, अर्थात् उससे उसके संवर वा निर्जरा में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती है, कारण कि स्व और पर में उपयुक्त व अनुपयुक्त रहना मोक्ष व बन्ध के लिये कारण नहीं माना है, किन्तु मिथ्यात्व का अनुदय व उदय को ही मोक्ष व बन्ध में कारण माना है।। 864।।

(**तस्मात्**) इसलिए (**स्वस्थितये**) अपने में अपनी स्थिति के लिये-निराकुलता के लिए (**अन्यस्मात्**) पर-वस्तु के साथ (**एकाकारचिकीर्षया**) आनन्द करने की इच्छा से (**मा सीदसि**) तुम दुःखी मत होवो किन्तु (**भो महाप्राज्ञ**) भो महाप्राज्ञ (**सार्थम् अर्थम् अवैहि**) प्रयोजनभूत अर्थ को समझो।। 865।।

(**ज्ञानं**) ज्ञान (**अर्थेषु**) अपने विषयों में (**चर्यया एव पर्यटन्**) इष्टानिष्ट कल्पना के अनुसार प्रतिसमय अर्थ से अर्थान्तर में होने वाली वृत्ति से ही वर्त रहा है (**लीलया न**) लीला से नहीं, इसलिए (**नित्यं**) सदैव (**प्रत्यर्थम्**) अर्थ अर्थ के प्रति (**अर्थसात्**) उसका तदाकार होकर विषय करना (**दोषाय अथ गुणाय न**) सम्यक्त्व के लिए दोषाधायक वा गुणाधायक नहीं है।। 866।।

भावार्थ :- छद्मस्थों के उपयोगात्मक ज्ञान में ही योगसंक्रांतिक निमित्त से होने वाला विकल्प होता है, लब्ध्यात्मक में नहीं, इसलिए स्वानुभूति की (ज्ञानचेतना की) लब्धि उपयोगात्मक न होने से निर्विकल्प है।

जिस समय ज्ञानचेतनारूप शुद्ध आत्मोपयोग होता है उस समय उन उपयोग में अर्थ से अर्थान्तर गति नहीं होती है इसलिए उतने समय तक वह उपयोग भी निर्विकल्पक ही है।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से, अविरत सम्यग्दृष्टि की, लब्धिरूप ज्ञानचेतना और उपयोगरूप ज्ञानचेतना को निर्विकल्प सिद्ध करने से, प्रश्न के लिए केवल इतनी ही जगह रह जाती है कि जब वह जघन्य पद में (अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान में) स्थित है, तब उसके आत्मा के सिवाय बहिरंग में भी उपयोग होता है अथवा नहीं होता?

ज्ञानोपयोग का स्वरूप ही ऐसा कुछ है कि वह केवल स्वावभासक वा परावभासक न होकर स्व-परावभासक होता है, इसलिए भी किंचित् सम्यग्दृष्टि का बाह्य पदार्थों में भी उपयोग जाता है, परन्तु उस समय भी उसको स्व का-अपने आत्मा का भी आभास होता है, इसलिए उसको तज्जन्य आसक्ति नहीं रहती। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व के माहात्म्य से उसके ज्ञान में सम्यक्पना उत्पन्न होता है और यद्यपि वह जब तक जघन्यपद में स्थित है, तब तक चारित्रमोहवश बाह्य पदार्थों में रागद्वेष करता है; तथापि अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का अभाव होने से जो इन मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के निमित्त से संसार अवस्था में विपरीतता थी, उसका नाश हो जाता है, इसलिए ज्ञान में एक प्रकार की विशुद्धता आ जाती है। उसके कारण यह जीव स्व-पर-पदार्थों में विपरीतता नहीं करता। अतः यह सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपद में रहकर भी स्वकीय बोध से च्युत नहीं होता है।

जिस प्रकार जिस समय आत्मा अपने विषय में उपयोग करता है, उस समय आत्मा का आत्मज्ञान ज्ञान कहलाता है और उसका विषयभूत जो निज आत्मा है वह ज्ञेय हो जाता है। इस ही प्रकार जब वह मूर्तामूर्तादि विषय को जानता है, तब भी स्व और पर को युगपत् जानता है, अथवा **इस पद्य का यह भी अर्थ होता है कि निश्चयनय से आत्मा आत्मज्ञ है, इसलिये जिस समय परम शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध केवलज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ही सम्पूर्ण रीति से जानता है, उस समय जैसे उसके स्व [ज्ञान] और पर [ज्ञान का विषयभूत शुद्ध आत्म-द्रव्य का] पूर्ण ज्ञान होता है, वैसे ही उस ज्ञान की अत्यन्त निर्मल प्रतिभासक शक्ति से शेष सम्पूर्ण द्रव्य भी स्वयं उसमें प्रतिभासित होने लगते हैं, क्योंकि शुद्ध ज्ञानोपयोग का ऐसा ही कोई अचिन्त्य माहात्म्य है कि जिसके कारण वह स्व-विषय में उपयुक्त होता हुआ भी स्व तथा अन्य सब पदार्थों का भी यथार्थ ज्ञाता होता है।**

नोट :- अज्ञान बन्ध का कारण नहीं और ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व और कषाय का उदय बन्ध का निमित्त है और उनका ही अनुदय मोक्ष का निमित्त है। अतः स्वात्मोपयोगी ही या पर-पदार्थोपयोगी ही कृतार्थ है - इस कथन में कुछ महत्त्व नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के जो मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धी का वा और भी कषायों का जब यथासम्भव उपशम, क्षय वा क्षयोपशम हो जाता है, तदनुसार ही उसके संवर व निर्जरा होती है और जितने अंशों में कषायों का उदय रहता

है, उतने अंश में आस्रव भी होता रहता है। उसका उपयोग चाहे स्वभावोपयोग में हो या परपदार्थोपयोग में हो उस पर से उसमें कृतार्थ का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता है, किन्तु वास्तव में मिथ्यात्वादिक का अभाव होने से वह कृतार्थ कहलाता है।

केवल स्व विषय का व केवल पर विषय का ही उपयोग करने वाला कोई सच्चा उपयोग वाला होता है – ऐसा नहीं किन्तु स्व-पर विषय को उपयोग करने वाला आत्मा ही उपयोग वाला कहलाता है।

हे आत्मन्! पर-वस्तु में निजत्व कल्पना के कारण ही तू अनादिकाल से दुःखी होता है अर्थात् निराकुलता के लिए पर-वस्तुओं में ही एकत्व मानकर उनके संग्रह में सदैव तत्पर रहने से तू दुःखी हो रहा है, इसलिए अब परम प्रयोजनभूत नव-पदार्थों को किंवा सप्त तत्त्वों को तू समझ! कारण इसके समझने से ही तू सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है। प्रयोजनभूत पदार्थों के श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन है और इससे विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यादर्शन है।

सार्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक प्रयोजनभूत और दूसरा युगपत्। जैसे – सम्यक्त्व के प्रकरण में सार्थ शब्द का अर्थ प्रयोजनभूत उपयुक्त मालूम होता है, वैसे सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में युगपत् स्व-पर अर्थ को जानना यह अर्थ भी उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर सम्यग्ज्ञान के स्व-परोपयोग का विषय चल रहा है, इसलिए हे आत्मन् पर-वस्तु में निजत्व मानकर एकाकार करने की इच्छा से तू दुखी मत हो, किन्तु युगपत् स्व और पर को स्व तथा पररूप से जान।

साकार अर्थात् अर्थाकार होकर अर्थ को जानना क्षायोपशमिक ज्ञान का स्वभाव है और वह क्षायोपशमिक ज्ञान इष्टानिष्ट कल्पना के अनुसार प्रत्यर्थ परिणामी भी होता रहता है। अतः उसके निमित्त से सम्यक्त्व में न कुछ दोष पैदा होते हैं तथा न गुण ही पैदा होते हैं, क्योंकि चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होने वाली इष्टानिष्ट कल्पना से सम्यक्त्व में कुछ हानि-लाभ नहीं होता।

आगे ग्रन्थकार सम्यक्त्व के गुण और दोषों का निरूपण करते हैं।

सम्यक्त्व के दोष और गुणों का वर्णन

दोषः सम्यदृशो हानिः सर्वतोऽशांशतोऽथवा।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक्।। 867।।
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्वयस्योपमूलनम्।
हानिर्वा पुण्यबंधस्य हेयस्याप्यपकर्षणम्।। 868।।
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च।
तद्वयस्याथवा किंचिद्यावदुद्वेलनादिकम।। 869।।

गुणः सम्यक्त्वसम्भूतिरुत्कर्षो वा सतोंऽशकैः।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक्।। 870।।
उत्कर्षोवानयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा।
श्रेयोबन्धोथवोत्कर्षो यद्वा स्यादपकर्षणम्।। 871।।
गुणदोषद्वयोरेव नोपयोगोऽस्ति कारणम्।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्।। 872।।

समकित की सर्वथा तथा आंशिक हानि को दोष कहा।
और निर्जरा में किञ्चित् क्षति हो तो यह भी दोष कहा।। 1632।।
उन दोनों में आंशिक अथवा पूर्ण हानि होना है दोष।
यद्यपि हेय तथापि पुण्य का अपकर्षण भी होना दोष।। 1633।।
तथा पाप की उत्पत्ति या उत्कर्षण होना है दोष।
अथवा शेष प्रकृति द्वय की उद्वेलना को भी कहते दोष।। 1634।।

गुण का स्वरूप

समकित की उत्पत्ति या उसके अंशों का उत्कर्षण।
या नवीन संवर एवं निर्जरा वृद्धि को कहते गुण।। 1635।।
अथवा किसी एक या दोनों को कुछ अंशों में उत्कर्ष।
पुण्य बन्ध या उसमें उत्कर्षण, अपकर्ष पाप का गुण।। 1636।।
इस प्रकार उपयोग नहीं समकित के गुण-दोषों का हेतु।
साधन भी नहिं किसी एक का नहिं सहकारी कारण भी।। 1637।।

अन्वयार्थ :- (**सम्यग्दृशः**) सम्यग्दर्शन की (**सर्वतः**) सर्वांश से (**अथवा**) अथवा (**अंशांशतः**) एक देश से (**हानिः**) हानि होना ही (**दोषः**) दोष है (**च**) तथा (**संवराग्रेसरायाः निर्जरायाः**) सम्यक्त्व के निमित्त से संवरपूर्वक निर्जरा होती है उसकी (**मनाक् क्षतिः**) कुछ क्षति होना ही दोष है। सारांश यह है कि देशरूप से सम्यक्त्व की हानि होना अथवा संवर निर्जरा न होना ही, सम्यक्त्व के दोष कहलाते हैं।। 867।।

(**व्यस्तेन**) एक देश से (**अथ**) अथवा (**समस्तेन**) सर्वांश से (**तद्द्वयस्यो श्रममूलनम्**) उन संवर और निर्जरा का विघात होना (**वा**) अथवा (**हेयस्य अपि पुण्यबन्धस्य**) सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा हेय भी पुण्यबन्ध का (**अपकर्षणम्**) अपकर्षण होने लगना (**हानिः**) हानि अर्थात् सम्यक्त्व के लिए दोष कहलाते हैं।। 868।।

(अथवा) अथवा **(पापबन्धस्य)** पापबन्ध की **(उत्पत्तिः)** उत्पत्ति होने लगना **(च)** तथा **(अस्य उत्कर्षः)** इसी पापबन्ध का उत्कर्ष होने लगना **(हानिः स्यात्)** दोष कहा जाता है **(अथवा)** अथवा **(यावद्)** जबतक **(किंचित् उद्वेलनादिकम्)** कुछ थोड़ा भी सम्यक्त्वप्रकृति आदि का उद्वेलनादि हो तब तक **(तद्द्वयस्य)** पाप बन्ध की उत्पत्ति या उत्कर्ष होने लगना भी **(हानिः)** दोष कहा जाता है।। 869 ।।

(सम्यक्त्वसम्भूतिः) सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होना **(वा सतः)** या प्राप्त सम्यग्दर्शन में **(अंशकैः)** किन्हीं अंशों में **(उत्कर्षः)** उत्कर्ष होना **(यद्वा)** या **(मनाक् अभिनवा निर्जरा)** कुछ नवीन निर्जरा का होने लगना **(वा)** या **(अभिनवः संवरः)** कुछ नवीन संवर होने लगना सम्यक्त्व के लिए **(गुणः)** गुण है।। 870 ।।

(वा) अथवा **(अंशैः)** कुछ अंशों द्वारा **(अनयोः द्वयोः वा अन्यतरस्य)** निर्जरा और संवर इन दोनों में अथवा किसी एक में **(उत्कर्षः)** अधिकता होना **(अथवा श्रेयोबन्धः)** अथवा विशेष पुण्य बन्ध होना **(यद् उत्कर्षः वा अपकर्षणम् स्याद्)** अथवा पुण्यप्रकृतियों में उत्कर्ष और पाप प्रकृतियों में अपकर्षण होने लगना **(गुणः स्यात्)** सम्यक्त्व के लिए गुण समझना चाहिए।। 871 ।।

(एवं) इस तरह से सिद्ध होता है कि **(उपयोगः)** ज्ञानोपयोग **(गुणदोषद्वयोः कारणं न अस्ति)** सम्यक्त्व के लिए गुण व दोष में से किसी के लिए भी कारण नहीं **(अन्यतरस्य अपि हेतुः न)** तथा किसी एक का भी कारण नहीं है **(च)** और **(अयम् योगवाही अपि न)** यह ज्ञानोपयोग सम्यक्त्व के गुण और दोष में किसी प्रकार का योग भी नहीं रखता है अर्थात् सहकारी कारण भी नहीं है।। 872 ।।

भावार्थ :- अंशतः अथवा पूर्ण रीति से सम्यग्दर्शन की हानि होना, सम्यग्दृष्टि को होने वाली संवर और निर्जरा में कुछ अन्तर पड़ना अथवा उनका आंशिक व सर्वरीति से नाश होना और यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्ध को हेय ही समझता है तथापि उसके जो पापबन्ध कम होकर पुण्यबन्ध ही अधिक होता है, उस पुण्यबन्ध में कुछ कमी होना अथवा पुण्यबन्ध का अपकर्षण होना वा पापबन्ध की उत्पत्ति अथवा उसका उत्कर्ष होने लगना अथवा सम्यक् प्रकृति के उद्वेलनादि होने लगना पापबन्ध की उत्पत्ति या उत्कर्ष होना सम्यक्त्व में दोषाधायक होते हैं।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होना, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना अथवा क्षयोपशम के जो कृतकृत्य-वेदक आदि अनेक भेद हैं उनमें से क्षयोपशम का कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाना और विशुद्धि के वृद्धि से संवर निर्जरा में वृद्धि हो जाना सम्यक्त्व के लिए गुणाधायक बताये हैं।

सम्यक्त्व का उत्पन्न होना, प्राप्त सम्यक्त्व में आंशिक विशुद्धि होना अर्थात् वेदक-सम्यक्त्त्व से कृतकृत्य-वेदक व क्षायिक-सम्यक्त्व होना, कुछ नवीन संवर और निर्जरा होना, संवर और निर्जरा इन दोनों की अथवा कोई एक की अधिकता होना, पुण्यबन्ध में उत्कर्ष होना, पुण्य प्रकृतियों में उत्कर्ष होना, पाप प्रकृतियों में अपकर्ष होना ये सब सम्यक्त्व के लिए गुणाधायक है।

सम्यक्त्व के लिए गुणाधायक और दोषाधायक जो बातें बताई हैं, उनमें से यह शब्द आत्मोपयोग ज्ञान-चेतना का सविकल्पत्व किसी भी प्रकार उन दोनों का अथवा किसी एक का साक्षात्रूप से साधक वा बाधक नहीं है और न योगवाही होकर परंपरा से साधक बाधक है, क्योंकि ज्ञान और सम्यक्त्व गुण पृथक्-पृथक् है और इनके बाधक कर्म भी पृथक्-पृथक् हैं। यद्यपि सम्यक्त्व के बाधक मिथ्यात्व के कारण ज्ञान-अज्ञान कहलाता है, तथापि ज्ञानावरण के उदयादि के द्वारा सम्यक्त्व में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि सम्यक्त्व की उत्पत्ति की व्याप्ति दर्शनमोह के अभाव के साथ है, अन्य कर्म के अभाव के साथ नहीं है।

सम्यग्दर्शन और ज्ञानोपयोग

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद् मोहकर्मणः।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।। 873।।
दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनंतरम्।
दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्।। 874।।
सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदास्ते सति स्याद्यतः।। 875।।
सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि।। 876।।
सत्यत्र निर्जरादीनां अवश्यंभावलक्षणम्।
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तद्।। 877।।
आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं स्यात् परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः।। 878।।

सम्यग्दर्शन जीव-भाव हो दर्श-मोह के अनुदय में।
उन दोनों में व्याप्ति अतः वह अनुदय का अविभावी।। 1638।।

दैवयोग से उसके अनुदय में समकित होता तत्काल।
न हो अन्यथा, इसीलिए उपयोग न समकित का कारण।। 1639।।
नहीं व्याप्ति उपयोग और अनुदय, समकित दोनों के संग।
उसके बिन भी समकित होता उसके होने पर नहिं हो।। 1646।।
समकित के अविनाभावी जो संवर और निर्जरा हैं।
उनके अरु उपयोग संग है नहीं व्याप्ति है किञ्चित् भी।। 1641।।
समकित हो तो हो अवश्य निर्जरा आदि का भी सद्भाव।
किन्तु स्वात्म उपयोग सहित हो, अथवा नहिं उनका सद्भाव।। 1642।।
ज्ञान रहे उपयुक्त आत्म में या पर में उपयुक्त रहे।
किन्तु यदि समकित हो तो निर्जरा आदि भी निश्चित हो।। 1643।।

अन्वयार्थ :- (**दृङ्मोहकर्मणः अस्तात्**) दर्शनमोहनीय के अस्त होने से (**जीवभावः**) होने वाला जो जीव का भाव है (**सम्यक्त्वं स्यात्**) वह सम्यक्त्व कहलाता है क्योंकि (**तयोः व्याप्तेः सद्भावतः**) दर्शनमोहनीय का अभाव और सम्यक्त्व में व्याप्ति है इसलिए (**तद्**) वह सम्यग्दर्शन (**तेन अविनाभूतं अस्ति**) दर्शनमोहनीय के अभाव के साथ अविनाभाव रखने वाला है।। 873।।

(**दैवात्**) दैव से-काललब्धि से (**तन्त्र अस्तंगते**) उस दर्शनमोहनीय के उपशमादिक होते ही (**अनन्तरम्**) उसी समय (**सम्यक्त्वं स्यात्**) सम्यग्दर्शन होता है (**दैवात् न**) और दैव से यदि उस दर्शनमोहनीय का अभाव न हो तो नहीं होता है अर्थात् जब काललब्धि से दर्शनमोह का अभाव होता है तभी सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, इसलिए (**अयम्**) यह उपयोग (**अन्यतरस्य अपि योगवाही न**) न तो सम्यक्त्त्व की उत्पत्ति में ही कारण है और न दर्शनमोहनीय के अभाव में ही निमित्त है।। 874।।

(**तेन उपयोगेन सार्धम्**) उस आत्मा के उपयोग के साथ (**द्वयोः अपि व्याप्तिः न स्यात्**) दर्शनमोहनीय के अभाव और सम्यक्त्व की व्याप्ति (**इन दोनों की ही व्याप्ति**) नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**तेन अपि विना**) आत्मा के उपयोग के न रहते हुए भी (**तद् सम्यक्त्वं आस्ते**) वह सम्यक्त्व रहता है और (**सति स्याद्**) उपयोग के रहते हुए भी रहता है।। 875।।

(**सम्यक्त्वेन अविनाभूताः**) सम्यक्त्व के साथ ही अवश्य होने वाले (**ये अपि ते निर्जरादयः**) जो यह संवर निर्जरादिक हैं (**ते**) सब भी (**तेन उपयोगेन समम्**) उस उपयोग के साथ (**मनाक् अपि**) किसी प्रकार से भी (**व्याप्ताः न**) व्याप्ति नहीं रखते हैं।। 876।।

(**यद्**) क्योंकि (**तत् उपयोगी स्याद् वा न**) चाहे वह सम्यक्त्व आत्मा के उपयोग सहित हो अथवा न हो (**अत्र सति**) सम्यग्दर्शन के होने पर (**निर्जरादीनां**) निर्जरादिकों का (**अवश्यंभाव-**

लक्षणम्) अवश्य होने वाला (**सद्भावः अस्ति**) सद्भाव पाया जाता है (**असद्भावः न**) असद्भाव नहीं ।। 877 ।।

(**ज्ञानं**) ज्ञान (**आत्मनि उपयोगि अस्तु**) चाहे आत्मा में उपयोग कर रहा हो (**स्याद्**) अथवा कदाचित् (**परात्मनि अस्तु**) पर-पदार्थों में उपयोग कर रहा हो, किन्तु (**सम्यक्त्वभावेषु सत्सु**) सम्यक्त्व भावों के होने पर (**ते निर्जरादयः सन्ति**) वे निर्जरादिक अवश्य होते हैं ।। 878 ।।

भावार्थ :- दर्शन मोह का अभाव और सम्यक्त्व की उत्पत्ति में व्याप्ति है, इसलिए दर्शनमोह के अभाव के होते ही जीव के सम्यक्त्व नामक गुण का अविर्भाव होता है और उस दर्शनमोह का अभाव काललब्धि में होता है अर्थात् जब दैवयोग से दर्शनमोह का अभाव होता है, तब जीव में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति व दर्शनमोह के अभाव में साक्षात् व परम्परा, दोनों ही प्रकार से उपयोग निमित्त नहीं पड़ता है।

आत्मोपयोग के साथ सम्यक्त्व का होना नियमित नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व जैसे आत्मा के उपयोग की अवस्था में रहता है, वैसे ही भिन्न विषय के उपयोग की अवस्था में रहता है। इसलिए आत्मोपयोग के साथ सम्यक्त्व की व्याप्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न वस्तु के उपयोग में भी सम्यग्दर्शन रहता है।

तथा सम्यक्त्व के साथ होने वाले जो संवर निर्जरा आदि कहे हैं उन सबका भी सम्बन्ध सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव से है, आत्मा के उपयोग से नहीं है।

सम्यग्दृष्टि का उपयोग चाहे आत्मा में हो वा अन्य किसी विषय में हो, उसका कुछ प्रयोजन नहीं है। सम्यक्त्व के सद्भाव के कारण सम्यक्त्वादिक के संवर और निर्जरा अवश्य होती है।

आत्मा में उपयोग हो अथवा अन्य किसी पदार्थों में उपयोग हो, परन्तु जब सम्यग्दर्शनरूप आत्मा की अवस्था होती है, तब निर्जरादिक अवश्य होते हैं, अन्यथा नहीं। अतः उपयोग से उनका कुछ संबंध नहीं है। '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः**' इस सूत्र में भी अज्ञान को बन्ध का कारण नहीं बताया है, किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को ही बन्ध का कारण बताया है, इसलिए चाहे आत्मा अपने में उपयुक्त रहो अथवा अन्य में उपयुक्त रहो, परन्तु जितने अंशों में उसके मिथ्यात्व अथवा रागादिक का उदय रहता है, उतने अंशों में उसका बन्ध होता है और जितने अंश में रागादि वा मिथ्यात्व का अभाव रहता है, उतने अंशों में बन्ध के कारणों के अभाव से संवर और उस समय होने वाली विशुद्धि से निर्जरा होती है, उनका आत्मा के उपयोग से कुछ भी संबंध नहीं है।

उपयोग से बन्ध की व्याप्ति और अव्याप्ति

यत् पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाश्रेयसोऽपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात्।। 879।।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाव्याप्तिर्विकल्पैरिव।
विकल्पैरस्यचाव्याप्तिर्नव्याप्तिः किल तैरिव।। 880।।

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्नस्याद् व्याप्तिर्मिथोऽनया।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षाऽस्ति तद् द्वयोः।। 881।।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्यनान्यथा।। 882।।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः।। 883।।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्तिस्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः।। 884।।

किंच ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम्।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा।। 885।।

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चिति स्फुटम्।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्यात् व्याप्तेरसम्भवात्।। 886।।

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित्।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समाद्वयोः।। 887।।

ज्ञानेऽथ वर्धमानेऽपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात्।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोः मोहोदयात्सतः।। 888।।

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः।
आत्मीयात्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः।। 889।।

व्याप्तिर्वानोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा।
रागादीनां तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह।। 890+891।।[18]

18. कारंजा प्रति में छन्द 890 को 891 में अन्वयार्थ सहित पुनः दिया गया है। अतः उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है, किन्तु क्रमांकों में एकरूपता के लिए दोनों क्रमांक एक साथ दिये गए हैं।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु।
न स्यात् समा तथा व्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि।।892।।
व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता।
सैकस्मिन्नापि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः।।893।।

तथा पुण्य का बन्ध और यदि पाप बन्ध भी होता है।
मोह-राग अरु द्वेष भाव से, उसमें नहि कारण उपयोग।। 1644।।
यथा बन्ध की व्याप्ति राग से वैसी नहिं ज्ञान विकल्पों से।
ज्ञान-बन्धवत् अव्याप्ति होती नहिं राग-बन्ध के संग।। 1645।।
नहिं असिद्ध है राग और उपयोग भिन्नता दोनों में।
और व्याप्ति भी इनमें नहिं है किन्तु उपेक्षा दोनों में।। 1646।।
मिथ्यात्व और रागादिक में कालुष्यभाव औदायिक है।
दृग एवं चारित्र मोह का उदय हेतु, अन्यथा नहीं।। 1647।।
क्षायोपशमिक ज्ञान को ही उपयोग शब्द से कहते हैं।
क्योंकि क्षयोपशम ज्ञानावरणी सर्वघाति स्पर्धक का।। 1648।।
रागादिक अरु ज्ञान स्वयं के अपने कारण से होते।
दोनों में अत्यन्त भिन्नता अतः एक कैसे होंगे।। 1649।।
और ज्ञान के होने में ज्यों ज्ञान मात्र हो अन्य नहीं।
रागादिक के होने में वे ही होते हैं अन्य नहीं।। 1650।।
इसका यह दृष्टान्त कि जैसे ज्ञान वृद्धि जब होती है।
रागादिक की वृद्धि न होती क्योंकि इनमें व्याप्ति नहीं।। 1651।।
और वृद्धि जब रागादिक की ज्ञान वृद्धि तब नहिं होती।
यदि दोनों वृद्धिंगत हों तो अपने अपने कारण से।। 1652।।
ज्ञानावरण क्षयोपशम हो तब ज्ञान वृद्धिगत होता है।
किन्तु मोह के उदय हेतु से रागादिक की हानि न हो।। 1653।।
दैवयोग से यदि दोनों की हानि एक साथ होती।
अपने अपने कारण से होती, न परस्पर कारण है।। 1654।।
द्रव्य मोहनी-कर्म और ज्ञानोपयोग में व्याप्ति नहीं।। 1655।।
किन्तु संविदावरणी के संग रागादिक की व्याप्ति कही।। 1656।।

इनमें विषय-व्याप्ति ही है अन्वय एवं व्यतिरेकी में।
अन्य किसी भी कारण से इनमें सम-व्याप्ति नहीं होती।। 1657।।
सम-व्याप्ति का असद्भाव है, साध्य हेतु व्यभिचारिपना।
यदि एक हो तो दूजा नहिं, हो तो अपने कारण से।। 1658।।
आपस में सहचारिपने का नियम व्याप्ति कहलाता है।
यदि एक हो तो दूजा हो एक नहीं तो अन्य नहीं।। 1659।।

अन्वयार्थ :- (**यत् पुनः**) और जो (**श्रेयसः बन्धः**) पुण्यबन्ध (**वा**) अथवा (**अश्रेयशः अपि**) पापबन्ध होता है (**सः**) वह (**रागात् द्वेषतः मोहात् वा**) राग, द्वेष और मोह से ही (**स्याद्**) होता है (**उपयोगसात् न स्यात्**) उपयोग के निमित्त से नहीं।। 879।।

(**रागाद्यैः**) रागादिक भावों के साथ (**बन्धस्य**) बन्ध की (**व्याप्तिः**) व्याप्ति है, किन्तु (**विकल्पैः इव व्याप्तिः न**) जैसे ज्ञान के विकल्पों के साथ बन्ध की अव्याप्ति है, वैसे ही रागादिकों के साथ बन्ध की अव्याप्ति नहीं है अर्थात् (**विकल्पैः**) विकल्पों के साथ (**अस्य च**) इस बन्ध की (**अव्याप्तिः**) अव्याप्ति ही है, किन्तु (**तैः व्याप्तिः इव किल न**) रागादिकों के साथ जैसी बन्ध की व्याप्ति है, वैसी विकल्पों के साथ व्याप्ति नहीं है।। 880।।

(**अनयोः**) रागादिक और उपयोग में (**अनेकत्वं असिद्धं न स्यात्**) भिन्नता असिद्ध नहीं है तथा (**रागादेः उपयोगस्य च**) रागादिक और उपयोग में (**मिथः व्याप्तिः न स्यात्**) परस्पर व्याप्ति भी नहीं है (**किंतु**) किन्तु (**तद्द्वयोः**) उपयोग और रागादिक इन दोनों में (**उपेक्षा अस्ति**) परस्पर में उपेक्षा है अर्थात् किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है।। 881।।

(**तत्र**) उनमें से (**कालुष्यं च रागादिभावः**) मिथ्यात्व और रागादिक भाव (**औदयिकः**) औदयिक है (**यतः**) क्योंकि (**दृङ्मोहस्य अथ चारित्रमोहस्य पाकात्**) दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय के उदय से रागादिकभाव होते हैं (**अन्यथा न**) और किसी के उदय से नहीं।। 882।।

(**यद्**) जो (**क्षायोपशमिकं ज्ञानं**) क्षायोपशमिक ज्ञान है (**सः उपयोगः उच्यते**) वह उपयोग कहलाता है (**यतः**) क्योंकि वह (**एतदावरणस्य**) ज्ञानावरण के (**उच्चैः क्षयात् वा उपशमात् भवति**) सर्वघाति स्पर्धकों के क्षयोपशम से होता है।। 883।।

(**रागः स्वहेतुकः अस्ति**) रागादिक का सद्भाव अपने कारणों से होता है (**च**) और (**ज्ञानं स्वहेतुकं अस्ति**) ज्ञान का सद्भाव अपने कारणों से होता है इसलिए (**अनयोः स्वरूपभेदत्वात् दूरे सति**) रागादिक और ज्ञान स्वरूप-भेद से अत्यंत भिन्न होने पर इनमें (**एकार्थत्वम् कुतोऽनयोः**) एकत्व कैसे हो सकता है ?।। 884।।

(किंच) दूसरी बात यह है कि **(यथा)** जैसे **(ज्ञानं भवत्)** ज्ञान होते हुए **(ज्ञानं एव भवति)** ज्ञान ही होता है **(तथा)** वैसे ही **(रागादयो भवन्तः)** रागादिक भावों के होते हुए **(एते भवंति)** रागादिक भाव ही होते हैं **(चित् न)** ज्ञान नहीं।। 885।।

(तत्र) उस विषय में **(अभिज्ञानं च अस्ति)** दृष्टांतरूप दर्शन इस तरह है कि **(स्फुटम्)** यह स्पष्ट है कि **(चिति वर्धमाने)** ज्ञान की वृद्धि होने पर **(रागादीनां वृद्धिः न स्यात्)** रागादिकों की वृद्धि नहीं होती है क्योंकि **(व्याप्तेः असम्भवात्)** ज्ञान की वृद्धि का रागादिक की वृद्धि के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है अर्थात् ज्ञान के बढ़ने पर रागादिक बढ़े ही ऐसा कुछ नियम नहीं है।। 886।।

(च) और **(एतेषु वर्धमानेषु)** रागादिकों की वृद्धि होने पर **(क्वचित् ज्ञानस्य वृद्धिः न अस्ति)** ज्ञान की वृद्धि नहीं पाई जाती है **(यद्वा द्वयोः समा वृद्धिः)** कहीं यदि कदाचित् ज्ञान की व रागादिक की एक के साथ युगपत् दूसरे की वृद्धि पाई भी जाये तो वह **(स्वसामग्र्यां सत्यां)** अपने-अपने कारणों के उपस्थित होने पर होती है।। 887।।

(अथ) और **(प्रतिपक्षक्षयात् हेतोः)** ज्ञान के प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण **(ज्ञाने वर्धनाने अपि)** ज्ञान की वृद्धि होने पर भी **(मोहोदयात् हेतोः सतः)** मोहोदयरूप हेतु के सद्भाव होने से **(रागादीनां हानिः न स्यात्)** रागादिकों की हानि नहीं होती है किन्तु वृद्धि होती है।। 888।।

(यद्वा) अथवा **(दैवात्)** किसी समय दैवयोग से **(तत् सामग्र्यां सत्यां)** अपने-अपने कारणों के सन्निधान होने पर **(द्वयोः समं या हानिः स्यात्)** जो ज्ञान और रागादिक की हानि एक साथ पायी जा सकती है **(सः)** वह **(आत्मीयहेतोः ज्ञेया)** अपने-अपने कारणों से होती है यह समझना चाहिए **(अन्योन्यहेतुतः न)** परस्पर में एक-दूसरे के निमित्त से नहीं समझना चाहिये।। 889।।

(उपयोगस्य) उपयोग की **(द्रव्यमोहेन कर्मणा वा)** द्रव्यमोहनीय कर्म के साथ भी **(व्याप्तिः न)** व्याप्ति नहीं है **(तु)** किन्तु **(संविदावरणैः सह)** ज्ञानावरण कर्म के साथ **(रागादीनां व्याप्तिः)** रागादिकों की व्याप्ति **(स्यात्)** है।। 890+891।।

(तु) और **(एषा)** यह व्याप्ति **(अन्वय व्यतिरेकाभ्यां विषमा एव)** अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही से विषम ही समझना चाहिये **(तथा)** तथा **(अन्यतराद् अपि हेतोः)** किसी दूसरे हेतु से भी **(समा न स्यात्)** सम-व्याप्ति नहीं है।। 892।।

(अत्र) समव्याप्ति की असिद्धि में द्रव्यमोह और उपयोग में व्याप्ति के अभाव को सिद्ध करने में **(व्याप्तेः असिद्धिः साध्याव्यभिचारिता साधनं अस्ति)** व्याप्ति की असिद्धि तो साध्य है और

व्यभिचारीपना साधन है और (**सा**) वह व्यभिचारीपना इसलिए सिद्ध होता है कि (**एकस्मिन् सति अपि अन्यः न स्यात् वा स्यात् तर्हि स्वहेतुतः स्यात्**) एक के होने पर दूसरा नहीं होता है अथवा यदि होता भी है तो अपनी-अपनी कारण सामग्री से होता है।। ८९३।।

भावार्थ :- जैसे रागादिकों के साथ बन्ध के होने का अविनाभाव सम्बन्ध है, वैसा ज्ञान के विकल्पों के साथ नहीं है, अर्थात् जितने अंशों में रागादिक होते हैं, तब उतने ही अंशों में बन्ध भी होता है, किन्तु ज्ञान के विकल्पों के साथ बन्ध के होने का या न होने का कुछ नियम नहीं है। जिस समय रागादिक की उदयरूप या अनुदयरूप अवस्था होती है, उस समय बन्ध और अबन्ध रहता है, अत: बन्ध के होने का अथवा न होने का रागादिक के उदय और अनुदय से सम्बन्ध है। आत्मीक उपयोग व अनुपयोग से नहीं तथा ज्ञान के विकल्पों के साथ जैसी बन्ध की अव्याप्ति है वैसी रागादिक के साथ अव्याप्ति नहीं है अर्थात् जैसे ज्ञान के विकल्प होते हैं तदनुसार बन्ध भी होता है यह नियम नहीं। इस तरह इस पद्य से, रागादिक के साथ ही बन्ध की व्याप्ति को, तथा ज्ञान के विकल्प के साथ अव्याप्ति को ही निश्चय रूप से कहने के लिए, उभयथा व्याप्ति, अव्याप्ति बतलाई है।

रागादिक और उपयोग ये दोनों परस्पर में एक नहीं किन्तु अनेक हैं, कदाचित् कहा जाये कि अनेक होते हुए भी उनमें किसी तरह का अविनाभाव संबंध है, सो भी नहीं है, क्योंकि रागादिक और उपयोग इन दोनों में किसी प्रकार की परस्पर अपेक्षा नहीं है, किन्तु उपेक्षा है। आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

मिथ्यात्व और रागादिक भाव दर्शनमोह तथा चारित्रमोह के उदय से होते हैं, इसलिए वे दोनों औदयिक कहलाते हैं।

उपयोगरूप ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है क्योंकि वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है, इसलिए यह ज्ञानगुण आंशिक विकास है और मिथ्यात्व तथा रागादि, सम्यक्त्व व चारित्र गुण की बिल्कुल विपरीत अवस्था है।

रागादि औदयिक भाव हैं और वे अपनी कारण सामग्री-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के होने पर होते हैं तथा उपयोग क्षायोपशमिक भाव है। वह अपनी कारण सामग्री-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है। इन दोनों के कारण भिन्न-भिन्न हैं तथा एक औदयिक भाव है और दूसरा क्षायोपशमिक भाव है। इस तरह स्वरूपभेद होने से दोनों में एकत्व कैसे हो सकता है?

रागादि भावों का होना और ज्ञान का उपयोगरूप अवस्था में परिणत होना ये दोनों ही भिन्न स्वरूपों के कार्य होने से एक समय में ये दोनों एकात्मा में नहीं रह सकते, रागादिक के समय रागादिक ही होंगे व ज्ञानोपयोग के समय में ज्ञान ही होगा रागादिक भाव नहीं होंगे।

ज्ञान के कारण रागादिक और रागादिक के कारण ज्ञान की वृद्धि का कोई संबंध नहीं है। कदाचित् ज्ञान और रागादिक ये दोनों ही किसी एक व्यक्ति में युगपत् वृद्धिशील पाए जावें तो वहाँ उन दोनों के कारण अलग-अलग होंगे - ऐसा निश्चय है। किसी एक की वृद्धि में किसी दूसरे को कारणता नहीं है।

अपने प्रतिपक्षी कर्म के अभाव में ज्ञान के बढ़ने पर भी यदि चारित्रमोह का उदय है तो रागादिक की हानि न होकर उलटी (हानि से विरुद्ध) वृद्धि होती है, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान की विशेषता से रागद्वेष की मंदता नहीं होती, किन्तु चारित्रमोह के अभाव से रागद्वेष का अभाव होता है। दैवयोग से अपनी-अपनी कारण सामग्री के मिलने पर ज्ञान और रागादिक की एक साथ हानि होती है, परन्तु यदि हानि हो तो वह अपने अपने ही कारण से होती है अन्यथा नहीं।

किसी समय किसी व्यक्ति के चारित्रमोह का मन्द उदय हुआ और उसी समय ज्ञानावरण के देशघाति स्पर्धकों का तीव्र उदय हुआ तो रागादिक के साथ-साथ उपयोग में भी मन्दता आ सकती है, एतावता दोनों के कारण अलग-अलग होने से वे परस्पर में एक-दूसरे के कारण नहीं कहे जा सकते हैं।

जहाँ तक उपयोग होता है, वहाँ तक द्रव्यमोहनीय कर्म का सद्भाव रहता हो - ऐसा नियम नहीं है, किन्तु जहाँ तक रागादिक होते हैं, वहाँ तक संविदावरण कर्म का सद्भाव रहता है - ऐसा नियम है, इसलिए उपयोग की द्रव्यमोह के साथ व्याप्ति नहीं है, किन्तु रागादिक की ज्ञानावरण के साथ व्याप्ति है, क्योंकि मोहनीय कर्म का क्षय पहले होता है और ज्ञानावरण कर्म का [अन्तर्मुहूर्त] पीछे नाश होता है।

ऊपर जो खुलासा किया गया है कि ज्ञान के कारण रागादिक में अथवा विवक्षित रागादिक के कारण ज्ञान में भी किसी भी प्रकार की हानि-वृद्धि का सम्बन्ध नहीं है, उसी का ही विशेष दृष्टि से यहाँ खुलासा किया जाता है कि शुद्ध आत्मा का उपयोग तो 13वें 14वें गुणस्थान तथा सिद्ध अवस्था में भी पाया जाता है, परन्तु द्रव्यमोह का क्षय **'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्चकेवलं'** के सिद्धान्तानुसार दशवें के अन्त में ही होता है अर्थात् द्रव्यमोह पहले ही नष्ट हो जाता है इसलिए उपयोग की द्रव्यमोह के साथ व्याप्ति नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबंधी रागादिक के सद्भाव में स्वानुभूत्यावरण का उदय रहता है, इसलिए एतावता सामान्य रूप से द्रव्यमोह मात्र के साथ उपयोग की व्याप्ति नहीं कही जाती, किन्तु केवल रागादिक के साथ स्वानुभूत्यावरण की ही व्याप्ति कही जाती है और अवान्तर भेद के साथ जो व्याप्ति होती है, वह सम-व्याप्ति नहीं हो सकती, किन्तु विषम-व्याप्ति ही है।

यहाँ प्रकरण इस बात का चल रहा है कि आत्मा के उपयोग तथा इतर पदार्थों के उपयोग से

सम्यग्दृष्टि के होने वाले संवर व निर्जरा में अन्तर नहीं होता, इसलिए आत्मोपयोग रहो अथवा यथासंभव रागादि के अनुसार इतर विषयों में उपयोग रहो, केवल सम्यग्दृष्टि के इतने से कुछ हानि व लाभ नहीं होता है। इसी बात को खुलासा करते-करते ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि द्रव्यमोह के साथ उपयोग की व्याप्ति नहीं है, केवल रागादिक की स्वानुभूत्यावरण के साथ व्याप्ति है और यह अन्वय व्यतिरेक से विषम व्याप्ति किसी दूसरे कारणों से भी समव्याप्ति नहीं है। इसका भाव ऐसा मालूम पड़ता है कि द्रव्यमोह की सत्ता तो चौदहवें गुणस्थान की आदि तक ही रहती है और आत्मा का उपयोग आगे के गुणस्थानों में तथा सिद्ध अवस्था में भी पाया जाता है इसलिए द्रव्यमोह की आत्मोपयोग के साथ व्याप्ति नहीं है तथा ग्रन्थकार ने जो रागादिक की और स्वानुभूत्यावरण की व्याप्ति बताई है वह भी स्पष्ट है क्योंकि जब तक अनन्तानुबन्धी का उदय रहता है, तब तक स्वानुभूत्यावरण का भी उदय रहता है। 'रागादिक' यह साधारण शब्द डाला है, इसलिए यह नियम नहीं रह जाता कि रागादिक होने पर स्वानुभूत्यावरण का उदय नियम से होता ही हो, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण आदि सम्बन्धी रागादिक के होने पर ज्ञानचेतना का अभाव नहीं पाया जाता है, किन्तु स्वानुभूत्यावरण के उदय में अनन्तानुबन्धी रागादिक अवश्य ही पाये जाते हैं इस तरह एक तरफा व्याप्ति के पाए जाने से इन दोनों में विषम व्याप्ति है।

समव्याप्ति की असिद्धि को युक्तिपूर्वक बताते हैं -

ज्ञान और रागादिक के निरूपण करते समय खुलासा किया जा चुका है कि रागादि के होने पर अविनाभाव न रहने से स्वानुभूत्यावरण के सद्भाव का नियम नहीं है, अतएव नियम के न रहने से व्यभिचारीपना पाया जाता है और उसके कारण से दोनों में सम-व्याप्ति के अभाव की सिद्धि की जाती है।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोऽपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः।।[19]

सम्यग्दृष्टि जीव सदा उपयोग सहित है, रहित नहीं।
अतः यहाँ पर वास्तव में व्यतिरेक हेतु अवकाश नहीं।।

व्याप्ति का स्वरूप और नियम

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः।। 894।।

19. यह छन्द कारंजा प्रति में नहीं है, बनारस से प्रकाशित प्रति में क्रमांक 894 पर दिया गया है; अतः यहाँ मूल छन्द और उसका अर्थ दिया जा रहा है।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात्।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसम्भवादपि।। 895।।

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्राऽस्य स्वहेतुतः।। 896।।

अव्याप्तिश्चोपयोगेऽपि विद्यमानेऽष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति।। 897।।

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोऽयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः।। 898।।

यदि राग है तो ज्ञानावरणादिक बन्ध सुनिश्चित है।
नहीं राग तो बन्ध नहीं हो इसीलिए सम-व्याप्ति नहीं।। 1660।।

विषम व्याप्ति है क्योंकि ज्ञानावरणादिक का हो सद्भाव।
किन्तु राग का असद्भाव हो, यदि हो तो निज कारण से।। 1661।।

यदि उपयोग रहे तो भी नहिं ज्ञानावरणादिक बँधते।
यदि उपयोग न हो तो भी कर्मों के बन्ध नहीं रुकते।। 1662।।

इस सबका सारांश यही इतना कहने से सिद्ध हुआ।
समकित अथवा बन्ध-मोक्ष का कारण नहिं उपयोग हुआ।। 1663।।

अन्वयार्थ :- (**मिथः**) परस्पर में (**साहचर्यस्य नियमः व्याप्तित्वं**) सहचर नियम को व्याप्ति कहते हैं (**स यथा**) वह इस प्रकार है कि (**इह**) यहाँ पर (**यत्र सति यः स्यात् एव इह असति यः न स्यात् एव**) जिसके होने पर जो होवे और जिसके न होने पर जो नहीं ही होवे।। 894।।

(**मा समा**) समव्याप्ति इस लिए नहीं है कि (**रागसद्भावे नूनं बन्धस्य सम्भवात्**) राग के सद्भाव में तो नियम से यथासंभव कर्मों का बन्ध होता है (**अपि**) तथा (**रागादीनां असद्भावे**) रागादि के अभाव में (**बन्धस्य असम्भवात्**) बन्ध नहीं होता है।। 895।।

तथा (**संविदावरणादिषु सत्सु रागभावस्य अभावात् वा अस्य स्वहेतुतः सद्भावात्**) ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय के रहने पर रागभाव नहीं पाया जा सकता है और यदि पाया भी जाता है। तो अपने-अपने यथासंभव राग के कारण पाया जाता है ज्ञानावरणादिक के उदय से

बंध के सद्भाव का कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए (**सा व्याप्तिः विषमा**) वह रागादिक और ज्ञानावरणादि की व्याप्ति विषम कही जाती है।। 896।।

(**च**) और (**अव्याप्तिः**) द्रव्यमोह कर्म के साथ उपयोग की जो अव्याप्ति बताई है उसका खुलासा यह है कि (**उपयोगे विद्यमाने अपि अष्ट कर्मणां बन्धः न**) उपयोग के होने पर आठों ही कर्मों मे से किसी कर्म का बन्ध आगम में नहीं बताया तथा (**तत्र असति अपि अन्यतमस्य अबन्धः अपि न**) उपयोग के न होने पर किसी का बन्ध रुकता भी नहीं है।। 897।।

(**एतावता च अत्र**) उक्त इस कथन पर से भी यहाँ पर (**सर्वतः च उपसंहारः सिद्धः**) पूर्णतया यही सारांश सिद्ध होता है कि (**अयं उपयोगः**) यह उपयोग (**दृशः वा बन्धमोक्षयोः**) सम्यक्त्व तथा बन्ध मोक्ष के लिए (**हेतुः न स्यात्**) किसी भी प्रकार से कारण नहीं है।। 898।।

भावार्थ :- जिसके होने पर जो हो और जिसके न होने पर जो नहीं हो – इस प्रकार सहचरित नियम को अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

पहले मोह का क्षय होता है, अनन्तर ज्ञानावरणादिक का क्षय होता है, इस सिद्धान्त के ऊपर लक्ष रखकर राग और ज्ञानावरणादिक की विषम–व्याप्ति बताई है, कारण कि राग के उदय में ही कर्मों की स्थिति का और अनुभाग का बंध होता है और ये दोनों बंध ही वास्तव में बंध कहलाते हैं, इसलिए राग के सद्भाव में बंध और इसके अभाव में बंध का अभाव कहा जाता है – ऐसा होता है तो भी राग के सद्भाव में सब कर्मों का उदय तथा 11वें आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणादिक के होने पर भी राग नहीं है, इसलिए उभयतां व्याप्ति के न घटने से सम–व्याप्ति नहीं है, किन्तु विषम–व्याप्ति ही है। 895वें पद्य का 'मा समा' और 896वें पद्य का 'व्याप्तिः सा विषमाः' इस पद्य को जोड़कर अर्थ करने से यही अर्थ ध्वनित होता है अन्यथा 895वें का पद्य अनमेल सा प्रतीत होता है।

उपयोग के साथ किसी कर्म के बन्ध और अबन्ध का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के ज्ञानोपयोग के रहते हुए भी बंध होता है और आत्मा के प्रति उपयोग के न रहने पर भी किसी का बंध नहीं रुकता है।

उक्त ऊहापोह से यही सारांश निकलता है कि उपयोग न तो सम्यक्त्व के लिए ही कारण है और न कर्मों के बन्ध तथा मोक्ष के लिए ही कारण है।

अर्थ :- अथवा सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही उपयोग सहित है, उपयोग से रहित किसी भी अवस्था में नहीं है, इसलिए वास्तव में यहाँ व्यतिरेक के लिए अवकाश नहीं है।

शंका

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्व प्रकृतो यथा।
कस्यचिद्वीतरागस्य सदृष्टेर्ज्ञानचेतना।। 899॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसंचेतनायाः स्यात्क्षतिः साधीयसी तदा।। 900॥

इससे तो जो पूर्व कहा था वही कथन है सिद्ध हुआ।
वीतराग सम्यग्दृष्टि को ज्ञान चेतना होती है।।1664।।
क्योंकि आत्मा से अन्यत्र पदार्थों में जब ज्ञान लगे।
ज्ञान चेतना की हानि उस समय सुनिश्चित होती है।।1665।।

अन्वयार्थ :- (**ननु च**) शंकाकार का कहना है कि (**एवं**) इस तरह से तो यही बात सिद्ध होती है कि (**पूर्व यः प्रकृतः स एव अर्थः**) जो पहले प्रकृत अर्थ था वही अर्थ इस कथन का भी होता है (**यथा**) जैसे कि (**कस्यचित् वीतरागस्य सद्दृष्टेः ज्ञानचेतना**) केवल किसी वीतराग सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना होती है क्योंकि जब (**आत्मनः अन्यत्र**) शुद्ध स्वात्मा के सिवाय (**कुत्रापि परात्मसु**) किन्हीं अन्य पदार्थों में (**ज्ञाने स्थिते**) ज्ञान का उपयोग होता है (**तदा**) तब (**ज्ञानसंचेतनायाः क्षतिः**) ज्ञानचेतना की हानि (**साधीयसी स्यात्**) अवश्य सिद्ध होती है।।899-900।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि इस उक्त सब कथन से तो हमारा पूर्वोक्त कथन ही सिद्ध होता है कि केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना होती है, क्योंकि जब सरागी की चेतना शुद्ध आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में उपयुक्त होती है तब अवश्य ही ज्ञान चेतना की क्षति हो जाती है।

समाधान

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित्।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुतः।। 901।।
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्न निर्जरा चाष्टकर्मणाम्।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना।। 902॥

ठीक कहा, क्षति ज्ञान चेतना की, पर नहीं साध्य की हानि।
क्योंकि साध्य का हेतु नहीं वह ज्ञान आत्म उपयोग स्वरूप।।1666।।

सम्यग्दर्शन के निमित्त से अष्ट कर्म खिर जाते हैं।
स्वयं शक्ति यह समकित की है ज्ञान चेतना नहिं कारण।। 1667।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) शंकाकार का कहना ठीक है परन्तु (**अस्याः क्षतेः अपि**) ज्ञानचेतना के क्षति से भी अर्थात् ज्ञानचेतना के अन्य पदार्थों के विषय होने पर भी (**साध्यस्य क्वचित् क्षतिः न च**) साध्य जो ज्ञानचेतना के निमित्त से होने वाले संवर और निर्जरा हैं उनकी कभी भी हानि नहीं होती है, क्योंकि (**तस्याः तत्रापि अहेतुतः**) ज्ञानचेतना को सम्यक्त्व के साध्यभूत संवर तथा निर्जरा में निमित्त न होने से (**उपयोगस्य इयान् आत्मा**) शुद्ध स्वात्मा को विषय करना ही उपयोगात्मक ज्ञान चेतना का स्वरूप है, कारण कि (**दर्शनात् हेतोः**) सम्यग्दर्शन के निमित्त से (**अष्ट कर्मणां निर्जरा**) आठों कर्मों की निर्जरा का होना (**यत्**) जो (**साध्यं**) साध्य है (**तत्**) वह (**स्वतः शक्तेः हेतुवशात्**) स्वयं सम्यक्त्व की शक्ति के कारण होता है अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से होने वाली विशुद्धि के निमित्त से होता है अतः (**स्वचेतना तद्धेतुः न च**) ज्ञान चेतना उसमें कारण नहीं है।। 901-902।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना ठीक है, परन्तु ज्ञानचेतना का काम केवल शुद्ध आत्मा को जानना है। अतः उस ज्ञानचेतना की क्षति से सम्यग्दृष्टि का इतर पदार्थों में उपयोग होने से ज्ञानचेतना के साध्यभूत जो संवर और निर्जरा हैं, उनकी क्षति नहीं होती है, क्योंकि संवर तथा निर्जरा का कारण मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का अभाव है, ज्ञानचेतना का सद्भाव नहीं है अर्थात् मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी आदि के निमित्त से बन्ध होता है और उनके अभाव से संवर तथा निर्जरा होती है। उपयोग व अनुपयोग से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

शंका

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोऽस्ति सिद्धः सर्वविदागमात्।। 903।।

दृष्टि विकल्पात्मक हो तो नभ-पुष्प समान आश्रयासिद्ध।
अतः सिद्धि सविकल्प पक्ष में आगम सिद्ध हेतु क्या है?।। 1668।।

अन्वयार्थ :- (**ननु चेत्**) शंकाकार का कहना है कि यदि (**विकल्पः**) ज्ञान में विकल्प मानोगे तो (**व्योमपुष्पवत् आश्रयासिद्धः**) आकाश-पुष्प की तरह आश्रयासिद्ध दोष आता है परन्तु जब आपने ज्ञान को सविकल्प माना है (**तत्**) तो फिर उसके सिद्धि के लिए (**सर्वविदागमात् सिद्धः प्रसिद्धः हेतुः किं अस्ति**) जिनागम से अबाधित प्रसिद्ध हेतु क्या है?।। 903।।

भावार्थ :- जैनसिद्धांत में ज्ञान को सविकल्प और सम्यक्त्वादिक को निर्विकल्प माना है।

उनमें से सम्यक्त्व के प्रकरण में सम्यग्दर्शन को भले प्रकार निर्विकल्प सिद्ध कर आये हैं अर्थात् योग-संक्रांतिपूर्वक होने वाली चेतना की अर्थ से अर्थान्तररूप सक्रांति के द्वारा सम्यक्त्व में किसी प्रकार का विकल्प सिद्ध नहीं होता है - ऐसा सिद्ध कर आये हैं। अब ज्ञान के स्वलक्षणभूत विकल्पत्व के विषय में प्रश्नोत्तर रूप से ऊहापोहपूर्वक विचार करते हैं कि ज्ञान में सविकल्पत्व सिद्ध करने के लिए आगम में साधक हेतु क्या बताया है उसे बतलाइयेगा अन्यथा जैसे आकाश में पुष्प का कहना आश्रयासिद्ध है वैसे ही ज्ञान में विकल्प का बताना भी आश्रयासिद्ध दोष से युक्त माना जायेगा।

समाधान

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात्।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं नतत्सिद्धं परीक्षणात्।। 904।।

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात्स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रूवे किल साम्प्रतम्।। 905।।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियाऽस्ति वै।। 906।।

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थं अर्थे प्रतिज्ञानं मुह्यद्रज्यद् द्विषद्यथा।। 907।।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः।
रागाक्तं ज्ञानमक्षांतं रागिणो न तथा मुनेः।। 908।।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद्रागभावः खपुष्पवत्।। 909।।

ठीक कहा कि ज्ञान स्वलक्षण से विकल्पमय होता है।
किन्तु नहीं सम्यग्दर्शन में सिद्ध विकल्पात्मकता हो।। 1669।।

कोई स्थूल दृष्टि पुरुषों ने दोनों को सविकल्प कहा।
उसमें है उपचार मात्र कारण अब उसका कथन करें।। 1670।।

क्षायोपशमिक ज्ञान में जो अर्थोन्मुख परिणति होती है।
वह नहिं ज्ञान स्वरूप किन्तु वास्तव में राग क्रिया ही है।। 1671।।

ज्ञेयों के प्रति मोह राग अरु द्वेषयुक्त होकर यह ज्ञान।
प्रतिपदार्थ के सन्मुख होता यह प्रत्यर्थ परिणमन है।। 1672।।
उक्त कथन है सिद्ध स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान से ही।
यथा ज्ञान रागी का आकुलतामय वैसा नहिं मुनि का।। 1673।।
बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान से अविनाभावी होता है।
क्योंकि अनजाने पदार्थ में राग नहीं नभ-पुष्प समान।। 1674।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) शंकाकार का कहना ठीक है क्योंकि (**ज्ञानं**) ज्ञान गुण (**स्वलक्षणात्**) अपने लक्षण से (**विकल्पसर्वस्वसारं**) विकल्पात्मक है किन्तु (**सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं**) सम्यक्त्व के होने पर जो ज्ञान में अर्थ-संक्रांतिरूप विकल्पपना कहा जाता है (**तत्परीक्षणात् न सिद्धं**) वह परीक्षा करने से सिद्ध नहीं होता है।। 904।।

(**यत्पुनः**) और जो (**इह**) इस विषय में (**कैश्चित्**) किन्हीं (**स्थूल-लक्ष्योन्मुखैः**) स्थूलदृष्टि पुरुषों ने (**उक्तं स्यात्**) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में सविकल्पपना कहा है, वह उपचार से ही कहा है, अतः (**अत्र**) यहाँ पर (**यः उपचारहेतुः**) जो उपचार का कारण है (**तं**) उसको ही (**किल**) निश्चय करके (**साम्प्रतं ब्रूव**) इस समय कहते हैं।। 905।।

(**यत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं**) जो क्षायोपशमिक ज्ञान (**प्रत्यर्थ परिणामि**) प्रतिसमय अर्थ से अर्थान्तर को विषय करने के कारण सविकल्प माना जाता है (**तत्**) वह वास्तव में (**ज्ञानस्य स्वरूपं न**) ज्ञान का स्वरूप नहीं है (**किन्तु**) किन्तु (**वै**) निश्चय करके (**रागक्रिया अस्ति**) उस ज्ञान के साथ में होने वाली राग की क्रिया है।। 906।।

(**यथा**) जैसे कि (**यत्**) जो (**ज्ञानं**) ज्ञान (**अर्थ अर्थ प्रति**) प्रत्येक अर्थ के प्रति (**मुह्यत् रज्यत् द्विषत्**) मोहयुक्त, रागयुक्त अथवा द्वेषयुक्त होता रहता है (**एतत्**) यही (**अर्थानां विषये ज्ञानस्य प्रत्यर्थे परिणामित्वं अस्ति**) ज्ञान का प्रत्येक अर्थ सम्बन्धी प्रत्यर्थ परिणामित्व है।। 907।।

(**स्वसंवेदनप्रत्यक्षात्**) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से (**इदं सिद्धं अस्ति**) यह पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है (**यतः**) क्योंकि (**यथा**) जैसे (**रागिणः**) रागी पुरुष का (**रागाक्तं ज्ञानं**) रागयुक्त ज्ञान (**अक्षांतं**) आकुलित होता है (**तथा मुनेः न**) वैसे वीतराग मुनि का नहीं होता है।। 908।।

(**बुद्धिपुरस्सरः रागः**) बुद्धिपूर्वक राग (**ज्ञानाविनाभूतः अस्ति**) क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है (**यतः**) क्योंकि (**अज्ञाते अर्थे**) अज्ञात अर्थ में (**खपुष्पवत्**) आकाश के पुष्प की तरह (**रागभावः न स्यात्**) राग भाव नहीं होता है।। 909।।

भावार्थ :- विकल्प शब्द के दो अर्थ होते हैं - पहला, आकार व्यवसाय निश्चय स्वपरप्रकाशक,

और दूसरा अर्थ से अर्थांतररूप होने वाली संक्रांति। उनमें से आकार–व्यवसायरूप विकल्प का अर्थ ज्ञान का स्वलक्षण है। इसलिए उसका यहाँ पर खंडन नहीं किया है। किन्तु योगसंक्रांति के अनुसार छद्मस्थ ज्ञानियों के ज्ञान में जो अर्थ से अर्थान्तराकाररूप परिणमन होता है वह परीक्षा करने पर सम्यग्दर्शन के समान सम्यग्ज्ञान में भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान के साथ होने वाली राग क्रिया का स्वरूप है। अब आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं –

किन्हीं–किन्हीं आचार्यों ने जो स्थूलदृष्टि से सराग सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान में अर्थ संक्रांतिरूप सविकल्पपना कहा है वह उपचार से ही कहा है। अतः अब उस उपचार के प्रयोजन को ही यहाँ पर कहते हैं।

छद्मस्थों की प्रतिसमय रुचि बदलती रहने से उनका क्षायोपशमिक ज्ञान जो प्रतिसमय प्रत्यर्थ परिणामी होता रहता है, वह प्रत्यर्थ परिणामी होना ज्ञान का स्वरूप नहीं है, किन्तु उस ज्ञान के साथ में होने वाली राग की परिणति का स्वरूप है। आगे इसी का खुलासा करते हैं –

संसारी जीवों के ज्ञान की जो रागद्वेषादिक के अनुसार प्रवृत्ति हो रही है, यही ज्ञान का प्रत्यर्थ परिणामीपना है और इस प्रत्यर्थ परिणामित्व को ज्ञान का स्वलक्षणभूत विकल्प नहीं कह सकते हैं, किन्तु यह तो राग की क्रिया है। क्षायोपशमिक ज्ञान का तथा बुद्धिपूर्वक रागादिक[20] का छठवें गुणस्थान तक केवल सहभाव पाया जाता है, इसलिए इस उपचार से उसे अर्थ–संक्रातिरूप विकल्प सहित कह देना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में अर्थ संक्रांतिरूप विकल्पत्व ज्ञान का धर्म नहीं कहा जा सकता है।

यह उपर्युक्त कथन स्वानुभव से भी सिद्ध होता है क्योंकि जैसा रागी का ज्ञान चंचल रहता है वैसा वीतरागी मुनि का नहीं रहता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान और बुद्धिपूर्वक राग का अवश्यंभावी सहयोग है। कारण कि ज्ञान के बिना वस्तु में रागभाव नहीं होता, इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान के अनुसार ही छद्मस्थों के रागादिक की प्रवृत्ति पाई जाती है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार जो परपदार्थों के रागद्वेष और मोह के कारण ज्ञान में परिवर्तन होता रहता है वह ज्ञान का असली स्वरूप नहीं है, किन्तु राग क्रिया है।

---

20. पहले से छठवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग भी होता है। इस सम्बन्ध में पंडितजी ने पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सोनगढ़ से हुई चर्चा में स्वीकार किया था। इस प्रकरण का उल्लेख पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों में अनेक बार आया है।

राग की उत्पत्ति और सम्यक्त्व में व्याप्ति

अस्त्युक्तलक्षणोरागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यप्सौ।। 910।।
अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा।। 911।।
विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम्।। 912।।
हेतोः परं प्रसिद्धेर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्।
अप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम्।। 913।।
ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम्।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना।। 914।।
प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषाञ्चित्स न सन्निह।। 915।।
यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणं चापि पराश्रितम्।। 916।।
पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम्।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके।। 917।।
अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम्।। 918।।
नाप्यूह्यमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोऽपि या।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुदृङ्मोहकर्मणः।। 919।।
एवं चेत्सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसंभवः।
सत्यां प्रध्वंससामर्थ्यां कार्यध्वंसस्य संभवात्।। 920।।
न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात्।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा।। 921।।

यतश्चास्त्यागमात्सिद्धमेतत् दृङ्मोहकर्मणः।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात्।। 922।।

यह पूर्वोक्त राग चरित्रावरण उदय से होता है।
अप्रमत्त के पहले होता उसके बाद नहीं होता।। 1675।।
राग अबुद्धिपूर्वक होता ऊपर के गुण-स्थानों में।
क्षीण मोह के पहले होता सूक्ष्म अतः अविवक्षित है।। 1676।।
यह विचार कर असद्भूत उपचार अपेक्षा से कोई-
कहते जैसे ज्ञान सरागी त्यों समकित भी राग सहित।। 1677।।
इसीलिए स्थूल-लक्ष्य वालों के द्वारा कहा गया।
प्रमत्त गुणस्थान तक समकित और ज्ञान सविकल्पी हैं।। 1678।।
उसके ऊपर सम्यग्दर्शन और ज्ञान सविकल्पी हैं।
शुक्ल ध्यान भी उसे कहें अरु ज्ञान चेतना भी वह है।। 1679।।
जो प्रमत्त हैं वे विकल्पमय अतः शुद्ध चेतना नहीं-
यह उन्मेष वासना का है अतः कथन यह सत्य नहीं।। 1680।।
क्योंकि किसी के दोष और गुण नहीं दूसरे के होते।
और दूसरे के भी गुण अरु दोष अन्य के नहिं होते।। 1681।।
राग भाव चारित्र मोह के उदयजन्य औदायिक है।
अनुदयात्मक समकित एवं ज्ञान सरागी हों कैसे।। 1682।।
बुद्धि-पूर्वक राग, नहीं समकित का घातक होता है।
अतः घात नहिं कर सकता वास्तव में ज्ञान चेतना का।। 1683।।
जो शक्ति दृग-मोह बन्ध उत्कर्ष और उदयाँशों में।
बुद्धि-पूर्वक राग की वही - ऐसी शंका करो नहीं।। 1684।।
यदि ऐसा हो तो सम्यक्त्वोत्पत्ति असंभव हो जाए।
क्योंकि घातक कारण हो तो कार्य घात भी निश्चित हो।। 1685।।
चारित्रावरणोदय से समकित का घात नहीं होता।
बुद्धि पूर्वक राग का नहीं सम्यग्दर्शन में अधिकार।। 1686।।
आगम से यह बात सिद्ध कि दर्शनमोह प्रकृति का बन्ध।
उसके ही स्वोदय से होता नहीं परोदय से होता।। 1687।।

अन्वयार्थ :- (**उक्तलक्षणः रागः**) यह पूर्वोक्त रागभाव (**चारित्रावरणोदयात् अस्ति**) चारित्रावरण नामक कर्म के उदय से होता है तथा (**असौ**) यह राग (**अप्रमत्तगुणस्थानात् अर्वाक् स्यात्**) अप्रमत्त गुणस्थान के पहले पाया जाता है (**ऊर्ध्वं न अस्ति**) अप्रमत्त गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है।। 910।।

(**च**) और (**ऊर्ध्व**) ऊपर के गुणस्थानों में (**अबुद्धिपूर्वजः सूक्ष्मः रागः अस्ति**) जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग होता है (**असौ च**) यह अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग भी (**क्षीणकषायेभ्यः अर्वाक स्यात्**) क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान के पहले होता है अर्थात् 7वें गुणस्थान से 10वें गुणस्थान तक होता है (**वा**) अथवा (**विवक्षावशात् न**) 7वें गुणस्थान से 10वें गुणस्थान तक होने वाला यह रागभाव सूक्ष्म होने से बुद्धिगम्य नहीं होता है इसलिए विवक्षावश नहीं भी होता है।। 911।।

(**परं एतत् विसृश्य**) केवल यही विचार करके (**कैश्चित्**) किन्हीं आचार्यों ने (**असद्भूतोपचारतः**) असद्भूत उपचार नय से (**अत्र ज्ञानं रागवत् अस्ति**) जिस प्रकार छट्टे गुणस्थान तक के ज्ञान को रागयुक्त कहा है (**तद्वत् सम्यक्त्वं ईरितम्**) उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी रागयुक्त कहा है।। 912।।

(**परं**) केवल (**हेतोः**) रागरूप हेतु से ही (**प्रसिद्धैः यैः स्थूललक्षैः**) प्रसिद्ध जिन स्थूलदृष्टि आचार्यों ने (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्वं (**च**) और (**ज्ञानं वा**) ज्ञान को (**अप्रमत्तं**) छट्टे गुणस्थान तक (**सविकल्पं इति स्मृतं**) सविकल्प कहा है उन्हीं आचार्यों ने (**ततः उर्ध्व**) छठवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**तु**) तथा (**ज्ञानं वा**) ज्ञान को भी (**निर्विकल्पक**) निर्विकल्पक कहा है (**तु**) और (**तदेव शुक्लध्यानं अस्ति**) उसी को शुक्लध्यान कहा है तथा (**तत्र ज्ञानचेतना अस्ति**) वहाँ पर ही ज्ञानचेतना मानी है किन्तु (**प्रमत्तानां विकल्पत्वात्**) प्रमत्त गुणस्थान तक विकल्प का सद्भाव होने से उन गुणस्थानों में जो चेतना होती है (**सा**) वह (**शुद्धचेतना न स्यात्**) शुद्ध चेतना नहीं होती है (**इति**) इस प्रकार से (**इह**) इस प्रकरण में यहाँ पर जो (**केषांचित्**) किन्हीं-किन्हीं के (**वासनोन्मेषः अस्ति**) वासना का उदय है अर्थात् पक्ष है (**सः सन् न**) वह ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि जैसे (**पराश्रितः दोषः**) पराश्रित दोष-दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले दोष (**वा**) अथवा (**गुणः**) गुण (**परं न आश्रयेत्**) पर के दोष अथवा गुण नहीं कहलाते हैं अर्थात् पर को आश्रित नहीं करते हैं वैसे ही (**परो वा**) अन्य कोई दूसरा गुण अथवा दोष भी (**पराश्रितं दोषं च गुणं अपि न आश्रयेत्**) पर के दोष और गुण को आश्रित नहीं करते हैं किन्तु अपने-अपने गुण व दोष अपना-अपना आश्रय किया करते हैं अर्थात् जो गुण व दोष जिसके होंगे वे उसी के ही गुण व दोष कहावेंगे अन्य के नहीं।। 913 से 916।।

(**स्फुटं**) इसलिए यह बात स्पष्ट है कि (**चारित्रमोहस्य पाकात्**) चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जो (**औदयिकः रागः अस्ति**) औदयिक राग है (**सः**) वह (**अनुदयात्मके सम्यक्त्वे वा ज्ञाने**) अनुदयरूप-क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व तथा ज्ञान में (**कुतः न्यायात्**) कौनसे न्याय से कहा जा सकता है।। 917।।

(**इह**) यहाँ पर (**अयं बुद्धिपूर्वकः रागः**) यह बुद्धिपूर्वक औदयिक भावरूप राग (**सम्यक्त्वं अनिघ्न**) सम्यक्त्व का घात नहीं करता है इसलिए वह (**इमां ज्ञानसचेतनां**) इस ज्ञान चेतना को भी (**नूनं**) निश्चय से (**हन्तुं क्षमः न स्यात्**) घात करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।। 918।।

(**एतावतः अपि**) इस उक्त कथन पर से (**इति अपि न अर्थ**) यह आशंका नहीं करना चाहिए कि (**या**) जो (**शक्तिः**) शक्ति (**दृग्मोहकर्मणः**) दर्शन-मोहनीय कर्म के (**बन्धोत्कर्षोदांशानां**) बन्ध, बन्ध के उत्कर्ष और उसके उदयांशों में (**हेतुः**) कारण होती है (**सा**) वह (**रागस्य स्यात्**) बुद्धि पूर्वक राग की है।। 919।।

(**एवं चेत्**) यदि केवल रागादिक के द्वारा ज्ञानचेतना में बाधा होती है - ऐसा मानोगे तो फिर (**सम्यगुत्पत्तिः न स्यात्**) सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और उसके न होने से (**संभवः स्यात्**) सम्यग्दर्शन का होना असंभव हो जायेगा कारण कि (**प्रध्वंससामर्थ्यां सत्यां**) घात के कारण उपस्थित होने पर (**कार्यध्वंसस्य संभवात्**) कार्य का नाश अवश्य होता है।। 920।।

(**तत्र दृङ्मोहे**) उस दर्शन के मूर्छित करने में (**नाधिकारिणा**) अधिकार न रखने वाले (**चारित्रावरणोदयात्**) मिथ्यात्व रहित केवल चारित्रावरणोदय से होने वाले (**एतावता रागेण**) इतने राग से उस सम्यग्दृष्टि के (**सम्यक्त्वप्रध्वंसः न स्यात्**) सम्यक्त्व का घात नहीं होता है।। 921।।

(**यतः**) क्योंकि (**एतत् आगमात् सिद्धं च अस्ति**) यह बात आगम से भी सिद्ध है कि (**दृङ्मोहकर्मणः**) दर्शनमोहनीय कर्म का (**बन्धप्रकृति**) बन्ध वगैरह (**स्वोदयात् नियतं**) अपने ही उदय से नियत है (**परोदयात् न**) परोदय से नियत नहीं है।। 922।।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी आदि चारों क्रोधादिक के उदयजन्य, अविरत सम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरणादि क्रोधादिक के उदयजन्य, देशव्रती के प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के उदयजन्य तथा प्रमत्तविरत के संज्वलन के तीव्र उदयजन्य जो रागद्वेषादिक होते हैं, उनको बुद्धिपूर्वक रागादि कहते हैं और जो रागादिक संज्वलन तथा नोकषाय के मन्द उदयादिक से होते हैं, उनको अबुद्धिपूर्वक रागादिक कहते हैं। इन बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक होने वाले रागादिकों में से बुद्धिपूर्वक रागादि चारित्रमोह के उदय से सातवें गुणस्थान के पहले पद तक ही होते हैं, आगे नहीं।

7वें गुणस्थान से 10वें गुणस्थान तक होने वाला जो रागभाव है वह अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है अथवा उक्त गुणस्थानों में होने वाला यह रागभाव अत्यन्त सूक्ष्म होने से अव्यक्त है इस अपेक्षा से नहीं भी है – ऐसा कहा जाता है।

सातवें गुणस्थान के पहले बुद्धिपूर्वक होने वाली राग क्रिया और क्षायोपशमिक ज्ञान ये दोनों साथ-साथ रहते हैं, इसलिए किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने असद्भूत उपचार-नय की अपेक्षा से उक्त गुणस्थानों के ज्ञान तथा सम्यक्त्व को सराग और सविकल्प कहा है।

इस प्रकार रागरूप हेतु का सद्भाव होने से कितने ही विद्वानों ने छठे गुणस्थान तक के ज्ञान व सम्यक्त्व को सविकल्प माना है और सातवें आदि गुणस्थानों में उसी सम्यक्त्व व ज्ञान को निर्विकल्प माना है तथा निर्विकल्प सम्यक्त्व वालों के ही शुद्धचेतना का सद्भाव माना है और उसमें यह हेतु दिया है कि प्रमत्तगुणस्थान तक जीवों के सम्यक्त्व व ज्ञान में विकल्प रहता है, इसलिए उनकी चेतना सविकल्प होने से शुद्ध चेतना नहीं हो सकती है। इस सब कथन का उत्तर ग्रंथकार देते हैं कि यह सब उनकी वासनाओं की लहर है और वासनोन्मेष से तत्त्व के स्वरूप का निर्णय नहीं होता है। इसलिए उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य गुणों के आश्रित विकार व विकास अन्य गुणों के लिए लागू नहीं होते हैं। अतः चारित्र-मोहोदजन्य रागभाव भी क्षयोपशमिकादि भावरूप सम्यक्त्वादिक में कैसे लागू किये जा सकते हैं अर्थात नहीं किए जा सकते हैं।

सम्यक्त्त्व तो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावरूप होता है तथा ज्ञान क्षायोपशमिक भावरूप होता है; किसी कर्म के उदयरूप नहीं होता है, इसलिए चारित्रमोह के उदय से होने वाला जो औदयिक रागभाव है, वह सम्यक्त्व व ज्ञान में दोषाधायक नहीं हो सकता है अर्थात् वह केवल चारित्र में ही दोष पैदा करने वाला हो सकता है, इतर में नहीं।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यह बुद्धिपूर्वक राग न तो सम्यक्त्त्व का ही घात कर सकता है और न उस सम्यक्त्व के साथ होने वाली ज्ञानचेतना का ही घात कर सकता है।

दर्शन-मोहनीय के बन्धादिक में रागादिक का उदय कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय का बन्ध **बन्धोत्कर्ष किंवा उदय** दर्शनमोहनीय के उदय में ही होता है चारित्रमोहनीय के उदय में नहीं और सम्यक्त्व का घात भी दर्शन-मोहनीय के बन्धोत्कर्षादि से होता है चारित्र मोह के बन्धादिक से नहीं। इसलिए जब दर्शन मोह के बन्धोत्कर्षादिक, दर्शनमोह के अभाव में केवल चारित्र मोह के उदय से नहीं होते हैं तो फिर उनसे सम्यक्त्व का घात कैसे हो सकता है?

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का बन्ध व उदय न होने से उसके अप्रत्याख्यानावरणादि जन्य रागद्वेष, ज्ञानचेतना के बाधक नहीं हो सकते हैं।

अबुद्धिपूर्वक रागादिक का सद्भाव छठवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में पाया जाता है और बुद्धिपूर्वक रागादिक का सद्भाव चौथे, पाँचवें तथा छठे गुणस्थानों में पाया जाता है।[21] यदि राग को सम्यक्त्व का घातक मानोगे तो सर्वत्र सम्यक्त्व के घात की सामग्री रहने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति का होना ही असंभव हो जायेगा।

इसलिए दर्शन को विकृत करने में असमर्थ चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होने वाला जो रागभाव है वह सम्यक्त्त्व-ज्ञानचेतना का घातक नहीं हो सकता है।

किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध अन्य प्रकृतियों के उदय होते हुए होता है, किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध अपने ही उदय में होता है और किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध स्वोदय तथा परोदय के होते हुए होता है। इनमें से मिथ्यात्वप्रकृति स्वोदयबन्धप्रकृति है।

इसलिए सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का उदय न होने से उसके मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध ही जब नहीं होता है तो फिर मिथ्यात्व के बिना केवल चारित्रमोह के उदयजन्य रागादिक से सम्यक्त्व का (ज्ञानचेतना का) घात कैसे हो सकता है?

शंका

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाच्चद्वयस्य यत्।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः।। 923।।
न प्रतीमो वयं चैतद् दृङ्मोहोपशमः स्वयम्।
हेतुः स्यात्स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक्।। 924।।

तो फिर उपशम और क्षयोपशम में अनित्यता कैसे हो।
दर्शन-मोहोदय अभाव में उनके अभाव का हेतु क्या।। 1688।।
दर्शमोहनी का उपशम ही स्वयं निजोदय का अथवा-
उदयोत्कर्षण का कारण है - यह हम मान नहीं सकते।। 1689।।

अन्वयार्थ :- **(ननु च एवं)** शंकाकार का कहना है कि मिथ्यात्व प्रकृति को स्वोदय बन्ध प्रकृति होने से **(सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य)** सम्यक्त्वों में से आदि के उपशम और क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वों में **(यत् अनित्यत्वं)** जो अनित्यपना है **(तत्)** वह **(स्वतः स्वस्य उदयाभावे)** स्वयं मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की सम्भावना के न होने पर **(अहेतुतः कथं स्यात्)** बिना कारण के

21. पहले से छठवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग भी होता है। इस सम्बन्ध में पंडितजी ने पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सोनगढ़ से हुई चर्चा में स्वीकार किया था। इस प्रकरण का उल्लेख पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों में अनेक बार आया है।

कैसे होगा और (**वयं च एतत् न प्रतीमः**) हम यह विश्वास नहीं करते हैं कि (**स्वयं दृङ्मोहोपशमः**) स्वयं दर्शनमोहनीय का उपशम (**स्वोदयस्य**) अपने उदय (**अथवा**) अथवा (**उच्चैः उत्कर्षस्य**) उदयोत्कर्ष में (**मनाक् हेतुः स्यात्**) कभी कारण होता है।। 923-924।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि मिथ्यात्व प्रकृति स्वोदय बन्ध प्रकृति है, अतः आदि के दो सम्यक्त्वों में जो अनित्यता है वह सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्यक्त्व के घात के लिए जिस मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की आवश्यकता है, उसका उदय उन दोनों सम्यक्त्वों के समय में संभव ही नहीं है। अतः निष्कारण इन दोनों सम्यक्त्वों में अनित्यता कैसे सिद्ध होगी? यदि कदाचित् कहा जाये कि दर्शनमोह का उपशम ही स्वयं मिथ्यात्व के उदय व उत्कर्ष में कारण होता है तो यह प्रतीति-सिद्ध प्रतीत नहीं होता है।

समाधान

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृताद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः।। 925।।

अस्त्युदयो यथाऽनादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादवर्गापुनर्भवात्।। 926।।

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः।। 927।।

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोऽस्ति चेन्मतम्।
सोऽपिऽरागोस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात्।। 928।।

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः।
यथारागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः।। 929।।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात्।। 930।।

नागमः कश्चिदस्तीदृग्धेतुदृङ्मोहकर्मणः।
रागस्तस्याथरागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः।। 931।।

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा।
उदयोऽनुदयोवाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः।। 932।।

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना।। 933।।

क्योंकि आप यह नहीं जानते प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग।
कर्म-पुद्गलों की शक्ति है - अतः कथन यह ठीक नहीं।। 1690।।
यथा अनादि से होता है स्वतः उदय वैसे उपशम।
कई बार होते हैं मुक्ति पूर्व उदय एवं उपशम।। 1691।।
यदि ऐसा नहिं मानें तो असिद्ध दोष होता अनिवार।
अनवस्था अरु अन्योन्याश्रय दोषों का प्रसंग दुर्वार।। 1692।।
दर्शन-मोह, राग से होता है यदि तुम ऐसा मानो।
कहो राग वह हुआ स्वयं से या वह अन्य राग से है।। 1693।।
चरित-मोह से राग स्वयं ही होता है यदि यह मानो।
तो जैसे वह राग स्वयं वैसे मिथ्यात्व निजोदय से।। 1694।।
एक दूसरे के कारण वे होते - यदि ऐसा मानो।
अन्योन्याश्रय और असिद्ध दोष है न्याय-दृष्टि अनुसार।। 1695।।
दर्श-मोह का उदय राग का कारण है यदि यह मानो।
और राग से दर्श-मोह, पर यह आगम से सिद्ध नहीं।। 1696।।
अतः सिद्ध सिद्धान्त हुआ यह दर्शन एवं चारित मोह -
उदय और अनुदय अपने अपने कारण से होते हैं।। 1697।।
अतः स्वलक्षण की दृष्टि से अर्थ अपेक्षा समकित एक।
सम्यग्दर्शन के होने पर ज्ञान-चेतना है अनिवार्य।। 1698।।

अन्वयार्थ :- (**एवं न**) इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है (**यतः**) क्योंकि (**वस्तुतः**) वास्तव में (**प्रतिकर्म**) प्रत्येक कर्म की (**प्रकृत्याद्यैः नानारूपासु**) प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के द्वारा अनेकरूप (**पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु**) पुद्गलों की अचिन्त्य शक्तियों के विषय में (**अनभिज्ञः असि**) तुम अनभिज्ञ हो।। 925।।

(**यथा**) जिस तरह (**अनादेः**) अनादिकाल से (**स्वतः उदयः अस्ति**) स्वयं मोहनीय का उदय होता है (**तथा**) उसी तरह (**उपशमश्च**) उपशम भी काललब्धि के निमित्त से स्वयं होता है इस तरह (**अपुनर्भवात् अर्वाक्**) मुक्ति होने के पहिले (**उदयः प्रशमः**) उदय और उपशम (**भूयः स्यात्**) बार-बार होते रहते हैं।। 926।।

(अथ गत्यन्तरात्) यदि ऐसा न मानकर राग के द्वारा सम्यक्त्व का घात मानोगे तो **(असिद्धत्वसंज्ञकः दोषः स्यात्)** असिद्धत्व नाम का दोष आवेगा तथा **(दुर्वारः)** जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता है ऐसा **(अनवस्थात्मा)** अनवस्थारूप दोष और **(अन्योन्यसंश्रयः)** अन्योन्याश्रय नाम का भी **(दोषः स्यात्)** दोष आवेगा।। 927।।

(चेत्) यदि **(दृङ्मोहस्य उदयः नाम)** उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व का घातक जो जो दर्शनमोह का उदय है वह **(रागायत्तः अस्ति)** राग के आधीन है/राग के द्वारा होता है, ऐसा **(मतं)** मानते हो तो हम पूछते हैं कि **(सः रागः अपि)** वह राग भी **(किं स्वायत्तः अस्ति)** क्या अपने आप होता है अथवा **(अपररागसात् स्यात्)** अथवा दूसरे राग से उत्पन्न होता है **(चेत्)** यदि **(स्वतः चारित्रस्य मोहस्य उदयात्)** स्वयं चारित्र मोहनीय के उदय से होने के कारण वह राग **(स्वायतश्च)** अपने आप ही होता है, ऐसा मानते हो तो **(यथा)** जैसे **(अयं रागः)** यह राग स्वयं चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने के कारण अपने आप होता है **(तथा च अयं)** वैसे ही यह दर्शनमोह का उदय भी-मिथ्यात्व का उदय भी **(स्वतः स्वोदयात् स्वायत्तः)** स्वयं दर्शनमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने के कारण अपने आप होता है - ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो।। 928-929।।

(अथ चेत् तद् द्वयोः एव सिद्धिः) यदि कदाचित् कहो कि उन दोनों की ही सिद्धि **(अन्योन्यहेतुश्च)** एक दूसरे के कारण से निमित्त से होती है तो **(न्यायात्)** न्यायानुसार **(अन्योन्यसंश्रयात् दोषात्)** अन्योन्याश्रय दोष के कारण से किसी एक की भी सिद्धि न हो सकने से **(असिद्धः दोषः स्यात्)** असिद्धत्व नाम का दोष आवेगा।। 930।।

(ईदृक कश्चित् आगमः न अस्ति) तथा ऐसा कोई आगम प्रमाण भी नहीं है कि **(तस्य दृङ्मोहकर्मणः रागः हेतुः)** उस दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में राग कारण होता है **(अथ)** और **(तस्य रागस्य हेतुः रागावृत्तिः)** उस राग के लिए दर्शन-मोहनीय का उदय कारण होता है।। 931।।

(तस्मात् सिद्धान्तः सिद्धः अस्ति) इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि **(दृङ्मोहस्य वा इतरस्य)** दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय इन दोनों के **(उदयः अथवा अनुदयः)** उदय अथवा अनुदय ये दोनों ही **(स्वतः अनन्यगतिः स्यात्)** स्वयं अनन्य गति-अपने आप होते हैं अर्थात् परस्पर में एक-दूसरे के निमित्त से नहीं होते हैं।। 932।।

(तस्मात्) इसलिए **(अर्थात्)** अर्थ की अपेक्षा से और **(तल्लक्षणात् अपि)** उस सम्यक्त्व के लक्षण की अपेक्षा से भी **(सम्यक्त्वं एकं स्यात्)** सम्यक्त्व एक ही है अर्थात् सम्यक्त्व के सराग-सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व ये दो भेद नहीं हैं और **(तत्र)** उस सम्यक्त्व के होने पर

(आवश्यकी ज्ञानचेतना विद्यते) नियम से ज्ञान चेतना होती है **(तद्यथा)** जैसे कि ग्रन्थकार आगे स्वयं सिद्ध करते हैं।। 933।।

भावार्थ :- शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है। कारण कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के द्वारा नानारूपवाले जो प्रत्येक कर्म पुद्‌गल हैं उनकी अचिन्त्य शक्ति के विषय में वह अनभिज्ञ है/अपरिचित है अर्थात् योगादिकों के निमित्त से होने वाले कार्माणवर्गणासम्बन्धी ज्ञानावरणादित्व के लिए, प्रदेशों की संख्या के लिए, स्थिति सम्बन्धी न्यूनाधिकता के लिए और अनुभाग की हीनाधिकता के लिए जो कर्म पुद्‌गलों में अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, उनके विषय में शंकाकार अपरिचित है; अन्यथा वह उक्त दोनों सम्यक्त्वों के अनित्यत्व के विषयों में शंका ही नहीं करता।

यहाँ प्रशम शब्द से उपशम सम्यक्त्व में जो युगपत् सातों प्रकृतियों का उपशम बताया है, वह उपशम अनादिकाल से नहीं होता - यह ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि एक बार उपशम सम्यक्त्व के होने पर यह जीव ज्यादा से ज्यादा अर्द्ध पुद्‌गल परावर्तन काल तक संसार में रहता है, इसलिए उपशम सम्यक्त्व के लिए अनादि विशेषण नहीं लगाना चाहिये। यदि लगाया ही जाय तो उपशम शब्द का अर्थ तीव्रोदयाभाव कहना चाहिये, कारण कि अनादिकाल से इस जीव के तीव्र उदय और उसका **उपशम अर्थात् मन्दोदय तथा फिर तीव्र उदय ऐसा क्रम चला आ रहा है। यद्यपि उपशम सम्यक्त्व में अनादि विशेषण नहीं लगता है; तथापि एकबार प्रथमोपशम सम्यक्त्व के होने के अनन्तर असंख्यात बार उसकी उत्पत्ति और नाश हो सकता है, इस दृष्टि से जब तक मोक्ष न होगा, तब तक दर्शनमोह का उदय और उपशम, फिर उदय, फिर उपशम इत्यादिक क्रम बार-बार पाया जाता है - ऐसा कहा है।**

सारांश यह है कि सातों प्रकृतियों का उपशम क्षयोपशम तथा उदय ये तीनों ही जब काललब्धि आती है, तब स्वयं हो जाते हैं अर्थात् सम्यक्त्व की उत्पत्ति व घात में दर्शनमोह का उपशम व उदयादिक ही स्वयं प्रधान कारण है। चारित्रमोहनीय का उपशम तथा उदय नहीं। यहाँ कारण शब्द से जनक-कारण का ग्रहण करना चाहिए, इसलिए जिस तरह अनादिकाल से दर्शनमोह का उपशम स्वतः होता है, उसी तरह उसका उदय भी स्वतः होता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के उदय से उपशम व क्षयोपशम इन दोनों सम्यक्त्वों का घात हो जाता है और इस घात की संभावना से ही वे दोनों सम्यक्त्व अनित्य कहलाते हैं।

यदि दर्शनमोहनीय का उपशम और उदय स्वतः ही होता है - ऐसा नहीं माना जायेगा, किन्तु राग के द्वारा सम्यक्त्व का घात होता है - ऐसा माना जायेगा तो असिद्धत्व, अनवस्था और अन्योन्याश्रय ये तीन दोष आवेंगे। अब आगे ग्रंथकार स्वयं इसी अर्थ का खुलासा करते हैं -

मिथ्यात्व के उदय को यदि राग के आधीन मानते हो तो वह रागोदय किसके आधीन है? स्वाधीन है अथवा अन्य किसी दूसरे कर्म के उदय के आधीन है? यदि वह राग का उदय स्वाधीन है तो फिर जिस तरह अपने उदय के लिए इस राग के उदय को स्वाधीन मानते हो उसी तरह मिथ्यात्व के उदय के लिए मिथ्यात्व के उदय को भी स्वाधीन मानना चाहिए।

यदि कदाचित् कहा जाय कि दर्शनमोह के उदय से चारित्र-मोहजन्य रागभाव होता है और इस रागभाव से दर्शनमोह का उदय होता है तो अन्योन्याश्रय दोष के कारण किसी एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, इसलिए असिद्धत्व नाम का दोष उपस्थित होता है।

आगम में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है कि दर्शनमोह के उदय के लिए रागभाव कारण होता है और रागभाव के लिए दर्शन मोह का उदय कारण होता है।

इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोह व चारित्र-मोह के उदय उपशम में स्वयं दर्शनमोह व चारित्रमोह का उदय व अनुदय ही कारण है, किन्तु दोनों में से किसी एक के लिए भी अन्य किसी दूसरे कर्म का उदय अथवा अनुदय कारण नहीं है।

दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम और क्षय के होने पर जो सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है उसमें अर्थ तथा लक्षण इन दोनों की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है, इसलिए सम्यक्त्व के सराग व वीतराग ऐसे दो भेद नहीं हो सकते हैं; तथा उस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञानचेतना भी अवश्य ही होती है और ऐसा क्यों होता है - इसका निरूपण ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं।

सम्यक्त्व के भेद, बन्ध व्यवस्था और अन्य विशेष गुण

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात्।। 934।।

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादि प्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागको।। 935।।

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम्।। 936।।

स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बंधः स्याद्रससंज्ञकः।
शेषबंधत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः।। 937।।

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते।
ज्ञानसंचेतनायास्तु क्षतिर्नस्यान्मनागपि।। 938।।

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्‌गुणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वः च तद्वतः।। 939।।

उपशम और क्षयोपशम क्षायिक भेद तीन है समकित को।
मात्र भेद स्थिति-बन्ध का, नहिं अनुभाग बन्ध का है।। 1699।।
है अनादि से बन्धन चार प्रकार कहा जिन आगम में।
प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग नाम से भेद कहे जाते।। 1700।।
प्रकृति स्वाभावात्मक होती है, देशाश्रित प्रदेश बन्धन।
स्थिति कालरूप मर्यादा, रस होता अनुभाग स्वरूप।। 1701।।
इन चारों में स्वार्थ क्रिया करने में है अनुभाग समर्थ।
शेष बन्ध तीनों स्व कार्य करने में होते नहीं समर्थ।। 1702।।
अतः यहाँ पर दर्श-मोहनी की सत्ता रहती है मात्र।
स्थिति से नहिं ज्ञान-चेतना में किञ्चित् भी हानि नहीं।। 1703।।
इस प्रकार निःशंकित आदि और अन्य गुण ज्ञानी के।
समकित होने पर होते, आगे भी पाये जाते हैं।। 1704।।

अन्वयार्थ :- (**तत्**) वह सम्यक्त्व (**मिश्रौपशमिक**) क्षायोपशमिक, औपशमिक (**च**) और (**क्षायिकं नाम**) क्षायिक (**इति त्रिधा**) इस तरह तीन प्रकार का है तथा इन तीनों में जो कुछ (**भेदः**) भेद है वह (**स्थितिबन्धकृतः**) केवल स्थिति-बन्धकृत है (**रसबन्धसात् भेदः न**) अनुभाग-बन्धकृत भेद नहीं है।। 934।।

(**तद्यथा अथ**) पूर्वोक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि (**अनादिप्रभेदतः**) अनादिकाल से चले आए हुए भेद की अपेक्षा से (**प्रकृतिः**) प्रकृतिबन्ध (**प्रदेशाख्यः**) प्रदेश-बन्ध (**च**) और (**स्थित्यनुभागकौ बन्धौ**) स्थितिबन्ध तथा अनुभाग इस तरह (**बन्धः चतुर्विधः**) बन्ध चार प्रकार का है उनमें से (**तत्स्वभावात्मा प्रकृतिः**) होने वाले कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिरूप बन्ध कहते हैं (**देश संश्रयः प्रदेशः**) कर्मों के प्रदेशों की इयत्ता को/संख्या को प्रदेशरूप बन्ध कहते हैं (**कालावधारणम् स्थितिः**) कर्मों की स्थिति की मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं और (**रसः अनुभागः ज्ञेयः**) जो साक्षात् फल देने की शक्ति है, उसको अनुभाग-बन्ध कहते हैं।। 935-936।।

(**अत्र**) इन चारों प्रकार के बन्धों में (**रससंज्ञकः बन्धः**) केवल अनुभाग नामक बन्ध ही (**स्वार्थक्रियासमर्थः स्यात्**) बाँधनेरूप अपनी क्रिया में समर्थ है (**अपि**) तथा (**एषः दोष**

बन्धत्रिकः) शेष के तीनों बन्ध (**कार्यकरणक्षमः न**) आत्मा को बाँधनेरूप कार्य करने में समर्थ नहीं है।। 937।।

(**ततः**) इसलिए (**अत्र अपि**) औपशमिक और क्षायोपशमिक इन दोनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों के (**सन्माने संस्थिते**) केवल सत्तारूप से दर्शनमोहनीय के रहने पर (**स्थितिवशादेव**) स्थिति बन्धमात्र से (**ज्ञानसञ्चेतनायाः**) ज्ञानसंचेतना की (**मनाक् अपि क्षतिः न तु स्यात्**) कुछ भी हानि नहीं हो सकती है।। 938।।

(**एव**) इस प्रकार (**इत्यादयः अन्ये च**) निःशंकितादिक तथा वक्ष्यमाण वैरा- ग्यादि और भी (**ये**) जो गुण (**सन्ति**) है, जिन्हें कि (**सद्गुणोपमाः**) सद्गुणों की उपमा दी जा सकती है वे सब (**तद्वतः**) सम्यग्दृष्टि के (**सम्यक्त्यमात्रमारभ्य ततश्च ऊर्ध्वं अपि भवन्ति**) केवल सम्यक्त्व को प्रारम्भ करके आगे भी पाए जाते हैं अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर उसके आगे के गुणस्थानों में भी होते हैं।। 939।।

भावार्थ :- औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक इन तीनों ही सम्यक्त्वों में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता है, इसलिए उनमें रसबन्धकृत किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि को छोड़कर शेष दोनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों के प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है। अतः उन दोनों में स्थितिबन्धकृत भेद पाया जाता है - ऐसा कहा है। इसका विशेष खुलासा ग्रन्थकार ने आगे स्वयं किया है।

बँधने योग्य कर्मों के स्वभाव का नाम प्रकृतिबन्ध, प्रदेशों की संख्या का नाम प्रदेशबन्ध, आत्मा में कर्मों के ठहरने के काल की मर्यादा का नाम अर्थात् आत्मा में कर्म कितने काल तक ठहर कर फल देते हैं, इस काल की मर्यादा का नाम स्थितिबन्ध और साक्षात् फल देने का नाम अनुभाग बन्ध है।

कर्म और आत्मा के आकृष्य तथा आकर्षणरूप भाव से जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध होने के अनन्तर जो तृतीय अवस्था होती है उसे भावबन्ध कहते हैं, जिसे कि पहले उभय बन्ध भी कह आये हैं। यह तृतीय अवस्था अनुभागबन्ध में ही पायी जाती है। इसी कारण से जीव कर्म-निबद्ध होता है और कर्म, जीव-निबद्ध होता है। अनुभागबन्ध के सिवाय इतर तीनों बन्धों में यह तृतीय अवस्था नहीं पाई जाती है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को छोड़कर शेष सम्यग्दृष्टियों के प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता मौजूद रहती है। अतः जब तक उनके मिथ्यात्व का उदय नहीं आता है, तब तक उन दोनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों की ज्ञानचेतना में भी किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने तीनों सम्यक्त्वों

में स्थितिबन्धकृत अन्तर कहा है, रस बन्धकृत अन्तर नहीं कहा है, कारण कि तीनों ही सम्यक्त्वों की अवस्थाओं में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता है, अतः बन्ध की दृष्टि से तीनों ही सम्यक्त्व एक से हैं और तीनों ही सम्यक्त्वों में मिथ्यात्व का अभाव होने से मिथ्यात्व कर्म के साथ ही नष्ट होने वाली स्वानुभूत्यावरण प्रकृति का भी अभाव हो जाता है, इसलिए तीनों ही सम्यक्त्व की अविनाभावी ज्ञानचेतना अवश्य रहती है, अतः अर्थ और लक्षण दोनों की अपेक्षा से तीनों सम्यक्त्वों में समानता है।

जो निःशंकतादिक तथा वक्ष्यमाण वैराग्यादि सम्यग्दर्शन के गुण हैं, वे सब अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सब गुणस्थानों में पाये जाते हैं।

सम्यक्त्व के सहभावी अन्य विशेष गुण

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु।। 940।।

स्व-संवदेन ज्ञान प्रत्यक्ष स्वानुभव नामक ज्ञान यहाँ।
भेदज्ञान वैराग्य आदि गुण होते अधिक कहें अब क्या।। 1705।।

अन्वयार्थ :- (**इह**) सम्यग्दर्शन के होने पर ही आत्मा में (**स्वसंवेदनप्रत्यक्षं**) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (**स्वानुभवाह्वयं ज्ञानं**) स्वानुभव नाम का ज्ञान (**वैराग्यं**) वैराग्य और (**भेदविज्ञानं**) भेदविज्ञान (**इत्यादि अस्ति**) इत्यादि गुण प्रगट हो जाते हैं अतः (**किं बहु**) उनका अधिक कहाँ तक वर्णन करें।। 940।।

भावार्थ :- जिस तरह निःशंकितादिक अंग और प्रशमादिक सम्यग्दर्शन के गुण हैं/लक्षण हैं। उसी तरह सम्यग्दर्शन के अविनाभावी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानुभूति, परमोपेक्षारूप वैराग्य और भेदविज्ञान ये सब भी सम्यक्त्व के गुण हैं।

चेतना के भेद

अद्वैतेऽपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामाऽस्ति नान्यथा।। 941।।

यद्यपि वह अद्वैत चेतना तीन भेद है आगम सिद्ध।
जिससे युक्त जीव लक्षित सार्थक अन्वर्थ नामधारी।। 1706।।

अन्वयार्थ :- (**यया उपलक्षितः जीवः**) जिस चेतना के द्वारा युक्त जीव (**सार्थनामा अस्ति**) अन्वर्थ नामधारी कहलाता है और (**अन्यथा न**) जिस चेतना के बिना जीव, जीव शब्द का वाच्य ही नहीं कहलाता है वह (**चेतना**) चेतना (**अद्वैते अपि**) यद्यपि सामान्य दृष्टि से

अखण्ड-एक है तथापि वह (**आगमात्**) आगमानुसार (**एवं च त्रिधा प्रोक्ता**) उक्त प्रकार से तीन तरह की कही गई है।। 941।।

भावार्थ :- जो चेतना जीव का लक्षण है, वह चेतना सामान्यरूप से एक प्रकार की है और विशेषरूप से ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना इस तरह तीन प्रकार की है, जिससे लक्षित होकर ही यह जीव चेतन कहलाता है। इन तीनों चेतनाओं का वर्णन पहले हो चुका है अतः यहाँ पर पुनरुक्ति दोष के भय से नहीं किया है।

शंका

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये संति तत्रापि केचन॥ 942॥

समाधान

उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम्।। 943॥
अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात्।। 944॥
तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम्।। 945।।
वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे।। 946।।
सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्त्रं तिष्ठन्तः प्राकृताः स्वतः।। 947।।
तथापि प्रोच्यते किंचित् श्रूयतामवधानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते।। 948।।

सभी जीव चैतन्यमात्र सर्वथारूप से कहे गए।
तो उनमें चैतन्य आदि गुण हैं अनन्त क्यों कहे गए।। 1707।।
चेतनरूप जीव को ही अनन्त धर्मात्मक कहते हैं।
क्योंकि विश्व के सभी पदार्थ अनन्त गुणात्मक होते हैं।। 1708।।

युक्ति स्वानुभव अरु आगम से साध्य अनन्त धर्ममय अर्थ।
जो आगे वक्तव्य सभी ज्ञातव्य परीक्षक के द्वारा।। 1709।।
इसका वर्णन इस प्रकार है जैसे दर्शन-ज्ञान-चरित्र।
सुख सम्यक्त्वादिक विशेष गुण प्रगट जीव के कहे गए।। 1710।।
वीर्य सूक्ष्म अवगाह तथा अव्याबाधतत्व आदि गुण भी।
और जीव के अगुरुलघुत्व आदि सामान्य चिदात्मक हैं।। 1711।।
स्वाभाविक अरु स्वयं सिद्ध सामान्य विशेष सभी गुण हैं।
टंकोत्कीर्ण समान सदा वे स्वतः भावमय रहते हैं।। 1712।।
तो भी कुछ कहते हैं उसको सावधान होकर सुनिये।
क्योंकि न्यायबल से आते प्रवाह को कौन रोक सकता।। 1713।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**सर्वः अपि जीवः**) सब ही जीव (**सर्वथा चिन्मात्र एवं अस्ति**) सर्वथा केवल चैतन्यमय ही हैं तो फिर (**तत्रापि**) उस जीव द्रव्य में भी (**तदाद्याः अन्ये च केचन गुणाः सन्ति इति किं**) चैतन्य को आदि लेकर और भी अनेक गुण हैं - ऐसा क्यों कहा जाता है?।। 942।।

शङ्काकार की शंका का उत्तर यह है कि (**एकः अपि सचेतनः**) एक ही जीव (**अनन्त-धर्माधिरूढः उच्यते**) अनन्त धर्मयुक्त कहा जाता है (**यतः**) क्योंकि (**यावत् अर्थजातम्**) जितना भी पदार्थों का समुदाय है वह सब (**अनन्तगुणात्मकम् स्यात्**) अनन्त गुणात्मक होता है।। 943।।

(**वक्ष्यमाणं अपि**) जिसका हम प्रकरणानुसार विस्तृत वर्णन करने वाले हैं और जो (**युक्तिस्वानुभवागमात्**) युक्ति, स्वानुभव तथा आगम से (**साध्यं**) सिद्ध किया जा सकता है ऐसे (**तत्रापि**) उस जीव के अनन्त धर्मात्मक होने में भी (**अभिज्ञानं च तत्परीक्षकैः ज्ञातव्यं**) विशेष परिज्ञान भी उस विषय के जानकार परीक्षकों को करना चाहिए।। 944।।

(**तद्यथायथं**) इस कथन का खुलासा इस प्रकार है जैसे कि (**चारित्रं**) चारित्र (**दर्शनं**) दर्शन (**सुखं**) सुख (**ज्ञानं**) ज्ञान और (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व (**इति एते**) ये पाँच (**स्फुटम्**) स्पष्टरीति से (**जीवस्य विशेषगुणाः स्युः**) जीव के विशेष गुण हैं।। 945।।

(**चिदात्मकः**) चेतनात्मक (**वीर्य**) वीर्य (**सूक्ष्मः**) सूक्ष्म (**अवगाहः**) अवगाह (**अव्याबाधः स्यात्**) अव्याबाध (**च**) और (**अगुरुलघु संज्ञं स्यात्**) अगुरुलघु (**इमे सामान्य गुणाः स्युः**) ये पाँच जीव के सामान्य गुण हैं।। 946।।

(सामान्याः वा विशेषाः वा गुणाः) सामान्य अथवा विशेष दोनों ही प्रकार के गुण **(निसर्गतः सिद्धाः)** स्वभाव से सिद्ध हैं और वे सब गुण **(स्वतः प्राकृताः)** स्वयं भावरूप ही होते हैं इसलिए **(टंकोत्कीर्णा इव)** टांकी से उकेरे हुए की तरह द्रव्य में **(अजस्रं)** सदैव **(तिष्ठन्तः)** रहते हैं।। 947 ।।

(तथापि) तथापि **(किंचित् प्रोच्यते)** उन गुणों के विषय में कुछ कहते हैं इसलिए **(अवधानतः श्रूयतां)** सावधानी से सुनो क्योंकि **(न्यायबलात् समायातः प्रवाहः)** न्याय के बल से आया हुआ प्रकरण प्राप्त कथन का प्रवाह **(केन वार्यते)** किसके द्वारा रोका जा सकता है ?।। 948 ।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जब केवल चैतन्यमात्र ही जीव का स्वरूप है तो फिर उस जीव द्रव्य में और भी अनेक गुण पाए जाते हैं - ऐसा क्यों कहा जाता है ?

यद्यपि सामान्यदृष्टि से जीव केवल चेतनात्मक है, तथापि विशेष दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणात्मक है, इसलिए जीव भी अनन्तगुणात्मक है, अतः यहाँ पर उसके विशेष गुणों का वर्णन करना युक्तियुक्त है।

'वक्ष्यमाणमपि' इस पद से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार की इच्छा स्वयं इस विषय में आगे विस्तार से लिखने की है और 'युक्ति स्वानुभवागमात् साध्यं' इस पद से यह सिद्ध होता है कि विशेषदृष्टि से प्रत्येक वस्तु का अनन्त गुणात्मक होना युक्तियुक्त, स्वानुभवगम्य तथा आगम प्रमाण से सिद्ध है।

जो गुण दूसरे द्रव्य में न पाये जाकर केवल जीव द्रव्य में ही कहलाते हैं जैसे कि- चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व। यहाँ चिदात्मक विशेषण इसलिए दिया है कि वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये गुण जीव तथा अजीव दोनों में ही पाये जाते हैं, किन्तु यहाँ जीव का प्रकरण है, इसलिए सम्पूर्ण जीवों में पाये जाने के कारण सामान्य अपेक्षा से ये चिदात्मक पाँचों ही गुण जीव के सामान्य गुण कहे जाते हैं।

जैसे टांकी से उकेरे हुए पत्थर में पत्थर के संस्कार उससे कभी पृथक् नहीं होते हैं, वैसे ही उक्त दोनों प्रकार के गुण भी सहभावी होने से द्रव्य में सदैव रहते हैं। कभी भी द्रव्य से पृथक् नहीं होते हैं। यद्यपि गुणों के सामान्य और विशेष भेद के कथन से गुणों का कथन पूरा हो जाता है; तथापि उनके विषय में कुछ कथन करना अनुपयुक्त न होगा, अतः उसे ध्यानपूर्वक सावधानता से सुनना चाहिए क्योंकि न्यायानुसार आया हुआ गुणों के कथन का प्रवाह किसी के द्वारा रोका नहीं जा सकता है।

तृतीय अधिकार

वैभाविक भावों का स्वरूप

(छन्द 949 से 1144)

वैभाविकी शक्ति सम्बन्धी व्याख्या

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृताऽस्ति स्वहेतृतः।। 949।।

यथा वा स्वच्छतादर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः।
तथाऽप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृताऽस्त्यर्थतोऽपि सा।। 950।।

वैकृतत्वेऽपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतो यद्विकारत्वं वैकृतं हि तदुच्यते।। 951।।

यथाहि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाबुद्धिरेव नुः।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात्।। 952।।

प्राकृतं वैकृतं वाऽपि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्त तत्सर्व वैकृतं विदुः।। 953।।

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि।
जीवस्यातीव दुःखित्वात्सुखस्योन्मूलनादपि।। 954।।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत्।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान्।। 955।।

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वरूपे स्थितोऽस्ति ना।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथामणिः।। 956।।

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्यात् बाधितो बलात्।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात्।। 957।।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत्संसारः स्यात्कुतो नयात्।
हठाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम्।। 958 ।।

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः।। 959।।

सर्वे विप्लवतेऽप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम्।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया।। 960।।

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी।। 961।।

उनमें स्वयं एक वैभाविक शक्ति नाम का भी गुण है।
जीवों की संसार दशा में स्वयं विकारी परिणमती।। 1714।।

जैसे दर्पण में स्वभाव से ही होता है स्वच्छपना।
किन्तु मुखाकृति के निमित्त से वह भी विकृत हो जाता।। 1715।।

भाव-विकारी होने पर भी अन्यरूप नहिं होते अर्थ।
क्योंकि प्रकृति में जो परिवर्तन हो उसको विकृति कहते।। 1716।।

यथा मद्य पीने से भी नहिं बुद्धि अबुद्धि हो जाती।
उसमें जो परिवर्तन होता वह विकृति है बुद्धि की।। 1717।।

प्राकृत या विकृत जो भी हो ज्ञानमात्र ही कहलाता।
किन्तु इन्द्रियाधीन ज्ञान जब तक है वह सब विकृत है।। 1719।।

विकृति से वास्तव में क्षति होती है लाभ नहीं कुछ भी।
जीव दुखी होता है उसके सुख का हो जाता उच्छेद।। 1719।।

यद्यपि द्रव्यार्थिकनय से टंकोत्कीर्ण यह जीव सदा।
किन्तु नहीं है जीव सुखी प्रत्युत हैं दुखी अनन्त सभी।। 1729।।

जीव बद्ध हो या अबद्ध वह निज स्वरूप में ही रहता।
निर्विशेष होने से मणिवत्-ऐसा नहीं करो स्वीकार।। 1721।।

यदि ऐसा हो तो यह मत बलपूर्वक बाधित हो जाता।
संसारी अरु मुक्त न होंगे, हो भी तो नहिं कोई भेद।। 1722।।

यदि स्वरूप में ही थिर हो संसार दशा कैसे मानें।
यदि हठ से तुम कहो अहेतुक युक्ति-युक्त यह नहिं होगा।। 1723।।

यदि जीव सर्वथा शुद्ध हो तो मुक्ति का वर्णन व्यर्थ।
उक्त निरर्थकता अनिष्ट है क्योंकि व्यर्थ हो पौरुष सिद्ध।। 1724।।
इस प्रकार न प्रमाण रहेगा और न उसका फल होगा।
साधन-साध्य क्रिया-कारक नहिं रहें, सर्व विप्लव होगा।। 1725।।
इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सब संसारी जीवों की।
विकृत भाव सन्तति है दुर्लंध्य और दुख की मूर्ति।। 1726।।

अन्वयार्थ :- (तेषु गुणेषु व) उन स्वयंसिद्ध जीव के गुणों में **(स्वतः)** स्वयंसिद्ध **(वैभाविकीशक्तिः अस्ति)** एक वैभाविकी शक्ति है और वह **(जन्तोः संसृत्यवस्थायां)** जीव की संसारावस्था में **(स्वहेतुतः वैकृता अस्ति)** स्वयं अनादिकाल से विकृत हो रही है।। 949।।

(यथा वा) जैसे **(निसर्गतः)** स्वभाव से ही **(आदर्शे स्वच्छता प्राकृता अस्ति)** दर्पण में स्वच्छता प्राकृतिक होती है परन्तु **(आस्यसंयोगात्)** उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले मुख के संयोग से वह **(वैकृता अपि)** विकृत भी हो जाती है **(तथा)** तब ही **(अर्थतः सा अपि वैकृता भवति)** जीव की वह स्वाभाविक वैभाविक शक्ति भी कर्म के निमित्त से वास्तव में विकृत हो रही है।। 950।।

(भावस्य वैकृतत्वे अपि) भाव में विकृतपने के होने पर भी **(क्वचित् अर्थान्तरं न स्यात्)** कुछ भिन्न अर्थपना नहीं हो जाता है **(हि)** क्योंकि **(प्रकृतौ यद्विकारत्वं)** किसी अर्थ के किसी स्वभाव में पर-निमित्त से जो परिवर्तन होता है **(तत् वैकृतं उच्यते)** उसे ही विकृतिपना कहते हैं।। 951।।

(यथाहि) उक्त कथन को दृष्टान्त पूर्वक दिखाते हैं जैसे कि विकृत होने पर भी **(नुः)** पुरुष की **(बुद्धिः)** बुद्धि **(वारुणीपानात्)** मद्य के पान से **(अबुद्धिः एव न)** पूर्ण अबुद्धि ही नहीं हो जाती है, किन्तु **(बुद्धौ)** उस बुद्धि में **(तदर्थसात्)** उस मद्य के निमित्त से जो **(तत्प्रकारान्तरं)** कुछ न कुछ जात्यन्तरता आती है **(तत् वैकृतत्वं)** वही उसकी बुद्धि का विकृतपना कहलाता है।। 952।।

(प्राकृतं अपि वैकृतं वा यत्) प्राकृत अथवा वैकृत भी जो ज्ञान है यह सब सामान्यरूप से **(ज्ञान मात्रं)** ज्ञान ही कहलाता है, परन्तु **(तदेव यावत् अत्र)** वही ज्ञान सामान्य जब तक यहाँ **(इन्द्रियायत्तं)** इन्द्रियाधीन रहता है तब तक **(तत्सर्व वैकृतं विदुः)** वह सब ज्ञान विकृत कहलाता है।। 953।।

ज्ञान में विकार के होने से **(जीवस्य अतीव दुःखित्वात्)** जीव अत्यन्त दुखी होता है **(अपि)**

और (**सुखस्य उन्मूलनात्**) उसके आत्मीक सुख का घात-उच्छेद हो जाता है इसलिए (**तत्र**) जीव के ज्ञान में विकार के होने पर (**वास्तवात् अपि क्षतिः नूनं अस्ति**) जीव की वास्तविक रूप से हानि ही होती है (**अक्षतिः न**) कुछ लाभ नहीं होता है।। 954।।

(**अपि**) यद्यपि (**द्रव्यनयादेशात्**) द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा से यह (**प्राणभृत्**) जीव (**टंकोत्कीर्णः अस्ति**) टांकी से उकेरे हुए पत्थर की तरह अपरिणामी विवक्षित होता है अर्थात् वह पर्यायार्थिकनय की विवक्षा के गौण हो जाने से अपरिवर्तनीय कहा जाता है, तथापि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से (**कश्चित् आत्मसुखे स्थितः**) कोई भी संसारी जीव विकृत अवस्था के होने पर आत्मसुख में स्थिर नहीं रहता है (**प्रत्युत अतीव दुःखवान**) किन्तु अतीव दुखी रहता है।। 955।।

(**यथा**) जैसे (**मणिः**) मणि (**बद्धः वा अबद्धः वा स्यात्**) बद्ध हो या अबद्ध हो, दोनों ही अवस्थाओं में (**निर्विशेषात्**) द्रव्यदृष्टि से सदृश होने के कारण (**स्वरूपे स्थितः अस्ति**) अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है (**तथा**) वैसे ही यह (**ना**) आत्मा, बद्ध या अबद्ध दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है (**एतत् नैव अङ्गीकर्तव्यं**) ऐसा स्वीकार नहीं करना चाहिये-नहीं मान लेना चाहिए।। 956।।

क्योंकि (**जन्तोः एवं स्थिते**) जीव बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है - ऐसा मानने से (**पक्षः बलात् बाधितः स्यात्**) यह पक्ष अवश्य बाधित हो जाता है (**यतः**) क्योंकि ऐसा मानने से (**संसृतिः वा विमुक्तिः वा न च स्यात्**) संसार तथा मोक्ष का कथन नहीं बन सकता है (**वा**) अथवा यदि बनेगा भी तो (**अभेदसात् स्यात्**) उन दोनों में कुछ भेद नहीं हो सकता है।। 957।।

(**चेत्**) यदि (**ना**) आत्मा (**स्वस्वरूपे स्थितः**) अपने स्वरूप में स्थित रहता है तो फिर (**संसारः कुतो नयात् स्यात्**) जीव की संसार अवस्था किस न्याय से सिद्ध की जा सकेगी यदि (**हठात् वा अस्मिन् मन्यमाने**) हठ से संसार अवस्था को अहेतुक मानोगे तो (**अहेतुकं अनिष्टत्वम्**) वह अवस्था अयुक्तिक होने से इष्ट नहीं कही जा सकती है-इष्ट नहीं मानी जा सकती है।। 958।।

(**चेत्**) यदि (**जीवः सर्वतः शुद्धः**) जीव सर्व प्रकार से सदैव शुद्ध ही है तो (**मोक्षादेशः निरर्थकः**) मोक्ष का आदेश-निरूपण करना निरर्थक हो जावेगा, परन्तु यहाँ पर (**अत्रापि इष्टत्वं इष्टं न वा**) मोक्ष के निरूपण की निरर्थकता को इष्ट मानना इष्ट नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से (**तदर्थ श्रमः वृथा**) मोक्ष के लिए जो श्रम किया जाता है, वह व्यर्थ सिद्ध होगा।। 959।।

(**एवं**) इस प्रकार मोक्षादेश को निरर्थक मानने पर (**न प्रमाणं**) न प्रमाण (**न तत्फलम्**) न उसका फल (**च**) और (**न साधनम् साध्यभावः कारकक्रिया वा स्यात्**) न किसी प्रकार

का साध्य-साधन भाव तथा कारक-क्रिया भाव ही बन सकेगा, किन्तु **(सर्वे अपि विप्लवते)** ये सब ही बिगड़ जायेंगे।। 960।।

(एवं एतावता अपि सिद्धं) इस प्रकार इस उक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि **(संसारि-जीवानां)** संसारी जीवों की **(वैकृता)** विकारप्राप्त **(भावसन्ततिः)** जो भावसन्तति है, वह **(दुरुत्तरी दुःखमूर्तिः अस्ति)** दुर्ल्लंघ्य दुःख की मूर्ति है।। 961।।

भावार्थ :- जीव के गुणों में से एक वैभाविक शक्ति नाम का गुण है और वह अनादिकाल से स्वयं विकृत हो रहा है।

जैसे दर्पण की स्वाभाविक स्वच्छता उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले मुख के संयोग से विकृत हो जाती है। **वैसे ही जीव का वैभाविक नाम का स्वाभाविक गुण भी अनादिकाल से कर्मों के संयोग के कारण विकृत हो रहा है और उसी के निमित्त से जीव तथा कर्म का रागद्वेष पूर्वक आकृष्य-आकर्षक भाव से बन्ध हो रहा है।**

किसी पदार्थ के किसी स्वभाव में जो पर-निमित्त से नैमित्तिक परिवर्तन होता है - संयोगज तृतीय अवस्था होती है उसे विकार कहते हैं, इसलिए अनादिकाल से जो उस वैभाविक शक्ति में पर-निमित्तवश परिवर्तनरूप जो विकार हो रहा है उस नैमित्तिक परिवर्तनरूप विकार से उस वैभाविक शक्ति के मूल स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है अर्थात् उससे मूल स्वभाव का घात नहीं होता है।

परवस्तु के संयोग से उत्पन्न होने वाले भाव को विकार कहते हैं अर्थात् परवस्तु के निमित्त से गुण की जाति में एक प्रकार की जात्यन्तरता के आ जाने को विकार कहते हैं। कुछ स्वभाव के मूलतः उच्छेद का नाम विकार नहीं है। जैसे कि मद्यपान से पुरुष के बुद्धि का मूलतः नाश नहीं होता है, किन्तु मद्यपान के निमित्त से उसकी बुद्धि में जो एक तरह की भ्रमयुक्त बुद्धि की जाति परिवर्तित हो जाती है, उसका ही नाम विकार है।

ज्ञान को प्राकृतज्ञान अथवा वैकृतज्ञान कहना यह ज्ञान का विशेष रूप से कथन कहलाता है, क्योंकि सामान्यरूप से ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तर विवक्षित नहीं है। **अतः ज्ञान की सम्पूर्ण अवस्थाओं में ज्ञान को ज्ञान ही कहना यह ज्ञान का सामान्यरूप से कथन कहलाता है तथा उन दोनों प्रकार के ज्ञानों में से जो ज्ञान इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होता है, वह विकृत ज्ञान कहलाता है।**

यदि कदाचित् कोई यहाँ पर ऐसा कहे कि 'ज्ञान में विकार के होने से वास्तव में कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि परवस्तु के योग से होने वाला विकार केवल नैमित्तिक भाव है, अतः उससे वस्तु

की यथार्थता का घात नहीं होता है तो उसका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के विकृत होने से जीव अत्यन्त दुखी होता है और उसके आत्मीक सुख का उन्मूलन हो जाता है, इसलिए ज्ञान में विकार के होने से वास्तव में जीव की क्षति ही होती है, अक्षति नहीं।

जैसे टांकी से टकी हुई पत्थर की चीज सदैव तदवस्थ दीखती है, वैसे ही जीव में किसी भी प्रकार के परिणाम की विवक्षा के न करने से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से वह अपरिणामी कहा जाता है, परन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मसुख में स्थित न होकर अत्यन्त दु:खी कहा जाता है।

जैसे मणि, बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता; वैसे ही यह जीव भी अपनी बद्ध और अबद्ध दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है – ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए।

जीव को सदैव अपने स्वरूप में ही स्थित मानने से उसकी संसार और मोक्ष अवस्था नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित् उक्त दोनों अवस्थाओं को मान भी लिया जावे तो जीव को सदैव स्वरूप में स्थित मानने से संसार तथा मुक्त अवस्था में कोई अन्तर सिद्ध नहीं हो सकेगा।

यदि आत्मा सदैव अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है – ऐसा मानोगे तो उसकी पंचपरावर्तनरूप संसार अवस्था किसी भी न्याय से सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि कदाचित् हठ से संसार अवस्था होती है – ऐसा मानोगे भी तो वह मानना युक्तियुक्त न होने से अहेतुक होने से इष्ट नहीं हो सकता है।

यदि जीव सर्वथा शुद्ध ही है तो मोक्ष के आदेश (निरूपण) की व्यवस्था निरर्थक हो जावेगी, परन्तु किसी भी आस्तिक ने मोक्ष के आदेश को अनिष्ट नहीं माना है, क्योंकि यदि अनिष्ट माना हुआ होता तो उसके लिए वे श्रम ही क्यों करते।

जब जीव शुद्ध ही है तो मिथ्यादर्शनादिक से बन्ध और सम्यग्दर्शनादिक से मोक्ष होता है, इत्यादिक जो शास्त्रोक्त कथन है, वह निरर्थक हो जायेगा तथा सम्यग्दर्शनादिक से मोक्ष और मिथ्यादर्शनादिक से बन्ध होता है, इसकी सिद्धि के लिए सम्यग्दर्शनादिक के स्वरूप निर्णय के लिए, सत्पक्ष स्थापन तथा असत्पक्ष निराकरण के लिए, जो प्रमाण की व्यवस्था मानी जाती है वह भी निरर्थक हो जायेगी और सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के साधन है तथा मोक्ष साध्य है – यह जो साध्य-साधन भाव है, वह भी नहीं बन सकेगा। अधिक क्या, आत्मा सम्यग्दर्शनादिक से मुक्त होता है और मिथ्यादर्शनादिक से बद्ध होता है, अत: मिथ्यादर्शनादिक का त्याग कर आत्मकल्याण के लिए सम्यग्दर्शनादिक का सम्पादन करना चाहिए, इत्यादि जो कारक-क्रियाभाव हैं, वह भी नहीं बनेगा अथवा आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में लीन करता है इत्यादि क्रियाकारक भाव नहीं बन सकेगा।

इस प्रकार आत्मा में सदैव सर्वथा शुद्धपना के सिद्ध न होने से यही सिद्ध होता है कि संसारी जीवों के विकृत भावों की जो परम्परा है वह दुर्ल्लंघ्य दुःख की मूर्ति है।

इस तरह जीव के वैभाविक गुण और पर-निमित्त से उत्पन्न होने वाले नैमित्तिक वैभाविक भावों का वर्णन करके तथा जीव को द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध और पर्यायार्थिकनय से अशुद्ध सिद्ध करके अब आगे पर-निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विकारभूत वैभाविक भाव कितने हैं, उनके नाम क्या हैं तथा वे कैसे होते हैं इत्यादि रूप से उन वैभाविक भावों के स्वरूप को दिखाने के लिए प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं।

वैभाविक भावों के नाम और संख्या

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः।
किन्नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतांवर।। 962।।

ये वैभाविक भाव कहो कितने एवं कैसे होते।
किन नामों से पहिचानें अरु कैसे ये जाने जाते।। 1727।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**वदतांवर**[22]) हे वदतांवर (**वैभाविकाः भावाः कियन्तः**) वे वैभाविक भाव कितने (**कीदृशाः**) कैसे और (**किंनामानः**) किस नाम के (**सन्ति**) हैं तथा वे भाव (**कथं ज्ञेयाः**) कैसे जाने जा सकते है (**मे ब्रूहि**) यह हमें बतलाईये।। 962।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि हे वदतांवर! वैभाविक भावों की संख्या कितनी है? उनका स्वरूप कैसा है? और उनकी संज्ञा क्या है? यह हमें बतलाईये।

समाधान

श्रुणु साधो महाप्राज्ञ वच्म्यहं यत्तवेप्सितम्।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित् स्वानुभवादपि।। 963।।
लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात्।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पंच यथोदिताः।। 964।।

हे साधो! हे महाप्रज्ञ! जो तुम्हें इष्ट वह कहता हूँ।
जैनागम अभ्यास और कुछ स्वानुभूति से उसे सुनो।। 1728।।
यदि विस्तार करें तो लोक-असंख्य प्रमाण कहे ये भाव।
उनकी जाति विवक्षा से ये पाँच भेदमय कहे गए।। 1729।।

22. वक्ताओं में शिरोमणि

अन्वयार्थ :- (**महाप्राज्ञ**) हे विद्वद्वर! (**साधो**) हे सज्जन! (**यत् तव ईप्सितम्**) जो तुम्हें इष्ट है उसे (**अहं**) मैं (**प्रायः**) प्रायः करके (**जैनागमाभ्यासात्**) जैनागम के अभ्यास से (**अपि**) और (**किंचित् स्वानुभवात्**) कुछ स्वानुभव से (**वच्मि**) कहता हूँ (**श्रुणु**) तुम सुनो।।963।।

(**सूत्रार्थविस्तरात्**) यद्यपि सूत्र के अर्थ के विस्तार से-मूलभूत पाँचों भावों के उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से (**लोकासंख्यातमात्राः भावाः स्युः**) वे सब वैभाविकभाव लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते[23] हैं तथापि (**तेषां जातिविवक्षायां**) उन सब वैभाविक भावों की केवल जाति की अपेक्षा से विवक्षा करने पर (**पञ्चभावा उदिताः**) वे सब भाव केवल पाँच कहे जाते हैं (**यथा**) जैसे कि आगे बताते हैं।।964।।

भावार्थ :- हे सज्जनोत्तम! मैं जैनागम से तथा स्वानुभव से वैभाविक भावों के स्वरूप को कहता हूँ। तुम उसे सुनो।

सम्पूर्ण भावों की जाति पाँच प्रकार की है। लेकिन प्रत्येक जाति के अवान्तर भेद करने से उन भावों के लोकासंख्यात प्रमाण भेद हो जाते हैं। असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में असंख्यात का भाग देने से जो लब्ध आता है उसे लोकासंख्यात कहते हैं। असंख्यात के असंख्यात भेद होने से फिर भी यह संख्या असंख्यात ही रहती है और यदि जाति की ही अपेक्षा पर ध्यान रखकर भावों का प्रतिपादन किया जावे तो वे सब भाव पाँच ही होते हैं।

अब आगे उन पाँच भावों का निरूपण करते हैं –

पाँच भावों के नाम, संख्या और लक्षण

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोऽपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः।। 965।।
पारिणामिकभावः स्यात् पंचेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपंचाशदितीरिताः।। 966।।

वे हैं औपशमिक नामक अरु क्षायिक भी होते वे भाव।
अरु क्षायोपशमिक भी होते औदायिक भी है वे भाव।। 1730।।
पञ्चम भाव पारिणामिक है इस प्रकार जानो क्रम से।
इन सबके भी त्रेपन उत्तर भेद कहे जिन आगम में।। 1731।।

23. बनारस से प्रकाशित प्रति में छन्द 961 का अर्थ करते हुए पण्डित फूलचन्दजी ने पाँच भावों की संख्या असंख्यात लोक प्रमाण लिखी है, जबकि यहाँ लोक के असंख्यातवें भाग कहा गया है।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उनमें से (**नुः**) आत्मा का (**औपशमिकः नाम भावः**) एक औपशमिक भाव है (**अपि च**) और दूसरा (**क्षायिकः स्यात्**) क्षायिक भाव है (**च**) तथा तीसरा (**क्षायोपशमिकः**) क्षायोपशमिक भाव है (**अपि**) और चौथा (**औदयिकः इति अस्ति**) औदयिक भाव है तथा पाँचवाँ (**पारिणामिकभावः स्यात्**) पारिणामिक भाव है (**इति क्रमात् पंच उद्देशिताः**) इस प्रकार क्रम से ये पाँच भाव कहे गए हैं (**च**) और (**तेषां उत्तरभेदाः**) उनके उत्तर भेद (**त्रिपञ्चाशत् इति ईरिताः**) त्रेपन होते हैं - ऐसा आगम में कहा है।। 965-966।।

भावार्थ :- जाति की अपेक्षा से भावों के मूल भेद 5 पाँच हैं और उत्तर भेद 53 त्रेपन हैं। अब आगे मूल भावों का लक्षण बताते हैं।

औपशमिक भाव का लक्षण

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात्स्वतः।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः।। 967।।

प्रतिपक्षी कर्मों का जब उपशम होता है अपने आप।
तब आत्मा में जो होता है औपशमिक जानो वह भाव।। 1732।।

अन्वयार्थ :- (**प्रत्यनीकानां कर्मणां**) प्रतिपक्षी कर्मों के (**पाकस्य स्वतः उपशमात्**) विपाक के उदय के स्वयं उपशम होने से (**यः भावः प्राणिनां स्यात्**) जो भाव आत्मा में उत्पन्न होता है (**सः**) वह (**औपशमिकसंज्ञकः स्यात्**) औपशमिक नामक भाव कहलाता है।। 967।।

भावार्थ :- काललब्धि आदि के निमित्त से प्रतिपक्षी कर्मों के स्वयं उपशम होने से जो भाव आत्मा में उत्पन्न होता है उसको औपशमिक भाव कहते हैं और वह औपशामिक भाव केवल सम्यक्त्व व चारित्र में ही होता है।

सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्म का जब काललब्धि से स्वयं उपशम हो जाता है तब आत्मा में जो सम्यक्त्व गुण की निर्मल परिणति होती है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं अर्थात् जैसे कि गंदले पानी में फिटकरी के डालने से उसका मल नीचे बैठ जाने के कारण जल स्वच्छ हो जाता है; वैसे ही चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोह की प्रकृतियों के उदय के स्वतः उपशम होने से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं तथा चारित्रमोह के उपशम से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं।

क्षायिक भाव का लक्षण

प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् यथास्वं।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः।।968।।

प्रतिपक्षी कर्मों का यथायोग्य सर्वथा क्षय होता।
तब आत्मा में जो होता उत्पन्न वही है क्षायिक भाव।। 1733।।

अन्वयार्थ :- (**प्रत्यनीकानां कर्मणां**) प्रतिपक्षी कर्म के (**यथास्वं सर्वतः क्षयात्**) यथा-योग्य सर्वथा क्षय के होने से (**अस्य**) आत्मा में (**यः जातः**) जो भाव उत्पन्न होता है (**सः**) वह (**शुद्धः स्वाभाविकः क्षायिकः भावः**) शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है।।968।।

भावार्थ :- प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वतः क्षय होने से आत्मा में जो भाव उत्पन्न होता है उसको क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव का लक्षण

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम्।। 969।।
सर्वघाति स्पर्धक के अनुदय से होता है जो भाव।
देशघाति का उदय रहे तब क्षयोपशमिक हुआ वह भाव।। 1734।।

अन्वयार्थ :- (**यः भावः**) जो भाव (**देशघातिनां उदयात्**) देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से तथा (**सर्वतः घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः**) सर्वघाति-स्पर्द्धकों के अनुदय से (उदय क्षय से) आत्मा में उत्पन्न होता है (**सः क्षायोपशमिकः स्यात्**) वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है।।969।।

भावार्थ :- प्रतिपक्षी कर्मों में से सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से और देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से जो भाव आत्मा में उत्पन्न होता है उसको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

औदयिकभाव का लक्षण

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाऽप्यौदयिकावर्थात्परं बन्धाधिकारवान्।। 970।।
संसारी जीवों को जो भी कर्म उदय से होता भाव।
औदायिक है नाम और अन्वर्थ बन्ध कारण वह भाव।। 1735।।

अन्वयार्थ :- (**संसृतौ**) संसार में (**कर्मणां उदयात्**) कर्मों के उदय से (**जीवस्य**) जीव के (**यः भावः स्यात्**) जो भाव उत्पन्न होता है यह (**नाम्ना**) नाम से और (**अन्वर्थात् अपि**) अन्वर्थ से भी (**परं बन्धाधिकारवान**) केवल बन्ध में निमित्त होने वाला (**औदयिकः**) औदयिक भाव है।।970।।

भावार्थ :- यहाँ पर 'परं बन्धाधिकारवान्' इस पद से यह ध्वनित होता है कि औदयिक भाव से केवल बन्ध ही होता है। कारण कि संवर निर्जरा और मोक्ष में किसी भी कर्म का उदय कारण

नहीं होता, परन्तु औपशमिकादि-भाव विशुद्धि में कारण ही होते हैं, बन्ध में कारण नहीं होते, क्योंकि बन्ध केवल कर्मों के उदयांशों से ही होता है, उपशमादिरूप अंशों से नहीं होता है।

पारिणामिकभाव का लक्षण

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः।। 971।।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक्।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते।। 972।।

ऊपर कही अवस्था चारों से जो पूर्णतया निरपेक्ष।
केवल द्रव्यात्मक आत्मा का जो स्वरूप परिणामिकभाव।। 1736।।
इस प्रकार इन भावों का संक्षेपरूप लक्षण कहकर।
पृथक् पृथक् अब इन सबका विस्ताररूप वर्णन करते।। 1737।।

अन्वयार्थ :- (**प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्**) उक्त अवस्था चतुष्टयरूप से अर्थात् उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशमरूप जो कर्म के निमित्त से आत्मा की चार प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं उनमें से (**कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः**) किसी की भी अपेक्षा न रखने वाला (**आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः**) केवल आत्मा द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है - ऐसा जो भाव है वह (**पारिणामिकः स्यात्**) पारिणामिक भाव कहलाता है।। 971।।

(**इति**) इस प्रकार (**तेषां भावानां**) उन पाँचों प्रकार के भावों का (**लेशतः**) संक्षिप्त रीति से-सामान्यरूप से (**पृथक् लक्षणं**) भिन्न-भिन्न लक्षण कहा (**इतः**) अब आगे (**एतेषां प्रत्येकं**) इन पाँचों ही भावों में से प्रत्येक भाव का (**व्यासात्**) विस्तार से अर्थात् विशेष दृष्टि से (**यत् रूपं तत् उच्चते**) जो स्वरूप है, वह कहा जाता है।। 972।।

भावार्थ :- कर्म के उदयादिक की अपेक्षा न रखते हुए जो केवल आत्मा के स्वरूप को बताने वाला भाव है, वह पारिणामिक भाव कहलाता है।

इस प्रकार मूल भावों के लक्षण बताकर अब आगे उनके उत्तर भेदों के स्वरूप को विस्तारपूर्वक कहते हैं।

औदयिक भावों के भेद

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः।
चतस्त्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः।। 973।।

त्रीणि लिंगानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम्।
एकं वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकाऽस्त्यसिद्धता।। 974॥
लेश्या षडेव कृष्णाद्याः क्रमादुद्देशिता इति।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम्।। 975॥

औदायिक भावों के इक्किस भेद सूत्र में कहे गए।
चार प्रकार गति हैं एवं चार प्रकार कषाय कहे।। 1738।।
तीन लिंग, मिथ्यात्व एक अरु एक भाव अज्ञान कहा।
एक असंयतपना कहा अरु असिद्धत्व भी औदायिक।। 1739।।
कृष्ण नील आदिक षट् लेश्या - इस क्रम से इक्कीस हुए।
इन सबका स्वरूप कहता हूँ नहिं संक्षेप न अति विस्तार।। 1740।।

अन्वयार्थ :- (**अस्य च औदयिकस्य**) उन पाँच भावों से इस औदयिक भाव के (**सूत्रार्थात्**) सूत्र के अर्थ के अनुसार (**एकविंशतिभेदाः**) इक्कीस भेद होते हैं जैसे कि (**चतस्त्रः गतयः नाम**) चार प्रकार की गति (**च**) और (**चत्वारः कषायकाः**) चार कषाय (**त्रीणि लिंगानि**) तीन लिंग (**एकं मिथ्यात्वं**) एक मिथ्यात्व (**च**) तथा (**एकं अज्ञानमात्रक**) एक अज्ञान (**एकं असंयतत्वं स्यात्**) एक असयंतत्व (**वा**) और (**एका असिद्धता स्यात्**) एक असिद्धत्व तथा (**कृष्णाद्याः षडेव लेश्या**) कृष्णादिक छह लेश्याएँ (**इति क्रमात् उद्देशिताः**) इस प्रकार क्रम से कहे हुए ये इक्कीस भाव औदयिकभाव हैं (**न अल्पं न अतीव विस्तरे**) जो न तो बहुत थोड़ा ही है और न बहुत अधिक ही है, किन्तु मध्यम है - ऐसे (**तत् स्वरूपं प्रवक्ष्यामि**) उन भावों के पृथक्-पृथक् स्वरूप को कहता हूँ।। 973-975।।

भावार्थ :- आम्नायानुसार औदयिक भाव के, 4 गति, 4 कषाय, 3 लिंग, 1 मिथ्यात्व, 1 अज्ञान, 1 असंयमत्व, 1 असिद्धत्व, 6 लेश्या इस तरह 21 भेद होते हैं। इस प्रकार औदयिक भाव के 21 भेद बताकर अब इनके मध्यम रूप से पृथक्-पृथक् लक्षण का निरूपण करते हैं।

गति नामकर्म के भेद

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।
चतस्त्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाऽधिगीयते।। 976।।
कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा देवादन्यतमं वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः।। 977।।

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी।। 978।।
एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव।। 979।।

नाम कर्म में गति नाम का एक भेद है कहा गया।
उससे चार गति होती हैं अतः भेद उसके भी चार।। 1741।।
दैवयोग से आत्मा कर्मोदय से कोई एक शरीर-
पाकर गति के यथायोग्य अपने औदायिक भाव करे।। 1742।।
जैसे तिर्यञ्च अवस्था में उन जैसे भावों की सन्तति -
उस गति में होती अवश्य वैसी अन्यत्र नहीं होती।। 1743।।
इसी तरह सुर नर नारक सम्बन्धी देही जीवों के।
अपने अपने भिन्न-भिन्न औदायिक भाव विशेष कहे।। 1744।।

अन्वयार्थ :- (**नामकर्मणि**) नामकर्म के उत्तर भेदों में (**विख्यातं**) प्रसिद्ध (**एकं गति-नामकर्म अस्ति**) एक गति नामक कर्म है और (**यस्मात्**) जिस कारण से (**गतयः चतस्रः**) गति चार है (**तत्**) तिस कारण से वह नामकर्म भी (**चतुर्धा अधिगीयते**) चार प्रकार का कहा जाता है।। 976।।

(**आत्मा**) आत्मा (**दैवात्**) दैवयोग से (**अस्य कर्मणः विपाकात्**) इस गति नामकर्म के उदय के कारण (**अन्यतमं वा वपुः प्राप्य**) उस गति में प्राप्त होनेवाले यथायोग्य शरीरों में से किसी भी एक शरीर को पाकर (**तत्र उचितान् उद्यात्मनः भावान्**) सामान्यतया उस गति के योग्य जो औदयिक भाव होते हैं, उन्हें (**करोति**) धारण करता है।। 977।।

(**यथा**) जैसे कि (**तिर्यगवस्थायां**) तिर्यंच अवस्था में (**तद्वत्**) तिर्यंचों की तरह (**तत्पर्यायानुसारिणी**) तिर्यंच पर्याय के अनुरूप (**या भावसन्ततिः**) जो भाव सन्तति होती है, वह (**तत्र अवश्यं**) उस तिर्यंच गति में अवश्य ही होती है (**अन्यत्र न च**) दूसरी गति में नहीं होती है।। 978।।

(**एवं**) इसी तरह (**स्फुटं**) यह बात स्पष्ट है कि (**दैवे**) देवगति सम्बन्धी (**मानुष्ये**) मनुष्यगति सम्बन्धी (**अथ च**) और (**नारके**) नरकगति सम्बन्धी (**वपुषि**) शरीर में होने वाले (**आत्मीयात्मीयभावाः**) अपने-अपने औदयिकभाव (**असाधारणाः इव सन्ति**) स्वतः परस्पर

में असाधारण के समान होते हैं अर्थात् उनमें अपनी-अपनी जुदी-जुदी विशेषता पाई जाती है।। 979।।

भावार्थ :- नामकर्म के उत्तर भेदों में एक गति नामक नामकर्म है और वह गति के भेद से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति तथा देवगति, इस तरह चार प्रकार का है।

गति चार हैं। एक-एक गति में नाना प्रकार के शरीरधारी जीव पाए जाते हैं और यद्यपि उनमें नाना तरह का अन्तर भी रहता है, तथापि व्यापकरूप से प्रत्येक गतिसम्बन्धी शरीरधारियों के औदयिक भावों में जो सदृशता पाई जाती है, उसे गतिरूप औदायिक भाव कहते हैं। जैसे कि यद्यपि तिर्यंचगति में एकेन्द्रियादि के भेद से नाना प्रकार के जीव पाए जाते हैं, तथापि उन सबमें जो भी औदयिक भाव होते हैं, वे सब तिर्यंचपने में गर्भित हो जाते हैं इतर में नहीं। भवनवासी आदि चार निकाय के देवों के होते हुए भी सामान्यरूप से सब देवपने में ही गर्भित हो जाते हैं, अन्य में नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक गति में संभव होने वाली औदयिक भावों की संतान को अपने-अपने गति नामक औदयिक भावों में गर्भित किया जाता है, इसलिए इस प्रकार के चार तरह के भाव गति नामक औदयिकभाव कहलाते हैं।

जैसे कि तिर्यंच अवस्था में तिर्यंचपने के अनुकूल जो औदयिकभाव होते हैं, वे सब तिर्यंच गति में ही पाए जाते हैं, अन्य गति में नहीं।

तिर्यंचगति के ही समान देव मनुष्य और नरकगति सम्बन्धी शरीरों में भी जो यथायोग्य औदयिक भाव होते हैं, वे सब परस्पर में भिन्न-भिन्न जाति के होने से चारों ही गति सम्बन्धी भाव असाधारण भावों के समान प्रतिभासित होते हैं।

शंका

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद् घातिकर्मवत्।। 980।।[24]

समाधान

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयाति चित्रवत्।। 981।।
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोञ्जसा।
तस्मादौदयिकोभावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः।। 982॥

24. नामकर्म के निमित्त से शरीर (पुद्गल) की रचना होती है, अतः उसे औदयिक भाव (जीव का भाव) नहीं मानना चाहिए।

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात्।। 983।।
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात्।। 984।।

मात्र नाम कर्मोदय से जब होती देवादिक पर्याय।
तो कैसे वह घाति कर्मवत् जीव भाव का कारण है।। 1745।।

ठीक कहा, वह चित्रकारवत् नामकर्म निज-लक्षण से।
वास्तव में वह देह मात्र का निर्माता है चित्र समान।। 1746।।

और वहाँ भी मोहकर्म का उदय निरन्तर होता है।
अतः देह-अनुसार औदयिक भाव जीव के होते हैं।। 1747।।

मोहोदय अच्छिन्न एक धारा से है स्वायत्त सदा।
तो देहानुकूल भावों का नियमित कारण कैसे हो।। 1748।।

ठीक नहीं यह क्योंकि आप अनभिज्ञ मोह के वैभव से -
स्वलक्षण अनुसार बुद्धि एवं अबुद्धिपूर्वक होता।। 1749।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शङ्काकार का कहना है कि जब (**देवादिपर्यायः**) देवादिक पर्याय (**परं**) केवल (**नामकर्मोदयात्**) नाम कर्म के उदय से होती है (**तत् कथम्**) तो वह नामकर्म कैसे (**घाति कर्मवत्**) घातिया कर्म की तरह (**जीवभावस्य हेतुः स्यात्**) जीव के भाव में हेतु हो सकता है ?।। 980।।

(**सत्यं**) ठीक है क्योंकि (**तन्नामकर्मापि**) वह नामकर्म भी (**लक्षणात्**) अपने लक्षण की अपेक्षा से (**चित्रकारवत्**) चित्रकार की तरह (**नूनं**) निश्चय से (**चित्रवत्**) चित्र के समान (**तद्देहमात्रादि निर्मापयति**) गति के अनुसार केवल जीव के शरीरादिक का ही निर्माण करता है।। 981।।

परन्तु (**तत्रापि**) उन देवादि गति सम्बन्धी शरीरादिक पर्यायों में भी (**अंजसा**) वास्तव में (**मोहस्य**) मोह का (**नैरन्तर्योदयः अस्ति**) गत्यनुसार निरन्तर उदय रहता है (**तस्मात्**) इसलिए (**तद्देहक्रियाकृतिः**) विवक्षित गति में जिस गति का उदय होता है उस-उस गति सम्बन्धी प्राप्त शरीरादिक की क्रिया के आकार के अनुकूल (**औदयिक भावः स्यात्**) मोहनीय कर्म के उदयजन्य औदयिक भाव होते हैं।। 982।।

(ननु) शंकाकार का कहना है कि यदि **(एकधारया)** अखण्डधारा से **(मोहोदयः नूनं स्वायत्तः अस्ति)** मोह का उदय नियम से स्वायत्त है अर्थात् प्रतिसमय मोह का उदय निर्विच्छिन्न रूप से मोह के आस्रव में कारण होता रहता है तो फिर **(अयं)** यह मोहनीय कर्म का उदय **(तत्तद्वपुः क्रियाकारः)** उन-उन शरीरों के सम्बन्ध से उन-उन शरीरों की क्रिया के अनुकूल **(कुतः नयात् नियतः)** किस न्याय से नियमित हो सकता है?।। 983।।

(एवं न) इस प्रकार का कहना ठीक नहीं है **(यतः)** क्योंकि तुम **(तत्रापि)** उन चारों ही गतियों में **(स्वलक्षणात्)** मोहोदय के लक्षणानुसार **(बुद्धिपूर्वे)** बुद्धिपूर्वक **(च)** और **(अबुद्धिपूर्वे)** अबुद्धिपूर्वक होने वाले **(मोहस्योदयवैभवे)** मोहनीय के उदय-वैभव में **(अनभिज्ञः असि)** अनभिज्ञ हो।। 984।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि जीव के पाँच प्रकार के भावों में से पारिणामिक भावों को छोड़कर शेष चारों भाव घातिया कर्मों के उदयादिक से ही होते हैं अन्यथा नहीं। परन्तु जो देवादि गति है, वह जब केवल नामकर्म के ही उदय से होती है, घातिया कर्मों के उदय से नहीं होती, तो फिर इन चारों गतियों को औदयिक भावों में क्यों परिगणित किया जाता है अर्थात् चारों ही गति नामक औदयिक भावों को औदयिक नहीं मानना चाहिए।

शंकाकार का कहना ठीक है, क्योंकि नामकर्म का लक्षण जिस तरह चित्रकार चित्र को निर्माण करता है उसी तरह शरीर, अंगोपांग और शरीर की नाना प्रकार की आकृतियों को निर्माण करना है, इसलिए देवादिक पर्यायों में तदनुसार शरीर निर्माणादिक केवल नामकर्म का कार्य है।

कहा भी है -

चित्रकार जैसे लिखे नाना चित्र अनूप।
नामकर्म तैसे करे चेतन के बहुरूप।।

यद्यपि नामकर्म चित्रकार की तरह गति के अनुसार देह की रचना आदिक में ही कारण है यह कथन ठीक है, परन्तु गति को औदयिक भावों में गिनाने का इतना ही प्रयोजन है कि विवक्षित गति में प्राप्त विवक्षित देह के अनुसार ही मोहनीय कर्म का उदय रहता है। जैसे कि हाथी में गम्भीरता, हंस में विवेक, कुत्ते में सजाति-द्रोह, मर्कट में चंचलता और बिल्ली में विश्वासघात आदिक प्रशस्ताप्रशस्त विकार उस देह के अनुसार सामान्यतः रहते हैं; वैसे ही प्रत्येक गति के अनुसार विवक्षित मोहोदयजन्य भाव होते हैं। इस भाव को द्योतनार्थ गति को औदयिक भावों में परिगणित किया है।

शंकाकार का कहना है कि मोहनीय कर्म स्वोदय-बन्ध प्रकृति है, इसलिए जब जिस जाति के

मोह का उदय होता है तब उस जाति के मोह कर्म का आस्रव भी होता है। इस प्रकार जब मोहनीय के उदय की धारा का उच्छेद कभी भी नहीं हो पाता है, तो फिर ऐसी स्थिति में गति के अनुसार प्राप्त होने वाले शरीरादिक की क्रिया के अनुकूल मोहनीय के उदय को नियत कहना कैसे सुसंगत हो सकता है?

शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह उन गतियों से सम्बन्ध रखने वाले मोह के उदयजन्य विकार से अनभिज्ञ है। आगे मोह के उदय जन्य भावों को बताते हैं –

मोहनीय कर्म का स्वरूप और कार्य

मोहनान्मोहकर्मैकं तद् द्विधा वस्तुतः पृथक्।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः।। 985।।
एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम्।। 986।।
दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः।। 987।।
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम्।। 988।।
यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धि विमुह्यति।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात्।। 989।।
तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक्।। 990।।

मूर्छित करता अतः एक है मोह किन्तु द्वय भेद समूह।
पृथक् पृथक् गुण मूर्छित करता दर्शमोह अरु चारितमोह।। 1750।।
एकरूप है दर्शन-मोह और वह तीन प्रकार कहा।
अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक मिलकर सप्त प्रकार कहा।। 1751।।
संसारी जीवों को दर्शन-मोहोदय से हो मिथ्यात्व।
वह औदायिक भाव जीव को वास्तव में दुर्वार कहा।। 1752।।
इस दर्शन-मोहनी कर्म की प्रकृति ऐसी होती है।
जीवों के निर्मल समकित गुण में विकार उत्पन्न करे।। 1753।।

यथा मद्यपानादिक से बुद्धि मोहित हो जाती है।
श्वेत शंख आदिक पदार्थ भी भ्रम से पीले दिखते हैं।। 1754।।
उसी तरह दर्शन-मोहोदय से यह मिथ्यादृष्टी जीव।
जितने भी हैं पर-पदार्थ उनमें अपनापन करता है।। 1755।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र**) यहाँ पर (**मोहनात्**) आत्मा के स्वभावों को मूर्च्छित करने के कारण (**मोहकर्म एकं**) मोहकर्म एक है और (**तत् वस्तुतः पृथक्**) पृथक् गुणों को मूर्च्छित करने के कारण वह (**द्विधा**) दो प्रकार का है अर्थात् (**दृगमोहः**) दर्शन मोह (**च**) तथा (**चारित्रमोहः**) चारित्र मोह (**इति च द्विधा स्मृतः**) इस प्रकार से वह मोहनीय कर्म दो तरह का माना गया है।। 985।।

(**मिथ्यात्वसंज्ञकं कर्म**) उन दर्शन मोह और चारित्र मोह में से मिथ्यात्व नामक कर्म (**एकधा वा-त्रिविधा स्यात्**) एक प्रकार का अथवा तीन प्रकार का है (**च**) तथा मिथ्यात्व के वे तीन भेद और (**आद्य चतुष्कं क्रोधादि**) प्रथम चौकड़ी अर्थात् अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ (**एते सप्त**) ये सात (**दृष्टिमोहनं**) दर्शन गुण को मूर्च्छित करने के कारण दर्शन मोहनीय कर्म के उत्तर भेद कहलाते हैं।। 986।।

(**यः**) जो (**जन्मिनः**) संसारी जीवों के (**अस्य दृङ्मोहस्य उदयात्**) इस दर्शन मोहनीय के उदय से (**मिथ्याभावः अस्ति**) मिथ्यात्व होता है (**सः दृष्टिघातकः**) वही सम्यग्दर्शन गुण का घातक (**औदयिकः**) मिथ्यात्व नामक औदयिक भाव संसारी जीवों के द्वारा (**नूनं दुर्वारः स्यात्**) निश्चय से दुष्परिहार्य है।। 987।।

(**अस्य दृष्टिमोहस्य कर्मणः**) इस दर्शन मोहनीय कर्म की (**प्रकृतिः अपि अस्ति**) कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि जिसके कारण वह (**जीवस्य शुद्धं सम्यक्त्वं गुणं**) जीव के शुद्ध सम्यक्त्व गुण में (**विक्रियां नयति**) विकार पैदा करता है।। 988।।

(**यथा**) जिस प्रकार (**मद्यादिपानस्य पाकात्**) मद्यादिपान के प्रभाव से (**बुद्धिः विमुह्यति**) बुद्धि मोहित हो जाती है और (**विभ्रमात्**) उस मद्य के प्रभाव से होने वाले विभ्रम के कारण वह मद्यपायी (**श्वेतं शंखादि यद्वस्तु**) श्वेत जो शंखादिक वस्तु है उसे (**पीतं पश्यति**) पीलेरूप में देखता है।। 989।।

(**तथा**) तथा (**इह**) इस जगत में (**दर्शनमोहस्य कर्मणः तु उदयात्**) उस दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से (**कुदृक्**) मिथ्यादृष्टि (**यावत् अनात्मीयं अपि**) सम्पूर्ण परपदार्थों को भी (**आत्मीयं मनुते**) निज मानता है।। 990।।

भावार्थ :- आत्मा के गुणों को मूर्च्छित करने की अपेक्षा से वह मोह कर्म एक प्रकार का है तथा दर्शन और चारित्र गुण को मूर्च्छित करने की अपेक्षा से वह मोह कर्म, दर्शन मोह तथा चारित्र मोह इस तरह दो प्रकार का है।

दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुण के घात करने की अपेक्षा से एक प्रकार का है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इस तरह भेद विवक्षा से तीन प्रकार का है तथा उक्त मिथ्यात्वादि तीन, अनन्तानुबंधी क्रोधादि चतुष्टय इस तरह सात प्रकार का भी है।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीव के सम्यक्त्व गुण में इस तरह का मिथ्यापना आ जाता है कि जिसके कारण उसको हेयोपादेय का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है, किन्तु पर-पदार्थ में ही इष्टानिष्ट कल्पना होती है। जब तक जीव के मिथ्यात्व का उदय रहता है, तब तक अपरिहार्य रूप से सम्यक्त्व का घात होता रहता है अर्थात् सम्यक्त्व गुण का विकास नहीं हो सकता है। **अतः काललब्धि आदि के निमित्त से मिथ्यात्व के अभाव होने पर ही सम्यक्त्व गुण का आविर्भाव होता है, अन्यथा नहीं।**

दर्शन मोहनीय कर्म का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जिसके कारण वह जीव के सम्यक्त्व गुण में विकार पैदा करता है।

जैसे किसी ने यदि मद्यपान किया हो तो उसके निमित्त से उसके चित्त में विभ्रम पैदा हो जाता है। इसलिए वह शंखादिक स्वच्छ वस्तुओं को पीतरूप में देखने लगता है और विवेक के मोहित हो जाने से उसका विवेक वस्तु के यथार्थ स्वरूप को विषय नहीं करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय के उदय से ही पर-वस्तु को निज मानकर उसमें राग-द्वेष करता है और फिर उन राग-द्वेषों से उत्पन्न होनेवाली आकुलता के कारण दुखी होता है। यहाँ 'तु' शब्द से यह ध्वनित होता है कि जब मिथ्यात्व का उदय संसारी जीव को नहीं रहता है, तब उसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है और उसके रागद्वेषजन्य आकुलता का भी अभाव हो जाता है, इसलिए वह सम्यक्त्व के होने पर अचिन्त्य आनन्द का उपभोग करता है।

ज्ञानावरण के निमित्त से होने वाले कार्य

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः।। 991।।
यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात्।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात्।। 992।।
यथा धाराधराकारै गुण्ठितस्यांशुमालिनः।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात्सतोऽपि वा।। 993।।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल।। 994।।

जैसे दर्शन मोह-उदय सम्यक्त्व घात में कारण है।
वैसे ज्ञानावरण उदय भी ज्ञानदशा का घातक है।। 1756।।
जैसे ज्ञानावरणोदय से ज्ञान नष्ट हो जाता है।
कर्म-दर्शनावरण-उदय से दर्शन भी हो जाता नष्ट।। 1757।।
यथा अंशुमाली मेघों से आच्छादित जब होता है।
द्रव्य-दृष्टि से ज्योतिपुञ्ज है किन्तु प्रगट नहिं होता है।। 1758।।
यहाँ रूढ़ि से मिथ्यादृष्टि का जो ज्ञान उसे अज्ञान-
कहें, किन्तु वह नहिं औदायिक वह क्षयोपशमिक अज्ञान।। 1759।।

अन्वयार्थ :- (**यथा**) जिस प्रकार (**दृङ्मोहस्य उदयः**) दर्शनमोहनीय कर्म का उदय (**सम्यक्त्वं लुम्पति**) सम्यक्त्व का घात करता है (**तथा च**) उसी प्रकार (**ज्ञानस्य आवरणोदयः अपि**) ज्ञानावरण कर्म का उदय भी (**आत्मनः ज्ञानं**) आत्मा के ज्ञान गुण को (**निरुणद्धि**) आवृत्त करता है।। 991।।

(**यथा**) जिस प्रकार (**ज्ञानस्यावरणोदयात्**) ज्ञानावरण कर्म के उदय से (**ज्ञानस्य निर्णाशः**) ज्ञान का नाश होता है (**तथा**) उसी प्रकार (**दर्शनावरणोदयात्**) दर्शनावरण कर्म के उदय से (**दर्शननिर्णाशः**) दर्शन का नाश होता है।। 992।।

(**यथा**) जिसप्रकार (**धाराधराकारैः**) मेघ मालाओं से (**गुण्ठितस्य अंशु मालिनः**) आच्छादित सूर्य में (**द्रव्यादेशात्**) द्रव्यदृष्टि से (**सतः अपि वा प्रकाशस्य**) यद्यपि प्रकाश का सद्भाव है तथापि पर्यायदृष्टि से (**आर्विभावः न**) प्रकाश का आर्विभाव रुक जाता है, नहीं हो पाता है।। 993।।

(**पुनः**) और (**यत्**) जो (**इह**) यहाँ पर (**रूढिवशात्**) रूढ़ि से (**ज्ञानं अज्ञानं अस्ति**) मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहते हैं (**तत्**) वह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान (**औदयिक न अस्ति**) औदयिक अज्ञान नहीं है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के उदय से नहीं होता है, किन्तु (**किल**) निश्चय से (**क्षायोपशमिकं अस्ति**) क्षायोपशमिकरूप होता है।। 994।।

भावार्थ :- जैसे दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव के सम्यक्त्व गुण का घात होता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के उदय से उसके ज्ञान का घात होता है।

जैसे ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव के ज्ञानगुण का आवरण होता है वैसे ही दर्शनावरण कर्म के उदय से आत्मा के दर्शनगुण का आवरण होता है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के द्वारा आत्मा के ज्ञान तथा दर्शनगुण का आवरण इस प्रकार समझना चाहिये कि जैसे मेघों के द्वारा सूर्य के आच्छादित हो जाने से यद्यपि उसमें प्रकाश की शक्ति का नाश नहीं हो जाता है; तथापि आच्छादित हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव नहीं हो पाता है; वैसे ही द्रव्यादेश से आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण का सद्भाव रहते हुए भी उनका आविर्भाव नहीं हो पाता है। इस दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मोहनीय कर्म के कारण सम्यक्त्व तथा चारित्र गुण की विकृत स्वादुरूप अवस्था हो जाती है उस प्रकार ज्ञान और दर्शन गुण की विकृतस्वादुरूप अवस्था तो नहीं होती है किन्तु अन्ध अन्धतर तथा अन्धतमरूप अवस्था हो जाती है।

अज्ञान शब्द औदयिक भावों में परिग्रहीत है और क्षायोपशमिक भावों में भी परिग्रहीत है। दोनों जगह अभिप्राय भेद से अज्ञान शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थ लेना चाहिये। क्षायोपशमिक भावों में जो अज्ञान शब्द आया है उसका अर्थ कुमति कुश्रुत तथा कुअवधिरूप क्षायोपशमिक अज्ञान है। यह अज्ञान केवल सम्यक्त्व के न होने से अज्ञान कहलाता है ज्ञानावरण के उदय से नहीं; इसके तीन भेद हैं - 1. कुमति, 2. कुश्रुत और 3. कुअवधि।

औदयिक भावों में जो अज्ञान है उसका अभिप्राय, विवक्षित ज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदय से होने वाले विवक्षित ज्ञान के न हो सकने का है। जैसे कि केवलज्ञानावरण के उदय से केवलज्ञान का न हो सकना, मनःपर्यय ज्ञानावरण के उदय से मनःपर्यय ज्ञान का न हो सकना, अवधिज्ञानावरण के उदय से अवधिज्ञान का न हो सकना, उसी को सामान्यरूप से ज्ञान के अभाव रूप एक अज्ञान भाव कहा है। अब आगे चार पद्यों द्वारा औदयिक अज्ञान का स्वरूप बताते हैं-

औदयिक अज्ञान का स्वरूप

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम्।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत्।। 995।।
यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम्।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम्।। 996।।
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम्।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम्।। 997।।
यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम्।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात्।। 998।।

केवलज्ञानावरणोदय से प्रगट न होता केवलज्ञान।
मूर्छित जन्तु समान नहीं कर सके स्व-पर अर्थ का ज्ञान।। 1760।।

तथा अवधि एवं मनपर्ययज्ञान आवृत जब होते।
तब वे भी निज अर्थ क्रिया करने में नहि समर्थ होते।। 1761।।

अथवा जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उदय के अंश जभी।
निजावरण से आवृत रहते उतने प्रगट नहीं होते।। 1762।।

लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट जब होता है।
सकल कर्म आवरण नष्ट होने से वह है क्षायिकज्ञान।। 1763।।

अन्वयार्थ :- (**अथ**) जब (**यत् केवलज्ञानं**) जो केवलज्ञान (**तदावरणावृतं अस्ति**) केवलज्ञानावरण के द्वारा आवृत होता है तब वह औदयिक अज्ञान (**मूर्छितजन्तुवत्**) मूर्छित-बेहोश प्राणी की तरह (**स्वापूर्वार्थान्**) स्व और परपदार्थ को (**परिच्छेत्तुं**) जानने के लिए (**अलं न**) समर्थ नहीं होता है।। 995।।

(**वा**) तथा और जब (**यत् अवधिज्ञान**) जो अवधिज्ञान (**वा**) अथवा (**स्वान्तपर्ययं ज्ञानं**) मन:पर्ययज्ञान (**तत्तदावरणावृतं स्यात्**) अपने-अपने आवरण के द्वारा आवृत होते हैं तब वे (**अर्थक्रियासमर्थं न स्यात्**) अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं।। 996।।

अथवा (**यत् मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं**) जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (**यावता उदयांशेन**) अपने देशघाति स्पर्द्धकों के उदयांश से (**तत्तदावरणावृतं स्थितं**) अपने-अपने आवरणों के द्वारा जितने आवृत्त रहते हैं (**तावत्**) उतने ही वे (**अपन्हुतं**) ढँके हुए रहते हैं।। 997।।

(**यत्पुनः**) और जो (**सर्वार्थभासकं**) सब पदार्थों का युगपत् प्रकाशित करने वाला (**व्यक्तं केवलज्ञानं**) प्रगट हुआ केवलज्ञान है (**स एव**) वही (**कृत्स्नस्वावरणक्षयात्**) सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न होने वाला (**क्षायिकः भावः**) क्षायिकभाव है।। 998।।

भावार्थ :- केवलज्ञानावरण के उदय से केवलज्ञान का अविर्भाव नहीं हो पाता है, वह औदयिक अज्ञानभाव है।

अवधि और मन:पर्यय ज्ञानावरण के उदय से जो अवधि तथा मन:पर्ययज्ञान नहीं होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है।

मति-श्रुतज्ञानावरण के अंशों से जो मति तथा श्रुतज्ञान आच्छादित होता है वह भी औदयिक अज्ञानभाव है।

जो सम्पूर्ण ज्ञानावरण के अभाव से सम्पूर्ण चराचर का युगपत् प्रकाशक केवलज्ञान होता है वही क्षायिक ज्ञान है।

आठ कर्म और उनके भेद

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्।
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया।। 999॥

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम्।। 1000।।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः।। 1001।।

ततः शेषचतुष्कं स्यात्कर्माघाति विवक्षया।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत्।। 1002।।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल।। 1003।।

दर्शनावरणेऽप्येष क्रमो ज्ञेयोऽस्ति कर्मणि।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणास्यानतिक्रमात्।। 1004।।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते।। 1005।।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद् द्वयावरणादे तदस्ति जात्यन्तरं यतः।। 1006।।

ततः सिद्धं यथाज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः।। 1007।।

पृथगुद्देश एवास्य पृथग्लक्ष्यं च लक्षणम्।
पृथग्दृग्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात्।। 1008।।

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकं प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म तत् स्याच्चारित्रमोहनम्।। 1009।।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत्।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत्।। 1010।।

मूल भेद से भिन्न भिन्न हैं आठ प्रकृतियाँ कर्मों की।
उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस प्रकृति है कर्मों की।। 1764।।
उत्तर उत्तर भेद कहें तो असंख्यात हैं लोक प्रमाण।
शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेदों से कर्म अनन्त प्रकार।। 1765।।
उनमें चार कर्म का सार्थक नाम घातिया कहलाता।
जीव-गुणों का घात करें वे अतः जिनागम घाति कहे।। 1766।।
अपनी-अपनी शक्ति धरें, पर गुण की घातक शक्ति नहीं।
इसी अपेक्षा से बाकी चारों ही कर्म अघाति कहे।। 1767।।
यद्यपि अर्थवशात् आत्मा में अनन्त गुण होते हैं।
तो भी मुख्य रूप से पहला कर्म चेतनावरण कहा।। 1768।।
सामान्य आवरण दृष्टि से दर्शन भी चेतन में गर्भित।
अतः दर्शनावरण कर्म इस क्रम से जाना जाता है।। 1769।।
इसी तरह सम्यक्त्व जीव का गुण होने पर भी जो कर्म।
उसको मूर्छित कर देता है वह है दर्श-मोहनी कर्म।। 1770।।
दर्श-मोहनी, ज्ञान दर्शनावरण समान नहीं होता।
अतः न उनमें गर्भित होता वह तो भिन्न जाति का है।। 1771।।
अतः सिद्ध हो जाता है कि जैसे ज्ञान एक गुण है।
वैसे ही सम्यक्त्व जीव का स्वयं एक गुण कहा गया।। 1722।।
दर्श-मोह का नाम लक्ष्य लक्षण आदिक हैं भिन्न सभी।
इसीलिए वह ज्ञानावरणी में कैसे गर्भित होता।। 1773।।
इसी तरह चारित्र नाम का गुण भी एक जीव में है।
जो उसको मूर्छित करता वह चरित-मोहनी कर्म कहा।। 1774।।
ज्ञानादिकवत् वीर्य नाम का गुण भी जीवों में होता।
उसे अन्तरित करता है जो अन्तराय कहलाता है।। 1775।।

अन्वयार्थ :- (**मूलमात्रतया पृथक्**) केवल मूल भेदरूप से परस्पर में भिन्न (**अष्टौ कर्माणि प्रसिद्धानि**) आठ कर्म प्रसिद्ध हैं तथा (**उत्तरसंज्ञया**) उत्तर भेद से (**कर्माणि अष्टचत्वारिंशत् शतं**) कर्म एक सौ अड़तालीस हैं।। 999।।

(**च**) और (**उत्तरोत्तरभेदैः**) उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से कर्म (**लोकासंख्यात-मात्रकं**)

असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं (**च**) तथा (**शक्तितः**) अपने अविभाग प्रतिच्छेदों के शक्ति की अपेक्षा से (**सर्वकर्मकदम्बकम्**) सम्पूर्ण कर्मों का समूह (**अनन्तसंज्ञं**) अनन्त हैं।। 1000।।

(**तत्र**) उन आठों कर्मों में से (**चत्वारि कर्माणि**) चार कर्म (**अन्वर्थसंज्ञया**) यथानाम तथा गुणरूप अन्वर्थ संज्ञा से अर्थात् अपने नाम से ही अपने अर्थ को द्योतित करने वाले होने से (**घातीनि**) घातिया कहलाते हैं (**हि**) क्योंकि (**जीवस्य गुणानां घातकत्वात् एव**) जीव के गुणों का घात करने से ही वे घातिया कहलाते हैं (**इति वाक्स्मृतिः**) ऐसा आगम है।। 1001।।

(**ततः शेषचतुष्कं कर्म**) घातिया कर्मों से बाकी के बचे हुए चार कर्म (**आत्मशक्ति मत् अपि**) अपनी-अपनी शक्ति को रखते हुए भी (**गुणानां घातकाभावशक्तेः विवक्षया**) सम्यक्त्वादि आत्मा के अनुजीवी गुणों के घातने की शक्ति के अभाव की विवक्षा से (**अघाति स्यात्**) अघातिया कहलाते हैं।। 1002।।

(**एवम् अर्थवशात् नूनं चितः अनेके गुणः सन्ति किल**) यद्यपि इस प्रकार अर्थवश से, आत्मा के और भी अनेक गुण हैं; तथापि उनमें से (**गत्यन्तरात् चेतनावरणम् कर्मत्वं स्यात्**) अगत्या चेतनावरण कर्म भी माना है।। 1003।।

(**आवृतेः अविशेषात्**) आवरण सामान्य की दृष्टि से (**वा**) अथवा दर्शन को (**चिद्‌गुणस्थ अनतिक्रमात्**) चेतना गुण में ही गर्भित होने से (**दर्शनावरणे कर्मणि अपि**) दर्शनावरण कर्म में भी (**एषः क्रमः ज्ञेयः अस्ति**) यही क्रम जानना चाहिए।। 1004।।

(**एवं च**) इसी तरह (**जीवस्य सम्यक्त्वे गुणे सति**) जीव के सम्यक्त्व नामक गुण के होते हुए (**यत् कर्म तं सर्वतः मोहयति**) जो कर्म उस सम्यक्त्व गुण को सर्वतः मूर्च्छित कर देता है (**तत् दृङ्मोहाख्यं उच्यते**) उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।। 1005।।

(**एतत् कर्म**) यह दर्शनमोहनीय कर्म (**तत्तुल्यं न**) ज्ञानावरणादिक की तरह नहीं है (**इति**) इसलिए उसका (**क्वचित् अन्तर्भावो अपि न**) ज्ञानावरणादिक में अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता है (**यतः**) क्योंकि (**एतत् तद्दवधावरणात् जात्यन्तरं अस्ति**) यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की जाति से निम्न जाति का है।। 1006।।

(**ततः सिद्धं**) इसलिए सिद्ध होता है कि (**यथा**) जिस प्रकार (**जीवस्य**) जीव का (**ज्ञानं स्वतः एकः गुणः**) ज्ञान स्वयं एक गुण है (**तथा**) उसी प्रकार (**सम्यक्त्वं च**) सम्यक्त्व भी (**जीवस्य**) जीव का (**स्वतः एकः गुणो नाम**) स्वयंसिद्ध एक गुण है।। 1007।।

(**अस्य उद्देशः पृथक् एव**) मोहनीय कर्म का नामनिर्देश ज्ञानावरणादिक से पृथक् ही है (**लक्ष्यं च लक्षणं पृथक्**) लक्ष्य और लक्षण भी पृथक् है, इसलिए (**दृङ्मोहकर्म पृथक्**)

दर्शनमोहनीय कर्म भी पृथक् है अत: (**कुतो नयात् अन्तर्भाव: स्यात्**) मोहनीय कर्म का ज्ञानावरणादिक में किस न्याय से अंतर्भाव हो सकता है ?।। 1008 ।।

(**एवं**) इसी प्रकार (**प्रमाणसात्**) प्रमाण सिद्ध (**जीवस्य चारित्रं एको गुण: अस्ति**) जीव का चारित्र भी एक गुण है और (**यत्कर्म**) जो कर्म (**तन्मोहयति**) उस चारित्र को मूर्च्छित करता है (**तत् चारित्रमोहनं स्यात्**) उसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं ।। 1009 ।।

(**इह**) जीव के इन गुणों में (**तदादिवत्**) ज्ञानादिक गुणों के समान (**जीवस्य**) जीव का (**वीर्याख्य:**) वीर्य नाम का भी (**एक गुण: अस्ति**) एक गुण है और (**इदं**) यह अन्तराय कर्म (**तत्**) उस वीर्य गुण को ही (**हि**) निश्चय से (**अन्तरयति**) अन्तरित/आच्छादित करता है इसलिए (**तत् कर्म अन्तरायं अस्ति**) वह कर्म अन्तराय कहलाता है ।। 1010 ।।

भावार्थ :- कर्मों के मूल भेद आठ और उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं।

उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से कर्म असंख्यात लोकप्रमाण तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदों की शक्ति की अपेक्षा से अनन्त है।

उन आठों कर्मों से आत्मा के अनुजीवी ज्ञानादिक को घातने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया कहलाते हैं।

यद्यपि वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चारों ही कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं; जैसे कि वेदनीय कर्म के निमित्त से अव्याबाध गुण का, नाम कर्म के निमित्त से सूक्ष्मत्व का, गोत्रकर्म के निमित्त से अगुरुलघुगुण का तथा आयुकर्म से अवगाहन गुण का घात होता है, तथापि ज्ञानादिक अनुजीवी गुणों का घात इनके द्वारा नहीं होता है, इसलिए इन चारों को अघातिया कहा है।

यहाँ पर चेतना शब्द का ज्ञान अर्थ गृहीत किया है, कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के वर्णन का प्रसंग है। अत: इस पद्य का यह अर्थ है कि इस प्रकार प्रयोजनवश आत्मा में अनेक गुणों की कल्पना की जाती है, उनमें आत्मा के ज्ञानगुण का घात करने वाला चेतनावरण-ज्ञानावरण नामक एक कर्म माना है।

जैसे ज्ञानावरण कर्म, ज्ञान को आवरण करने से ज्ञानावरण कहलाता है वैसे ही दर्शन भी चेतना का एक भेद है। अत: उसका आवरण करने वाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है - यह समझना चाहिये।

जीव के सम्यक्त्व गुण को मूर्च्छित करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

सम्यक्त्व गुण को मोहित करने वाला यह दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरणादि कर्मों से भिन्न जाति वाला है, इसलिए उनमें इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अतएव वह भिन्न कर्म भी माना गया है।

अतः भिन्न-भिन्न प्रतिपक्षी कर्मों के सद्भाव से यह सिद्ध होता है कि जैसे ज्ञान जीव का एक पृथक् गुण है, वैसे ही सम्यक्त्व भी जीव का एक पृथक् गुण है।

निर्देश तथा लक्ष्य-लक्षण भाव के पृथक् होने से दर्शनमोहनीय कर्म का अन्तर्भाव ज्ञानावरणादिक में भला किस न्याय से किया जा सकता है?

प्रमाणसिद्ध आत्मा के चारित्र गुण को मोहित करने वाले कर्म को चारित्र-मोहनीय कर्म कहते हैं।

जीव के वीर्यादि गुण को प्रकट न होने देने वाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं।

आत्मा में अनन्त गुण हैं

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः।
तथाऽनन्तागुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात्।। 1011।।
न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्।
नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीहहेतुमान्।। 1012।।
किन्तु सर्वोऽपि स्वात्मीयः स्वात्मीय-शक्तियोगतः।
नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः।। 1013।।
गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्।
गुणाः केचित्समुद्दिष्टाः प्रसिद्धा पूर्वसूरिभिः।। 1014।।

जैसे ज्ञान आत्मा का गुण वैसे सम्यक्त्वादि अनन्त।
युक्ति स्वानुभव अरु आगम से जानो - यहाँ यही तात्पर्य।। 1776।।
नहीं कोइ गुण किसी अन्य में अन्तर्गभित होता है।
और नहीं आधार तथा आधेय नहीं कारण अरु कार्य।। 1777।।
किन्तु सभी अपनी-अपनी शक्ति से अपने में रहते।
यद्यपि वे अनेक हैं किन्तु एक सत्त्व से अन्वयरूप।। 1778।।
यद्यपि गुण अनन्त हैं तो भी कुछ प्रसिद्ध गुण कहे गए-
पूर्वाचार्यों द्वारा क्योंकि बहुत कथन में गौरव दोष।। 1779।।

अन्वयार्थ :- (**अत्र एतावत् तात्पर्यं**) उक्त कथन का यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि (**यथा ज्ञानं चितः गुणः**) जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का गुण है (**तथा**) उसी प्रकार (**युक्तिस्वानुभवागमात्**)

युक्ति, स्वानुभव और आगम से (**अनन्ताः गुणाः ज्ञेयाः**) आत्मा के सम्यक्त्वादि अनन्त गुण जानना चाहिए।। 1011।।

(**इह**) प्रकृत में (**क्वचित्**) कहीं भी (**कः अपि गुणः**) कोई भी गुण (**कस्यापि गुणस्य अन्तर्भवः न**) किसी भी गुण का अन्तर्भावी नहीं है (**आधारः न**) आधार नहीं है (**आधेयः अपि च न**) आधेय भी नहीं है (**हेतुः अपि हेतुमान् न**) कारण और कार्य भी नहीं है।। 1012।।

(**किंतु**) किन्तु (**स्वात्मीय-शक्तियोगतः**) अपनी-अपनी शक्ति को धारण करने की अपेक्षा से (**सर्वोऽपि**) सब गुण (**स्वात्मीयः**) अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं इसलिए यद्यपि (**नाना रूपा अपि अनेके**) नानारूप और अनेक है; तथापि (**हि**) निश्चय पूर्वक वे सब गुण (**मिथः सता सम्मिलिताः**) परस्पर में एक ही सत् के साथ अन्वयरूप से सम्बन्ध रखते हैं।। 1013।।

(**गुणानां अनन्तत्वे च अपि**) यद्यपि गुणों में अनन्तपना है तो भी (**पूर्व सूरिभिः**) प्राचीन आचार्यों ने (**वाग्व्यवहारगौरवात्**) अति ग्रन्थ विस्तार से गौरव दोष आता है इसलिए संक्षेप से (**प्रसिद्धाः केचित् गुणाः समुद्दिष्टाः**) प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुछ गुणों का नामोल्लेख किया है।। 1014।।

भावार्थ :- उक्त सब कथन का तात्पर्य यही है कि जैसे आत्मा का ज्ञान गुण है, वैसे ही युक्ति स्वानुभव और आगम से अनन्त गुण हैं - ऐसा समझना चाहिए।

किसी गुण का किसी अन्य गुण में अन्तर्भाव नहीं है तथा परस्पर गुणों में किसी प्रकार का आधार-आधेयभाव और कार्यकारणभाव भी नहीं है।

यद्यपि किसी भी गुण का किसी भी गुण में अन्तर्भाव, आधार-आधेयभाव तथा कार्य-कारणभाव न होने से द्रव्य के सम्पूर्ण गुण भिन्न और अनेक हैं; तथापि अपने द्रव्यत्व का कभी उल्लंघन नहीं करते हैं इसलिए सम्पूर्ण गुण परस्पर में अभिन्न है।

द्रव्य में अनन्त गुणों के होने पर भी पूर्वाचार्यों ने वचन विस्तार के भय से सबका वर्णन न करके केवल ज्ञानादिक कुछ प्रसिद्ध गुणों का ही उल्लेख किया है।

अवधि मन:पर्यय तथा मति-श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक हैं

यत्पुनः क्वचित्कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद् द्वयं भावयेत्समम्।। 1015।।

तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः।
स्याद्यथा लक्षिताद्भावात् स्यादत्राप्यपरागतिः।। 1016।।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम्।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात्।। 1017।।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत्।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत्।। 1018।।
अस्ति द्वेधाऽवधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात्।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः।। 1019।।
अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद् द्विधा।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि।। 1020।।
त्रिषु ज्ञानेषु चैत्येषु यत् स्यादज्ञानमर्थतः।
क्षायोपशमिकं तत् स्यान्न स्यादौदयिकं क्वचित्।। 1021।।

और किसी को कहीं कहीं नाना-विध होता सीमाज्ञान।
अथवा मनपर्यय होता है या दोनों युगपत् होते।। 1780।।
तदावरण की सर्वघाति के क्षयोपशम से होते हैं।
क्षायोपशमिक ज्ञान दोनों की अपरागति हो जाती है।। 1781।।
मतिज्ञान श्रुतज्ञान उभय ये ज्ञान सनातन रहते हैं।
तारतम्य भावों से होते अपने-अपने कारण से।। 1782।।
जितने अर्थ ग्रहण करने की शक्ति सहित होता जो ज्ञान।
क्षायोपशमिक ज्ञान उतना है, वह नहिं है औदायिक भाव।। 1783।।
किन्हीं भिन्न कारण से होता अवधिज्ञान दो भेद स्वरूप।
सम्यक् अवधिज्ञान है ज्ञान तथा कुत्सित अवधि अज्ञान।। 1784।।
दो प्रकार के भी होते हैं मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान।
सम्यक् हो तो ज्ञान कहें अरु मिथ्या हो तो हैं अज्ञान।। 1785।।
इन तीनों ज्ञानों में जो हैं वास्तव में अज्ञान स्वरूप।
क्षायोपशमिक भावमय हैं वे नहिं किञ्चित् औदायिकरूप।। 1786।।

अन्वयार्थ :- (**पुनः यत्**) और जो (**क्वचित् कस्यापि अनेकधा सीमाज्ञानं**) कहीं-कहीं किसी को नाना प्रकार का अवधिज्ञान (**मनःपर्ययज्ञानं**) मन:पर्ययज्ञान क्रम से (**वा**) अथवा (**तद् द्वयं**) अवधि और मन:पर्ययज्ञान (**समं भावयेत्**) युगपत् होते हैं तथा (**तथा**) जैसे (**तत्**) वह सब अर्थात् अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान (**तदावरणस्य**) अपने-अपने आवरण के (**उच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः**) सर्वघाति स्पर्द्धकों के क्षयोपशम से (**स्यात्**) होता है (**तथा**)

वैसे ही (**लक्षितात् भावात् अपि**) उक्त लक्षण युक्त भाव से भी अर्थात् क्षायोपशमिकपने से (**अत्र**) इन दोनों ज्ञानों में (**अपरागतिः स्यात्**) गत्यन्तर अर्थात् इस क्षायोपशमिकपने का नाश होता है।। 1015-1016 ।।

(**यथा हेतूपलब्धिसात्**) जैसी-जैसी कारण सामग्री मिलती है तदनुसार होनेवाले अपने-अपने (**तरतमैः भावैः**) तरतम भावों से (**मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं एतन्मात्रं**) मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान (**सदातनं वा स्यात्**) सदातन की तरह माने जाते हैं।। 1017 ।।

(**यत् ज्ञानं**) जो ज्ञान (**यावत् अर्थानां ग्राहकशक्तिमत् अस्ति**) अपनी योग्यतानुसार जितने पदार्थों के ग्रहण करने की शक्ति रखने वाला होता है (**तत् तावत् क्षायोपशमिकं अस्ति**) वह उतना ही क्षायोपशमिक ज्ञान कहलाता है (**औदयिकं न भवेत्**) औदयिक नहीं।। 1018 ।।

(**कुतश्चिदन्तरात् हेतोः**) किसी कारणांतर से (**अवधिज्ञानं द्वेधा अस्ति**) अवधिज्ञान दो प्रकार का है उनमें से (**सम्यक् अवधिज्ञानं**) सम्यक् अवधिज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं और (**कुत्सितो अवधिः अज्ञानं स्यात्**) मिथ्या अवधिज्ञान को कुअवधिज्ञान कहते हैं।। 1019 ।।

(**मतिज्ञानम् द्वेधा अस्ति**) मतिज्ञान दो प्रकार का है (**च**) और (**श्रुतज्ञानं अपि द्विधा स्यात्**) श्रुतज्ञान भी दो प्रकार का है कारण कि (**सम्यक्-मिथ्या-विशेषाभ्यां**) सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप विशेष की अपेक्षा से ही (**ज्ञानम् अज्ञानम् इति**) ये दोनों, ज्ञान और अज्ञान कहे जाते हैं।। 1020 ।।

(**एतेषु त्रिषु ज्ञानेषु**) इन तीन ज्ञानों में (**यत् अर्थतः अज्ञानं स्यात्**) जो वास्तव में अज्ञान है अर्थात् ज्ञान में विशेषता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तव में अज्ञान कहते हैं (**तत्**) वह अज्ञान (**क्षायोपशमिकम् स्यात्**) क्षायोपशामिक भाव है (**क्वचित् औदयिकं न च स्यात्**) कहीं भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है।। 1021 ।।

भावार्थ :- अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी जब केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं, तब वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिए यह भी उन क्षायोपशमिक ज्ञानों की एकतरह की अपरागति समझना चाहिए तथा संक्लेश की अधिकता के कारण ज्ञानावरण के तीव्र उदय से अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान होकर भी छूट जाते हैं, यह भी एक प्रकार की उन क्षायोपशमिक ज्ञानों की अपरागति समझना चाहिए। '**अत्रापि यथालक्षितात् भावात् अपरागतिः स्यात्**' इस पद से यह ध्वनित होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की तरह ये दोनों ही ज्ञान चिरकाल स्थायी नहीं हैं। कालान्तर में उनका नाश या तो केवलज्ञानरूप क्षायिकज्ञान होने से हो जाता है अथवा संक्लेश के कारण तीव्र ज्ञानावरण का उदय आने से उनका घात हो जाता है अर्थात् इस तरह ये दोनों ज्ञान अपने क्षायोपशमिक अवस्थारूप लक्षण से च्युत होकर अपरगति को प्राप्त करते हैं।

आगे के पद्य में मतिश्रुत को सनातन कहा है इसलिए अपरागति शब्द का ऊपर कहा हुआ अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

अनादिकाल से केवलज्ञान होने तक जीव के किसी न किसी रूप में मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानरूप क्षयोपशम कुछ न कुछ अवश्य रहता है। ऐसी अवस्था कभी भी प्राप्त नहीं होती है कि जब ये दोनों ज्ञान अपने-अपने तरतमभाव से न पाये जाते हों, इसलिए केवल इन दोनों को सदातन-सदैव रहने वाले क्षायोपशमिक भाव समझना चाहिए।

अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान होकर के छूट भी सकते हैं इसलिए इन दोनों ज्ञानों को अपरागतिवाले कहा है, किन्तु मति श्रुत तो जब तक मुक्ति न हो जायेगी तब तक थोड़े व अधिकरूप में अवश्य रहते ही हैं, इसलिए इन दोनों ज्ञानों को सदातन कहा है, अपरागतिवाले नहीं कहा है।

जिस-जिस विषय का जितना-जितना क्षयोपशम होता है, उतना-उतना ही उस जीव के क्षायोपशमिक ज्ञान हो सकता है अर्थात् ज्ञानावरणादिक के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में जो एक प्रकार का विकास होता है, वह औदयिक भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि औदयिक भाव गुण के विपक्षी कर्म के उदय से होता है और यह क्षायोपशमिक अवस्था क्षयोपशम से होती है, इसलिए इसे औदयिक नहीं कह सकते हैं। जितने अंश में क्षयोपशम है, उतने अंश में विकास है तथा जितने अंश में उदय है, उतने अंश में अन्धकारमय या शून्यतारूप अज्ञान पर्याय है, अतः यह क्षायोपशमिक ज्ञान कभी भी औदयिक नहीं कहा जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं और मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान को विभंगावधि अथवा अज्ञान कहते हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान आत्मानुभव-शून्य होने के कारण अज्ञान है तथा उक्त ज्ञानों में सम्यक् मिथ्यात्वपना लाने का कारण सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन है।

अवधिज्ञान की तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी सम्यग्दर्शन के साथ होने से ज्ञान किंवा सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं तथा मिथ्यादर्शन के साथ होने से ये दोनों मिथ्याज्ञान किंवा अज्ञान कहलाते हैं।

वास्तव में दर्शनमोहनीय के उपशमादिक के साथ ही स्वानुभूत्यावरण का भी क्षयोपशम होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं - ऐसा माना है। सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान होता है, वह मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत नहीं होता है/वास्तविक नहीं होता है, अतः अज्ञान ही है। उसके कुमति, कुश्रुत तथा विभंग अवधि ऐसे तीन भेद हैं। ये तीनों ही क्षायोपशमिक अज्ञान के भेद हैं। इनको औदयिक अज्ञान नहीं समझना चाहिए।

औदयिक अज्ञान एवं अन्य औदयिक भाव

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदायकं स्मृतम्।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः।। 1022।।

एतावतास्ति यो भावो दृमोहस्योदयादपि।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदायिकः स हि।। 1023।।

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम्।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः।। 1024।।

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रादितो यथा।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः।। 1025।।

वास्तव में जो औदायिक अज्ञान कहा जिन-आगम में।
वह तो शून्य रूप होता है जैसे निश्चेतन तन है।। 1787।।

इससे यही सिद्ध होता है दर्शन मोह उदय में जो।
अरु चरित्र मोहोदय से जो भाव सभी औदायिक हैं।। 1788।।

इसी न्याय से सभी अघाति अरु मोहादि घातिया से।
आत्मा में जो भाव हुए वे सब ही हैं औदायिक भाव।। 1789।।

इनमें भी यह हो विवेक कि मोह-जन्य वैभाविक भाव।
वे ही हैं विकार वास्तव में शेष सभी बस कहने के।। 1790।।

अन्वयार्थ :- (**पुनः**) और (**यत्**) जो (**अर्थात्**) यथार्थ में (**औदयिकम् अज्ञानं स्मृतं अस्ति**) औदयिक अज्ञान है (**तत्**) वह (**यथा निश्चेतनम् वपुः**) मृत-देह की तरह (**शून्यता-रूपम् अस्ति**) शून्य रूप है।। 1022।।

(**एतावता**) इस कथन से यह सिद्ध होता है कि (उक्तमोहस्य उदयात्) दर्शन- मोहनीय के उदय से (**अपि**) तथा (**चारित्रमोहस्य पाकात्**) चारित्रमोहनीय के उदय ने (**यः नाथः अस्ति**) जो भाव होते हैं (**स हि सर्वः अपि**) वे सब ही (**औदयिकः**) औदयिक भाव हैं।। 1023।।

(**एवं न्यायात्**) इसी न्याय से (**मोहादिघातिकर्मणां**) मोहादिक घातिया कर्मों के उदय से (**अपि**) तथा (**अन्येषां उदयात्**) अघातिया कर्मों के उदय से (**तत्लयाबान् भावः जातः**) आत्मा में जितने भी भाव होते हैं (**तावान् अखिलः औदयिकः अस्ति**) उतने वे सब औदयिक भाव हैं।। 1024।।

(तत्र अपि अर्थ विवेकः अस्ति) घातिया अघातिया कर्मों के उदय से होने वाले औदायिक भावों में भी यह भेद है **(यथा)** जैसे कि **(अत्र)** इन भावों में **(मोहजः वैकृतः भावः)** केवल मोहजन्य वैकृतिक भाव ही **(श्रेयान उदितः)** सच्चा विकारयुक्त भाव है और **(शेषः सर्वोऽपि लौकिकः)** बाकी के सब लोक रूढ़ि से विकारयुक्त औदयिक-भाव हैं - ऐसा समझना चाहिए।। 1025।।

भावार्थ :- केवलज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और अवधिज्ञानावरण के पूर्ण उदय से जो इन उक्त ज्ञानों का उस शून्यतारूप ज्ञानाभाव को औदयिक अज्ञान कहते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक अज्ञान में ज्ञान तो है, परन्तु वह मिथ्यात्व सहित होने के कारण अज्ञान कहलाता है और ज्ञान के अभावरूप अवस्था का नाम औदयिक अज्ञान भाव है, इसलिये औदयिक अज्ञान को शून्यतारूप अज्ञानभाव कहा है।

औदयिक अज्ञान के कथन से यही कथित हो जाता है कि दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के युगपत् उदय से तथा केवल चारित्रमोह के उदय से जो भाव होते हैं वे भी औदयिक भाव कहलाते हैं।

जैसे ज्ञानावरण के उदय से औदयिक अज्ञान होता है, वैसे ही घातिया मात्र कर्म के उदय से होने वाले जीव के सब भाव औदायिक भाव कहलाते हैं।

सब औदयिक भावों में आत्मा के सम्यक् तथा चारित्र गुणों के विकास के रोकने का काम जैसा मोह सम्बन्धी औदयिक भावों से होता है वैसा ज्ञानादि गुणों के विकास को रोकने वाले अज्ञानादि औदयिक भावों से नहीं होता है क्योंकि चौदह गुणस्थान भी तो केवल मोह और योग के उदयादिक से कहे हैं; अर्थात् सच्चे प्रतिबन्धक मोहजन्य औदयिक भाव ही हैं। इनके हट जाने से इतर औदयिक भाव भी हट ही जाते हैं इसलिए **सच्चे औदयिक भाव मोहनीय के ही निमित्त से होते हैं - ऐसा समझना चाहिए। शेष भाव तो केवल रूढ़िवश औदयिक कहे जाते हैं।**

मिथ्या श्रद्धा का स्वरूप और कार्य

स यथाऽनादिसन्तानात्कर्मणोऽच्छिन्नधारया।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाश्रितः।। 1026।।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम्।। 1027।।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात्।
तत् स्यात् परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात्।। 1028।।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्तिवक्तुमशक्यता।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम्।। 1029।।
निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः।। 1030।।
सर्व संसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः।। 1031।।
तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।
कदाचित्सोपयोगि स्यात् मिथ्याभावार्थभूमिषु।। 1032।।
ततो न्यायगतो जन्तोमिथ्याभावोर्निसर्गतः।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत्।। 1033।।
कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः।। 1034।।
स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान्।
अत्रैव शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः।। 1035।।
प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलंदृष्टान्तकोटिभिः।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलंघ्या वस्तुशक्तयः।। 1036।।

वे औदायिक भाव जीव के हैं अनादि अच्छिन्न प्रवाह।
दर्शन अरु चारित्र मोहनी कर्मोदय से होते हैं।। 1791।।
जीवों को दृग्मोहोदय से तत्त्वों का मिथ्या श्रद्धान।
अथवा अप्रतिपत्ति होती - शास्त्रों में यह कहा गया।। 1792।।
वास्तव में दृग्मोहोदय से जीव प्रदेशों में कालुष।
मिथ्यापन के अन्तर्गत ही परिणति मात्र जीव की है।। 1793।।
सामान्य मात्र होने से कहना सम्भव नहिं मिथ्यात्व स्वरूप।
अतः बुद्धिपूर्वक करता उसका विशेष संक्षिप्त कथन।। 1794।।
हेतु नहीं असिद्ध यहाँ पर निर्विशेष की सिद्धि में।
युक्ति स्वानुभव अरु आगम से सिद्ध स्वसंवेदन गोचर।। 1795।।

संसारी जीवों को मिथ्याभाव निरन्तर रहता है।
किन्हीं किन्हीं संज्ञी जीवों का मन विशेष में उपयोगी।। 1796।।
वास्तव में उनका मन एक विषय में स्थिर नहिं होता।
अतः कदाचित् मिथ्याभावों के विषयों में उपयोगी।। 1797।।
अतः न्याय से सिद्ध हुआ कि जीवों का यह मिथ्याभाव।
दर्शन मोहोदय से नैसर्गिक प्रवाहवत् बहता है।। 1798।।
मोहोदय का कार्य प्रगट प्रत्यक्षरूप से सिद्ध स्वयं।
यदि मिथ्यात्वोदय नहिं हो तो क्यों स्वरूप उपलब्धि नहीं।। 1799।।
निज स्वरूप की अनुपलब्धि से कर्मों का हो बन्ध महान।
यह शक्ति मिथ्यात्व उदय में है - सुदृष्टि को है यह ज्ञान।। 1800।।
यहाँ प्रसिद्ध ज्वलन्त करोड़ों दृष्टान्तों से भी क्या लाभ -
मिथ्यादर्शन के बारे में, क्योंकि वस्तु स्वभाव अलंघ्य।। 1801।।

अन्वयार्थ :- (**स यथा**) और वह औदयिक भाव (**चितः**) आत्मा के (**अच्छिन्नधारया**) अविरलधाराप्रवाह द्वारा (**अनादिसन्तानात्**) अनादि सन्तान क्रम से (**चारित्रस्य च दृशः मोहस्य कर्मणः**) चारित्र मोह और दर्शनमोह कर्म के (**उदयात् अस्ति**) उदय से हो रहा है।। 1026।।

(**यथासूत्रम् तत्र उल्लेखः**) इस विषय में शास्त्रानुसार उन औदयिक भावों के स्वरूप का उल्लेख ऐसा है कि (**शरीरिणां**) जीवों के (**दृङ्मोहस्य उदये सति**) दर्शनमोहनीय के उदय होने पर (**तत्त्वस्य अप्रतिपत्तिः**) तत्त्वों का अश्रद्धान (**वा**) अथवा (**मिथ्यापत्तिः**) विपरीत श्रद्धान होता है।। 1027।।

(**अर्थात्**) वास्तव में (**दृग्विपर्ययात्**) मिथ्यात्व के उदय से (**आत्मप्रदेशेषु**) आत्मा के प्रदेशों में (**कालुष्यं स्यात्**) एक प्रकार की कलुषता उत्पन्न होती है और (**तत्**) वह कलुषता (**मिथ्याजात्यनतिक्रमात्**) मिथ्याजाति को लिए हुए (**परिणतिमात्रं स्यात्**) केवल परिणति ही है।। 1028।।

परन्तु (**तत्र सामान्यमात्रत्वात् वक्तुं अशक्यता अस्ति**) वह मिथ्यात्व सामान्यरूप होने से वचनगोचर नहीं किया जा सकता है (**ततः**) इसलिए (**संक्षेपात्**) संक्षेप से (**बुद्धिपूर्वकं तल्लक्षणं वच्मि**) बुद्धिपूर्वक होने वाले विशेष मिथ्यात्व के ही लक्षण को कहता हूँ।। 1029।।

(**स्वसंवेदनसिद्धत्वात्**) स्वसंवेदन गोचर होने से (**युक्तिस्वानुभवागमैः**) युक्ति स्वानुभव और आगम के द्वारा (**तत्र निर्विशेषात्मके**) उस सामान्य मिथ्यात्व की सिद्धि के विषय में (**हेतोः असिद्धता न स्यात्**) दिया हुआ हेतु असिद्ध नहीं हो सकता है।। 1030।।

यद्यपि (**इह**) जगत में (**सर्वसंसारिजीवानां निरन्तरम् मिथ्याभावः अस्ति**) सब ही संसारी जीवों के निरन्तर सामान्यरूप से मिथ्यात्वभाव रहता है तथापि (**केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः विशेषोपयोगि स्यात्**) किन्हीं संज्ञी जीवों का मन मिथ्यात्व के विशेषों के विषय करने में उपयोगवान हो सकता है।। 1031।।

(**तेषां संज्ञिनां वा मनः नूनं अनवस्थितं अस्ति**) उन संज्ञियों का भी मन निश्चय से किसी एक विषय में स्थिर नहीं होता है इसलिए कदाचित् कभी-कभी (**मिथ्याभावार्थ-भूमिषु**) मिथ्याभावों के विषय में (**सोपयोगि स्यात्**) उपयोगवान् होता है।। 1032।।

(**ततः**) इसलिए (**न्यायागतः**) न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि (**जन्तोः मिथ्याभावः**) जीवों के मिथ्यात्व (**निसर्गतः एव**) स्वभाव से ही (**दृङ्मोहस्य उदयात्**) दर्शन मोहनीय के उदय से (**प्रवाहवत् वा वर्तते**) प्रवाह के समान सदैव पाया जाता है।। 1033।।

और (**तदुदयस्य**) मिथ्यात्व के उदय का (**यत्कार्य**) जो कार्य है वह (**उच्चैः प्रत्यक्षात् सिद्ध एव**) अच्छी तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है क्योंकि (**अन्यथा**) यदि मिथ्यात्व का उदय न होता तो (**आत्मनः स्वरूपानुपलब्धिः कथं स्यात्**) आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि क्यों न पायी जाती ?।। 1034।।

(**स्वरूपानुलब्धौ तु**) स्वरूप की अनुपलब्धि में ही तो (**कर्मणः महान् बन्धः स्यात्**) कर्मों का महाबन्ध होता है (**एवं शक्ति मात्रं तु अत्र**) इस प्रकार स्वरूप की उपलब्धि न होने देने की शक्तिमात्र मिथ्यात्व के उदय में है, यह यहाँ (**सुदृष्टिभिः वेदितव्यं**) सम्यग्दृष्टियों को समझना चाहिए।। 1035।।

(**अत्र**) मिथ्यात्व की शक्ति के विषय में (**इत्थं एवं एवं**) मिथ्यात्व ऐसा है, ऐसा है इत्यादि को बताने के लिए (**प्रसिद्धेः अपि भास्वद्भिः**) प्रसिद्ध और ज्वलन (**दृष्टांतकोटिभिः**) करोड़ों दृष्टांतों से भी (**अलं**) क्या लाभ है ? क्योंकि (**वस्तुशक्तयः शलंघ्याः स्यात्**) वस्तु की शक्तियाँ/ पदार्थ के स्वभाव दुर्लंघ्य होते है।। 1036।।

भावार्थ :- वह मोहसम्बन्धी औदयिक भाव अनादि सन्तान क्रम से सदैव दर्शन तथा चारित्रमोह कर्म के उदय से संसारी आत्मा के हो रहा है। आगमानुसार उसी दर्शनमोह के उदय से जीव के तत्त्वों का अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान होता है।

मिथ्यात्व के उदय से वास्तव में दर्शन गुण में जो विपर्ययपना होता है उससे आत्मा में एक इस प्रकार का कालुष्य उत्पन्न होता है जो कि आत्मा की परिणतिमात्र को मिथ्यारूप बनाये रखता है।

मिथ्यात्व भाव दो प्रकारका है - 1. सामान्य और 2. विशेष। उनमें सामान्य मिथ्यात्व का स्वरूप तो सामान्यात्मक होने से कहा नहीं जा सकता है। केवल विशेष का ही उल्लेख किया जा सकता है, इसलिए उस विशेष मिथ्यात्व के स्वरूप को कहता हूँ।

वह सामान्य मिथ्यात्व स्वानुभवगोचर है, इसलिए उसकी सिद्धि में दिए हुए हेतु युक्ति, स्वानुभव तथा आगम के द्वारा बाधित नहीं हो सकते हैं।

व्यापक को सामान्य और व्याप्य को विशेष कहते हैं, जो अधिक में रहे उसको व्यापक तथा जो थोड़े में रहे उसको व्याप्य कहते हैं जैसे कि मनुष्यत्व और वैश्यत्व। इसी प्रकार मिथ्यात्वभाव भी सामान्य तथा विशेषरूप से कहा जा सकता है। **एकेन्द्रियादि से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जो मिथ्यात्वभाव पाया जाता है वह सामान्यरूप से मिथ्यात्वभाव है। इसी का दूसरा नाम अज्ञान मिथ्यात्व है तथा एकान्त, विपरीत, विनय व संशय ये सब विशेष मिथ्यात्व कहे जाते हैं। ये चारों ही मिथ्यात्व एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक बिलकुल सम्भव नहीं होते हैं। केवल संज्ञीपंचेन्द्रियों में किन्हीं-किन्हीं विशेष संज्ञी प्राणियों के ही सम्भव होते हैं सो भी कदाचित् और शेषों के तो अज्ञान मिथ्यात्व ही रहता है अर्थात् एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी व सर्वथा धर्म कर्म विहीन अमोघ मनुष्यों के भी अज्ञान मिथ्यात्व रहता है। इस प्रकार सामान्य मिथ्यात्व-अज्ञान मिथ्यात्व व्यापक है और निरन्तर रहता है।**

कभी-कभी किन्हीं संज्ञियों के विशेष मिथ्यात्व के कहने का कारण यह है कि मन चंचल है इसलिए वह सदैव विपरीत भावों की तरफ उपयुक्त नहीं रहता है, किन्तु संशयादिक में भी उपयुक्त रहता है। अतः सामान्यरूप से पाये जाने वाला वचन अगोचर अज्ञान मिथ्यात्व ही उनके सदैव रहता है। यह समझना चाहिये।

अतएव यह सिद्ध होता है कि संसारी जीव के अनादिकाल से दर्शनमोह के उदय के कारण सामान्य मिथ्यात्व भाव का प्रवाह सदैव पाया जाता है और विशेष मिथ्यात्व का प्रवाह कदाचित् रहता है।

और उस मिथ्यात्व के उदय का फल प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, कारण कि यदि मिथ्यात्व का उदय न होता तो आत्मा के स्वस्वरूप की उपलब्धि होना चाहिए, परन्तु संसारी जीवों के वह कभी भी नहीं पाई जाती है इसलिए सिद्ध होता है कि उनके मिथ्यात्व का उदय सदैव रहता है।

मिथ्यात्व के उदय से स्वस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है और स्वरूप की उपलब्धि के न होने से बन्ध होता है।

शंका

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम्।। 1037॥

समाधान

अथ तत्रापि केषांचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृति संस्थितः।। 1038।।
अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयाऽपि च।। 1039।।
आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादि क्रमादिह।। 1040।।
अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादैकेकमालापं प्रत्यनंताच शक्तयः।। 1041।।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक्।। 1042।।
कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बंधकार्य पुनः क्षणात्।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जंति यथोदयात्।। 1043।।

मोह भाव ही सभी जीव को बन्धन के कारण होते।
कोइ भाव क्यों एक जीव में अन्य जीव में क्यों नहिं होते।। 1802।।
कोई संज्ञी जीवों को वह बुद्धिपूर्वक होता है।
मिथ्या आकारों में स्थित वह गृहीत कहलाता है।। 1803।।
मोह जाति का उल्लंघन नहिं अतः मोह का एक प्रकार।
असंख्य लोक प्रमाण भेद हैं बहु आलाप अपेक्षा से।। 1804।।
जो है एक स्वरूप वही आलाप अनेक प्रकार कहा।
ज्यों क्रमशः एकान्त और विपरीतादिक मिथ्यात्व प्रकार।। 1805।।
अथवा शक्ति अनन्तरूप भी स्वाभाविक है मिथ्याभाव।
क्योंकि शक्ति अनन्त विवक्षित धारक एक एक आलाप।। 1806।।

परिणामी में शक्ति-भेद से मध्यम जघन और उत्कृष्ट।
प्रतिक्षण पृथक् पृथक् उत्पन्न सदा होते औदायिक भाव।। 1807।।
अपना बन्ध-स्वरूप कार्य उत्पन्न करें फिर क्षण भर में-
हो जाते हैं अस्त और उदयानुसार फिर होते अन्य।। 1808।।

अन्वयार्थ :- (**सर्वे भावाः जीवमयाः**) जबकि सब ही भाव जीवमय हैं तो (**एकत्र व्यापकः बन्धसाधकः दृष्टान्तः कस्मात्**) कहीं पर कोई एक भाव व्यापकरूप से बन्ध का साधक दृष्टान्त क्यों होता है और (**अन्यत्र अव्यापकः कथं**) कहीं पर कोई एक भाव व्याप्यरूप से बन्ध का साधक होता है - ऐसा क्यों कहा जाता है ?।। 1037।।

(**अथ तत्रापि**) और उसमें व्यापकरूप से बन्ध के साधक भावों में भी (**केषांचित् संज्ञिनां**) किन्हीं-किन्हीं संज्ञी प्राणियों के (**मिथ्यार्थाकृति संस्थितः**) वस्तु के स्वरूप को मिथ्या आकार में गृहीत करने वाला मिथ्या आकार में अपनी स्थिति रखनेवाला (**गृहीताख्यः**) गृहीत नामक (**बुद्धिपूर्वकः मिथ्याभावः**) बुद्धिपूर्वक मिथ्याभाव (**अस्ति**) होता है।। 1038।।

(**इह**) यहाँ पर (**जातेरनतिक्रमात्**) अपनी जाति को उल्लंघन न करके (**अर्थात्**) वास्तव में (**सः एकविधः च**) वह गृहीत मिथ्यात्व एक प्रकार का ही है अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से एक प्रकार का होकर भी (**आलापापेक्षया**) विशेष आलापों की अपेक्षा से (**लोकासंख्यातमात्रः अपि स्यात्**) लोकासंख्यात मात्र भी है।। 1039।।

और (**इह**) यहाँ पर (**यः आलापः**) जो आलाप (**एक जातिः अपि**) यद्यपि सामान्य की अपेक्षा से एकरूप है तो भी (**अनेकधा नानारूपः अपि**) विशेष की अपेक्षा से अनेक प्रकार का होने से वह नानारूप भी कहा जाता है (**यथा**) जैसे कि सामान्यरूप से जो गृहीत मिथ्यात्व एकरूप का है वही (**क्रमात् एकांतः विपरीतः च इत्यादि**) विशेष की अपेक्षा से क्रमपूर्वक एकांत, विपरीत इत्यादि नानारूप कहा जा सकता है, इसीलिए एकांत आदिक के आलाप मिथ्यात्व कहे जाते हैं। ऐसे मिथ्यात्व के आलाप लोक के असंख्यात भाग हो सकते हैं।। 1040।।

(**अथवा**) अथवा (**मिथ्याभावः**) मिथ्यात्व (**निसर्गतः**) स्वभाव से ही (**शक्तितः**) अपनी शक्ति की अपेक्षा से (**अनन्तः**) अनन्त है (**यस्मात्**) क्योंकि (**एकैकं आलापं प्रति**) प्रत्येक आलाप के प्रति (**अनन्ताः शक्तयः च**) अनन्त शक्ति विवक्षित होती है।। 1041।।

(**जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैः**) अपने जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भावों के द्वारा (**परिणामिनः वा**) परिणामी द्रव्य की (**शक्तिभेदात्**) शक्तियों की अपेक्षा से मिथ्यात्वादि औदयिक भाव (**क्षणम् यावत्**) प्रतिसमय (**पुनः पृथक् उन्मज्जन्ति**) बार बार तरतमरूप को लिये हुए

पृथक्रूप से उदित होते हैं और (**स्वकार्यत्वात्**) बन्ध का कार्य होने से (**बन्धकार्यम्**) बन्ध के कार्य को (**कारम् कास्म**) पुनः पुनः करके (**पुनः क्षणात्**) फिर क्षण भर में ही (**निमज्जन्ति**) वे मिथ्यात्वादि औदयिक भाव अस्त हो जाते हैं (**पुनः च**) तथा (**यथोदयात्**) अपने अपने उदयानुसार (**अन्ये प्रोन्मज्जन्ति**) दूसरे भाव उदय को प्राप्त होते हैं – यह क्रम सदैव जारी रहता है।। 1042–1043।।

भावार्थ :– शंकाकार का कथन है कि जब सब ही भाव जीवमय है तो फिर क्यों औदयिक भावों से केवल मिथ्यात्वभाव का ही दृष्टान्त व्यापकरूप से बन्ध का साधक कहा जाता है और इतर भावों के दृष्टान्त क्यों व्याप्यरूप से ही बन्ध के साधक कहे जाते हैं।

उक्त शंका का समाधान आगे अथ इत्यादि पद्यों से करते हैं कि मिथ्यात्व को ही व्याप्यरूप से बन्धसाधक मानने में युक्ति यह है कि कितने ही संज्ञी प्राणियों के मिथ्याकार में परिणत बुद्धिपूर्वक गृहीत नामक मिथ्यात्व पाया जाता है।

वह मिथ्यात्व, मिथ्यात्व जाति की अपेक्षा से एक होकर भी उत्तरोत्तर भेद प्रभेदों की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है।

जो आलाप सामान्य की अपेक्षा एक है वही अपने विशेषों की अपेक्षा नानारूप भी है अर्थात् मिथ्यात्व, सामान्य की अपेक्षा यद्यपि एक है, तथापि अपने विषयभेदादिक की अपेक्षा से एकान्त विपरीत आदि रूप से नाना प्रकार भी कहलाता है। इसलिए एकान्त आदि मिथ्यात्व के लोकासंख्यात आलाप हो सकते हैं।

अथवा मिथ्याभाव अपने अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तियों की अपेक्षा से अनन्त भी है, क्योंकि मिथ्यात्व के प्रत्येक आलाप में अनन्त–अनन्त अविभागों के लिए हुए शक्तियाँ रहती हैं।

अपने–अपने जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशों के द्वारा परिणमनशील आत्मा में औदयिक भाव प्रतिसमय अपने–अपने भावों के उदयानुसार उदय तथा अस्त को प्राप्त होते रहते हैं, इसी प्रकार अन्य औदयिक भाव भी समझना चाहिए।

बुद्धिपूर्वक/गृहीत मिथ्यात्व

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणालक्षितं यथा।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात्।। 1044।।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यै ज्ञातुं शक्या न चान्यथा।। 1045।।

दर्शितेष्वेपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम्।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि।। 1046।।
ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात्।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा।। 1047।।
स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट्।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित्।। 1048।।
नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चेकपदे च यत्।
स्याद्वानेति विरुद्धत्वात्संशयं कुरुते कुदृक्।। 1049।।
अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्म कर्मसु।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम्।। 1050।।
अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात्।। 1051।।
धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात्।। 1052।।
सिद्धमेतन्नुतेभावाः प्रोक्तायेऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात्परम्।। 1053।।
यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
स स्याद्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात्।। 1054।।
एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः।। 1055।।

बुद्धिपूर्वक मिथ्यादर्शन का यह लक्षण कहा गया-
जीवादिक का अश्रद्धान अथवा विपरीत हुआ श्रद्धान।। 1809।।
पहले ही जो कहे गए वे सूक्ष्म अन्तरित अरु दूरार्थ।
जिनवाणी द्वारा जाने जा सकते हैं अन्यथा नहीं।। 1810।।
स्याद्वादियों द्वारा वे अत्यन्त स्पष्ट सुदर्शित हैं।
किन्तु मोह कर्मोदय से उनका श्रद्धान नहीं करता।। 1811।।

जैसे मुक्त जीव के ज्ञानानन्द निरन्तर रहते हैं।
देह और इन्द्रियों बिना भी कहे - किन्तु वह शंकित है।। 1812।।
जीवादिक षट् द्रव्य जगत में स्वयं सिद्ध हैं वास्तव में।
कहे जिनागम में किन्तु वह 'हैं' या 'नहिं' संशय करता।। 1813।।
नित्यानित्य स्वरूप एक ही तत्त्व कहा जिन आगम में।
यह विरुद्ध होने से 'है या नहीं' मूढ़ संशय करता।। 1814।।
सभी कर्म-नोकर्म आदि जो पर-पदार्थ हैं वह उनमें।
यह मैं हूँ - ऐसी बुद्धि जो दर्श-मोह की चेष्टा है।। 1815।।
देव-बुद्धि होती अदेव में और अगुरु में गुरु-बुद्धि।
धर्म-बुद्धि होती अधर्म में दर्श-मोहनी उदय प्रभाव।। 1816।।
धन-धान्यादि और सुत वाञ्छा से मिथ्यादेवादिक की-
सेवा अरु कुत्सित कार्यों को करता यह मिथ्यात्व प्रभाव।। 1817।।
सिद्ध हुआ कि चारों गति में जो औदायिक भाव कहे।
वे सब भी दर्शन एवं चारित्र-मोह से होते हैं।। 1818।।
और जहाँ अन्यत्र कहीं भी बुद्धिपूर्वक होता राग।
वह दर्शन-चारित्र मोह से अथवा किसी एक से हो।। 1819।।
इस प्रकार चारों गति में जो होते हैं औदायिक भाव।
मोह कर्म के उदयरूप एवं बन्धन के कारण हैं।। 1820।।

अन्वयार्थ :- (**लक्षणात्**) लक्षणरूप से (**बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वम् लक्षितम्**) बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का लक्षण यह किया गया है (**यथा**) जैसे कि (**जीवादीनां अश्रद्धानम्**) जीवादिक सप्त पदार्थों का श्रद्धान न होना (**वा**) अथवा (**विपर्ययात् श्रद्धानम्**) विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व कहलाता है।। 1044।।

(**अत्रापि प्रागेव दर्शिताः**) इस ग्रन्थ में भी पहले जिनका स्वरूप बताया गया है ऐसे (**सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः**) परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थ, राम रावणादिक सुदीर्घ अतीत कालवर्ती पदार्थ और मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ (**नित्यं**) सदैव (**जिनोदितैः वाक्यैः**) जिनवाणी के द्वारा ही (**ज्ञातुं शक्याः**) जाने जा सकते हैं किन्तु (**अन्यथा न च**) अन्यथा नहीं जाने जा सकते हैं।। 1045।।

परन्तु (**स्याद्वादिभिः जैनैः**) स्याद्वादी जैन आचार्यों के द्वारा (**तेषु**) उन सूक्ष्म अन्तरित और

दूरवर्ती पदार्थों को **(उच्चैः स्फुटं दर्शितेषु अपि)** अच्छी तरह स्पष्ट रीति से समझाये जाने पर भी आगम के द्वारा सिद्ध किये जाने पर भी यह **(अधीः)** अज्ञानी जीव **(मिथ्याकर्मोदयात् एव)** मिथ्यात्व कर्म के उदय से ही **(तान्)** उन पदार्थों का **(न स्वीकरोति)** श्रद्धान नहीं करता है।। 1046।।

(यथा) जैसे कि **(ज्ञानानन्दौ)** अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख **(मुक्तात्मनः)** मुक्त जीव के **(अक्षशरीरेभ्यः विना अपि)** इंद्रिय तथा शरीर के बिना भी **(अन्वयात् स्यातां)** अन्वयरूप से रहते हैं - ऐसा **(यत्)** जो आगम में **(प्रोक्तं)** कहा है **(तत्)** वह कथन **(अस्ति वा न वा)** न मालूम ठीक है या नहीं इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव संशय करता है।। 1047।।

(किल) निश्चय से **(जीवादीनि षट् द्रव्याणि)** जीवादिक छहों ही द्रव्य **(स्वतः सिद्धानि)** स्वत:सिद्ध हैं **(इति)** इस प्रकार **(यत्)** जो **(जैनागमे मोक्तं)** जैनागम में कहा गया है **(तत् स्यात् वा न)** यह न मालूम ठीक है या नहीं इस तरह से **(अनात्मवित् इच्छेत्)** मिथ्यादृष्टि जीव संशय करता है।। 1048।।

(यत्) जो **(एकं च तत्त्वं नित्यानित्यात्मकं)** एक ही तत्त्व नित्यात्मक और अनित्यात्मक माना गया है वह **(एकपदे विरुद्धत्वात् स्यात् यान)** एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध होने से न मालूम ठीक है या नहीं **(इति)** इस प्रकार **(कुदृक्)** मिथ्यादिृष्ट जीव **(संशयं कुरुते)** संशय को करता है।। 1049।।

(यावत् नोकर्मकर्मसु) सम्पूर्ण नोकर्म और कर्मरूप **(अनात्मीयभावेषु अपि)** पर-पदार्थों में भी **(अहं आत्मा)** मेरी आत्मा है **(इति)** इस प्रकार की **(या बुद्धिः)** जो बुद्धि होती है, वह सब **(दृङ्मोहस्य विजम्भितं)** दर्शनमोहनीय के उदय की ही चेष्टा है-करामात है।। 1050।।

(दृङ्मोहस्य अनुशासनात्) दर्शनमोहनीय के असर/प्रभाव से ही **(इह)** इस जगत में मिथ्यादृष्टि जीवों की **(अदेवे देवबुद्धिः)** कुदेव में देवबुद्धि **(अगुरौ गुरुधीः)** कुगुरु में गुरु-बुद्धि और **(अधर्मे धर्मवत् ज्ञानं)** अधर्म में धर्म बुद्धि **(स्यात्)** होती है।। 1051।।

(मोहशासनात्) मिथ्यात्व के उदय के प्रभाव से यह जीव **(दुराशयः)** थोड़े-थोड़े अभिप्रायों को हृदय में धारण करके **(धनधान्यसुनाद्यर्थं)** धन-धान्य तथा पुत्रादिक की प्राप्ति के लिए **(मिथ्यादेवं सेवते)** झूठे देवों की/कुदेवों की सेवा करता है **(वा)** और **(कुत्सितं कर्म कुर्यात्)** खोटी क्रियाओं को भी करता है।। 1052।।

(तु) विचार करने पर **(एतत् सिद्धं)** यह सिद्ध होता है कि **(गतिच्छलात्)** गति मुख से गति के बहाने से **(ये अपि भावाः प्रोक्ताः)** जो भाव कहे गये हैं **(औदयिकाः ते अपि)**

औदायिक वे चारों गति नामक भाव भी **(अर्थात्)** वास्तव में **(परं मोहद्वैतोदयात्)** केवल दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से होते हैं, केवल गतिनामकर्म के उदय से नहीं होते हैं।। 1053।।

(यत्र कुत्र अपि अन्यत्र वा) जहाँ कहीं अन्यत्र भी अर्थात् किसी भी दशा में जो **(बुद्धिपूर्वकः रागांशः)** बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है **(सः)** वह केवल **(द्वैविध्यमोहस्य पाकात्)** दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से **(वा)** अथवा **(अन्यतमोदयात्)** किसी एक के उदय से ही **(स्यात्)** होता है।। 1054।।

(एवम्) इस प्रकार **(गतिसंश्रिताः)** गति को आश्रय करके होने वाले **(चत्वारः औदयिकाः भावाः)** चारों ही औदयिक भाव **(मोहकर्मोदयात्मकाः)** मोहनीय कर्म के उदयरूप है और इसलिए वे **(केवलं बन्धकर्तारः)** केवल बन्ध के ही करने वाले हैं।। 1055।।

भावार्थ :- बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व का लक्षण यह है कि जीवादिक सात पदार्थों के अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान का करना। सूक्ष्मादिक पदार्थ इन्द्रियों के गोचर नहीं होते हैं, इसलिए वे केवल जिनागम के द्वारा ही जाने जाते हैं अन्यथा नहीं, परन्तु मिथ्यादृष्टियों को जैनागम के द्वारा उन सूक्ष्मादि पदार्थों के दर्शाए जाने पर भी उनके विषय में यथार्थ श्रद्धान नहीं होता है।

मुक्तात्मा के शरीरादिक के बिना ही अन्वयरूप से अविच्छिन्न प्रवाहरूप से सदैव ज्ञान और सुख पाये जाते हैं - ऐसा जो जैनागम में कहा है उसके विषय में भी मिथ्यादृष्टि जीवों को निरन्तर संशय बना रहता है।

जैनागम में छहों ही द्रव्यों को स्वतःसिद्ध माना है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवों को उनके विषय में भी सदैव संशय बना रहता है।

जैनागम में एक ही पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक होने से नित्यानित्यात्मक माना है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीवों को परस्पर विरोधी दो धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं, इसका अनुभव न होने से उसके विषय में सदैव संशय रहता है।

दर्शनमोहनीय के उदय से ही मिथ्यादृष्टि की शरीरादिरूप नोकर्मात्मक भावों में और रागादिरूप कर्मात्मक भावों में आत्मत्व बुद्धि होती है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कर्म-नोकर्म को ही-रागादिक को ही आत्मा मानते हैं।

मिथ्यात्व के उदय से ही जीवों की कुदेवों में देवबुद्धि, कुगुरुओं में गुरुबुद्धि तथा कुधर्मों में धर्मबुद्धि होती है। मिथ्यादृष्टि जीव ही धन-धान्यादिक ऐहिक सुखों की प्राप्ति के लिए मिथ्यादेवों को पूजते हैं तथा इसी तरह अन्य मिथ्यात्व-पोषक क्रियाएँ करते हैं।

उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जो गति नामक चार औदयिक भाव माने गये है उन औदयिक भावों में भी दर्शनमोह और चारित्रमोह का उदय ही यथासम्भव कारण है। केवल गतिनामक नामकर्म का उदय नहीं है, क्योंकि मोह के उदय के बिना किसी अन्य कर्म के उदय से होने वाले औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं होते हैं।

जहाँ कहीं भी जो कुछ बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है, वह सब में किसी न किसी मोह के उदय का ही कार्य समझना चाहिये, इतर कर्म का नहीं।

इस प्रकार चारों गतिरूप औदयिक भाव भी मोहोदयात्मक होने से मोह के समान केवल बन्ध के ही जनक हैं।

कषायों के भेद और उनका कारण

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदायकाः स्मृताः।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात्।। 1056।।
ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश।
पंचविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः।। 1057।।
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः।। 1058।।
अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रं त्वं मोहकर्मोदयादिह।। 1059।।
तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्विविधो भवेत्।
पुद्गलो द्रव्यरूपोऽस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः।। 1060।।
अस्त्येकं मूर्तिमद् द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः।
वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः।। 1061।।
पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि।। 1062।।

चारों कषाय भी जीवों के औदायिक भाव कहे जाते।
क्रोधमान अरु माया लोभ नाम से ये जाने जाते।। 1821।।
अपने उत्तर भेदों से ये सोलह भेद कहे जाते।
पच्चिस एवं असंख्यात लोक प्रमाण भी ये होते।। 1822।।

अथवा शक्ति अनन्त भेद होते कषाय कल्मष परिणाम।
क्योंकि एक-एक भेदों में शक्ति अनन्त कही जाती।। 1823।।
शुद्धत्व शक्ति से युक्त जीव का चारित गुण भी होता है।
चरित-मोहनी कर्मोदय से उसमें विकृति होती है।। 1824।।
द्रव्यरूप चारित्र-मोह पुद्गल है, भावरूप चेतन।
इसीलिए चारित्र-मोह भी दो प्रकार का होता है।। 1825।।
छह द्रव्यों में एक मूर्तिक पुद्गल नामक द्रव्य कहा।
वह विकृत होकर चारित्र-मोहरूप परिणित होता।। 1826।।
द्रव्य-मोह पौद्गलिक अचेतन पृथ्वी-पिण्ड समान कहा।
यद्यपि यह पुदगल है, आत्मा नहीं किन्तु दोनों का बन्ध।। 1827।।

अन्वयार्थ :- (**क्रोधः**) क्रोध (**मानः**) मान (**माया**) माया (**अथ च**) और (**लोभश्च**) लोभ (**इति चतुष्टयात्**) इस प्रकार के चतुष्टय से (**चत्वारः कषायाः अपि च**) चारों कषाय भी (**जीवस्य औदयिकाः स्मृताः**) जीव के औदयिक भाव माने गये हैं (**च**) और (**अत्र**) जैनागम में (**ते च**) वे चारों ही कषाय (**आत्मोत्तरभेदैः नामतः**) अपने उत्तर भेदों के नाम से (**षोडश**) सोलह (**अपि**) तथा (**पञ्चविंशतिकाः**) पच्चीस माने गये हैं (**अपि च**) और अपने उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से (**लोकासंख्यातमात्रकाः**) असंख्यात लोक प्रमाण भी माने गये हैं (**अथवा**) अथवा (**कल्मषात्मकाः कषायाः**) पापरूप वे कषाय (**शक्तिताः अनन्ताः**) शक्ति की अपेक्षा से अनन्त भी हैं (**यस्मात्**) क्योंकि (**एकैकं आलापं प्रति**) प्रत्येक कषाय के एक-एक आलाप में (**अनन्ताः च शक्तयः भवन्ति**) अनन्त शक्तियाँ होती हैं।। 1056-1057-1058।।

(**जीवस्य**) जीव का (**शुद्धत्वशक्तिमान्**) शुद्धपने की शक्ति की योग्यता रखने वाला (**चारित्रं गुणः अस्ति**) चारित्र नाम का एक गुण है परन्तु (**इह**) इन कषायों में (**सः**) वह चारित्र गुण (**चारित्रमोहकर्मोदयात्**) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से (**विकृतः अस्ति**) विकार को प्राप्त हो रहा है।। 1059।।

(**तस्मात्**) इसलिए (**तद्भेदात्**) चारित्रमोह के द्रव्य और भाव - ऐसे दो भेद होने से (**चारित्रमोहश्च**) चारित्रमोह भी (**द्विविधः भवेत्**) दो प्रकार का होता है, उनमें से (**द्रव्यरूपः**) द्रव्यरूप चारित्रमोह (**पुद्गलः अस्ति**) पुद्गलात्मक है तथा (**भावरूपः**) भावरूप चारित्रमोह (**चिन्मयः अस्ति**) चेतनामय होता है।। 1060।।

(**एकं मूर्तिमत् द्रव्यं अस्ति**) छह द्रव्यों में एक मूर्तिमान द्रव्य है और (**सः**) यह (**नाम्ना**

पुद्गलः ख्यातः) नाम से पुद्गल कहलाता है परन्तु (**सः**) वह (**वैकृतः**) रागादिक भावों के निमित्त से विकृत होकर (**चारित्रमोहरूपेण संस्थितः अस्ति**) द्रव्य-चारित्रमोहरूप अवस्था को प्राप्त होता है।। 1061।।

(**अखिलः**) सब ही (**पौद्गलिकः मोहः**) द्रव्य मोह (**पृथ्वीपिण्डसमानः स्यात्**) पृथ्वीपिण्ड की तरह अचेतन है (**अपि**) और यद्यपि (**सः स्वयं पुद्गलः**) वह स्वयं पुद्गल ही है (**आत्मा न**) आत्मा नहीं है तथापि (**द्वयोः मिथः बन्धः**) दोनों का परस्पर में बन्ध होता है।। 1062।।

भावार्थ :- सामान्यरूप से कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ - इस तरह चार भेद होते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ; इस तरह सोलह भेद हो जाते हैं तथा इन सोलह भेदों में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद इन नौ नोकषायों को मिला देने से पच्चीस भेद हो जाते हैं; तथा कषायाध्यवसाय स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं और अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा से कषाय के प्रत्येक आलाप में अनन्त भेद हो सकते हैं, इसलिए अविभाग प्रतिच्छेदों के तरतमभाव की अपेक्षा से कषाय के अनन्त भी भेद हो जाते हैं।

आत्मा का जो चारित्र नाम का गुण है वही चारित्र मोह के उदय से विकृत होकर कषाय कहलाता है।

चारित्रमोह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से द्रव्य-चारित्रमोह पुद्गलात्मक है तथा भाव-चारित्रमोह रागादिरूप चेतनात्मक है।

छह द्रव्यों में एक पुद्गल नाम का द्रव्य है, परन्तु वह पुद्गल द्रव्य कार्माणवर्गणारूप चारित्रमोह के उदय से विकृत हो जाता है और आत्मा के चारित्रमोह के उदय से आकर्षित होकर कषाय के निमित्त से यथायोग्य चारित्रमोह की संज्ञा को धारण करता है। पुद्गलों के तेईस भेद हैं, उनमें एक कार्माण वर्गणा भी है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पुद्गल स्वयमेव कार्माण वर्गणारूप परिणत होते हैं, परन्तु उनमें जब आत्मा के रागादिक भावों के द्वारा बन्ध्य-बन्धकता होती है, तब ज्ञानावरणादिक नाम पड़ता है, इसलिये वह चारित्रमोह से विकृत हो जाता है - ऐसा कहा जाता है।

यद्यपि द्रव्यमोह मिट्टी आदिक के समान अचेतन है और आत्मा चेतन है अर्थात् भिन्न-जातीय है। तथापि योग और कषाय के निमित्त से लोहा तथा चुम्बक के समान, आकर्ष्य-आकर्षण भाव होने के कारण इन दोनों का परस्पर में बन्ध होता है।

भावमोह और उसका कार्य

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्‌गलिकस्य कर्मणः।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते।। 1063।।
जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम्।। 1064।।
अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम्।। 1065।।
अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम्।। 1066।।

पुद्‌गलमय दर्शन अरु चारित-मोहनीय कर्मोदय से।
होने वाले सभी भाव है भाव-मोह इस चेतन के।। 1828।।
जल में काई के समान ये भाव-मोह हैं मैल स्वरूप।
भाव-मोह ही आठों कर्मों के बन्धन के कारणरूप।। 1829।।
सभी अनर्थों का कारण भी भाव-मोह ही कहा गया।
सब अनर्थ का मूल आठ कर्मों का कारण कहा गया।। 1830।।
अशुचि, आत्मगुण घातक रौद्र दुखद है भाव-मोह परिणाम।
अधिक कहाँ तक कहें यही है सब विपदाओं का स्थान।। 1831।।

अन्वयार्थ :- (**पौद्‌गलिकस्य द्विविधस्य अपि मोहस्य कर्मणः**) पौद्‌गलिक पुद्‌गलरूप दोनों ही प्रकार के मोहनीय कर्म के (**उदयात्**) उदय से जो (**आत्मनः भावः**) आत्मा का भाव होता है (**सः**) वह (**भावमोहः उच्यते**) भाव-मोह कहलाता है।। 1063।।

(**जले जम्बालवत्**) जल में शैवाल की तरह/काई की तरह (**नूनम्**) निश्चय से (**सः**) वह (**भावः**) औदायिक भाव-मोह ही (**मलिनः भवेत्**) मलिन होता है (**च**) और (**अद्वैतः स एव**) एक वह भाव-मोह ही (**अष्टकर्मणां**) आठों कर्मों के (**बन्धहेतुः स्यात्**) बन्ध का कारण होता है।। 1064।।

(**च**) और (**यावत् अनर्थानां अपि**) सम्पूर्ण अनर्थों का भी (**स एव एकः मूलं**) एक वह भाव-मोह ही मूल कारण है (**यस्मात् अनर्थमूलानां कर्मणां**) क्योंकि वह अनर्थों के मूल कारण जो आठों कर्म हैं, उन सबका (**आदिकारणं**) आदिकारण है।। 1065।।

(**च**) तथा (**सः**) वह भाव-मोह (**अशुचिः**) अपवित्र (**घातकः**) आत्मा के गुणों का घात करने वाला (**रौद्रः**) उदय काल में रौद्ररूप दिखाने वाला (**दुःखं**) दुःख का कारण और (**दुःख-फलं**) दुःखरूप फल को देने वाला है (**अत्र बहुना उक्तेन किं**) इस भाव-मोह के विषय में अधिक कहाँ तक कहा जाए, केवल वह भाव-मोह ही (**सर्वासां विपदां पदं**) सम्पूर्ण विपत्तियों का आस्पद है/स्थान है।। 1066।।

भावार्थ :- दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों प्रकार के मोह के उदय से जो आत्मा के मिथ्यादर्शन तथा कषायादिक विकार होते हैं उन्हें भावमोह कहते हैं।

जैसे जल में केवल शैवाल ही वास्तव में मलिन है, जल नहीं है वैसे ही वास्तव में केवल भाव-मोह ही मलिन है और मिथ्यात्व तथा रागादिरूप उस भाव-मोह के द्वारा ही आठों कर्मों का बन्ध होता है।

मोह के कारण ही सब कर्मों का स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध होता है, इसलिये वह मोह ही सर्व कर्मों का अथवा यावत् दुःखों का मूल कारण है।

केवल वह भाव-मोह ही अशुचि, घातक, रौद्ररूप, दुःख का कारण और दुःखरूप फल को देने वाला है। इसके विषय में अधिक कहाँ तक कहा जाए, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि वह भाव-मोह ही सम्पूर्ण आपदाओं का स्थान है।

भाव-मोह का कार्य-कारण भाव

कार्यं कारणमप्येष मोहो भावसमाह्वय।
सर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्त्रवसंचयात्।। 1067।।

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात्।। 1068।।

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद् भावोऽस्ति कारणम्।। 1069।।

विशेषः कोऽप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्व कर्मणाम्।। 1070।।

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः।
निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः।। 1071।।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः।। 1072।।
यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित्।। 1073।।
इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः।। 1074।।

भाव-मोह यह द्रव्य-मोह का कारण एवं कार्य स्वरूप।
पूर्वबद्ध का कार्य तथा नूतन कर्मास्त्रव का कारण।। 1832।।
पहले बाँधे गए द्रव्य-मोहनी कर्म के पाक समय।
निज सर्वस्व प्राप्त करता है अतः भाव यह कार्य स्वरूप।। 1833
उसी भाव के निमित मात्र से नूतन कर्मास्त्रव होता।
ज्ञानावरणादिक पुदगल द्रव्यों का यह कारण होता।। 1834।।
इसमें यह विशेषता है कि द्रव्य-मोहनी का यह कार्य।
किन्तु द्रव्य-मोहनी और सम्पूर्ण कर्म का है कारण।। 1835।।
ज्यों कुम्हार एवं घट में होता निमित्त-नैमित्तिक भाव।
वैसे जीव कर्म में भी है निमित और नैमित्तिक भाव।। 1836।।
अन्तरदृष्टि से देखें तो जीव-कर्म में नहिं सम्बन्ध।
मात्र कषायों और कर्म का है निमित्त-नैमित्तिक भाव।। 1837।।
क्योंकि जीव को ही यदि कर्मों का निमित्त माना जाये।
तो न्यायानुसार वह कर्ता नित्य बने, नहि मुक्त कभी।। 1838।।
इस प्रकार चारों कषाय ही कहे गए औदायिक भाव।
क्योंकि आत्मा के चरित्र गुण की ये हैं विकृत पर्याय।। 1839।।

अन्वयार्थ :- (**एषः भावसमाव्हयः मोहः कार्यं अपि**) यह भाव-मोह, द्रव्य-मोह का कार्य होकर के भी (**पूर्वबद्धानुवादेन प्रत्यग्राश्रवसंचयात् कारणं**) पूर्वबद्ध द्रव्य-मोह की अपेक्षा से ही नवीन द्रव्य-मोह का आस्त्रव होता है, इसलिए द्रव्य-मोह के लिए वह कारण भी है।। 1067।।

(**यदा**) जिस समय (**उच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः पाकात्**) अच्छी तरह से पूर्व में बाँधे गये द्रव्य-मोह कर्म के उदय से भाव-मोह (**लब्धात्मसर्वस्वः**) अपने सम्पूर्ण स्वरूप का

लाभ करता है उस समय वह (**ततः नयात्**) उस नय की अपेक्षा से (**कार्यरूपः**) कार्यरूप है और (**उच्चैः**) वास्तव में (**तं निमित्तमात्रीकृत्य**) उस कार्यरूप मोह-भाव के निमित्त से ही (**पुद्गलाः आगच्छन्ति**) ज्ञानावरणादिरूप कर्म-पुद्गल आते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**ज्ञानावृत्त्यादिरूपस्य**) ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य-पुद्गल के लिए (**भावः कारणं अस्ति**) वह भाव-मोह कारणरूप भी है।। 1068-1069।।

(**अयं कः अपि विशेषः**) भाव-मोह में यह कोई एक विशेषता है कि वह (**कार्य**) कार्य तो (**केवलं मोहकर्मणः**) केवल द्रव्य-मोह कर्म का है, परन्तु (**अस्य मोहस्य**) इस द्रव्य-मोह के (**अपि**) और (**सर्वकर्मणां**) सम्पूर्ण कर्मों के (**बन्धस्य**) बन्ध का (**कारणं**) कारण होता है।। 1070।।

(**ततः**) इसलिये (**यथा**) जिस प्रकार (**कुम्भकुलालयोः**) कुम्भ/घट और कुलाल में/ कुंभार में (**निमित्तनैमित्तिकःभावः अस्ति**) निमित्त तथा नैमित्तिक भाव है (**तथा**) उसी प्रकार (**जीवपुद्गलकर्मणोः**) जीव और पुद्गलात्मक कर्म में (**अन्योन्यं**) परस्पर (**निमित्त-नैमित्तिकः भावः अस्ति**) निमित्त-नैमित्तिकभाव है यह (**सिद्धं**) सिद्ध होता है।। 1071।।

(**अन्तर्दृष्ट्या**) अंतरंग दृष्टि से (**कषायां**) कषायों का (**च**) और (**कर्मणां**) कर्मों का (**परस्परं**) परस्पर में (**निमित्त-नैमित्तिकः भावः स्यात्**) निमित्त-नैमित्तिकभाव है, किन्तु (**जीवकर्मणोः न स्यात्**) जीव तथा कर्म का नहीं है।। 1072।।

(**यतः**) क्योंकि (**तत्र**) उनमें से (**जीवे स्वयं कर्मणां निमित्ते सति**) जीव को कर्मों का निमित्त मानने पर (**नित्या कर्तृता स्यात् इति**) जीव में सदैव ही कर्तृत्व का प्रसंग आवेगा (**च**) और फिर ऐसा होने से (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**कस्यचित् मोक्षः न**) किसी भी जीव को कभी भी मोक्ष नहीं होगा।। 1073।।

(**इत्येवं**) इस प्रकार (**ते चत्वारः अपि कषायाख्याः औदयिकाः स्मृताः**) वे चारों ही कषाय औदयिक माने गये हैं क्योंकि वे (**अस्य चारित्रस्य गुणस्य**) इस आत्मा के चारित्र गुण की (**वैकृतात्मनः पर्यायाः**) विकृत पर्यायें हैं।। 1074।।

भावार्थ :- यद्यपि रागादिरूप भाव-मोह द्रव्य-मोह का कार्य है, तथापि नवीन द्रव्य-मोह का आस्रव पूर्वबद्ध द्रव्य-मोहादिक के उदय से ही होता है, अतः द्रव्य-मोहादिक के लिये वह कारण भी है।

पूर्वबद्ध द्रव्य-मोह के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण भाव-मोह, द्रव्य-मोह का कार्य है तथा नवीन द्रव्य-मोहादिक के बँधने में कारण होने से वह भाव-मोह, द्रव्य-मोहादिक का कारण भी है।

भाव-मोह में यह एक खास विशेषता है कि यद्यपि वह केवल द्रव्य-मोह कर्म का ही कार्य है, तथापि वह द्रव्य-मोह और इतर सम्पूर्ण कर्मों के भी बन्ध में कारण होता है।

जिस प्रकार स्थूल दृष्टि से कुंभार और घट में निमित्त-नैमित्तिक भाव है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्‌गल में भी निमित्त-नैमित्तिक भाव है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कषाय और कर्म में ही निमित्त-नैमित्तिक भाव है। द्रव्यरूप जीव तथा कर्म में नहीं।

सूक्ष्मदृष्टि से यदि विचार किया जाय तो जीव द्रव्य के साथ कर्मों का निमित्त- नैमित्तिक भाव नहीं है, किन्तु केवल कषायों के साथ ही निमित्त-नैमित्तिक भाव मानना युक्तियुक्त है, कारण कि यदि जीव द्रव्य-कर्मों का निमित्त होता तो सिद्धावस्था में भी जीव के कर्मों का ग्रहण का प्रसंग आता और ऐसा होने से मुक्त अवस्था का सिद्ध होना भी असंभव हो जाता, परन्तु ऐसा होता नहीं है, इसलिए सिद्ध होता है कि जीव और कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

चारित्र मोह कर्म के उदय से आत्मा के चारित्र गुण की जो विकृत पर्यायें होती हैं, उन्हें ही कषाय नामक चार औदयिक भाव समझना चाहिये।

तीन वेदों का निर्देश और नोकषाय

लिंगान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात्किल।। 1075।।

चारित्रमोहकर्मैतद् द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम्।। 1076।।

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः।
हास्योरत्यरती शोकोभीर्जुगुप्सा त्रिलिंगकम्।। 1077।।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम्।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी।। 1078।।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिंगानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्।। 1079।।

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्‌गलिकमचिद्‌रूपं स्यात्पुद्‌गलविपाकि यत्।। 1080।।

अंगोपांगं शरीरं च तद्भेदौ स्तोप्यभेदवत्।
तद्विपाकात्त्रिलिंगानामाकाराः सम्भवन्ति च।। 1081॥

नोकषाय कर्मोदय से जो तीन लिङ्ग हैं कहे गए।
स्त्री पुरुष नपुंसक इनको भी जानो औदायिक भाव।। 1840।।
चरित-मोहनी कर्म कहा है दो प्रकार, परमागम में।
पहले को कषाय कहते अरु दूजा नोकषाय जानो।। 1841।।
उनमें भी हैं नोकषाय के भेद अवान्तर नौ जानो।
हास्य अरति रति शोक जुगुप्सा भय नारी नर वेद नपुंस।। 1842।।
इसीलिए चारित्र-मोहनी कर्मोदय से इन तीनों -
लिंगों को चारित्-गुण का ही वैभाविक भाव कहा जाता।। 1843।।
ये तीनों लिंग भी स्वाभाविक दो प्रकार के होते हैं।
द्रव्य-भाव दो भेदरूप से जिनवर की आज्ञा अनुसार।। 1844।।
चित्रकारवत् एक जीव के नाना रूप बनाता है।
निश्चेतन वह नाम कर्म पौद्गलिक विपाकी कर्म कहा।। 1845।।
यद्यपि वह है एकरूप पर अंगोपाँग-शरीर स्वरूप।
दो प्रकार है नाम कर्म जो लिंगों की रचना करता।। 1846।।

अन्वयार्थ :- (**नोकषायाणां कर्मणां उदयात्**) नोकषाय नामक कर्मों के उदय से होने वाले (**स्त्री-पुन्नपुंसकात् भेदात्**) स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से (**त्रीणि लिंगानि वा**) तीन प्रकार के लिंग भी (**औदयिकानि एव**) औदयिक ही है।। 1075।।

(**तत्रापि**) चारित्रमोह के उन दोनों भेदों में भी (**नोकषायाख्यं**) नोकषाय नामक द्वितीय भेद (**हास्यं रत्यरतीयोशोको भीः जुगुप्सा त्रिलिंगकं**) हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इस तरह (**स्वविधानतः**) अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा से (**नवधा**) नव प्रकार का है।। 1076।।

(**एतत् चारित्रमोहकर्म**) यह चारित्रमोहनीय कर्म (**परमागमात्**) परमागम से (**द्विविधं**) दो प्रकार का है उनमें से (**आद्यं कषायं इति उक्तं**) प्रथम भेद कषाय कहलाता है और (**द्वितीयकं नोकषायं**) दूसरा भेद नोकषाय कहलाता है।। 1077।।

(**ततः**) इसलिए सामान्यरूप से (**ध्रुवं**) ध्रुवपूर्वक उक्त तीनों वेद (**चारित्र मोहस्य कर्मणः उदयात्**) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं अतः (**अमी**) ये तीनों लिंग (**हि**) निश्चय

करके (**चारित्रस्य गुणस्य अपि**) चारित्र गुण के ही (**वैभाविकाः भावाः**) वैभाविक भाव हैं।। 1078।।

(**सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात्**) सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार (**इह**) यहाँ पर (**द्रव्यभाव-विभेदाभ्यां**) द्रव्य और भाव के भेद से (**प्रत्येकं लिंगानि**) प्रत्येक लिंग (**निसर्गतः**) स्वभाव से (**द्विविधानि एव**) दो प्रकार के ही होते हैं।। 1079।।

(**चित्रवत्**) चित्रकार की तरह (**यत् एकं नानारूपं च नामकर्म अस्ति**) वो एक जीव के नानारूप बनाने वाला नामकर्म है यह (**अचिद्धरूपं**) अचेतनरूप (**पौद्गलिकं**) पौद्गलिक (**स्यात्**) है (**यत्**) जो कि यह कर्म (**पुद्गलविपाकी**) पुद्गलविपाकी है।। 1080।।

(**अभेदवत् अपि**) यद्यपि एक दृष्टि से अभेद है तथापि (**अंगोपांगं**) अंगोपांग (**च**) और (**शरीरं**) शरीर इस प्रकार (**तद् भेदौ स्तः**) नाम कर्म के दो भेद हैं (**च**) तथा (**तद्विपाकात्**) उन दोनों के उदय से (**त्रिलिंगानां आकाराः सम्भवन्ति**) तीनों लिंगों के आकार बनते हैं।। 1081।।

भावार्थ :- स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक के भेद से जो स्त्री वेदादि नोकषाय कर्मों का उदय होता है उसी के निमित्त से जीव में स्त्री पुरुष तथा नपुंसक व्यवहार होता है। इसलिए ये तीनों लिंग भी कषायों के समान औदयिक भाव ही हैं।

कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय इस तरह परमागम में चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद माने हैं। उनमें से क्रोधादिक को कषाय वेदनीय कहते हैं तथा हास्यादिक को नोकषाय वेदनीय कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसकवेद इस प्रकार नोकषाय के नव भेद हैं। तीनों ही लिंग चारित्रमोह कर्म के अवान्तर भेद के उदय से ही होते हैं, इसलिए चारित्र गुण के ही वैभाविक भाव हैं। आगमानुसार तीनों ही वेद, द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं।

आठ कर्मों में चित्रकार के समान नानारूप बनाने वाला एक पौद्लिक नामकर्म है।

नामकर्म के शरीरनामकर्म और अंगोपांग नामकर्म ऐसे दो भेद हैं। उन दोनों के यथायोग्य उदय से इन तीनों वेदों के आकार बनते हैं।

भाववेद में कारण और उनका कार्य

त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः।
नास्ति तद्भावलिंगेषु मनागपि करिष्णुता।। 1082।।
भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित्।। 1083।।

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
नारी वेदोदयाद् वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता।। 1084।।

नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिति।। 1085।।

यद्यपि तीनों लिंगों के आकार प्राप्ति है उसका कार्य।
किन्तु नहीं वह भाव-लिंग का किञ्चित् भी कारण होता।। 1847।।

चरित-मोह का भेद वेद-कर्मोदय, भाव-लिंग का है।
एक मात्र कारण, उसमें नहिं अन्य कर्म कारण होता।। 1848।।

पुरुष-वेद कर्मोदय से होती नारी से रमणेच्छा।
नारी वेद उदय से होती नर से रमने की इच्छा।। 1849।।

जो असमर्थ भोग करने में नारी या नर के संग में।
अन्तर्दग्ध सदा रहता जो भाव-नपुंसक वेदोदय।। 1850।।

अन्वयार्थ :- यद्यपि (**या त्रिलिंगाकारसम्पत्तिः**) जो तीनों लिंगों के आकार की प्राप्ति है (**तत् नामकर्मणः कार्य**) वह उस नामकर्म का कार्य है तथापि (**तद्भावलिंगेषु मनाक् अपि करिष्णुता न अस्ति**) उस नाम कर्म में उन भावलिंगों के विषयों में निर्माण करने की बिल्कुल कार्यकारिता नहीं है-योग्यता नहीं है।। 1082।।

(**भाववेदेषु**) भाव वेदों में (**चारित्रमोहकर्मांशकोदयः**) चारित्र मोह कर्म के अवान्तर भेदरूप वेद कर्म का उदय ही (**नूनं**) निश्चय से (**एकं कारणं**) एक कारण (**स्यात्**) है (**क्वचित् इतरस्य उदयः न**) किसी भी भाव वेद में किसी अन्य कर्म का-नामकर्म का उदय कारण नहीं है।। 1083।।

(**किल**) निश्चय करके (**पुंवेदस्य उदयात्**) पुंवेद के उदय से जो (**द्रव्यनारीणांरिरंसा**) द्रव्य-स्त्रियों के साथ रमने की इच्छा होती है, वह पुंवेद कहलाता है और जो (**नारीवेदोदयात्**) स्त्री वेद के उदय से (**पुंसां भोगाभिलाषिता**) पुरुषों के साथ रमने की इच्छा होती है, वह (**वेदः**) स्त्रीवेद कहलाता है तथा जो (**अशक्तितः**) सामर्थ्य न रहने के कारण (**न नारीणां भोगाय अलं**) न तो स्त्रियों से भोग करने के लिये समर्थ होता है (**अपि**) और (**न पुंसां**) न पुरुषों से ही भोग करने को समर्थ होता है किन्तु सदैव (**अन्तर्दग्धः**) अन्तरंग में जलता रहता है ऐसा (**यः भाव अस्ति**) जो भाव है वह (**क्लीव वेदोदयात्**) नपुंसकवेद के उदय से होता है।। 1084-1085।।

भावार्थ :- यद्यपि लिंगों का आकार शरीर और विवक्षित लिंग अंगोपांग नामकर्म के कारण होता है अर्थात् भावलिंग के लिये चारित्रमोहनीय के अन्तर्गत जो स्त्रीवेदादि नोकषाय है वह कारण है और द्रव्यवेदके लिये नामकर्म कारण है।

तीनों ही भाव वेदों के उदय में चारित्रमोह के अन्तर्गत स्त्री वेदादिक नोकषाय का उदय ही कारण है। अन्य किसी कर्म का-केवल नामकर्म का उदय कारण नहीं है।

पुंवेद के उदय से जो द्रव्य-स्त्रियों के साथ रमने की इच्छा होती है वह भाव-पुंवेद कहलाता है और स्त्रीवेद के उदय से जो द्रव्य-पुरुषों के साथ रमने की इच्छा होती है वह भाव-स्त्रीवेद कहलाता है तथा नपुंसक वेद के उदय से जो सदैव स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा होती है वह भाव नपुंसकवेद कहलाता है।

इस नपुंसक वेद के उदय से स्त्री-पुरुष दोनों में ही रमने की अत्यन्त इच्छा होती है, परन्तु सामर्थ्य न होने से वह नपुंसक उन दोनों में से किसी के भी साथ भोग नहीं भोग सकता है, किन्तु सदैव अन्तरंग में ही जला करता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव-वेद का स्वरूप बता करके अब आगे यह बताते हैं कि बहुधा तो जो द्रव्यलिंग होता है वही भावलिंग होता है। परन्तु कहीं-कहीं पर द्रव्यलिंग अन्य तथा भावलिंग अन्य भी हो सकता है।

द्रव्य-भाव वेदों में समानता और विषमता

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित्।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत्।। 1086।।

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतरः।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि।। 1087।।

भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः।। 1088।।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान्।। 1089।।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीबः स्यात् केवलः किल।। 1090।।

पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन।। 1091।।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात्।। 1092।।

केषाञ्चिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः।
स्त्रीवेदः क्लीबवेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च।। 1093।।

केषांचित्क्लीबवेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः।
पुंवेदो क्लीबवेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः।। 1094॥

कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान्।
कदाचित्क्लीबवेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान।। 1095॥

कहीं कहीं पर द्रव्य-लिंग जैसा ही भाव-लिंग होता।
किन्तु कहीं पर द्रव्य-लिंग से भिन्न भाव-लिंग भी होता।। 1851।।

यथा देवियों को केवल नारी वेदोदय होता अन्य नहीं।
और सभी देवों को केवल वेदोदय ही होता है।। 1852।।

भोग-भूमियों में भी नारी को नारी वेदोदय ही।
पुरुषों को बस पुरुष-वेद होता है, नहिं अन्योन्य कभी।। 1853।।

सभी नारकी मात्र नपुंसक वेद युक्त ही होते हैं।
द्रव्य-भाव दोनों वेदों से नहीं पुरुष या नारी हों।। 1854।।

तिर्यक् जाति में एकेन्द्रिय सदा नपुंसक होते हैं -
विकलत्रय जीवों को केवल वेद-नपुंसक होता है।। 1855।।

पञ्चेन्द्रिय अमनस्क तिर्यंचों को भी एक नपुंसक वेद।
द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से अन्य वेद हो कभी नहीं।। 1856।।

कर्म-भूमि में पुरुषों एवं नारी अरु तिर्यञ्चों में।
नर-मादा में अपने-अपने उदय प्रमाण वेदत्रय है।। 1857।।

किन्ही किन्हीं को द्रव्यरूप से देह पुरुष की होती है।
किन्तु भाव से स्त्री पुरुष नपुंसक या तीनों होते।। 1858।।

किन्ही किन्ही को द्रव्य-अपेक्षा वेद-नपुंसक होता है।
किन्तु भाव से स्त्री पुरुष नपुंसक अथवा तीनों हैं।। 1859।।

कोइ जीव जीवनभर क्रम से तीनों वेद सहित होते।
कभी नपुंसक स्त्री अथवा पुरुष भाव से होते हैं।। 1860।।

अन्वयार्थ :- (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**यथा**) जैसा (**द्रव्यलिंगं**) द्रव्यलिंग होता है (**तथा**) वैसा ही (**भावलिंग नाम**) भावलिंग होता है परन्तु (**क्वचित्**) कहीं-कहीं पर (**द्रव्यं अन्यतमं**) द्रव्यलिंग दूसरा होता है (**च**) और (**भावः अन्यतमः भवेत्**) भावलिंग दूसरा होता है।। 1086।।

(**यथा**) जैसे (**हि**) निश्चय करके (**दिविजनारीणां**) सम्पूर्ण देवांगनाओं के (**नारीवेदः अस्ति इतरः न**) स्त्रीवेद का उदय रहता है अन्य का नहीं (**तथा**) वैसे ही (**सर्वेषां देवानां अपि च**) सम्पूर्ण देवों के भी (**पुंवेद एव पाकः**) पुंवेद का ही उदय रहता है इतर का नहीं।। 1087।।

(**भोगभूमौ नारीणां नारीवेदः**) भोगभूमि में स्त्रियों के स्त्री-वेद होता है (**इतरं न**) दूसरा वेद नहीं (**पुंसां केवलं पुंवेदः**) पुरुषों के केवल पुंवेद ही होता है दूसरा नहीं।(**अन्योन्य संभवः न**) स्त्री-वेद वाले के पुंवेद अथवा पुंवेद वाले के कभी स्त्री-वेद नहीं होता है।। 1088।।

(**सर्वेषां नारकाणां च**) सम्पूर्ण नारकियों के भी (**द्रव्यतः भावतः**) द्रव्य और भाव दोनों में से (**एकः नपुंसकवेदश्च**) एक नपुंसक वेद ही होता है किन्तु उनके (**न स्त्रीवेदः**) न तो स्त्रीवेद होता है (**अपि च**) और (**न वा पुमान्**) न पुंवेद ही होता है।। 1089।।

(**तिर्यग्जातौ च**) तिर्यंच जाति में भी (**किल**) निश्चय करके (**द्रव्यतः अपि चभावतः**) द्रव्य और भाव दोनों की अपेक्षा से (**सर्वेषां एकाक्षाणां**) सम्पूर्ण एकेंद्रियों के (**केवलं नपुंसकः वेदः**) केवल एक नपुंसक वेद होता है (**विकलत्रयाणां क्लीबः वेदः स्यात्**) विकलत्रयों के केवल एक नपुंसकवेद होता है (**च**) और (**पंचाक्षासंज्ञिनां तिरश्चां अपि**) द्वीद्रिंयादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी (**नपुंसकाः स्यात्**) केवल एक नपुंसक वेद होता है (**अन्यः वेदः कदाचन न**) अन्य दूसरा वेद कभी भी होता नहीं है।। 1090-1091।।

(**कर्मभूमौ**) कर्मभूमि में (**मनुष्याणां**) मनुष्यों के (**च**) और (**मानुषीणां**) स्त्रियों के (**तथैव**) तथा (**तिरश्चां**) तिर्यंचों के (**वा**) और (**तिरश्चीनां**) तिर्यंचनियों के (**तथोद्यात् त्रयोवेदः**) अपने-अपने उदयानुसार तीनों वेद हो सकते हैं।। 1092।।

(**केषांचित्**) किन्हीं-किन्हीं के (**द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदः**) द्रव्य की अपेक्षा से शरीरानुसार पुंवेद होता है (**पुनः**) और (**भावतः**) भाव की अपेक्षा से (**स्त्रीवेदः**) स्त्रीवेद (**क्लीबवेदः**) नपुंसक वेद (**वा**) तथा (**पुंवेदः वा**) पुंवेद भी हो सकता है (**च**) और एक ही पर्याय में किसी-किसी के भिन्न-भिन्न काल में (**त्रिधा अपि**) तीनों भी हो सकते हैं।। 1093।।

(**केषांचित्**) किन्हीं-किन्हीं के (**द्रव्यतः**) द्रव्य से (**क्लीबवेदः**) नपुंसकवेद होता है (**पुनः**) और (**भावतः**) भाव से (**पुंवेदः**) पुंवेद (**वा**) अथवा (**क्लीयवेदः**) नपुंसकवेद (**वा**) अथवा (**स्त्रीवेदः**) स्त्रीवेद भी हो सकता है (**वा**) अथवा भिन्न-भिन्न काल में एक ही जीव के (**उचितः त्रिधा**) यथोचित तीनों भी वेद हो सकते हैं।। 1094।।

(**कश्चित्**) कोई-कोई तो (**आपर्ययन्यायात्**) पर्याय न्याय तक अर्थात् जब तक जीवित है, तब तक अर्थात् एक ही पर्याय में (**कदाचित्**) किसी समय (**भावात्**) भाव से (**क्लीबवेदः**) नपुंसक वेद (**वा**) अथवा (**स्त्री**) स्त्रीवेद (**वा**) अथवा (**क्वचित् पुमान्**) कभी-कभी पुंवेद इस प्रकार (**क्रमात्**) क्रम से (**त्रिवेदवान् अस्ति**) तीनों ही वेद वाला हो जाता है।। 1095।।

भावार्थ :- कहीं-कहीं पर द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों ही समान होते हैं तथा कहीं-कहीं पर दोनों ही विषम होते हैं अर्थात् द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

जैसे देवांगनाओं के द्रव्य-स्त्रीवेद के साथ-साथ सदैव भाव स्त्रीवेद का ही उदय रहता है; वैसे ही देवों के द्रव्य-पुरुषवेद के साथ-साथ सदैव भाव-पुरुषवेद का ही उदय रहता है, अन्य का नहीं।

देव और देवियों के समान भोगभूमियों के भी द्रव्य और भाव-वेद में फरक नहीं पड़ता है।

सम्पूर्ण नारकियों के सदैव द्रव्य और भाव दोनों की अपेक्षा से केवल नपुंसक वेद ही होता है।

सम्पूर्ण एकेन्द्रियों के, विकलेंद्रियों के और असंज्ञी पंचेन्द्रियों के भी द्रव्य और भाव - दोनों की अपेक्षा से केवल एक नपुंसक वेद होता है।

कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचों के द्रव्यवेद के अनुसार भाववेद के होने का नियम न होने से द्रव्य स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकों के भिन्न-भिन्न काल में अपने-अपने उदयानुसार तीनों ही वेद हो सकते हैं।

किन्हीं-किन्हीं स्त्री पुरुषों के द्रव्यरूप से स्त्री लिंगादिक के रहने पर भी भाववेदरूप से दूसरे-दूसरे भी लिंगों का उदय रह सकता है और किसी-किसी के एक ही पर्याय में तीनों भी भावलिंगों का उदय रह सकता है।

किन्हीं-किन्हीं जीवों के द्रव्य से तो नपुंसकवेद होता है, परन्तु भाव से यथायोग्य पुरुष, स्त्री और नपुंसक इस प्रकार तीनों ही वेद पाए जाते हैं।

किसी-किसी के तो एक पर्याय में ही तीनों ही भाववेदों का उदय हो जाता है।

भाव वेद की उत्पत्ति और कार्य

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल।
नित्यंचाबुद्धिपूर्वाःस्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः।। 1096।।

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः।
संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात केवलं पापकर्मणाम।। 1097।।
द्रव्यलिंगाणि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः।। 1098।।

निश्चय से ये तीनों भाव निरन्तर कर्मोदय से हों।
सदा अबुद्धिपूर्वक होते कभी बुद्धिपूर्वक भी हो।। 1861।।
चरित-मोह के अन्तर्गत ये भाव, बन्ध के कारण हैं।
संक्लेश के अंगरूप होने से पापबन्ध करते।। 1862।।
द्रव्य-लिंग ये सभी बन्ध के कारण कभी नहीं होते।
मात्र देह से सम्बन्धित ये अतः स्वयं नहिं बन्धक हैं।। 1863।।

अन्वयार्थ :- (**किल**) निश्चय करके (**ते त्रयः अपि भाववेदाः**) वे तीनों ही भाववेद (**नैरन्तर्योदयात्**) निरन्तर कर्मों के उदय के कारण होते हैं अर्थात् भाव वेदों का उदय निरन्तर रहता है इसलिए वे (**वै**) निश्चय करके (**नित्यं**) नित्य (**च**) और (**अबुद्धिपूर्वाः स्युः**) अबुद्धिपूर्वक होते हैं तथा (**क्वचित् बुद्धिपूर्वकाः**) कहीं पर बुद्धिपूर्वक होते हैं।। 1096।।

(**संक्लेशांगैकरुपत्वात्**) संक्लेश के एक अंगरूप होने से (**चारित्रमोहांन्तर्भाविनः**) चारित्रमोह में गर्भित होने वाले (**ते अपि**) वे भावभेद भी (**केवलं पापकर्मणां बन्धहेतवः**) केवल पाप कर्मों के ही बन्ध के कारण हैं।। 1097।।

(**अत्र**) तीनों लिंगों में से जो (**सर्वाणि द्रव्यलिंगानि**) द्रव्यलिंग हैं वे (**बन्धस्य हेतवः न**) बन्ध के कारण नहीं हैं क्योंकि वे (**देहमात्रैकवृत्तत्वे**) केवल देह से ही सम्बन्ध रखते हैं इसलिए (**स्वतः**) स्वयं (**बन्धस्य अकारणत्**) बन्ध के कारण नहीं हो सकते हैं।। 1098।।

भावार्थ :- यद्यपि तीनों ही भाववेद निरन्तर उदयात्मक होने से प्रायः सदैव अबुद्धिपूर्वक होते हैं अर्थात् उनका उदय सदैव रहता है। इसलिए उनके कारण पुरुषादिकों के स्त्री आदि के साथ रिंसारूप जो उन भाव वेदों का कार्य है वह सदैव व्यक्त नहीं होता है। परन्तु वेद की उदीरणा होने पर वे तीनों ही भाववेद बुद्धिपूर्वक होते हैं अर्थात् उनका उदय व्यक्तरूप से प्रतीत होता है।

मोह के उदयात्मक विकार, संक्लेशरूप होने से केवल पापकर्मों के बन्ध के कारण होते हैं, इस नियम के अनुसार ये तीनों भाववेद भी चारित्रमोह के ही अवान्तर भेद हैं तथा संक्लेशरूप होने से पाप बन्ध के ही कारण हैं।

द्रव्य और भाव के भेद से लिंग (वेद) दो प्रकार के हैं। उनमें से जो भाववेद हैं वे तो संक्लेशात्मक होने से बन्ध के कारण हैं, परन्तु जो द्रव्यवेद हैं वे केवल शरीर की अवयव रचना मात्र से ही सम्बन्ध रखते हैं अतः वे द्रव्यवेद बन्ध के कारण नहीं हो सकते हैं।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः।। 1099।।

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः।
मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः।। 1100।।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राग्मिथ्याभावस्य जन्मिनाम्।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल।। 1101।।

मिथ्यात्व कर्म के उदय समय मिथ्यात्व भाव होता उत्पन्न।
वह - मिथ्यात्व जीव का ही औदायिक भावरूप ज्ञातव्य।। 1864।।
स्वाभाविक गुण एक कहा सम्यक्त्व नाम गुण चेतन का।
विकृत आकृतिरूप परिणमित मिथ्या कर्मोदय द्वारा।। 1865।।
संसारी जीवों का मिथ्याभाव पूर्व में कहा गया।
इसीलिए पुनरुक्त दोष-भय से न यहाँ कुछ भी कहते।। 1866।।

अन्वयार्थ :- (**मिथ्यात्वकर्मणः पाकात् मिथ्यादर्शनं आख्यातं**) मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले मिथ्यात्व कर्म का वर्णन किया। यह मिथ्यात्व, मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है इसलिए (**सः जीवस्य मिथ्यात्वं किल औदयिकः भावः स्यात्**) मिथ्यात्व भाव भी जीव का औदयिक भाव है।। 1099।।

(**जीवस्य**) जीव का (**सम्यक्त्वं च**) सम्यक्त्व भी (**एकः निसर्गजः गुणः अस्ति**) एक स्वाभाविक गुण है (**अपि**) और (**सः**) वह (**मिथ्याकर्मोदयात्**) मिथ्यात्व कर्मों के उदय से (**वैकृतः सन् विकृताकृतिः अस्ति**) विकृत होकर मिथ्यादर्शनरूप विकृत आकृति में परिणत हो रहा है।। 1100।।

(**जन्मिनां**) संसारी जीवों के (**मिथ्याभावस्य**) इस मिथ्याभाव का (**स्वरूपं**) स्वरूप (**प्राक् उक्तं अस्ति**) पहले कह चुके हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**अन**) यहाँ पर (**किल**) निश्चय से (**पुनरुक्तभयात्**) केवल पुनरुक्त दोष के भय से (**मनाक् न उक्तं**) कुछ भी नहीं कहा है।। 1101।।

भावार्थ :- जीव का सम्यक्त्व एक स्वाभाविक गुण है, परन्तु वह मिथ्यात्वकर्म के उदय से विकृत होकर मिथ्यादर्शनरूप में पाया जाता है। अतः मिथ्यादर्शन औदयिक भाव कहलाता है।

मिथ्यादर्शन के विषय में विशेष रूप से पहले वर्णन किया जा चुका है। इसलिये पुनरुक्ति नामक दोष के भय से यहाँ पर उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है।

अज्ञान का स्वरूप और कार्य

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम्।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ।। 1102।।

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम्।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद् वपुः स्वावरणोदयात्।। 1103।।

अर्थादौदयिकत्वेऽपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः।
ज्ञानावृत्त्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता।। 1104।।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम्।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान।। 1105।।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः।। 1106।।

जो अज्ञानरूप जीव का भाव सुनिश्चित औदायिक।
ज्ञानावरणी कर्मोदय से जन्म-लाभ वह प्राप्त करे।। 1867।।
स्वापूर्वार्थ प्रकाशक ज्ञान नाम का गुण है आत्मा में।
किन्तु स्वावरण कर्मोदय से मृतक देहवत् मूर्च्छित है।। 1868।।
यद्यपि इसमें भी वास्तव में औदायिकपन होता है।
लेकिन ज्ञानावरणादिक के बन्धन का यह हेतु नहीं।। 1869।।
नहिं सँक्लेशरूप है यह इसलिए बन्ध का हेतु नहीं।
किन्तु दुःखमूर्ति क्लेशमय भाव-योग से दुखमय है।। 1870।।
वज्राघात समान सभी कर्मों का उदय प्रसिद्ध कहा।
इसीलिए अज्ञानभाव को स्वाभाविक दुख-मूर्ति कहा।। 1871।।

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**अज्ञानं जीवभावः**) अज्ञान नामक जीव का भाव है (**सः**) वह भी (**स्फुटं**) निश्चय करके (**औदयिकः स्यात्**) औदयिक है (**यस्मात्**) क्योंकि

(ज्ञानावरणकर्मणः उद्यात्) ज्ञानावरण कर्म के उदय से वह **(लब्धजन्मा)** जिसने जन्म लाभ प्राप्त किया है - ऐसा अर्थात् उत्पन्न होता है।। 1102।।

(स्वापूर्वार्थावभासकं) स्व और अपूर्व अर्थ का प्रकाशक **(आत्मनः ज्ञानं गुणः अस्ति)** आत्मा का एक ज्ञानगुण है परन्तु वह **(स्वावरणोदयात्)** अपने-अपने आवरण के उदय से **(मृतकं वपुः वा)** मृतक शरीर की तरह **(मूर्च्छित स्यात्)** मूर्च्छित रहता है।। 1103।।

यद्यपि **(अर्थात्)** वास्तव में **(अस्य भावस्य अपि)** इस भाव में भी **(अवश्यतः औदयिकत्वे अपि)** नियम से औदयिकपना है तथापि इसको **(व)** निश्चय करके **(अस्मिन् ज्ञानावृत्यादि बन्धेकार्ये)** ज्ञानावरणादिक के आस्रवपूर्वक होने वाले इस बन्धरूप कार्य में **(अहेतुता स्यात्)** अकारणता है।। 1104।।

(अयं संक्लेशरूपः अपि न) यह अज्ञान भाव कषायादिक की तरह संक्लेशरूप भी नहीं है **(यः बन्धस्य कारणं स्यात्)** जो कि बन्ध का कारण माना जाता है और **(यः क्लेशः दुःखमूर्तिः स्यात्)** जो संक्लेशरूप होकर दुःख की मूर्ति कहलाता है-समझा जाता है **(तत् योगात्)** उसके सम्बन्ध से ही आत्मा **(क्लेशवान् अस्ति)** क्लेशवान है।। 1105।।

तथापि **(अर्थ अज्ञानात्मा भावः)** यह अज्ञानरूप औदायिक-भाव **(निसर्गतः)** स्वभाव से **(दुःखमूर्तिश्च)** दुःख की मूर्ति ही है **(यतः)** क्योंकि **(कर्मणां उदयः वज्राघात इव ख्यातः)** सम्पूर्ण कर्मों का उदय वज्राघात की तरह दुःखदायी प्रसिद्ध है।। 1106।।

भावार्थ :- ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाला जीव का अज्ञान भाव भी औदयिक भाव है।

युगपत् स्व और पर का प्रकाशन करने वाला आत्मा का एक ज्ञान नामक गुण है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म के उदय से मूर्च्छित होकर मृतक शरीर के समान जो वह निश्चेष्ट रहता है उसी का नाम अज्ञान भाव है।

यद्यपि यह अज्ञान भाव भी औदयिक है और मिथ्यात्वादि औदयिक भावों के निमित्त से आत्मा के नवीन कर्मों का बन्ध भी होता है तथापि यह अज्ञानभाव ज्ञानावरणादिक कर्मों के बन्ध में कारण नहीं होता है।

मोह कर्म के उदय के समान ज्ञानावरण कर्म का उदय संक्लेशात्मक नहीं है और संक्लेशात्मक न होने से ही यह बन्ध का कारण नहीं माना गया है, क्योंकि केवल मोहकर्म के उदय को संक्लेशात्मक माना है तथा उसके ही कारण यह आत्मा संक्लेशवान कहा जाता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञान भाव में संक्लेश की संभावना न होने के कारण ज्ञानावरणादिक के निमित्त से आत्मा के दुःख ही नहीं होता होगा - ऐसा नहीं समझना

चाहिये, क्योंकि प्रत्येक कर्म के उदय को दुःखदायी माना है, इसलिए अज्ञानभाव भी दुःखदायी है अर्थात् अज्ञानभाव बन्ध का हेतु नहीं होता है एतावता (इतने मात्र से) यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह अज्ञानभाव दुःखमयी नहीं है, किन्तु अवश्य ही दुःखमय है।

शंका

ननु कश्चिद्गुणोप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत्।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः।। 1107।।
तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम्।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः।। 1108।।
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम्।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम्।। 1109।।

जब ज्ञानादि गुणों जैसा सुख भी गुण एक आत्मा का।
उसके घातक कर्मोदय से वह भी विकृत हो जाता।। 1872।।
तो एकान्तरूप से मूर्छित ज्ञान दुःख-कारण कैसे।
क्योंकि गुण द्रव्याश्रित निर्गुण होते-सूत्रकार कहते।। 1873।।
यदि ज्ञानादि गुणों में वास्तव में सुख गुण नहिं होता है।।
तो मिथ्यात्व कषायादिक कैसे दुखमय हो सकते है।। 1874।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि जब (**ज्ञानगुणादिवत्**) ज्ञानादिक गुणों की तरह (**सुखं आदि कश्चित् गुणः अस्ति**) सुख भी आत्मा का एक पृथक् गुण है और (**तद्विपक्षस्य कर्मणः पाकात्**) उस सुख गुण के घातक [वेदनीय] कर्म के उदय से जो वह सुख (**वैकृत**) विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है (**तत् दुःखं**) वह दुःख कहलाता है (**तत् कथं**) तो फिर क्यों (**एकान्ततः**) एकान्त से (**मूर्च्छितं ज्ञानं दुःखं मतं**) मूर्च्छिन ज्ञान को ही दुःख माना है (**यस्मात्**) क्योंकि (**वै**) निश्चय करके (**द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः प्रोक्ताः इति सूत्रं**) जो द्रव्य के आश्रित और स्वयं निर्गुण होते हैं वे गुण कहलाते हैं ऐसा सूत्र है - सूत्रकार ने कहा है अतः जब (**उच्चैः**) यथार्थ में (**ज्ञानादि गुणेषु**) ज्ञानादिक गुणों में (**कश्चित् सुखं गुणः न अस्ति**) कोई सुख नाम का गुण नहीं रह सकता है तो फिर (**कथं**) किस तरह (**मिथ्याभावाः**) मिथ्याभाव (**च**) और (**कषायाः आदयः**) कषाय आदिक (**दुःखं इति**) दुःख कहे जाते हैं।। 1107-1108-1109।।

भावार्थ :- इन तीन पद्यों द्वारा शंकाकार का कहना है कि ज्ञानादिक के समान सुख भी एक

आत्मीक गुण है और वह अपने विपक्षी वेदनीय कर्म के उदय से विकृत होकर दुःख कहलाता है इसलिए ज्ञानादिक में सुख नहीं रह सकता है, क्योंकि आगम प्रमाण से गुण में गुण का रहना निषिद्ध माना है और जब ज्ञानादिक में सुख का सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है तो फिर ज्ञानादिक के उल्टे अज्ञानादिक में तथा सम्यक्त्वादिक के उल्टे मिथ्यात्वादिक में दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

समाधान

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत्।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात्।। 1110।।
अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च।। 1111।।
सामान्याख्याः यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकागतो रसः।। 1112।।
न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विषभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात्।। 1113।।
कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्।। 1114।।
वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात्।। 1115।।

ठीक कहा कि ज्ञानादिवत् सुख भी गुण है आत्मा का।
कर्मोदय के कारण विकृत होकर दुःखमय कहलाता।। 1875।।
सभी कर्म की दो प्रकार की रसदायक शक्ति होती।
वह सामान्य-विशेषरूप उदयात्मकरूप कही जाती।। 1876।।
यथा एक लक्षण दृष्टि से उदयागत रस कर्मों का।
आकुलता का हेतु जीव को इसे शक्ति सामान्य कहा।। 1877 ।।
नहिं असिद्ध यह दृष्टान्तों से जैसे विष को खाने से।
दुख का एवं प्राणघात का उभय कार्य देखा जाता।। 1878।।

इसीलिए सुख गुण विशेष के आठों धर्म विपक्षी हैं।
उनसे भिन्न न कोइ एक सुख गुण का घातक कहा गया।। 1879।।
निश्चय से यदि सुख गुण-घातक एक वेदनी कर्म कहो-
ठीक नहीं यह क्योंकि जिनागम में अघातिया उसे कहा।। 1880।।

अन्वयार्थ :- (**सत्यं**) ठीक है, कारण कि (**ज्ञानगुणादिवत्**) ज्ञानादिक गुणों की तरह (**जन्तोः**) जीव का (**सुखं च गुणः अस्ति**) सुख भी एक गुण है परन्तु (**तत्**) वह (**कर्माष्टकोदयात् हेतोः**) आठों कर्मों के उदयरूप हेतु से (**वैकृतं सत् दुःखं भवेत्**) विकृत होकर दुःख कहलाता है।। 1110।।

(**तद्रसस्य द्वैविध्यात्**) उन कर्मों के रस में द्वैविध्य होने से (**सर्वेषां कर्मणां च**) उन सब कर्मों में भी (**सामान्याख्या**) सामान्य नामक (**च**) और (**विशेषाख्या**) विशेष नामक इस तरह दो प्रकार की (**उदयात्मिका शक्तिः अस्ति**) उदयात्मक शक्ति पाई जाती है।। 1111।।

(**यथा**) जैसे कि (**एक लक्षणात्**) एक लक्षण की दृष्टि से जो (**कृत्स्नकर्मणां पाकागतः रसः**) सम्पूर्ण कर्मों का उदयागत रस (**जीवस्य आकुलतायाः हेतुः स्यात्**) जीव की आकुलता का कारण है वही (**सामान्याख्या**) कर्मों की सामान्य शक्ति है।। 1112।।

(**दृष्टान्तात्**) दृष्टान्त से भी (**एतत् अप्रसिद्धं न च स्यात्**) यह कथन असिद्ध नहीं है क्योंकि (**विषभक्षणात्**) विष के खाने से (**दुःखस्य प्राणघातस्य**) दुःख और प्राणघातरूप (**कार्यद्वैतस्य**) दो प्रकार के कार्य (**दर्शनात्**) देखे जाते हैं।। 1113।।

(**ततः**) इसलिए (**सुखस्य एक गुणस्य**) आत्मा के सुखनामा एक विशेष गुण के (**कर्माष्टकं विपक्षि स्यात्**) आठों ही कर्म विपक्षी हैं/घातक हैं, किन्तु (**तद्विपक्षं**) उस सुख गुण का विपक्षी/घातक (**पृथक्**) भिन्न (**किंचित् एकं कर्म न च अस्ति**) कोई एक कर्म नहीं है।। 1114।।

(**हि**) निश्चय करके (**तद्विपक्षि**) उस सुख गुण का घातक (**एकं वेदनीयं कर्म अस्ति**) एक वेदनीय कर्म ही है (**इति चेत्**) यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी (**न च**) ठीक नहीं है (**यत्तः**) क्योंकि (**परमागमात्**) परमागम से (**अस्य**) इस वेदनीय कर्म को (**अघातित्वं**) अघातियापना (**प्रसिद्धं अस्ति**) प्रसिद्ध है अर्थात् आगम में इस कर्म को अघातिया माना है।। 1115।।

भावार्थ :- ज्ञानादिक के समान सुख भी आत्मा का एक गुण है, परन्तु उस सुख गुण का प्रतिपक्षी कोई एक कर्म नहीं है, किन्तु आठों कर्मों का उदय मात्र उसका प्रतिपक्षी है, इसीलिए आत्मा के मिथ्यात्व अज्ञानादिक भावों को दुःख मूर्ति कहा है तथा ऐसा मानने से गुणों में गुणों के सद्भाव के प्रसंग का भी निवारण हो जाता है।

कर्मों के रस में सामान्य और विशेष इस तरह दो प्रकार की शक्ति है, इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के उदय में सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक इस तरह दो प्रकार की शक्तियाँ हैं।

सामान्य और विशेषरूप से कहीं जाने वाली कर्मशक्ति को उदाहरण देकर दिखाते हैं कि जो सामान्यपने से सब कर्मों का उदय जीव की आकुलता का हेतु होता है, वही कर्मों की सामान्यशक्ति है और इसी दृष्टि से सुखगुण के घातक आठों ही कर्म माने गये हैं, अतः मिथ्यात्वादिकभाव दुःखमय तथा सम्यक्त्वादिकभाव सुखमय कहे जाते हैं। इस प्रकार सामान्यात्मक कथन से गुणों में गुणों के सद्भाव का प्रसंग नहीं आ सकता है।

जिस प्रकार दुःख सामान्य है और प्राणघात यह दुःख का विशेषरूप है, किन्तु एक विष–भक्षण से ही ये दोनों कार्य देखे जाते हैं, उसी प्रकार सामान्य दृष्टि से कर्ममात्र के उदय से आत्मा में किसी न किसी प्रकार की आकुलता पाई जाती है, क्योंकि कर्मों में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की गुणों को घातने की शक्तियाँ पाई जाती हैं। सामान्य शक्ति से आठों कर्म सुख गुण के घातक हैं और अपनी–अपनी ज्ञानादिक को आवरण करने रूप विशेष–विशेष शक्ति के द्वारा ज्ञानावरणादिक कर्म ज्ञानादिक विशेष–विशेष गुणों के घातक हैं।

आठों ही कर्म सुख गुण के घातक हैं, कोई एक कर्म सुख गुण का घातक नहीं है।

वेदनीय कर्म अघातिया होने के कारण स्वतन्त्ररूप से सुख गुण का घातक नहीं है। यदि कदाचित् कहा जाय कि सुख और दुख दोनों वेदनीय कर्म के निमित्त से ही होते हैं, इसलिए सुख गुण के घातक आठों कर्म न मानकर केवल एक वेदनीय कर्म को ही सुख गुण का घातक मानना चाहिए तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है तथा वेदनीय कर्म अघातिया है, इसलिए वह स्वतंत्ररूप से आत्मा के अनुजीवी सुखगुण का घातक नहीं हो सकता है, कारण कि अनुजीवी गुणों के घातक घातिया कर्म ही होते हैं, केवल अघातिया नहीं।

असंयम और संयम का स्वरूप

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान्।। 1116।।
संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च।। 1117।।
पञ्चानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात्।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः।। 1118।।

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात्।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसंयमः।। 1119।।

असंयतत्व भी भाव जीव का औदायिक ही कहा गया।
क्योंकि वह चारित्र-मोहनी कर्मोदय से होता है।। 1881।।
क्रिया अपेक्षा दो प्रकार विस्तार अपेक्षा बारह भेद।
अथवा निष्क्रिय शुद्धात्मा की उपलब्धि ही संयम है।। 1882।।
पाँचों इन्द्रिय एवं मन का जो निरोधमय हो परिणाम।
पहला संयम कहा गया इन्द्रिय-निरोध संयम है नाम।। 1883।।
पाँचों थावर-कायिक एवं त्रस-जीवों की रक्षा को-
प्राणी-संयम नाम दूसरा संयम-भेद कहा जाता।। 1884।।

अन्वयार्थ :- (**अस्य**) जीव का (**असंयतत्वं अपि औदयिकः भावः अस्ति**) असंयतत्व भी औदयिक भाव है (**यतः**) क्योंकि उक्त असंयतत्व भाव (**चारित्रमोहस्य कर्मणः पाकात् लब्धजन्मवान् भवति**) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है।। 1116।।

(**संयमः**) संयम (**क्रियया**) क्रिया की अपेक्षा से (**द्वेधा**) दो प्रकार का (**अथवा**) अथवा (**व्यासात्**) उत्तरोत्तर विस्तार की अपेक्षा से (**द्वादशधा**) बारह प्रकार का है (**च**) और (**निष्क्रियस्य आत्मनः**) निष्क्रिय आत्मा के (**शुद्धस्वात्मोपलब्धिः संयमः स्यात्**) शुद्ध स्वात्मा की उपलब्धि ही संयम कहलाता है।। 1117।।

(**पञ्चानां इन्द्रियाणां**) पाँचों इन्द्रियों के (**च**) और (मनसश्च) मन के भी (**निरोधनात्**) रोकने से (**इन्द्रियनिरोधाख्यः प्रथमो संयमः मतः स्यात्**) इन्द्रिय निरोध नामक पहला संयम माना गया है।। 1118।।

(**पंचानां स्थावराणां**) पाँचों स्थावरों की (**च**) और (**त्रसस्यपि च**) त्रस काय की भी (**रक्षणात्**) रक्षा करने से (**असुसंरक्षणाख्यः**) प्राण रक्षण नामक (**द्वितीयः प्राण संयमः स्यात्**) दूसरा प्राण संयम होता है।। 1119।।

भावार्थ :- चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने के कारण असंयतत्व भाव भी औदयिक भाव है।

व्यवहारनय से अशुभ क्रियायों से निवृत्त होना - दूर होना संयम कहलाता है। वह संयम दो प्रकार का है - 1. इन्द्रिय संयम, 2 प्राणी संयम। इन्द्रिय संयम के पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों से निवृत्तिरूप छह भेद हो जाते हैं तथा पाँच प्रकार के स्थावर और त्रसकाय की हिंसा की निवृत्ति

के भेद से प्राणी संयम के भी छह भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से संयम दो प्रकार का अथवा बारह प्रकार का भी कहलाता है। निश्चयनय से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि को संयम कहते हैं, इसी को आगे स्पष्ट करते हैं।

पाँचों इन्द्रियों के और मन के व्यापारों की निवृत्ति को इन्द्रिय संयम कहते हैं।

षट्काय के जीवों की हिंसा के दूर करने को प्राण संयम कहते हैं। इस प्रकार क्रिया के भेद से दो प्रकार का संयम माना गया है।

शंका

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च।। 1120।।

समाधान

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत्।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम्।। 1121॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम्।। 1122॥
इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः।
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च।। 1123॥

इन्द्रिय अरु मन का निरोध करना क्या कहलाता कहिए।
तथा पाँच स्थावर एवं त्रस रक्षा क्या कहलाती।। 1885।।
ठीक कहा है क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान असंयम हेतु नहीं।
विषयों में रागादि बुद्धि नहिं होना ही संयम जानो।। 1886।।
त्रस स्थावर जीवों के वध हेतु नहीं मन उद्यत हो।
और वचन या काया से भी वध नहिं, प्राणी संयम है।। 1887।।
जहाँ उक्त लक्षण संयम नहिं लेशमात्र भी होता है।
वही असंयत भाव नाम है औदायिक जाना जाता।। 1888।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**अक्षाणां**) इन्द्रियों का (**तथा**) और (**मनसः**) मन का (**निरोधत्वं**) रोकना (**किंनु**) क्या है? (**च**) तथा (**स्थावराणां**) स्थावरों की (**च**) और (**त्रसस्य**) त्रसों की (**संरक्षणं किन्नाम**) रक्षा भी क्या कहलाती है।।1120।।

(सत्यं) शंकाकार का उपर्युक्त कथन ठीक है क्योंकि **(यत्)** जो **(अक्षार्थ सम्बन्धात्)** इन्द्रियों के द्वारा अर्थ का विषय करने से **(ज्ञानं)** ज्ञान **(भवति)** होता है वह ज्ञान **(असंयमायन)** असंयमजनक नहीं होता है किन्तु **(तत्र)** उन विषयों में **(या रागादिबुद्धिः)** जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती थी **(तन्निरोधनं)** उसे न होने देना ही **(संयमः)** इन्द्रिय संयम है।। 1121।।

और **(त्रसस्थावरजीवानां मध्ये)** त्रस तथा स्थावर जीवों में से **(क्वापि)** किसी के भी **(वधाय)** वध के लिये जो **(उच्यतं न मनः)** उद्यत मन न हो **(न वचः)** न वचन हो और **(न वपुः)** न शरीर भी हो **(प्राणिसंरक्षणं स्मृतं)** वह प्राणी संयम है।। 1122।।

(इति) इस प्रकार **(यत्र)** जिस अवस्था में **(उक्त लक्षणः)** पूर्वोक्त लक्षण वाला **(संयमः)** संयम **(लेशतः अपि न)** अंशमात्र भी न हो **(तत् असंयतत्वं नाम)** वह असंयतत्व भाव है **(च)** और **(सः)** वह असंयतत्त्व भाव पाँचों भावों में से **(औदयिकः भावः अस्ति)** औदयिक भाव है।। 1123।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि इन्द्रिय और मन का निरोध तथा त्रस स्थावर की रक्षा से क्या प्रयोजन है।

ठीक है, इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है एतावता इसे असंयम नहीं कहते हैं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानना; यह तो विकास है विकार नहीं है, किन्तु इन्द्रियों के विषयों में रागादि बुद्धि से ज्ञान का रागवान् तथा द्वेषवान् होना ही असंयम है और उन विषयों में रागादि बुद्धि उत्पन्न न होने देना ही संयम है।

त्रस स्थावर जीवों के लिये मन वचन और काय का उद्यत न होना प्राणी संयम कहलाता है।

पहले छह श्लोकों में इन्द्रिय संयम और प्राणी संयमरूप से दो प्रकार का संयम मय व्याख्या के कहा गया है और वह संयमभाव क्षायोपशमिक औपशमिक तथा क्षायिकभावरूप होता है और उसके प्रतिपक्षी कषायों के उदय से उक्त संयम का न होना असंयतत्त्व भाव कहा जाता है तथा यह भाव उदयात्मक होने से औदायिकभाव कहा जाता है।

शंका

ननु वाऽसंयतत्त्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात्।। 1124।।

चारित्रमोहनीय के भेद और कार्य

सत्यं चारित्रमोहस्य कार्ये स्यादुभयात्मकम्।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः।। 1125।।

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश।
नवनोकषायनामानो न न्यूना नाधिकस्ततः।। 1126।।
पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात्तत्रानन्तानुबन्धिनाम्।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः।। 1127।।
प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात्संयमक्षतिः।
संज्वलननोकषायैर्नयथाख्यातसंयमः।। 1128।।
इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययो द्वयोः।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च।। 1129।।
किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम्।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा।। 1130।।
अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः।
एकंचाऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम्।। 1131।।

असंयतत्त्व एवं कषाय का आपस में क्या अन्तर है।
क्योंकि एक चारित्र-मोह के उदयरूप दोनों पर्याय।।1889।।
ठीक कहा चारित्र-मोह से होते हैं ये दोनों कार्य।
एक मोहनी-कर्मोदय से होय असंयम और कषाय।।1890।।
क्योंकि चारित-मोहोदय से हों सोलह क्रोधादि कषाय।
नो कषाय भी नौ होती हैं इससे कम या अधिक नहीं।। 1891।।
अनन्तानुबन्धी विपाक से होता है समकित का घात।
और अप्रत्याख्यानोदय से घात संयमासंयम का।।1892।।
प्रत्याख्यानावरणोदय से घात सकल संयम का हो।
उदय-संज्वलन-नोकषाय से यथाख्यात संयम का घात।। 1893।।
इस प्रकार चारों कषाय अरु नोकषाय के कारण से।
भाव-असंयम होता है इससे ये कारण-कार्य प्रसिद्ध।। 1894।।
नहि असिद्ध है शक्ति भेद से चरित-मोहनी के भी भेद।
एकरूप ही हालाहल विष शक्ति भेद से दिखे अनेक।। 1895।।

स्वाभाविक है दो प्रकार की शक्ति चरित्र-मोहनी में।
एक असंयतरूप और दूसरी कषाय स्वरूप कही।। 1896।।

अन्वयार्थ :- (**ननु**) शंकाकार का कहना है कि (**एकस्य चारित्र मोहस्यपर्ययात्**) दोनों को एक चारित्र मोहनीय कर्म का ही पर्याय होने से (**असंयतत्वस्य**) असंयतत्व (**वा**) और (**कषायाणां च**) कषायों के (**परस्परं को भेदः स्यात्**) परस्पर में कौनसा भेद है।। 1124।।

(**सत्य**) ठीक है (**चारित्रमोहस्य पाकात्**) चारित्र मोह के ही (**उभयात्मकं कार्य स्यात्**) दोनों कार्य हैं क्योंकि (**एकस्य कर्मणः पाकात्**) एक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से ही (**अतंत्रमः**) असंयम (**च**) और (**कषायाः सन्ति**) कषाय होते हैं।। 1125।।

क्योंकि (**चारित्रमोहस्य पाकात्**) चारित्रमोहनीय के उदय से (**क्रोधाद्याः**) क्रोधादिक (**षोडश**) सोलह कषाय और (**नवनोकषाय नामानः**) नौ नोकषाय नामक नोकषाय (**सन्ति**) होते हैं (**ततः**) उससे (**न न्यूनाः**) न कम (**न अधिकाः**) न अधिक।। 1126।।

(**तत्र**) उनमें से (**अनन्तानुबन्धिनां पाकात्**) अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से (**सम्यक्त्वहानिः स्यात्**) सम्यक्त्व का घात होता है (**च**) और (**अप्रत्याख्यानस्य पाकात्**) अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से (**संयतासंयतक्षतिः**) देशसंयम का घात होता है।। 1127।।

(**प्रत्याख्यानकषायाणां उदयात्**) प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से (**संयमक्षतिः**) सकल संयम का घात होता है और (**संज्वलननोकषायः**) संज्वलन तथा नोकषायों के उदय से (**यथाख्यातसंयमः न भवति**) यथाख्यात संयम नहीं हो पाता है।। 1128।।

(**इत्येवं**) इस प्रकार (**कषाय नोकषायाणां**) कषाय नोकषाय (**च**) और (**संयतस्येतरस्य**) संयत के उल्टे असंयत (**द्वयोः**) इन दोनों के (**कारणकार्ययोः**) कारण-कार्यभाव का यह (**सर्व वृत्तान्तः**) सब कथन परस्पर में सिद्ध होता है।। 1129।।

(**किन्तु**) तथा (**तच्छक्तिभेदाद्वा**) चारित्रमोहनीय की शक्ति के भेद से भी (**भेदसाधनं**) कषाय और असंयम में भेद का सिद्ध होना (**असिद्धं न**) असिद्ध नहीं है (**यथा**) जैसे कि (**हालाहलं विषं**) हालाहल विष (**एकं च अपि**) एक होकर भी शक्ति के भेद से (**अनेकं वा स्यात्**) अनेक भी कहा जाता है।। 1130।।

(**चारित्रमोहेऽपि**) चारित्रमोह में भी (**निसर्गतः**) स्वभाव से (**शक्तिद्वैतं अस्ति**) दो प्रकार की शाक्तियाँ हैं, उनमें से (**एकं च असंयतत्त्वं**) एक असंयतत्वरूप है (**अथ**) और (**अपरं**) दूसरी (**कषायत्वं स्यात्**) कषायत्वरूप है।। 1131।।

भावार्थ :- शंकाकार का कथन है कि जब कषाय और असंयम दोनों ही एक चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से ही होते हैं तो फिर इन दोनों में विशेषता क्या है?

कषाय के दो भेद हैं - 1. कषाय 2. नोकषाय। कषाय के 16 अवान्तर भेद होते हैं और नोकषाय के नौ होते हैं। इस तरह इन पच्चीसों को ही सामान्यरूप से कषाय कहते हैं। कषाय के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ऐसे चार विभाग भी हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक सम्यक्त्व के, अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक देशसंयम के प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक सकल संयम के और संज्वलन तथा नोकषाय यथाख्यात संयम के घातक हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक के उदय में यथासंभव शेष क्रोधादिक का तथा नोकषाय का भी उदय रहता है। इसी तरह आगे के अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक के उदय में भी उत्तरवर्ती क्रोधादिक तथा यथासंभव नोकषाय का उदय समझना चाहिये।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थान तक पूर्ण रूप से असंयमभाव होता है और आगे के गुणस्थानों में जब तक पूर्ण रीति से कषायों का अभाव न हो जाय, तब तक विवक्षित कषायों के उदय से विवक्षित चारित्र न होनेरूप एक प्रकार का आंशिक असंयतत्व रहता है। इस लिए यद्यपि कषाय और असंयम ये दोनों ही एक चारित्रमोह के उदय से होते हैं; तथापि इन दोनों में सामान्यरूप से वा विशेषरूप से भी परस्पर में कारण-कार्यभाव है। कषाय कारण है तथा असंयम उसका कार्य है। यही दोनों में अन्तर है।

जैसे एक ही विष, शक्ति के भेद से विष और हालाहल कहलाता है, वैसे ही एक ही चारित्रमोह शक्ति के भेद से कषाय तथा असंयममात्र का जनक है।

जिस प्रकार अनन्तानुबन्धी कर्म में सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र के घातने की स्वभावसिद्ध दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार चारित्रमोह में भी कषायत्व और असंयतत्त्व इन दोनों को भिन्न-भिन्न रूप से औदयिकभाव कहा है।

शंका

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम्।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षडविंशतिः स्फुटम्।। 1132।।

समाधान

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित्।। 1133।।

नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
किंतु शक्तिविशेषोस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः।।1134।।

ऐसा है तो न्याय दृष्टि से उसकी संख्या अधिक कहो।
तो चारित्रमोह के छब्बिस भेद - यही स्पष्ट कहो।। 1897।।
किन्तु जहाँ पर भिन्न-जाति की कर्म वर्गणा होती हैं।
तो आलाप अपेक्षा वहाँ अधिक संख्या, अन्यन्त्र नहीं।। 1898।।
यहाँ नहीं हैं भिन्न जाति की कर्म-वर्गणा कही गई-।
लेकिन शक्ति-विशेष कही है, यह भी है जात्यन्तररूप।। 1899।।

अन्वयार्थ :- (**ननु च**) शंकाकार का कहना है (**एवं सति**) ऐसा मानेने पर तो (**न्यायात्**) न्यायानुसार (**तत्संख्या च अभिवर्धतां**) चारित्रमोहनीय के उत्तर भेदों की भी संख्या अधिक मानना चाहिये (**तथा**) और फिर (**चारित्रमोहस्य**) चारित्रमोह के (**स्फुटं**) स्पष्ट रीति से (**षड्विंशति-भेदाः स्युः**) छब्बीस भेद होना चाहिये।। 1132।।

(**सत्यं**) ठीक है परन्तु (**यत्र**) जहाँ पर (**यत् जातिभिन्नाः**) जिसकी भिन्न जाति वाली (**ताः कार्माणवर्गणाः सन्ति**) कार्माण वर्गणाएँ होती हैं (**तत्रैव**) वहाँ पर ही (**आलापापेक्षया संख्या**) आलाप की अपेक्षा से संख्या मानी जाती है (**अन्यत्र क्वचित् न**) और कहीं नहीं; तथा (**अत्र**) यहाँ पर चारित्रमोह में (**तज्जातिभिन्नाः**) उस जाति की पृथक् (**ताः कार्माणवर्गणाः**) वे कार्माण वर्गणायें (**न सन्ति**) नहीं हैं (**किंतु**) किंतु (**शक्तिविशेषः अस्ति**) शक्तिविशेष है और (**सोऽपि**) वह भी (**जात्यन्तरात्मकः**) जात्यन्तररूप है।। 1133-1134।।

भावार्थ :- शंकाकार का कहना है कि कार्यभेद से कारणभेद प्रतीत होता है, इसलिए जबकि असंयतत्व और कषायत्व चारित्रमोह के जुदे-जुदे कार्य हैं तो फिर उसकी संख्या भी पच्चीस न होकर छब्बीस क्यों न मानना चाहिये ?

चारित्रमोह की छब्बीस संख्या मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार से क्रोधादिक की भिन्न-भिन्न जाति वाली कार्माण वर्गणाएँ हैं, उस प्रकार से संयम को घात करने के लिये चारित्रमोह में भिन्न जाति वाली कार्माणवर्गणाएँ नहीं हैं, जब तक भिन्न जाति वाली कार्माण-वर्गणाएँ न हों, तब तक चारित्रमोह की उत्तरप्रकृतियों में आलाप की अपेक्षा से संख्या की वृद्धि नहीं मानी जा सकती है, किन्तु अनन्तानुबन्धी की तरह चारित्रमोह में कषायत्व और असंयमभाव की जनक भिन्न जातिरूप से दो प्रकार की शक्ति ही है और वह जात्यन्तररूप होने से कषाय व असंयम कहीं जाती है।

कषाय और असंयम का स्वरूप

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम्।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ।। 1135 ।।
एतद्द्वैतस्य हेतुत्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ।। 1136 ।।
यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ।। 1137 ।।
अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ।। 1138 ।।

जो कलुषित परिणाम जीव का वह कषाय है कहा गया।
और अभाव व्रतों का है जो उसे असंयम कहते हैं।। 1900 ।।
इन दोनों के हेतुपने की शक्ति एक कर्म में ही।
वह चारित्र-मोहनी ही है अन्य कोइ भी हेतु नहीं।। 1901 ।।
ये दोनों युगपत होते हैं भाव-असंयम और कषाय।
उभय शक्तिमय चरित-मोहनी का विपाक जब होता है।। 1902 ।।
इसका यह दृष्टान्त जानिये अनन्तानुबन्धी जो कर्म।
दर्शन अरु चारित दोनों को युगपत् मूर्छित करता है।। 1903 ।।

अन्वयार्थ :- (**तत्र**) उनमें से (**यत् कालुष्यं नाम**) जो कलुषितपना है वही (**कषायाः स्युः**) कषाय है और (**जीवस्य**) जीव का (**व्रताभावात्मकः भावः**) व्रत के अभावरूप जो भाव है यह (**असंयमो मतः**) असंयम माना गया है यही (**स्वलक्षणं**) कषाय के दोनों लक्षण हैं।। 1135 ।।

(**एतद्वैतस्य**) इन अव्रत और कषायों का (**हेतुत्वं**) हेतुपना (**शक्तिद्वैतेक कर्मणः**) दो प्रकार की है शक्ति जिसमें ऐसे एक कर्म (**चारित्रमोहनीयस्य**) चारित्रमोह को ही है (**इतरस्य मनाक् अपि न**) दूसरे कर्म को किंचित् भी हेतुत्व नहीं है।। 1136 ।।

और (**द्वयोरेव**) इन दोनों (**कषायासंयतत्त्वयोः**) कषाय तथा असंयतपने में (**यौगपद्यं**) यौगपद्य है क्योंकि (**उच्चैः**) वास्तव में (**समं**) युगपत् (**शक्तिद्वयस्य**) उक्त दोनों ही शक्ति वाले (**अस्य कर्मणः**) इस चारित्र मोहनीय कर्म का ही (**तथोदयात्**) उसरूप से उदय होता है।। 1137 ।।

(यत्) जो **(घातिशक्ति द्वयोपेतं)** दो प्रकार की घातकशक्ति से युक्त **(दृक् चारित्रयोः मोहनं)** दर्शन और चारित्र को मूर्च्छित करने वाला **(कर्मानन्तानुबन्धि)** अनन्तानुबन्धी कर्म है वह कषाय तथा असंयम की शक्ति वाले चारित्रमोह कर्म का **(दृष्टान्तः अपि अस्ति)** दृष्टान्त भी है।। 1138।।

भावार्थ :- आत्मा के उत्तम क्षमादिक धर्मों में जो कलुषता होती है, उसे कषाय और व्रतों के अभाव को असंयम कहते हैं।

अव्रत और कषाय में कारण केवल चारित्रमोह ही है और कोई दूसरा कर्म नहीं है। उसी एक चारित्रमोहनीय में कषाय तथा असंयम को उत्पन करने की शक्तियाँ हैं।

कषाय और असंयम का भिन्न काल नहीं है। एक ही काल में उभय शक्ति विशिष्ट चारित्रमोह का उदय रहने से चौथे गुणस्थान तक कषाय तथा असंयम युगपत् पाये जाते हैं तथा आगे भी यथायोग्य समझना चाहिये।

जैसे स्वरूपाचरण और सम्यक्त्व को युगपत् घातने की शक्ति अनन्तानुबन्धी में है वैसे ही कषाय व असंयम की शक्ति चारित्रमोह में है - ऐसा समझना चाहिये।

शंका

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात्।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ।। 1139।।

समाधान

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम्।। 1140।।

तो अप्रत्याख्यानावरणी आदि उदय से होता घात।
देश सकल संयम आदिक का क्रमशः यह कैसे हो सिद्ध।। 1904।।
ठीक कहा पर अविनाभावी उनके बन्धरु सत्त्व विपाक।
दोनों में से एक विवक्षा करने पर यह दोष नहीं।। 1905।।

अन्वयार्थ :- (ननु च) शंकाकार का कहना है कि **(स्मृतौ)** आगम में ऐसा कथन है कि **(अप्रत्याख्यानादि कर्मणः)** अप्रत्याख्यानावरणादिक कर्मों के **(क्रमात् उदयात्)** क्रम पूर्वक उदय होने से **(देशकृत्स्नव्रतादीनां)** देशसंयम, सकलसंयम आदि का **(क्षतिः स्यात्)** घात होता है **(तत्कथं)** वह कैसे बनेगा-सिद्ध होगा ?।। 1139।।

(सत्यं) ठीक है परन्तु **(तत्र बन्धसत्त्वोदयं प्रति अविनाभावः)** मिथ्यात्व के बन्ध उदय और सत्त्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का अविनाभाव है **(अतः)** इसलिए **(द्वयोः अन्यतरस्य विवक्षायां दूषणं न)** दो में से किसी एक की विवक्षा करने से उक्त जो शंकाकार ने दोष बताया है, वह दोष नहीं ठहरता है।। 1140।।

भावार्थ :- शंकाकार का कथन है कि आगम में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशसंयम का प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सकल संयम का और संज्वलन तथा नोकषाय के उदय से यथाख्यात संयम का घात होता है - ऐसा कथन है इसलिए अप्रत्याख्यानावरणादिक ही असंयम के कारण ठहरते हैं, किन्तु यहाँ पर सम्यक्त्व व चारित्र को घातनेरूप दोनों शक्तियों को एक अनन्तानुबन्धी में ही बताया है। अतः इस कथन में आगम से बाधा क्यों न आयेगी ?

शंकाकार का कहना ठीक है कि जब दर्शनगुण, चारित्रगुण दोनों ही गुणों को घातने की शक्ति अनन्तानुबन्धी में है तो देशव्रत सकलव्रत और यथाख्यात संयम के घातने की शक्ति क्रम से आगम में अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन में क्यों बताई है इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व कर्म के साथ ही अनन्तानुबन्धी कषाय के बंध उदय और सत्ता का अविनाभाव है जब मिथ्यात्व कर्म का बंध वगैरह होता है तब अनन्तानुबन्धी का भी होता है इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के कार्य का पृथक्-पृथक् कथन न करके विवक्षावश अनन्तानुबन्धी को दोनों का (सम्यक् चारित्र का) घातक कह दिया है इस विवक्षा पर ध्यान देने से उक्त आगम की बाधा का परिहार हो जाता है।

असिद्धत्व एवं सिद्धत्व भाव

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमदयिको यतः।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात्।। 1141।।
सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शन सम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम्।। 1142।।
नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम्।। 1143।।

असिद्धत्व भी है वास्तव में चेतन का औदायिक भाव।
सभी कर्म या एक-एक के कर्मोदय से हो उत्पन्न।। 1906।।
सब कर्मों से भिन्न अवस्था चेतन की वह है सिद्धत्व।
समकित दर्शन ज्ञान और वीर्यादिक अष्ट गुणात्मक है।। 1907।।

यह सिद्धत्व नहीं संसार दशा में अतः असिद्धपना।
वास्तव में समस्त संसार दशा अनर्थास्पद ही है।। 1908।।

अन्वयार्थ :- (**असिद्धत्वं भावः**) असिद्धत्व भाव (**नूनं**) निश्चय करके (**औदयिकः भवेत्**) औदायिक भाव होता है (**यतः**) क्योंकि वह (**व्यस्तात्**) असमस्तरूप से (**वा**) अथवा (**समस्ताद्वा**) समस्तरूप से (**कर्माष्टकोद्यात् जातः स्यात्**) आठों कर्मों के उदय से होता है।। 1141।।

अन्वयार्थ :- (**पुंसः**) आत्मा की (**कृत्स्नकर्मभ्यः**) सम्पूर्ण कर्मों से (**पृथक्**) भिन्न (**ज्ञानदर्शन सम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकं**) ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य आदि आठ गुणस्वरूप (**अवस्थान्तरं**) अवस्थान्तर शुद्ध अवस्था का होना ही (**सिद्धत्वं**) सिद्धत्व कहलाता है और (**अत्र**) संसार अवस्था में (**इदं सिद्धत्वं न**) यह उक्त सिद्धभाव नहीं होता है (**इति**) इस कारण से यह (**असिद्धत्वं स्यात्**) असिद्धत्व कहलाता है (**अर्थतः**) वास्तव में (**यावत्संसारसर्वस्वं**) जितना भी संसार सर्वस्व है वह सब (**परं**) केवल (**महानर्थास्पदं**) महा अनर्थ की जड़ है।। 1142-1143।।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव के आठों कर्मों का उदय रहता है, इससे वह असिद्ध कहा जाता है। आगे-आगे के गुणस्थानों में यद्यपि क्रम-क्रम से कुछ कम कर्मों का भी उदय रहता है, तब भी यह जीव मुक्त न कहला कर असिद्ध ही कहलाता है। यहाँ तक कि 14वें गुणस्थान तक भी असिद्ध-संसारी कहा जाता है, इसलिए व्यस्त समस्तरूप से आठों कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण यह असिद्धत्व भाव भी औदयिक भाव कहा जाता है।

इन दो पद्यों से असिद्धत्व का निरुक्त्यर्थ बताया गया है। सिद्धत्व शब्द का अर्थ आत्मा की अष्ट कर्म रहित अष्ट गुण सहित शुद्ध अवस्था है। जब तक आत्मा इस अवस्था को प्राप्त न कर ले तब तक उसके असिद्धत्व भाव ही कहा जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय तक संसार अवस्था मानी जाती है। निश्चय नय से यह अवस्था अनुपादेय है पाप व पुण्य किसी भी प्रकृति का उदय आत्मा के लिये बन्धन का कारण है, इसलिए इस अवस्था को महान् अनर्थ की जड़ कहा है।

लेश्या के भेद

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः।। 1144।।

छह लेश्यायें भी औदायिक भावरूप हैं कहीं गई।
क्योंकि योग - कषाय उदय के ही विपाक से होती हैं।। 1909।।

अन्वयार्थ :- (**विख्याताः**) प्रसिद्ध (**षडेव**) छहों ही (**लेश्याः**) लेश्याएँ (**औदयिकाः भावाः**) औदयिक भावरूप से (**स्मृताः**) मानी गई है (**यस्मात्**) क्योंकि ये लेश्याएँ (**योग-कषायाभ्यां**) योग और कषाय (**द्वाभ्यां एव**) दोनों के ही (**उदयोद्भावाः**) उदय से उत्पन्न होती है।। 1144।।

भावार्थ :- कषायों के उदय सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं और वर्णनामा नामकर्म के उदय से होने वाले शरीर के कृष्णादिक रंग को द्रव्यलेश्या कहते हैं। भावलेश्या जीव के औदयिक भावों में है, द्रव्य लेश्या नहीं और वह भावलेश्या कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप होती है, इसलिए उसे औदायिक कहते हैं।

इस प्रकार पंचाध्यायी ग्रंथराज के अद्यतन उपलब्ध द्रव्य विशेष के स्वरूप आदि का वर्णन करने वाले दूसरे अध्याय की पण्डित देवकीनन्दन शास्त्रीकृत सरलार्थ-प्रबोधिनी नाम की हिन्दी टीका सम्पन्न हुई।

विशेष :- छन्द क्रमांक 973 से प्रारम्भ औदयिक भावों के भेदों के व्याख्यान की शृंखला में छन्द 1141 में लेश्याओं का वर्णन प्रारम्भ हुआ है। यह निश्चितरूप से से कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार इसके पश्चात् छहों लेश्याओं की परिभाषा आदि अनेक बिन्दुओं का वर्णन करते और इसके पश्चात् पाँच भावों के वर्णन की शृंखला में पारिणामिक भाव आदि अनेक विषयों का वर्णन करने की योजना उनके मतिज्ञान में थी। परन्तु हमारा क्षीण पुण्य ही कहा जा सकता है कि इसके पश्चात् ग्रन्थ नहीं लिखा जा सका या उपलब्ध नहीं है। पञ्चाध्यायी नाम होने पर भी दो अध्याय भी पूरे नहीं हो सके। काश! यदि यह ग्रन्थ ग्रन्थकार की भावनानुसार पूरा लिखा गया होता तो हमारे अनेक उलझे हुए विषयों का समाधान भी हो जाता; फिर भी 'जो प्राप्त है वही पर्याप्त है' अतः ग्रन्थकार का जितना भी उपकार माना जाए कम है। एतदर्थ स्वाध्याय प्रेमी समाज उनका चिर कृतज्ञ है।

हम सब इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन करके यथार्थ तत्त्वनिर्णय पूर्वक मोक्षमार्ग में अग्रसर हों - यही मंगल कामना है।

कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी **- अभय कुमार जैन**

30 अक्टूबर 2024